रामायण एवं महाभारत का शाब्दिक विवेचन

डॉ. शिवसागर त्रिपाठी
एम. ए. (संस्कृत-हिन्दी)
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, (स्वर्ण पदक विजेता)
संस्कृत-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

देवनागर प्रकाशन, जयपुर

मंगलम्

कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणी कथाम् ।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः ।।

आदौ रामतपोवनादिगमनं हत्वा मृगं काञ्चनम् ।
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीव-सम्भाषणम् ।।
बालीनिग्रहणं समुद्रतरणं लंकापुरीदाहनम् ।
पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननं ह्येतद्धि रामायणम् ।।

❀ ❀ ❀

इतिहासपुराणार्थविदुषे लोकचक्षुषे ।
व्यासाय महते वेदप्रवक्त्रे मुनये नमः ।।

आदौ पाण्डवधार्तराष्ट्रजननं लाक्षागृहे दाहनम् ।
द्यूतं श्रीहरणं वने विहरणं मत्स्यालये वर्तनम् ।।
लीलागोग्रहणं रणे विहरणं संधिक्रियाजृम्भणम् ।
पश्चाद् भीमसुयोधनादिनिधनं ह्येतन्महाभारतम् ।।

❀ ❀ ❀

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द-तत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।

छन्द पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्म लोके महीयते ।।

समर्पणम्

श्रेयःशोचिःस्रोतोभ्यः,
शब्दशास्त्रप्रणयिभ्यः,
सारस्वत-पथ-पान्थेभ्यः,
संस्कृत-साहित्य-समुपासकेभ्यः,
लब्धवर्ण-विपश्चिद्भ्यः,
सादरं सप्रश्रयम् ।

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

[प्रथम]

डॉ० शिवसागर त्रिपाठी के इस अद्वितीय एवं अमूल्य ग्रन्थ की भूमिका लिखते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। त्रिपाठी जी हनुमान की तरह अपने बल को प्रायः भूल जाते हैं। अथवा यों कहे कि वे विनयशीलता एवं निरहंकारिता के वशीभूत होकर अपनी प्रतिभा एव विद्वत्ता को कभी-कभी नगण्य मानने लगते हैं। कुछ ऐसे ही क्षणों में इस लेखक को उन्हें प्रेरणा देने का वह श्रेय मिल गया, जिसका उल्लेख त्रिपाठीजी ने अपनी पुरोवाक् में किया है। वास्तव में, यह ग्रन्थ त्रिपाठीजी की सर्वथा मौलिक कृति है।

दश अध्यायों में, गम्भीर शास्त्रीय विवेचन करते हुए, विद्वान् लेखक ने रामायण एवं महाभारत में उपलब्ध अनेक निर्वचनों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। रामायण एवं महाभारत को परम्परा से इतिहास माना गया है। स्वय दोनों ग्रन्थ-कर्ताओं ने भी अपने-अपने ग्रन्थ को इतिहास माना है, परन्तु यहां इतिहास शब्द का अर्थ इतिवृत्त अथवा पुरावृत्त मात्र नही है, जैसा कि रामायण मे उपलब्ध निम्न-लिखित परिभाषा से स्पष्ट है :—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशप्रतिपत्तये ।
पुरावृत्तं कथायुक्तमितिहासमित्याचक्षते ॥

सामान्यतः आज की तरह, सम्भवतः सदा ही पुरावृत्त को ही इतिहास माना जाता रहा है, परन्तु उक्त दो महाग्रन्थो को जब इतिहास कहा गया, तो उसमें ऐसी कथाओं का समावेश भी प्रचुरता से किया गया, जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का उपदेश देने की क्षमता रखती हों। वैदिक साहित्य में भी जब इतिहास शब्द का प्रयोग होता है, तो उसका तात्पर्य यही होता है और उसका प्रयोग वैदिक तत्त्व-विवेचन की एक प्रतीकवादी विधा के रूप में होता है। इतिहास से जुड़ी हुई वैदिक साहित्य मे एक पुराण-विधा भी मिलती है, जो प्राचीन के नवीनीकरण की विधा है। इसीलिए, यास्क पुराण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए "पुरा नवं भवतीति" कहते हैं। इस प्रकार इतिहास एवं पुराण के नाम से दो प्राचीनतम विधायें चली आ रही थीं, जिनका उपयोग वेदार्थ के सफल उपबृंहण के लिए हुआ करता था। इसी बात को स्मरण करते हुये कहा जाता था :—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदानुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

वैदिक सृष्टि के प्रतीकवाद को स्पष्ट करने के लिये जिन पञ्च वेदों का उल्लेख गोपथब्राह्मण (1. 6) ने किया है उनमे इतिहास 'पञ्चमवेद' माना जाता था। अन्यों को पुराणवेद, असुरवेद, पिशाचवेद तथा सर्पवेद कहा जाता था। इन पांचों वेदों की वर्धत, करत, रुहत, महत् तथा तत् नामक व्याहृतियां कही गई हैं, जो सबकी सब मूलतः आंगिरस वेद की "जनत्" व्याहृति से उद्भूत[1] मानी गई हैं।

1. देखिये डॉ. फतहसिंह : "भावी वेदभाष्य के संदर्भ सूत्र" (वेद संस्थान, अजमेर 1983)

यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि मूलतः वैदिक प्रतीकवाद को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त अन्य विधाओं के समान इतिहास भी एक विधा थी। इतिहास का मूलाधार निस्सन्देह कोई पुरावृत्त (पुरानी घटना) होता था, परन्तु वेद प्रतिपादित धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को समझाने के लिये उनमें अनेक काल्पनिक कथायें अथवा आख्यान भी होते थे। आर्षी निर्वचन इस कार्य में महती भूमिका निभाता था। ये निर्वचन प्रकृति-प्रत्यय मूलक शब्द-निर्वचन से यथासम्भव सहायता लेते थे, परन्तु उससे बंधे हुए नहीं रहते थे। अर्थान्वाख्यान द्वारा किसी शब्द को मूलार्थ से नितांत भिन्न अर्थ भी दिया जा सकता था। उदाहरण के लिए अत्रि शब्द को ले लीजिए। सम्भवतः अत्रि शब्द मूलतः त्रैत के अभाव का सूचक था, परन्तु आख्यानों के विविध प्रसंगों में उसका अर्थ अदन करने वाला हुआ अथवा, जैसा कि इस ग्रन्थ के निर्वचनकोश में दिया गया है, उसकी व्युत्पत्ति "अत्र" या "रात्रि" से भी मानी गई।[1]

इस प्रकार के निर्वचनों को आधुनिक विद्वानों ने प्रायः अवैज्ञानिक अथवा मूर्खतापूर्ण कहा है। परन्तु इस प्रकार की निर्वचन-पद्धति का विकास जानबूझ कर आवश्यकतावश किया गया। लौकिक संस्कृत के शब्द जब वैदिक तत्त्वज्ञान के रहस्यों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ प्रतीत हुये, तभी उनका नया अर्थ देने के लिए इस प्रकार का अर्थान्वाख्यान चल पड़ा, जिसमें प्रकृति-प्रत्यय मूलक शब्द-निर्वचन पर्याप्त नहीं हुआ। अतः उसके अतिरिक्त या उसके स्थान पर आख्यान अथवा समीकरण का प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों में होता हुआ इतिहासपुराण में भी आ गया। यास्क के निरुक्त में इस प्रकार के अर्थ-निर्वचनों की भरमार है।

उदाहरण के लिये गायत्री-शब्द को ले लीजिए। सामान्यतः गायत्री एक विशिष्ट अक्षरपरिमाण वाले छन्द का नाम है। वेद में गायत्री छन्द का नाम तो है, परंतु वही वेदमाता कही जाती है, श्येन बनकर स्वर्ग से सोम लाती है, संगीत की सृष्टि करती है और गय नामक प्राणों का विस्तार करती है। क्या यह सब किसी अक्षर परिमाणात्मक छन्द द्वारा सम्भव है?

अतः गायत्री शब्द का अर्थान्वाख्यान करने के लिए, यास्क ने "गायतेः स्तुतिकर्मणः त्रिगमना वा विपरीता" (नि० 7.12) कहा है। यहां, और ऐसे ही अन्य प्रयोगों में वा शब्द समुच्चयार्थक है, विकल्पबोधक नहीं। इसलिए 'गायतेः' को छोड़कर 'विपरीता' तक के सब शब्द गायत्री का अर्थान्वाख्यान ही करते हैं। इनमें से कोई भी गायत्री शब्द का प्रकृति-प्रत्यय-मूलक निर्वचन प्रस्तुत नहीं करता। यदि केवल शब्दनिर्वचन यहां अभिप्रेत होता, तो एक ही निर्वचन पर्याप्त था, पर उससे गायत्री के पूर्वोक्त विविधतामय स्वरूप का अर्थान्वाख्यान नहीं हो पाता।

---

1. देखिये-डॉ० शिवसागर त्रिपाठी : रामायण और महाभारत का शाब्दिक विवेचन"-देवनागर प्रकाशन, जयपुर 1986, पृष्ठ 142

वस्तुतः निरुक्त जब कभी कोई प्रकृति-प्रत्ययमूलक निर्वचन देता भी है, तो भी उसका प्रयोजन अर्थान्वाख्यान ही होता है, क्योंकि निरुक्त का मूल विषय अर्थपरीक्षा है, न कि व्याकरण के समान शब्दपरीक्षा। त्रिगमना शब्द से अवश्य यह भ्रम हो सकता है कि गायत्री की व्युत्पत्ति "गम्+त्री" से अभिप्रेत है। पर वास्तव में गायत्री के सन्दर्भ मे प्रयुक्त 'स्तुतिकर्मणः' 'त्रिगमना' और 'विपरीता' शब्दों का प्रयोग किसी शब्द-निर्वचन के लिए नही है, अपितु वे गायत्री के प्रतीकार्थ की ओर संकेत करने के लिए ही आए हैं।

वेदों मे गायत्री एक छन्द का नाम ही नही है, अपितु वह आत्मा की एक ऐसी शक्ति है, जो आनन्दमयकोशरूप द्यौ से लेकर सूक्ष्मदेह-रूप अन्तरिक्ष और स्थूलदेह रूप पृथिवी तक रहती है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह को पार करने के कारण वह 'त्रिगमना' है। गायत्री छन्द के तीन पाद भी इस त्रिविधतामय क्षेत्र की ओर सकेत करते हैं। अतएव गायत्री छन्द का वही प्रयोग होता है, जहां इस क्षेत्र की ओर संकेत होता है। आनन्दमय कोश से वापिस लौटती हुई वह 'विपरीता' कहलाती है। उसकी इस उभयगति[1] को जब अग्निष्टोम-युगल संज्ञा दी गई, तो वे दोनो गतियां उस गायत्री-श्येन के दो पक्ष हो गई, जिसे ज्योतिष्पक्षा[2] आत्मा कहा गया।

गायत्री की उर्ध्व गति को "प्रस्तुति" और अधोगति को "स्तुति" कहते हैं। प्रस्तुत होने पर गायत्री (गायत्र्यां) (प्रस्तुतायाम्) का प्राण के द्वारा वायु (एकाग्रचित्त) के साथ सन्धान होता (संदध्यात्) है।[3] इसके फलस्वरूप शुचिपा[4] वायु (शुद्ध चित्त) आनन्दमय कोश का सोम प्राप्त करता है। गायत्री की यह गति उसे, सोम के लिए स्वर्ग (आनन्दमयकोश) की यात्रा करने वाला श्येन[5] बना देती है। इसके विपरीत स्तुति (नीचे अवतरण) की अवस्था में गायत्री 'विपरीता' कहलाती है। तब वह सोम की सौगात का वितरण मानव व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों पर करती हुई अन्नमयकोश तक आती है, जिसके परिणामस्वरूप एक शांति-संगीत सर्वत्र छा जाता है। इस दृष्टि से गायत्री को गानेवाली[6] गायिका के रूप मे कल्पित किया जाता है। इस प्रकार, "गायतेः स्तुति-कर्मणः" के रूप मे निरुक्त का निर्वचन शब्द और अर्थ, दोनों की दृष्टि से सार्थक हो जाता है।

1. प्रेति च एति च गायत्र्यै रूपम्। जै. 270
2. यावग्निष्टोमौ ते ज्योतिषो, येष्टा अन्तर् उवध्या आत्मैषा गायत्री ज्योतिष्पक्षा। काठ 34.8
3. गायत्र्यां प्रस्तुतायां प्राणेन वायुं संदध्यात्। जै. 270
4. 'शुचिपा' विशेषण का प्रयोग ऋग्वेद मे या तो वायु के लिए अथवा इन्द्रावायू नामक देवताद्वन्द्व के लिए होता है (ऋ० 7.90.2, 91.c, 92.1. 100.2) क्योंकि इन्द्रावायू शुद्धचित्तयुक्त जीवात्मा का द्योतक है, वायु एकाग्रचित्त। द्रष्टव्य–लेखक-कृत 'पुरुष-सूक्त की व्याख्या में वायव्य पशुओं का प्रसंग'।
5. तृतीयस्यां दिवि सोम आसीत् तं गायत्री श्येनो भूत्वाहरत्। मै. 4 1.1
6. सा......................अगायत् तस्माद् इयं गायत्री। म.श 6.1.1.15

वस्तुतः प्रस्तुति और स्तुति, आरोह और अवरोह गायत्री का स्वभाव है। प्रस्तुता (ऊर्ध्वगता) गायत्री जिस सोम को आनन्दमय कोश से लाती है, वही तो ब्रह्म का वीर्य या वेद[1] है, जिसके द्वारा सभी "इष्ट कर्म" का संपादन होता है। अतएव सोमोद्धार करने वाली गायत्री "स्तुता वेदमाता"[2] भी कही जाती है। वेदमाता के अवरोह से मानव-व्यक्तित्व में "गय" नामक प्राणों का विस्तार और विकास होता है। इस प्रकार, गय प्राणों के प्रसंग से भी उसका नाम गायत्री हो जाता है, 'प्राणा वै गयास्तत् प्राणांस्तेत्र....तस्माद् गायत्री नाम। माश 14.8.15 7

इस प्रकार के अर्थ-निर्वचन हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में भी मिलते हैं, क्योंकि वे वेदार्थ का उपबृंहण करने के उद्देश्य से ही लिखे गये हैं। शब्द-निर्वचन को ही एकमात्र निर्वचन समझने वाले, इन अर्थान्वाख्यानों को अवैज्ञानिक मानते हैं, क्योंकि वे वैदिक तत्त्वज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। सच तो यह है कि वे वेद में कोई तत्त्वज्ञान पाते ही नहीं। उनकी मान्यता है कि वेद आदिम मनुष्य के विचारों की अभिव्यक्ति है, जिसमें किसी तत्त्वज्ञान की आशा नहीं की जा सकती। परन्तु अब तो फ्रित्जोफ काप्रा, वेल्फ्रेड पेट्री तथा डा० चक्रवर्ती जैसे वैज्ञानिक भी कहने लगे हैं कि बीसवीं सदी का विज्ञान जिन निष्कर्षों पर पहुंच रहा है, वे वैदिक रहस्यवाद में पहले से ही उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में, विद्वानों को वेद के प्रति जो पूर्वाग्रह है, उसको छोड़कर नई दृष्टि अपनानी पड़ेगी और तब ब्राह्मण ग्रंथों से लेकर इतिहास-पुराण तक प्राप्त होने वाली अर्थ-निर्वचन की पद्धति भी उन्हें उपयोगी प्रतीत होगी।

अतः डा० त्रिपाठी ने "रामायण एवं महाभारत का शाब्दिक विवेचन" प्रस्तुत करके भारतीय वाङ्मय को समझने के लिए एक अत्यन्त उपयोगी साधन उपस्थित कर दिया है। आशा है, इस प्रकार के प्रयास चलते रहेंगे और पुराण अथवा वैदिक साहित्य के जो आख्यान आज गपोड़ा कह कर तिरस्कृत होते हैं, उनको समझने की कुंजी हमारे हाथ लगेगी। तब हम समझ पायेंगे कि जिस प्रकार भरत का नाट्यशास्त्र वेदार्थ को सार्ववर्णिक बनाने का लक्ष्य लेकर चला था, उसी प्रकार इतिहास-पुराण का प्रणयन भी वेद के तत्त्वज्ञान को सुबोध बनाने अथवा नये ढंग से प्रस्तुत करने के लिये हुआ था।

डा० त्रिपाठी ने कठिन परिश्रम करके इस ग्रन्थ के माध्यम से विद्वज्जगत् को जो ठोस सामग्री दी है उसके लिए वे साधुवाद एवं धन्यवाद के पात्र है। ग्रन्थ के द्वितीय परिशिष्ट में जो निर्वचन-कोश दिया गया, उससे ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी हो गया है। आशा है, श्री त्रिपाठी इस दिशा में और आगे बढ़ेंगे और इतिहास पुराण के वैदिक आधार को स्पष्ट करने में अपना बहुमूल्य योग देंगे।

डॉ० फतहसिंह
पूर्व आचार्य-विभिन्न राजकीय कालेज, राजस्थान
पूर्व निदेशक-प्राच्य विद्या शोध संस्थान, जोधपुर।
वर्तमान में-निदेशक, वेद संस्थान, नई दिल्ली।

---

1. अ 19.72. तुलनीय, अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः। ऋ० 1.164.35
2. स्तुता मया वरदा वेदमाता। अ. 19.71

प्रस्तावना

[द्वितीय]

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डॉ० शिवसागर त्रिपाठी ने वीर काव्य में प्राप्त निर्वचनों का अन्वेषण, वर्गीकरण एवं प्रतिनिधि निर्वचनों का विवेचन तथा उन के भारतीय संस्कृति और भाषिक अध्ययन के योग का निरूपण किया है। रामायण, महाभारत तथा हरिवंश में उपलब्ध समस्त निर्वचनों को परिशिष्ट–2 मे संकलित कर दिया गया है। डा० त्रिपाठी ने इस धारा मे लिखकर महत्त्वपूर्ण और स्तुत्य कार्य किया है। अब तक वैदिक निर्वचनों पर तो लिखा जाता रहा है, परन्तु लौकिक साहित्य के निर्वचनों की ओर पुरोवाक् (पृ. 2) मे निर्दिष्ट नगण्य कार्य के अतिरिक्त कोई अध्ययन नहीं किया गया है। भारतीय भाषिक अध्ययन और संस्कृति के विकास के अवबोध के लिए इन निर्वचनों का अध्ययन परम आवश्यक है। यह इंगित करता है कि निर्वचनों की परम्परा वैदिक काल तक ही सीमित नही रही, वह बाद मे भी अक्षुण्ण रही। उसके मूल में भाषा के मूल एकाक्षरा स्वरूप की भावना सतत झलकती रही। यह ग्रन्थ इस प्रकार की अनेक पूर्वतर स्थापनाओं का पोषक है तथा अनेक आधुनिक विचारों का उत्खनन करता है। इसमें उपयुक्त भाषा और शैली के साथ नई प्रणाली के प्राचीन अध्ययन और मान्यताओं की आत्मा का आधान प्रशस्त रूप मे किया गया है।

जैसा कि प्रारम्भ में माननीय डा० फतह सिंह जी ने लिखा है, भारत में निर्वचन का आधार अर्थ रहा है, शब्द का रूप मात्र नहीं। ऋग्वेद के मत में धीर मनीषी जन चलनी मे सत्तुओं को छानने के समान मनोयोग पूर्वक शब्दों का चयन और प्रयोग करते हैं। उन प्रयोगों के तत्त्व को–अर्थ की विपुल लोक कल्याण कारिणी अर्थ-समृद्धि को—उन प्रयोगों की प्रकृति से अभिज्ञजन ही उन प्रयोगों की संस्कृति मे निष्णात हो कर जान पाते हैं। इस अर्थसमृद्धि को अर्थानुसारी निर्वचनों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अर्थानुसार निर्वचन पद के प्राकरणिक अर्थ के आलोक मे एकाधिक भी हो जाते हैं और लौकिक मान्यताओं, शैक्षिक रूढ़ियों और वैयाकरण प्रणालियों से विलक्षण या अटपटे भासित होते हैं। वेद में अपां नपात् स्वपत्य की पत्नी जल है। जलों से बिजली उत्पन्न होती है, वह ही इन की सन्तान या अपत्य अपां नपात् है। यहा 'पत्नी' जननी है और उस अपां नपात् का भोजन भी। पत्नी का यह अर्थ असामान्य होते हुए भी पत् और नी अंशों के माध्यम से बिजली अर्थ को अभिव्यक्ति दे रहा है। इस तत्त्वज्ञान का अवबोध इस पद को पत् और नी में विभाजित करने वाले निर्वचन से ही हो सकता है। इस प्रकार विलक्षण या असाधारण निर्वचन वीरकाव्यों और पुराणों में पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। इन

मे से बहुतो का अध्ययन डा. त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ में प्रस्तुत कर आधुनिक निर्वचनशास्त्रियो को भी चिन्तन और मनन का अवसर प्रदान किया है। एक उदाहरण। कुलपति का अर्थ सामान्यतः 'कुल अथवा कुलों का पालक' होता है, परन्तु रामायण मे 'कुलानि पातयति'-कुलों का नाशक, ध्वंसक अर्थ भी मिलता है। इन सब निर्वचनो के मूल में यथार्थ ज्ञान और तत्वज्ञान आदि का अवबोधन है, जिस की चरम परिणति मोक्षज्ञान-प्राप्ति मे है। आधुनिक निर्वचनशास्त्र की वह दृष्टि नही है, इस कारण प्राचीन और आधुनिक निर्वचन पद्धतियों मे समानता का अभाव और मौलिक भेद है। यदि इस तथ्य को समझ लिया जायगा, तो भारतीय निर्वचनो को लोकप्रिय और अवैज्ञानिक आदि मानने वालों को अपने विचारों की वैज्ञानिकता की परीक्षा करने की आवश्यकता अनुभव होगी। डा० त्रिपाठी का यह ग्रन्थ इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करेगा। यदि अध्येता जागरूक चिन्तक होगा, तो उसे भारतीय दृष्टि का उपयुक्त मर्म अपने आप को प्रतिभासित कर देगा :—

> उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥
> यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
> तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥
>
> (ऋग्वेद 10/71/4, 3)

संक्षेप मे ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है और आगे के अध्ययनों के लिए दिशा दिखाता है। अध्ययन के लिए नए और व्यापक क्षेत्र को अपावृत करना अनुसंधान की महती उपलब्धि है। डा० त्रिपाठी का प्रस्तुत ग्रन्थ इस दिशा में पूर्णतः सक्षम है।

डॉ. सुधीर कुमार गुप्त
पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
आदरी निदेशक-भारती मन्दिर अनुसंधान शाला,
विश्वविद्यालयपुरी, गोपालपुरा, जयपुर

शुभाशंसनम्

हमारे सहयोगी डा० शिवसागर त्रिपाठी, सहाचार्य, संस्कृत-विभाग, अपनी रचनाओं के लिए सुप्रसिद्ध हैं। उनके अपरिमित अध्यवसाय एवं लगन का सुफल सद्यः प्रकाशित ग्रन्थ "रामायण और महाभारत का शाब्दिक विवेचन" है। इसमे राष्ट्रीय महाकाव्यों मे प्राप्त विशिष्ट निर्वचनों का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया है। रामायण और महाभारत मे लगभग 600 शब्दों के निर्वचन उपलब्ध होते है। (द्रष्टव्य, परिशिष्ट–2) इन समग्र निर्वचनों को डा० त्रिपाठी ने तीन भागों मे विभक्त किया है : दैविक, भौतिक एवं प्रकीर्ण।

जैसा कि सुविदित है व्याकरण एवं निरुक्त का इस देश की चिन्तन-परम्परा मे विशिष्ट स्थान रहा है। बाद मे चलकर निरुक्त से कही अधिक महत्त्व व्याकरण का हो गया। किन्तु रामायण एवं महाभारत मे निरुक्त की प्रवृत्तियां एवं धाराएं उसी आश्चर्यजनक निर्वचन-परम्परा मे स्नात है। इसके लिए अभिमन्यु, जमदग्नि, अत्रि आदि अनेक ऋषि, उमा, सरमा, असुर, राक्षस आदि के निर्वचन द्रष्टव्य हैं। सुरा पीने वाले सुर और सुरा न पीने वाले असुर के निर्वचन उस वैदिक परम्परा के अधिक निकट है, जिसमे 'तद्देवानामसुरत्वमेक' के द्वारा असुरत्व को प्रतिष्ठित किया था। "···वस्तुतः विचारतत्त्व या अर्थ को प्राचीन शब्द पर आरोपित करने की सशक्त परम्परा शब्दमूलक संस्कृति का वैशिष्ट्य होता है। यह आरोप अनेक आधारों पर होता है। इन सभी आधारों का प्रामाणिक विवेचन एवं खोज डा० त्रिपाठी के इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है (द्र० विषय-प्रवेश एवं प्रथम अध्याय) यही नही इन निर्वचनो के आधार पर बदलती हुई जिस सांस्कृतिक चेतना का विकास होता है उसका विशद एवं तत्त्वस्पर्शी आलोचन डा. त्रिपाठी की प्रतिभा का प्रमाण है। (द्र० नवम अध्याय)।

मुझे विश्वास है कि भाषाशास्त्री, निरुक्तकार एवं वैयाकरण इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे तथा ऐतिहासिक सिद्धान्तो के आधार पर जिस शब्दकोष का निर्माण डेक्कन कालेज, पूना मे विगत कई वर्षों से हो रहा है, उस भगीरथ प्रयत्न को सार्थक अवदान डा. त्रिपाठी जी का ग्रन्थ देगा। उनकी यशस्वी एवं सफल सारस्वत साधना के लिए मैं हृदय से मङ्गल कामना करता हूं।

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी
आचार्य, संस्कृत-विभाग
निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र तथा मानविकी पीठ
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

...I have gone through the Ms. It is well written and ...d upon a study of elymological ... treatment of controversial points by the author is fair and documented. I have pleasure to say that it may be taken up for publication. The book will prove of immuense value in spreading the correct knowledge of the words discussed. I wish the author every success.

Dr. Mukund Madhava Sharma.
Head of the Deptt. of Sanskrit & Dean, Faculty of Arts.
Gauhati University, Gauhati, 781014

डा० श्री शिवसागर त्रिपाठी विरचित 'रामायण और महाभारत का शाब्दिक विवेचन' शीर्षक ग्रन्थ को देख कर प्रसन्नता हुई। विद्वान् ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे शाब्दिक विवेचन का एक नया स्वरूप उद्घाटित किया है। शब्दो के प्रयोग-निमित्त को कदाचित् प्रधानता मिली और उसी दृष्टि को अपना कर यास्काचार्य ने निरुक्तसम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। इसी के समान्तराल व्युत्पत्ति-निमित्त को महत्त्व देने वाले वैयाकरण सम्प्रदाय आगे आए। दोनों सम्प्रदायों की अवधारणाओं से संस्कृत शब्दो का निर्वचन नियन्त्रित होता है। इन दोनों धाराओं की सहायता हमे अपेक्षित होती हैं और इसीलिए विभिन्न शब्दों के निर्वचन मे कहीं एक धारा की ओर कही दूसरी धारा की शरण हमे लेनी पड़ती है।

डा० त्रिपाठी ने यास्क-प्रवर्तित धारा को प्राधान्य देकर प्रस्तुत ग्रन्थ मे रामायण और महाभारत में आये हुए नामशब्दों का निर्वचन प्रस्तुत किया है। यह निर्वचन-साहित्य तथा शब्द-शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए नितान्त महत्त्वपूर्ण है। 'अभिमन्यु' या 'सरमा' जैसे नाम क्यों पड़े ? इस विषय मे महाभारत तथा रामायण के अपने व्याख्यान का आश्रय लेकर डा० त्रिपाठी ने पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है और प्रसङ्गवश दोनों धाराओ की तथा उससे हट कर चलने वाली लोकधारा की भी तुलनात्मक समीक्षा को प्रस्तुत किया है। सारा विवेचन पाण्डित्य के साथ-साथ डा० त्रिपाठी के गम्भीर सारस्वत श्रम को प्रमाणित करता है।

डा० त्रिपाठी को अभिनन्दित करते हुए हमे विश्वास है कि उनका यह ग्रन्थ विद्वानों को रुचिकर और उपयोगी सिद्ध होगा।

डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, सस्कृत विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीमद्भि: डा० शिवसागरत्रिपाठिमहाभागै: सुहृद्भि: जयपुरस्थे विश्व-विद्यालये सहाचार्यपदमलंकुर्वद्भि. तत्र तत्र ग्रन्थेषु विकीर्णानां अन्तर्गुप्तानामिव व्यक्तिनामनिर्वचनाना सङ्कलनमेकत्रीकृत्य प्रकाशनं बहुकालाच्चिकीर्षितं साकारतां प्राप्त तस्योपयोगन्तु सहृदया एतद्ग्रन्थाध्येतारः स्वयमेवानुभवेयु: इति नास्ति तद्वि-षयेऽधिकं वक्तव्यम्।

पुरोवाग्विषयप्रवेशयोः त्रिपाठिमहोदयैरुक्तमधिकृत्य किञ्चिदत्र प्रस्तूयते। त्रिपाठिमहोदयैः स्वकृतश्रमस्य आधुनिकविद्वत्संमतमतानुगामित्वमात्रमुच्यते। वयन्तु तत्रैवं ब्रूमो यत् उक्तश्रमस्य वेदादारभ्य काव्यान्तेषु ग्रन्थेषु निरुक्तानां व्यक्तिनाम्ना यथावत्प्रकाशनेन वाग्देवताप्रसादकरत्वमपीति""""परम्परायां प्रकशितनिर्वचनसम्बन्धिन्यो तेषु तेषु नैकेषु ग्रन्थेषु क्षिप्तानि विकसितानि पुष्पाणीव निर्वचनानि सगृह्य तेषामेकत्रीकरण मौचित्यानुबन्धि गुम्फन च मालाकारैरिव त्रिपाठिभिः गुच्छात्मना प्रकाशितं, तत्र यावान् चिरकालिकः श्रमश्च तैः कृतः तस्य साफल्यं तदा भवेत् यदा अपरेऽपि तं पन्थानमुपयुञ्जीरन् स्वस्वव्याख्याने मन्ये तेऽवश्यं निरुक्तं निरुक्तिमुपयोक्ष्यन्ति इत्याशास्य सपरिवारोऽयं त्रिपाठिनां वंशः वाग्देवतापात्रं भूत्वा उत्तरोत्तरमभिवर्धतां जीव्याच्च कीर्तिशरीरेण चिरायेति वाग्देवतां सम्प्रार्थ्य विरमामि।

विश्वनाथ शास्त्री दातारः

पूर्वप्राचार्यः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

""""संस्कृत की वह निर्वचन धारा, जो कि निरुक्त के रूप मे उत्कृष्ट कोटि के भाषावैज्ञानिक विवेचन को प्रस्तुत करती रही थी किन्तु वैदिक साहित्य के विवेचन के बाद सूख–सी गई थी, अब इस प्रस्तुत ग्रन्थ मे पुनः तरङ्गित हो उठी है। रामायण और महाभारत भारतीय साहित्य और संस्कृति के मेरुदण्ड हैं और उनके शब्दों का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्षो के साथ निर्वचन भारतीय साहित्य, संस्कृति और भाषा-विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आशा है, यह "पुराण-निरुक्त" न केवल निर्वचन-परम्परा की टूटन की पूर्ति करेगा, बल्कि उसे और आगे विकसित करने के लिए भी प्रेरित करेगा।

डॉ० राघव प्रकाश

निदेशक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

""""'रामायण और महाभारत का शाब्दिक विवेचन' पुस्तक गहन अन्तर्विषापरक अध्ययन के क्षेत्र में एक विशिष्ट योगदान है। यूरोपीय भाषाओ मे भी कुछ ही ऐसे अध्ययन किये गये हैं, जिनमे शब्द की तह मे जाकर उस शब्द से झंक्रियमाण पूरी संस्कृति को निनादित करने का प्रयत्न हो। नेदरलैण्ड के विद्वान् खोन्दा, स्व० बेटी हाइमान, स्व० आनन्द कुमार स्वामी, जैसे विद्वानो ने शब्दों के निर्वचन के माध्यम से संस्कृति की विवर्तशीलता का परीक्षण किया है। कोरे व्युत्पत्तिपरक अध्ययन तो बहुत हुए हैं, हो रहे हैं, परन्तु व्युत्पत्तियों की भाषावैज्ञानिक जांच तक ही वे सीमित हैं। जो लोकदृष्टि से संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथो से ही व्युत्पत्ति का क्रम चला, वह निरर्थक नहीं है, क्योंकि वह किसी भी शब्द के प्रयोग के विस्तार का प्रमाण है।

ऐतिहासिक व्युत्पत्ति का अपना महत्त्व है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, पर उसका सीमित उपयोग है। जनमानस जिस-जिस गूंज को अंकित करता है, वह गूंज शब्द से जुड़ती जाती हैं और शब्द की आर्थी परिस्थिति का अविभाज्य अंग बन जाती है। पहले के भाषाविद् और उनसे प्रभावित संस्कृत-वेत्ता

इसका महत्त्व नहीं समझते थे, पर आज जब संस्कृति की संश्लिष्ट अध्ययन-पद्धति अधिक सम्मान पा रही है, तब इन तथाकथित अवैज्ञानिक व्युत्पत्तियों का भी मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है।

श्रीयुत् डॉ. शिवसागर त्रिपाठी ने उसी दिशा में प्रस्तुत कार्य सम्पन्न किया है। इस ग्रन्थ मे दस अध्यायों में देवनाम, ऋषिनाम, राजनाम तथा (राजायुध) मानवीय सम्बन्धवाचक या अवस्था वाचक शब्द, स्थान-नाम इन सबकी विविध प्रकार की व्युत्पत्तियो का न केवल आकलन किया गया है, अपितु इनका सूक्ष्म विवेचन भी किया गया है। प्रशंसनीय बात यह है कि सकल रूप मे शब्द-प्रयोगों को देखते हुए नाम के साथ जुड़ी हुई सांस्कृतिक भूमिका को भी रेखांकित किया गया है। त्रिपाठी जी ने वैदिक व्युत्पत्ति की पीठिका देते हुए विशेष रूप से रामायण महाभारत मे जो व्युत्पत्तियां दी गई हैं, उनकी मीमांसा करके एकवाक्यता स्थापित की हैं।

अपने कथन की सम्पुष्टि मे स्थान-स्थान पर अध्येता ने पुराणों की सामग्री का भी उपयोग किया है। इस दृष्टि से इस अध्ययन ने एक सांगोपांग शब्द-सन्दर्भ का संसार आलोकित हुआ है।

विशेष रूप से देवनामों और ऋषिनामो का विवेचन अधिक पुष्ट है। काश देवो, ऋषियों और प्रमुख राजाओं के विरुदों का भी अध्ययन सम्मिलित होता। महाभारत के विरुदों (epethets) पर कार्य हो भी चुका है और वैदिक विरुदो पर भी, पर सबको समेटते हुए कार्य भी होना चाहिए।

मैं इस सुचिन्तित ग्रन्थ के लिए विद्वान् अध्येता को हार्दिक बधाई देता हूं।

डॉ० विद्या निवास मिश्र
कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी,
एम-3, बादशाह बाग, वाराणसी

"...... डा. श्री शिवसागर त्रिपाठी की शोधकृति "रामायण और महाभारत का शाब्दिक विवेचन" का सफल प्रस्तुतीकरण तथा अब प्रकाशन अत्यन्त हर्ष का विषय है। वैदुष्यपूर्ण इस कृति में शब्दो की व्युत्पत्तिपरक मीमांसा डॉ. त्रिपाठी के पांडित्य को अभिव्यक्त करती है। इसके प्रकाशन से समस्त संस्कृत प्रेमी जगत् लाभान्वित होगा, इसमे तनिक भी सन्देह नही।

मैं डॉ. त्रिपाठी को इस ग्रन्थ प्रकाशन पर हार्दिक बधाई देता हूं।

डॉ० प्रभाकर शास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग एवं संस्कृत परिषद्,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

□

पुरोवाक्

विषय का चयन

संस्कृत-साहित्य के इतिहास के अध्यापन-हेतु रामायण, महाभारत और पुराणों का विशेष अध्ययन करते समय मुझे ऐसे अनेक शब्द दृष्टिगत हुए, जिनके निर्वचन ग्रन्थकारों ने स्वयं प्रस्तुत किये हैं। इनमें पर्याप्त रोचकता प्रतीत हुई। परम मनीषी डा. फतहसिंह के सम्पर्क से मैंने इन पर कार्य करने और ग्रन्थ तैयार करने की प्रेरणा प्राप्त की। उन्होंने स्वयं वैदिक निर्वचनों पर कार्य किया था। तत्सम्बद्ध उनकी 'वैदिक एटीमालोजी' के अध्ययन से प्रतीत हुआ कि निर्वचनपद्धति की एक अजस्र धारा है, जो अद्यावधि प्रवाहित है। अतः मैंने डाक्टर साहब के कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। अनेक व्यस्तताओं और विवशताओं के कारण कार्य तो चलता रहा, पर पूर्णता न आ सकी।

इधर प्राध्यापक एवं पूर्व अध्यक्ष डा० सुधीरकुमार गुप्त ने पुनः कार्य पूर्ण कर डालने के लिए प्रेरित किया। फलतः कार्य प्रारम्भ किया गया। साथ ही अब तक संचित सामग्री के पुष्कल परिमाण को देखकर उनके परामर्श से इस कार्य को वीर-काव्यों तक सीमित कर दिया गया।

लक्ष्य एवं सीमा

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल उद्देश्य वीरकाव्यों में उपलब्ध निर्वचनों के अन्वेषण, वर्गीकरण, प्रतिनिधि निर्वचनों के अध्ययन और उनकी उपादेयता के आकलन द्वारा शाब्दिक विवेचन करना रहा है। अतः यहां रामायण, महाभारत और उसके खिलपर्व हरिवंश के निर्वचनों को ग्रहण किया गया है, जो परिशिष्ट दो में संकलित कर दिये गए हैं। विषयगत वर्गीकरण करके वर्गानुसार कतिपय निर्वचनों का विवेचन किया गया है, जिसमें यथावश्यक वैदिक साहित्य और पुराणों का भी आश्रय लिया गया है। पाठान्तर आलोचना और प्रक्षिप्तांश आदि पर विचार नहीं किया गया है, क्योंकि इन पर अभी तक विद्वान् एकमत नहीं हो पाए हैं। अतः उपलब्ध सामग्री को ज्यों का त्यों, ग्रहण किया गया है। यथास्थिति-विवेचन में उपयुक्त पाठान्तरों पर भी विचार किया गया है।

मौलिकता

(1) वैदिक निर्वचनो के सम्बन्ध मे तो कार्य हुआ है, पर वीरकाव्यगत और पौराणिक निर्वचनो का साङ्गोपाङ्ग शाब्दिक विवेचन अब तक नही हुआ है। इतस्ततः पत्रिकाओं मे कुछ स्फुटलेखो[1] और पुराण सम्बन्धी कतिपय शोध-प्रबन्धो[2] मे कुछ अपर्याप्त सामग्री की ओर संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं। डा. रामशंकर भट्टाचार्य कृत 'इतिहास-पुराण का अनुशीलन' के कतिपय लेखों, उन्ही के 'पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन' के चतुर्थ अध्याय के तृतीय परिच्छेद मे और डा सत्यव्रत कृत 'रामायण-ए लिंग्विस्टिक स्टडी' के अष्टम अध्याय में निर्वचनो पर विचार किया गया है। डा. वैकुण्ठनाथ शर्मा ने 'ब्रह्म-वैवर्त पुराण-एक अध्ययन' के तृतीय अध्याय मे तत्पुराणगत कुछ निर्वचनों मे प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की धारा में वर्तमान लेखक के निर्देशन मे विचार किया है।

(2) उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वीरकाव्यो पर भी इतर दृष्टियों से तो कार्य हुआ है, पर उनके निर्वचनो पर विशेष कार्य नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रस्तुत कार्य ही प्रथम है।

(3) सर्वप्रथम इसमे ही निर्वचनों के स्वरूप का निर्धारण किया गया है और उनमे अपनाई गई दृष्टियो तथा शैलियों पर विवेचन किया गया है।

(4) यहां नामकरण के आधारों पर व्यक्तिवाचक नामो का समीक्षण पहली बार हुआ है, जिससे प्राचीन दैविक तथा भौतिक नामों के पड़ने के सम्भावित सिद्धान्त और कारण का बोध हुआ है।

(5) 'लिंग्विस्टिक पॅलियण्टोलाजी' की नवीन धारा के आलोक में शब्दों के निर्वचनो और तत्सम्बद्ध आख्यानों में प्रतिबिम्बित वीरकाव्यों के काल की सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर भी सर्वप्रथम यहां ही प्रकाश डाला गया है। इसमें सामान्य और मूल कथागत वर्णनो को आधार नहीं बनाया गया है।

(6) इसमे ही सर्वप्रथम विवेच्य ग्रन्थों के समस्त निर्वचनों को एक परिशिष्ट मे कोश रूप मे अकारादिक क्रम से संकलित कर अनुसन्धित्सुओं और अध्येताओं के लिए विशाल निर्वचन-सम्पत्ति को अनावृत कर सुलभ बनाया गया है।

---

1. द्र.-एटिमोलोजिकल कन्सेप्ट इन दि पुराणाज; डा. वी. एस्. शुक्ल (जैन भारती 2020 वि.), 'महाभारते निर्वचनानि' डा. सत्यव्रत शास्त्री, एतत्सम्बद्ध मेरे शोध-लेख द्र पुरोवाक् पृ. (iv)
2. पौ. पु. आ.-अ. 8 'निर्वचनात्मक पुराकथाए''; प्रा. पु. भा. द.-अ. 8 राजाओं के निरुक्तिमूलक और कथामूलक नामों का सकेतमात्र

ग्रन्थ का परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में पुरोवाक् और विषय-प्रवेश हैं। पुरोवाक् मे प्रस्तुत विषय के चयन, लक्ष्य एवं सीमा और मौलिकता, विषय से सम्बद्ध शोध-लेखो तथा इस प्रबन्ध में प्रयुक्त वीरकाव्यो के विवरण एव आभार-प्रदर्शन निबद्ध किये गए हैं। विषय-प्रवेश मे शीर्षक को स्पष्ट करने हेतु वीरकाव्य अर्थात् रामायण, महाभारत, तद्गत प्रक्षिप्तांश और भाषिक संरचना, अर्थावबोध-निरुक्त और व्याकरण, निर्वचन का अर्थ और परिभाषा, निर्वचन-परम्परा और इतिहास आदि पर प्रकाश डालकर उपलब्ध निर्वचनो का विषयगत वर्गीकरण दो खण्डों मे किया गया है। प्रथम दैविक खण्ड मे 'देवता', 'देवयोनि' और 'मानव' नामक तीन वर्ग हैं। तथा द्वितीय भौतिक खण्ड में 'स्थलीय', 'जलीय', 'वनस्पति' 'जन्तु' और 'अन्तरिक्ष' संज्ञक पांच वर्ग है।

इस प्रबन्ध के अध्याय प्रथम में वीरकाव्यगत निर्वचनों के स्वरूप तथा शैली को, अनेक उपबिन्दुओं से युक्त, प्रमुख चौतीस बिन्दुओं से सुस्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय में निर्वचनपरक नामों विशेपतः व्यक्तिवाचक नामो की धाराओं पर विचार किया गया है। जहां वैदिक नामों के सम्बन्ध मे ग्यारह और भौतिक नामो के सम्बन्ध में पांच धाराएं खोजी गई हैं।

विवेच्य ग्रन्थों के बहुविध निर्वचनों के आधार पर किये गए वर्गीकरण (द्र.- 'विषय प्रवेश' पृ.7) के प्रत्येक वर्ग मे पर्याप्त पदो के निर्वचन उपलब्ध होते हैं। इन सबके अध्ययन को इस ग्रन्थ की परिधि मे समेटना सम्भव नही रहा है। अतः तृतीय, चतुर्थ पञ्चम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायो मे विवेचित प्रत्येक वर्ग और उपवर्ग में आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, मात्र प्रतिनिधि शब्दो का ही विवेचन किया गया है। [इन्हें प्रथम परिशिष्ट मे संकलित कर दिया गया है। द्वितीय परिशिष्ट के निर्वचन-कोष मे उक्त ग्रन्थों में उपलब्ध समस्त निर्वचनों को संकलित किया गया है। अधीत निर्वचनों के आगे प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्याय और पदसंख्या का निर्देश कर दिया गया है। जहां ऐसा निर्देश नहीं है, उन्हे वही सुविधापूर्वक देखा जा सकता है। अतः पृथक् से सूची नहीं दी गई है।]

नवम अध्याय मे निर्वचनों के माध्यम से वीरकाव्यकालिक धार्मिक, राजनीतिक, पारिवारिक, सामाजिक, भौगोलिक और वैज्ञानिक चेतना पर एक विहंगम दृष्टि निक्षिप्त की गई है। अन्तिम दशम अध्याय मे ग्रन्थ का उपसंहार है,

जिसमे वीरकाव्यों की इस उपेक्षित सामग्री के अध्ययन का वैशिष्ट्य, उपयोगिता, परवर्ती साहित्य पर प्रभाव आदि विषयों पर प्रकाश डालते हुये ज्ञान के क्षेत्र मे इस प्रबन्ध के योगदान की चर्चा की गई है।

उल्लेख्य है कि इन अध्यायों की पाद टिप्पणियों में, जहां किसी ग्रन्थ विशेष का उल्लेख नही है, वहां प्रबन्धगत सन्दर्भ अर्थात् अध्याय, पद-संख्या से तात्पर्य है।

अन्त मे कुछ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट दिये गए हैं। प्रथम मे इस ग्रन्थ में प्रयीत निर्वचनों की सूची है। द्वितीय मे ग्रन्थ का मुख्य आधार निर्वचन कोष है, जिसमे वीर काव्यों में उपलब्ध निर्वचनों का अकारादिक क्रम से संकलन किया गया है। तृतीय मे पाठको के सुविधार्थ सामान्य संकेतिका दी गई है, जिसका उपयोग प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया गया है। चतुर्थ मे संकेतिका और ग्रन्थ-सूची साथ-साथ दी गई है। वहां प्रबन्ध मे प्रयुक्त मूल और सहायक ग्रन्थों के संक्षेपों का भी स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। पंचम में उन पत्रिकाओं के संक्षेपों या पूर्ण नामों का उल्लेख है, जिनका प्रत्यक्ष प्रयोग प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया गया है।

शोध लेख

प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध कतिपय लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। इनका या इनसे सम्बद्ध सामग्री का प्रयोग आवश्यकतानुसार इस प्रबन्ध मे किया गया है, जिसका निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। इन लेखों का विवरण इस प्रकार है—

1. शब्द-संस्कृति—'भाषा' (नई दिल्ली), जून, 1966
2. अक्षर-एक अध्ययन–'भाषा' (नई दिल्ली), मार्च 1968
3. शब्दार्थ-सम्बन्ध-विमर्शः–डा. सम्पूर्णानन्द, स्वर्णपदक विभूषित और सारस्वती सुषमा (वाराणसी) 25/2, 2027 वि. सन् 1970 मे प्रकाशित।
4. पुरुष का पौरुष–हिन्दी संस्कृत स्टडीज़, राजस्थान विश्वविद्यालय. (जयपुर) 5/1971
5. वृक्षवाची शब्दों का अध्ययन–भाषा (नई दिल्ली) जून, 1977
6. पारिवारिक शब्दो का सांस्कृतिक अध्ययन–(चार भागों मे) भारती शोध सार संग्रह (जयपुर) 1971 (1–2), 1972 (3-4), 1973 (1-2), 1979 (3-4)
7. पुरुष–एक अध्ययन–आल इण्डिया ओरियण्टल कानफेरेन्स 1976 20वां सत्र, (धारवाड) मे पठित, संक्षेप पुस्तिका पृ. 147

8. 'समुर'–एक निर्वचनात्मक अध्ययन–आल इण्डिया ओरियण्टल कानफ्रेन्स–1978 21वां सत्र, (पूना) में पठित, संक्षेप पुस्तिका पृ. 254, 'विश्वम्भरा' (बीकानेर) 10/3 सं. 2035 पृ. 5-12 में प्रकाशित
9 असुर-निर्वचनम्-स्वरमंगला (उदयपुर) 4/2-1978
10 कृष्ण नाम निरुक्ति-विश्वम्भरा (बीकानेर) 10/4-1978
11. 'असुर' शब्द विमर्शः–सागरिका 17/3-पृ. 57–62, 1979
12. असुर का सुरत्व–सन्दर्भ I ग्रन्थ पृ. 121-130
13. अग्नेः परोक्षवृत्तित्वम्–स्वरमंगला 8/4 पृ 5-10, 1983
14. गोविन्द गौरवम्-स्वरमंगला 6/4 पृ. 75-78, 1980
15. जमदग्नि विमर्शः-विश्व संस्कृत सम्मेलन—संक्षेप पुस्तिका 112, 1981
16 अग्नि-विमर्शः–भारती (जयपुर) 33/10 पृ. 326-330, 1983

संस्करण-स्वीकरण

विवेच्य ग्रन्थों के अब तक अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। इनमें पाठ-भेदों और क्षेपकों के कारण पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है। इनके औचित्यानौचित्य पर ध्यान नहीं दिया गया है। इन संस्करणों का उल्लेख ग्रन्थ-सूची में यथा स्थान है।

सामग्री संकलन के लिए मूलतः रामायण के काशी-संस्करण, महाभारत के आलोचनात्मक संस्करण और हरिवंश के चित्रशाला प्रेस, संस्करण को आधार बनाया गया है। जिन अन्य संस्करणों का यथावसर आश्रय लिया गया है, उनका पाद टिप्पणी में संकेत कर दिया गया है। आधारभूत संस्करणों का पाद टिप्पणी में बार-बार उल्लेख नहीं किया गया है। जहां 'महा' मात्र का उल्लेख है, वहां महाभारत का आलोचनात्मक संस्करण अभिप्रेत है।

आभार

(i) प्रस्तुत प्रबन्ध में परोक्ष रूप में ऐसे अनेक ग्रन्थों की भी सहायता ली गई है, जिनका उल्लेख ग्रन्थ-सूचि में नहीं है। सामान्यतः प्रयुक्त और उद्धृत-ग्रन्थों का निर्देश यथास्थान किया गया है। यदि कहीं ऐसा निर्देश छूट गया हो, तो वह अकृतज्ञतावश अथवा जानबूझकर नहीं है, अपितु प्रमादवश ही हुआ है। लेखक उन सभी के प्रति आभार प्रदर्शित करता है, जिनकी रचनाओं और विचारों का उसने प्रयोग किया है।

(ii) इस ग्रन्थ की पूर्णता का श्रेय वरिष्ठ सहयोगी सम्प्रति अवकाश-प्राप्त डा. सुधीर कुमार गुप्त को है। डा. फतह सिंह के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि मूल प्रेरक होने से वे ही इस ज्ञानसत्र के मूल और प्रमुख ऋत्विक् हैं।

(iii) मैं डा. वासुदेव शरण अग्रवाल का ऋणी हूं, जिन्होंने विषय के औचित्य और आवश्यकता पर बल देकर तथा पत्र द्वारा सामग्री का निर्देश कर मुझे इस सारस्वत पथ से विचलित नहीं होने दिया। इसके अतिरिक्त प्रो. सत्यनारायण पाण्डेय (कानपुर) श्री रघुनाथ शर्मा (वाराणसी), डा. गोपालचन्द्र मिश्र (वाराणसी), डा. श्रीधर भास्कर वर्णेकर (नागपुर), डा. मदन मोहन शर्मा (गोहाटी), डा. के. के. चतुर्वेदी (जबलपुर), डा. रामचन्द्र द्विवेदी (जयपुर) आदि विद्वानों का आभारी हूं, जिन्होंने अपनी वैदुष्यपूर्ण सम्मतियों शुभाशसाओं से अनुगृहीत किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (दिल्ली) तथा देवनागर प्रकाशन (जयपुर) के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता हूं, जिनके सहयोग का प्रतिफल आपके कर-कमलों में है।

(iv) पूज्य पिताजी की दिवंगत आत्मा के प्रति मैं श्रद्धावनत हूं, जिनकी बलवती इच्छा थी कि यह कार्य शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो जाए। मेरी पत्नी का भी योगदान अपरिमित है, जिन्होंने गृहस्थी के भार से मुक्त कर मुझे ग्रन्थ रचना के लिए अधिक समय उपलब्ध कराया।

महाशिवरात्रि–2042 वि. 1986 ई. —डा. शिवसागर त्रिपाठी

———

विषय-प्रवेश

1. देववाणी में निबद्ध ज्ञान-राशि के अक्षय्य भण्डार वेद-चतुष्टय के बाद इतिहासपुराण की विशेष महत्ता स्वीकार की गई है। उसे 'पंचम वेद' की संज्ञा दी गई है—'इतिहासपुराणं पंचमो वेदानां वेद.[1]' ......वेदाध्ययन की दृढ़ता के लिए ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् और वेदांगादि के ज्ञान की भांति इतिहास-पुराण का अध्ययन भी आवश्यक है, क्योंकि इनमें वैदिक ज्ञान का ही समुपबृंहण है[2]। विवेच्य ग्रन्थों में इसे शब्दशः स्वीकार भी किया गया है। वाल्मीकि ने वेदार्थ-विस्तर के लिए ही लव-कुश को रामायण ग्रन्थ पढ़ाया था[3]। व्यास ने भी ब्रह्मा से कहा था कि वेद-विस्तर-क्रिया के लिए ही उन्होंने महाभारत मे वेदरहस्य आदि को गुम्फित किया है।[4]

2. इतिहासपुराण के अन्तर्गत रामायण, महाभारत तथा समस्त पुराणों का ग्रहण होता है, पर कुछ विद्वानों ने[5] भारतीय परम्परा-प्राप्त इतिहासपुराण शब्द को पर्याय मानकर इसमे केवल प्रथम ग्रन्थद्वय को ही स्वीकार किया है। राजशेखर ने इन्हें क्रमशः परिक्रिया और पुराकल्प कहा है।[6] बहुत से विद्वानों ने रामायण और महाभारत की प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर इनके लिए 'वीरकाव्य' शब्द का प्रयोग किया है।[7] उसे ही इस प्रबन्ध मे स्वीकार किया गया है।

3. डा. श्रीधर भास्कर वर्णेकर प्रभृति विद्वानों ने इस परिभाषा को ग्रहण करने मे यह आपत्ति की है कि वाल्मीकीय रामायण का अंगी रस वीर नहीं है। उनकी मान्यता सम्भवतः आनन्दवर्धन के मत के आधार पर[8] अथवा उत्तरकाण्ड के आधार पर है; जिसका अन्त करुण रस मे होता है, परन्तु ग्रन्थकार के प्रमुख भाग—दो से छः काण्डों तक का—अंगी रस वीर ही है। वैसे भी ग्रन्थ की फलश्रुति युद्धकाण्ड के अन्त मे दी गई है। अतः यहाँ रामायण को भी वीरकाव्य या वीर रस

---

1. छा. उप. 7.1.4, तु. भा. पु. 1.4.20
2. 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'—महा. चि. 1.1.267 वा. पुं. 1.201, म. पु. 53.69 आदि
3. वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः—वा. रा. बाल. 4.6
4. ब्रह्मन्! वेदरहस्यञ्च यच्चान्यत्स्थापितं मया। सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तर-क्रिया महा. 1.1.61-62
5. श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय आदि-सं. सा. रू. पृ. 6
6. का. मी.—अ. 2 पृ. 20
7. तु.-वे. ला.-पृ. 63
8. ध्व. पृ. 610

प्रधान माना गया है । यदि उपर्युक्त आपत्ति को स्वीकार किया जाय, तो महाभारत भी वीरकाव्य के अन्तर्गत नही आ सकेगा, क्योंकि उसका अंगी रस आनन्दवर्धन ने शान्त माना है ।[1]

रामायण

4. आदिकवि वाल्मीकि-विरचित रामायण एक लोकप्रिय रचना है, जिसमें कोशल देश के इक्ष्वाकुवंशीय राजा रामचन्द्र के सम्पूर्ण जीवन–वनगमन, राक्षसो का उन्मूलन और लंकाविजय आदि घटनाओं की वर्णना बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध और उत्तर नामक सात काण्डों और 24000 श्लोकों में रमणीय शैली मे निबद्ध है । इसलिए इसे 'चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता' भी कहा गया है । यद्यपि लासेन, याकोबी, वेबर आदि विद्वान् रामकथा को काल्पनिक और मनगढ़न्त मानते रहे हैं[2], पर सामान्यतः इसकी मान्यता ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में है । यही अन्तिम मान्यता यहां स्वीकार की गई है ।

महाभारत

5. महर्षि वेदव्यास विरचित जय[3], भारत[4] और महाभारत[5] के रूप में विकसित यह अष्टादश पर्वात्मक और लक्षश्लोकात्मक एक विशाल ग्रन्थ[6] है । इतिहास[7] के सम्बन्ध में भारतीय लेखकों की अपनी दृष्टि और मान्यताएं थीं, तथा सम्प्रेषण के लक्ष्य, परिकल्प एवं स्वरूप भी असामान्य थे, जो आज की मान्यताओं से पूर्णतः सगत न होने के कारण इन ग्रन्थों पर अनेक आक्षेपो के प्रेरक रहे हैं । यहां तक कि डा. दिनेशचन्द्र सरकार और डा. हंसमुख धी. सांकलिया प्रभृति विद्वानो ने महाभारत को कपोलकल्पित और पारिवारिक कलहमात्र घोषित कर दिया है[8], परन्तु सामान्यतः यह भी इतिहास का अमूल्य रत्न माना जाता है । इसमें मूलतः कौरवो और पाण्डवों के मध्य सम्पन्न हुए युद्ध की कथा है । साथ ही यह प्रचुर विषयों से संवलित है । भीष्मपर्व में श्रीकृष्णोपदेश रूप श्रीमद्भगवद्गीता का अपना पृथक् महत्त्व है ।[9] महाभारत का एक खिल पर्व 'हरिवंश' है, जिसकी पुराणसम मान्यता भी है ।

---

1. ध्व.–पृ. 611
2. रा सं–पृ 7
3. महा. 1.1 1
4. महा. 1.1.61
5. महा. चि. 1 1 102
6. नि. को. 354
7. (अ) इति+ह+आस=इत्थं निश्चयेन बभूव (ब) इतिह (पारम्पर्योपदेशे)+आस=जिसमे परम्परागत बातो का वर्णन हो (स) इति+ह+अस (असु क्षेपणे से)=इसे निश्चय ही इस प्रकार प्रस्तुत किया गया ।
8 धर्मयुग–14 से 20 दिसम्बर 1975, पृ. 6; 9–श्री. द्र. प्राक्कथन.

प्रक्षिप्तांश

6. वीरकाव्यों मे प्रचुर प्रक्षिप्तांशों की सत्ता का आभास होता है, क्योंकि वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों के आख्यानो, स्तोत्रों और उपदेशों आदि के माध्यम से सामान्य जनता मे प्रचारार्थ शिष्यों, प्रशिष्यों और कथकों ने समय-समय पर इनमें परिवर्तन परिवर्धन किये। रामायण के गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस और निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित औदीच्य, कलकत्ता से प्रकाशित गौडीय या बंगला, लाहौर से प्रकाशित पश्चिमोत्तरीय और कुम्भकोणम्, मद्रास से प्रकाशित दाक्षिणात्य संस्करणो मे तृतीयांश श्लोक-संख्या लगभग एक दूसरे से भिन्न है। इनमें प्रथम अधिक प्रचलित और प्रामाणिक है। याकोबी ने तो रामायण के दो भाग मान लिये है–मूल (2–6 काण्ड) और प्रक्षिप्त (6, 7 काण्ड)। मूल भाग मे भी कुछ प्रक्षिप्त हैं।

7. महाभारत भी आज प्रक्षिप्त अंश से युक्त है। भिन्न कालों मे हुए उसके जय, भारत और महाभारत नामक स्वरूपों की चर्चा ऊपर आई हैं। वर्तमान स्वरूप के भी उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय संस्करणों मे पर्याप्त पाठ-भेद हैं। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों मे मतैक्य नही है।

8. कतिपय विद्वानों ने इन वीरकाव्यो के आलोचनात्मक संस्करण निकाले हैं, जिनमे सम्भावित प्रक्षिप्त अंशों को निकालकर शुद्ध किया गया है, जैसे रामायण के लाहौर और बड़ौदा के संस्करण तथा महाभारत के पूना और गोरखपुर के संस्करण। पर इन्हें भी पूर्ण नही माना जा सकता। अनेकत्र परित्यक्त पाठ अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। वस्तुत: विभिन्न संस्करणों में सम्पादकों का अपना-अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव लक्षित होता है। अत: इन संस्करणो को नितान्त व्यक्ति-भाव-निरपेक्ष, वस्तुनिष्ठ और मूल रूप के प्रस्तुतकर्ता नहीं माना जा सकता। अनेक स्थलों पर वैमत्य रहना स्वाभाविक है। अत यह निर्णयात्मक रूप से कहना सम्भव नहीं कि अमुक निर्वचन प्रक्षिप्त ही है। बहुत से आख्यानों और उपाख्यानों को सामान्यत: प्रक्षिप्त माना ही गया है, परन्तु ग्रन्थ की और काल की मूल भावनाएं उनमे अवश्य निहित होंगी।

9 अत: इस अध्ययन में उपलब्ध सामग्री को यथावत् ग्रहण किया गया है, क्योंकि अब प्रक्षिप्तांशो का अलग कर पाना और उन पर एकमत हो पाना सरलतया सम्भव नहीं है।

भाषिक संरचना

10 उपरिलिखित विषयों की दृष्टि से वीरकाव्यों का अध्ययन न्यूनाधिक मात्रा मे हुआ है, पर ये ग्रन्थ भाषिक संरचना की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यो तो इनमे सरल और सुबोध भाषा का प्रयोग हुआ है और बाद के साहित्य में उद्भूत कृत्रिमता यहां दृष्टिगत नहीं होती, फिर भी दो बातें उल्लेख्य हैं—(अ)अपाणिनीय प्रयोग और (ब) निर्वचन, जिन्हें देखकर यह स्पष्ट होता है कि इनके

रचयिता जटिल व्याकरण के पक्षपाती न थे, अपितु लोकव्यवहार की भाषा पर विशेष बल देते थे। इसकी पुष्टि प्रस्तुत शाब्दिक विवेचन से भी होती है।

अर्थावबोध

11. किसी भी भाषा या साहित्य के सम्पूर्ण ढांचे का आधार होते हैं, 'शब्द' तथा शब्द के आधार होते है, 'अर्थ'। प्रारम्भ में लोग अभ्यास और प्रयोग से शब्दार्थ समझ लेते हैं। फिर उसका व्याकरण बनता है तथा कोश बनते हैं। एक से प्रकृति-प्रत्यय, वाक्य-रचना और पारिभाषिक विवेचन आदि प्राप्त होते हैं और दूसरे से अर्थ या पर्याय ज्ञात होते हैं। उनके अतिरिक्त भी बहुत कुछ बचता है, जो व्यवहार या प्रयोग-पद्धति द्वारा जाना जा सकता है।[1] निर्वचन यह कार्य एक बड़ी सीमा तक पूर्ण करते हैं। इसका अनुभव भारत के प्राचीन भाषा-शास्त्रियों को भी हुआ था। अतः निरुक्त शास्त्र लिखे गए, जिनमे शब्दों के मूलरूप और निरुक्ति पर विचार के साथ उनके विकारी रूपो के आधारों और प्रकारों का भी निर्देश है। इनमें यास्क का योगदान सर्वोपरि है।

निरुक्त और व्याकरण

12. इस प्रकार शब्द की सच्ची परख के लिए स्पष्टीकरण और व्याख्या-पद्धति के आधार पर दो शास्त्र विकसित हुए—निरुक्त और व्याकरण।[2] ऋग्वेद[3] और वैदिक साहित्य[4] मे उपलब्ध निर्वचनों को देखकर यह स्पष्ट होता है कि निर्वचन-परम्परा अतिप्राचीन है, जो पहले मौखिक और अनुमानाश्रित रही भी हो सकती है, पर धीरे-धीरे इसमे वैज्ञानिकता आती गई और व्याकरण से पुष्टि भी की जाने लगी। वस्तुतः व्याकरण को निरुक्त का ही विकसित, नियमित किंवा जटिल रूप माना जा सकता है।[5] दोनो शास्त्र, लोक मे जैसी भाषा और तद्गत शब्द आदि मिलते हैं, उसी स्थिति में उन पर विचार करते है। व्याकरण मे शब्द-विश्लेषण-प्रक्रिया का प्राधान्य है। कारक, कृदन्त, तद्धित और समासादि प्रकरणो मे लौकिकी विवक्षा स्पष्ट द्रष्टव्य है। व्याकरण के नियमों के अव्याख्यात स्थलो मे उसने निपातन[6], बाहुलक,[7] व्यत्यय[8]

---

1. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥ शब्द शक्ति प्रकाशिका तु.–वाक्य. 2.316
2. तु–तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानमर्थनिर्वचनम्। व्याकरणं तु लक्षण-प्रधानमिति विशेषः–नि. दु. 1.15.1
3. द्र.–वै. वा. भा. चि. पृ. 24-117
4. द्र.–वै. एटी. सम्पूर्ण
5. तु–तै. सं 6.4.7.3
6. तदिह लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम्–का. सू. 5.1.59
7. स. को. कृदन्त, कृत्यप्रकिया
8. पा. 3.1.85

पृषोदरादि[1], उणादि[2] और संज्ञाप्रमाण[3] आदि के द्वारा लोक-सिद्ध रूपों और प्रयोगों की रक्षा की है। निरुक्त में अर्थ को आधार मानकर व्याख्या की गई है। वहां सामान्यतः प्रकृति का ही निर्देश है। अतः इस शास्त्र को निपातन आदि के आश्रय की आवश्यकता नहीं हुई है।

13. व्याकरण की शाब्दी प्रक्रिया को व्युत्पत्ति (डेरीवेशन) और निरुक्त की आर्थी प्रक्रिया को निरुक्ति (एटीमोलोजी) कहते हैं। पाणिनि के उदय के साथ व्याकरण का समुत्थान इतना हुआ कि निरुक्त उपेक्षित-सा हो गया। पीयूष वर्ष जयदेव ने तो प्रथम को 'सत्य निरुक्त' और द्वितीय को 'मिथ्या निरुक्त' तक कहा है[4] पाणिनीय-शिक्षा में ठीक ही निरुक्त और व्याकरण को क्रमशः वेदपुरुष का श्रोत्र और मुख कहा गया है[5]।

निर्वचन का अर्थ और परिभाषा

14. एटिमोस=यथार्थ और लोगोस=लेखा-जोखा से बना 'एटिमोलोजियो' शब्द ग्रीक में दर्शन की एक शाखा थी, जिससे यह अपेक्षा थी कि शब्द का निर्वचन-परक शोध करके उसके अर्थ को पहचाना जाय और उसका ठीक प्रयोग किया जाय। भारत में यह भावना प्रारम्भ से ही थी, जिसे वैदिक निर्वचनों में और 'निरुक्त' में देखा जा सकता है। 'निर्वचन' शब्द निर्+ वच् +ल्युट् से व्युत्पन्न होता है, जिसका मूल उद्देश्य यह दिखाना होता है कि जिस अर्थ में शब्द-विशेष का प्रयोग होता है, वह अर्थ उस शब्द से कैसे निकलता है। इसे निरुक्त के टीकाकार दुर्गसिंह ने स्पष्ट किया है कि इसमें परोक्षवृत्ति या प्रतिपरोक्षवृत्ति शब्दों में छिपे हुए अर्थ को निकालकर शब्द की व्याख्या किया जाता है[6]। प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों की यह व्याख्या व्याकरण करता है, पर अप्रत्यक्ष-वृत्ति शब्दों के लिए विशेष रूप से मुख्य सिद्धान्त है-'अर्थनित्यः परीक्षेत'[7]/यहां भी शब्द की पूर्ण व्याख्या और स्पष्टीकरण के लिए व्याकरण का आश्रय लेना पड़ता है।[8] आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रदत्त निर्वचन की परिभाषा उक्त भाव को ही स्पष्ट करती है-'गुणतः शब्दनिष्पत्तिर्निर्वचनम्'[9] अर्थात् शब्द की इस

---

1. पा. 6.3.109 2. पा. 3.3.1
3. द्र.-'संज्ञायाम्' से सम्बद्ध 50 से भी अधिक सूत्र; पा 1.2.51-58; द्र.-पा. का. भा. 38
4. च. 3.6
5. निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते-पा. शि. 41; मुखं व्याकरणं स्मृतम्-पा. शि. 42
6. अभिहितार्थस्य परोक्षवृत्तौ प्रतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्—नि. दु. 2.1.1
7. नि. 2.1.3
8. द्र-'नावैयाकरणाय'-नि. 2.3.5; 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च'-नि. 1.15.1
9. अर्थ.-पृ. 42

प्रकार व्याख्या करना, जिससे उसका अन्तर्गत भाव झलक पड़े, *'निर्वचन'* कहलाता है। यह व्याकरण की अपेक्षा लोक के अधिक निकट है। 'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' में भी देवों की परोक्षप्रियता की बात कहकर लोकगत प्रयोग की प्रधानता बतलाई है। इस लोक-दृष्टि को भर्तृहरि[1], पतञ्जलि[2] और कैयट[3] आदि वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है।

निर्वचन-परम्परा और इतिहास

15. ऋग्वेद संहिता में भाषा के पर्याय,[4] उसका महत्त्व[5], गुण-दोष[6], नित्यता[7] आदि के सम्बन्ध में ऋषियों के स्वस्थ विचारों और निर्वचनों की संख्या से यह स्पष्ट होता है कि भाषा-चिन्तन भी भारत की प्रमुख धारा रही थी। निर्वचन-प्रक्रिया को इसका पूर्व-रूप माना जा सकता है, जिसे वैज्ञानिक और नियमित रूप देने के लिए व्याकरण की आवश्यकता पड़ी होगी।

16. निर्वचनों की महती परम्परा संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् किंवा समस्त वैदिक साहित्य[8] में प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में डा. फतहसिंह[9] डा. सुधीरकुमार गुप्त[10], पं. शिवनारायण शास्त्री,[11] श्री युधिष्ठिर मीमांसक[12] प्रभृति विद्वानों ने सोदाहरण विस्तृत विचार किया है, जो उनके ग्रंथों और लेखों में द्रष्टव्य है। निर्वचनों के सम्बन्ध में शास्त्रीय विवेचन यास्क कृत निरुक्त में हुआ है, जिसका *विस्तृत अध्ययन डा. स्कोल्ड, राजवाडे, सिद्धेश्वर वर्मा*[13] *डा. गुप्त*[14] और पं. शिवनारायण शास्त्री[15] आदि ने किया है। आचार्य शौनक का कार्य भी नैरुक्त परम्परा में है।[16]

---

1. शब्दाः लोकनिबन्धनाः-वा. प. 2.229
2. लोकेऽर्थकृतं प्राधान्यम्-म. 3.1.1
3. काशिका 1.2.56
4. *वाक्, गिर्, गो, अघ्न्या, सूनृता, वाणी आदि*
5. ऋक् 10.71.2, 1.164 49, 7.15.9 आदि
6. ऋक् 1.182 4, 1.164.10, 10.71.4 आदि और मृध्रवाचः 1.174.2, वध्रिवाचः-7.18.1
7. ऋक् 8.75.6
8. प्रातिशाख्य, चरणव्यूह, कल्पसूत्र, शिक्षा, छन्दः, ज्यौतिष् आदि द्रष्टव्य
9. वै. एटी.
10. वे. भा. द. चतुर्थ अध्याय
11. नि. मी. अ. 17 और वै. वा. भा. वि.-अ. 2
12. सं. व्या. इ.-अ. 2
13. एटी. या.
14. वे. वा.-वेदाङ्क 17.1 नि. मी. अ-19
15. नि. मी.-अ. 18 पृ. 235;
16. बृहद्देवता-अ. 1, 2

17. यद्यपि व्याकरण का कार्य किंचिद् भिन्न है, तथापि उसका योगदान निर्वचन के क्षेत्र में अविस्मरणीय है।[1] कोशों में जो शब्द-व्युत्पत्तियां दी गई हैं,[2] वे भी इसी परम्परा में हैं। दर्शनग्रन्थों, स्मृतियों, वीरकाव्यों, पुराणों और उपपुराणों में उपलब्ध निर्वचनों में व्याकरण और निरुक्त का मिला-जुला रूप दिखाई पड़ता है। वीरकाव्यगत सामग्री के सन्दर्भ में एक झलक प्रस्तुत अध्ययन में प्रस्तुत की गई है। निर्वचन-परम्परा पुराणेतर साहित्य[3] और काव्य-साहित्य[4] में भी चलती दृष्टिगत होती है। पश्चिम में भी भाषा का नैरुक्त अध्ययन किया गया है, परन्तु उसकी दृष्टि भारतीय दृष्टि से भिन्न है। वहां तुलनात्मक पद्धति पर विशेष बल दिया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में इस शैली का प्रयोग नहीं किया गया है।[5]

वर्गीकरण

18. 'ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म'[6]—श्रीमद्भगवद्गीता के इस वाक्य में समस्त साहित्यिक एवं जागतिक प्रपञ्च समाहित है। जिस प्रकार ब्रह्म की परा शक्ति का पूर्ण परिज्ञान उसके दैविक और भौतिक प्रपञ्च का वर्गीकृत अध्ययन करके देखा और परखा जा सकता है, उसी प्रकार शब्द-ब्रह्म के सम्यग् ज्ञान के लिए शब्दों का अध्ययन परमावश्यक है। एतदर्थ सभी भाषाविदों ने तथा संस्कृत-भाषाशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से अपने अध्ययन को पूर्ण और सुकर बनाने के लिए शब्दों के अनेकविध वर्गीकरण किये हैं। प्रस्तुत अध्ययन की सुचारुता के लिये वे वर्गीकरण अपने मूल रूप में उपयुक्त प्रतीत नहीं हुए। अतः यहां वीरकाव्यों के निर्वचनों के विवेचन में विषयों की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण का आश्रय लिया गया है—

1. दैविक खण्ड—
    - (क) देवता वर्ग-देव, देवी आदि
    - (ख) देवयोनि वर्ग-अप्सराः, यक्ष, गन्धर्व, दानव आदि
    - (ग) मानववर्ग—
        - (अ) ऋषि-ऋषिका आदि
        - (आ) राजा-आयुध आदि
        - (इ) अन्य-परिवार, समाज, ज्ञान आदि

---

1. तु.-नि. 1.15.1
2. अमरकोश-क्षीरस्वामी और भानुजि दीक्षित कृत टीकाएं, शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यम्, हलायुध आदि
3-4. द्र.-(उपसंहार) पा. टि. 2;
5. विस्तृत जानकारी के लिए देखें डा. सु. कु. गुप्त के लेख 'वैदिक भाषा में नैरुक्त अध्ययन की रूपरेखा' (विश्व 3.4.1966 पृ. 134) 'संहिताओं में उपलब्ध निर्वचनों के प्रकार' (विश्व 3 4-1965 पृ. 33-43) 'ब्राह्मणों में प्राप्त निर्वचनों के प्रकार और पर्याय योजना' (गु प. भ.-अक्टूबर-1961)
6. गीता 8.13

2. भौतिक खण्ड—

(क) स्थलीय वर्ग–द्वीप, देश, स्थान, नगर, पर्वत खनिज।

(ख) जलीय वर्ग–जल, नदी, सरोवर, सागर, तीर्थ

(ग) वनस्पति वर्ग–वन, वृक्ष

(घ) जन्तु वर्ग–पशु-पक्षी

(ङ) अन्तरिक्ष वर्ग

3. विविध—

कुछ ऐसे पद हैं, जो ऊपर के वर्गों मे नही रखे जा सके हैं। इनमें कोई उल्लेख्य विशेषता न होने से उनका अध्ययन इस रचना में पृथक् से नहीं किया गया है।

19. यद्यपि कुछ शब्द एकाधिक वर्गों मे आते हैं, तथापि पिष्टपेषण के परिहार के निमित्त उनका व्याख्यान किसी एक वर्ग मे ही किया गया है।

20. उपरिलिखित वर्गों से सम्बद्ध निर्वचनो मे अपनाई गई दृष्टियों और शैलियों का विवेचन आगे प्रथम अध्याय मे किया गया है।

प्रथम अध्याय

निर्वचनों की स्वरूप-शैली[1]

शब्द-निर्वचन की समृद्ध परम्परा और उसका इतिहास देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्वचन-धारा सतत प्रवहमान है। उसके वैदिक स्वरूप पर पर्याप्त विचार हुआ है, जिसका संकेत प्रबन्ध मे यथास्थान अनेकत्र किया गया है। यहां उसके पौराणिक विशेषतः वीरकाव्यगत स्वरूप को उपस्थित किया जा रहा है, जो अनेकत्र पूर्णतः अथवा अंशतः परम्परा-पुष्ट है और अनेकत्र पुराण-धारा से प्रवृत्त हुआ है।

उल्लेख्य है कि विवेच्य ग्रन्थों मे प्रकृत विषय के सिद्धान्त-पक्ष का वर्णन नही किया गया है, तथापि भाषा और निर्वचन से सम्बद्ध कुछ सकेत महाभारत में यत्र तत्र प्राप्त होते है। जैसे श्वेतकेतु के मत से शब्द और अर्थ की व्याख्या[2], व्याकरणगत व्युत्पत्ति के लिए वर्ण, अक्षर, पदार्थ, सन्धि, लिंग और नामधातु की आवश्यकता[3], निर्वचन में अर्थ और लोकभावना की प्रधानता[4], आर्थी निर्वचनों के लिए पाच अर्थ-विशेषों (सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोग) का साहाय्य[5], निघण्टु-निरुक्त के कर्ता का यत्र तत्र स्मरण[6], निरुक्त की व्याख्या[7] और उसकी शैली की

1. इस अध्याय के मूल या पादटिप्पणी में उदाहृत शब्दों के निर्वचन और सन्दर्भ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ मे किये विवेचन की अध्याय/पद-संख्या परिशिष्ट एक और दो में देखें। सुविधा के लिए यत्र-तत्र पाद टिप्पणी मे कतिपय शब्दों के अध्याय और विवेचित निर्वचन की संख्या अथवा नि०को० की संख्या दे दी गई है।
2. व्यत्ययेन च वर्णानां परितापकृतो हि यः।
   स शब्द इति विज्ञेयस्तन्निपातोऽर्थ उच्यते ॥ महा० आश्व० अपे. 1/4/1666
3. वर्णाक्षरपदार्थानां सन्धिलिंगविवक्षितम्।
   नामधातुविवेकार्थं पुरा व्याकरणं स्मृतम् ॥ महा० आश्व० अपे० 1/4/2666
4. सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
   प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ॥ महा० चि० उद्योग 43/36
5. सौक्ष्म्यं सांख्यक्रमौ चोभौ निर्णयः सम्प्रयोजनम्।
   पंचैतान्यर्थजातानि वाक्य-मित्युच्यते नृप ॥ महा० चि० 320/79
6. 'नैघण्टुकपदाख्यातं विद्धि मां वृषमुत्तमम्।' महा० चि० 12/342/88
   'यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्' महा० 12/330/23
7. नामधातुविभक्तीनां तत्त्वार्थनियमाय च।
   सर्ववेदनिरुक्तानां निरुक्तमृषिभिः कृतम् ॥ महा० आश्व अपे० 1/4/2673

उत्तमता का स्वीकरण[1] आदि । हरिवंश के एक सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि निर्वचन-परम्परा अति प्राचीन थी और इस शास्त्र में निपुण विद्वानों का बड़ा मान था ।[2]

स्वरूप और शैली

विवेच्य ग्रन्थों में उपलब्ध निर्वचनों का स्वरूप और उनकी शैलियां अनेकविध है, जिनका दिग्दर्शन नीचे किया जा रहा है ।

1. निर्वचनीय पद

निर्वचन के साथ प्रायः निर्वचनीय पद का भी प्रयोग किया जाता है ।[3] इसका अपवाद भी है, जिसे सकेतित निर्वचनों के सन्दर्भ मे आगे लिखा गया है ।[4]

2. प्रकृति-प्रत्यय

निर्वचनो में प्रकृति का स्पष्ट प्रत्यक्ष[5] या अप्रत्यक्ष[6] उल्लेख मिलता है, पर प्रत्यय की ऊहा करनी होती है ।

3. निर्वचन द्योतक पदावली

3. निर्वचन-प्रदर्शन के लिए 'निर्वचन्ति या 'निरुच्यते' का प्रयोग प्रचुर हुआ है । किन्तु 'कीर्त्यते'[7] उच्यते[8], विदुः[9] आदि पदों के द्वारा इसका आख्यान यत्र तत्र किया गया है । नामपरक निर्वचनो मे 'नाम्ना भविष्यति,'[10] 'नाम स्यास्यति'[11] 'नाम चक्रुः'[12], 'गास्यन्ति'[13] 'प्रोक्त'[14] इति ख्यातम्[15] आदि वाक्यांशों का प्रयोग यत्र तत्र मिलता है । अनेकत्र उक्त पदावलियों का प्रयोग नही भी किया गया है[16] ।

इसके अतिरिक्त कही-कही नाम के साथ 'नाम' शब्द का प्रयोग किया गया है जैसे 'केशवो नाम नाम्ना'[17] मेधावी नाम नामतः'[18], 'सुवीरो नाम नामतः'[19] । विष्णु पुराण के एक ऐसे स्थल 'रैवतो नाम नामतः'[20] पर टीकाकार श्रीधर स्वामी ने यह व्यवस्था दी है कि रैवत अपने नाम से प्रसिद्ध है, रेवत-पुत्र होने से नहीं—

---

1. द्र० निरुक्त की 'अर्थनित्य. परीक्षेत'2 /1 शैली मे 'महाभारत' का निर्वचन-
   महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते ।
   निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। महा० 1/1/209
2. द्र० नि० को० मे सकलित निर्वचन
3. द्र० आगे अनुच्छेद 13.
4. अज, राजा, वसिष्ठ, हर आदि ।
5. द्र० आगे 'संकेतित निर्वचन' अनु० 13
6. महा० ग्रौ० प्रे० अनु० । 62.22
7. अग्नि (III) (IV)
8. अतिथि (I, (II)
9. अर्जुन
10. अश्वत्थामा
11. एकाक्षिपिंगल
12. कपालमोचन
13. उपेन्द्र
14. आर्तायनि
15. इन्द्रतीर्थ
16. आदित्य
17. नि०को० 130 (IV)
18. नि०को० 378
19. नि० को० 575
20. वि०पु० 3.1.20

'नामतः संज्ञयैव न तु रेवत-पुत्रः, परन्तु यह व्यवस्था सर्वत्र घटित नहीं की जा सकती। वस्तुतः नामकरण-निर्देश की यह एक शैली प्रतीत होती है, जिसे डा० रामशंकर भट्टाचार्य ने एक समस्या के रूप में प्रस्तुत किया है[1]।

4. वैदिक निर्वचनों में 'च', 'वा', 'ह' आदि पूरक निपात शब्दों का प्रयोग अल्प है, किन्तु पौराणिक निर्वचनों में इनके साथ ही पादपूर्त्यर्थ 'निश्चयः' 'शब्दितः' 'स्मृतः' 'वै' आदि का प्रयोग भी प्रचुरता से हुआ है[2]। ऐसे कुछ शब्द, विशेष उद्देश्य से भी प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं[3]।

5. कहीं-कहीं कारण निर्देश सहित निर्वचन प्रस्तुत किये गए हैं। ऐसे स्थलों में 'यस्मात्'[4] 'तस्मात्'[5] 'तेन'[6] 'ततः'[7] 'कस्मात्-तस्मात्' आदि पदों का एकतः अथवा युग्मतः[8] प्रयोग किया गया है। कभी-कभी औपनिषदिक शैली में शब्द में ही पञ्चमी[9] तृतीया[10] और तद्धितान्त शब्दों में षष्ठी विभक्ति[11] लगाकर निर्वचन प्रस्तुत किये गए हैं।

6. कतिपय निर्वचन ब्राह्मण-शैली में निर्वचनीय पद में षष्ठी विभक्ति लगाकर 'त्व' या 'ता' के द्वारा भाववाचक संज्ञा के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, यथा-आहवनीय, नीलकण्ठ, स्कन्द आदि के निर्वचन।

7. संख्यापूर्ण निर्वचन

कतिपय निर्वचनात्मक शब्द संख्याओं से सम्बद्ध हैं, जिनमें 'त्रि' और 'पंच' से बनने वाले शब्दों की संख्या अधिक है। जैसे द्वि 'द्वापर' 'द्विजिह्व' 'द्वैपायन'। त्रि-त्रिककुत्, त्रिधातु, त्रिपथगा, त्रिपुरारि, त्रिविक्रम, त्रिशंकु, त्रिशिराः, त्रिसौपर्ण, त्रेता, त्र्यक्ष, त्र्यम्बक। चतुः-चतुर्मुख। पंच-पंचशिख, पंचाप्सरस्, पचाल, पांचजन्य, श्रीपंचमी, समन्तपंचक। षट्-षडानन, पाण्मातुर। अष्ट-अष्टावक्र। सहस्र-सहस्रनयन, सहस्राक्ष। अयुत-अयुताक्ष :

8 काल-प्रयोग

निर्वचनों में तिङन्त और कृदन्त प्रयोगों के द्वारा विभिन्न कालों का प्रयोग हुआ है। इनमें भूतकाल का प्रयोग निर्वचन की वेदमूलकता या प्राचीनता या आख्यानात्मकता के द्योतन के लिए[12], वर्तमान का शाश्वत तथ्यों की उद्भावना के लिए[13] अथवा वक्ता या ग्रन्थकार के समकालिक विद्वानों या लोगों के मतों की

---

1. इ० पु० अनु० पृ० 13
2. द्र०–नि० को०
3. द्र०-पीछे अनुच्छेद 3,4
4. अनिरुद्ध
5. अज
6. अर्जुन, असुर
7. अणीमाण्डव्य, ऋतधामा
8. अहल्या, अग्नि, रावण
9. रुद्र, वैयाकरण
10. भार्या (II)
11. कारूप, कुशावती
12. अक्षर (II) (III) अग्निहोत्र (II), ब्रह्म (II), मरुत्, मान्धाता
13. अक्षर (I), अहल्या, आवह–उद्वह आदि सप्त वायु, बुध्यमान, प्राणापानादि पञ्चप्राण

संभावना के लिए,[1] विपर्यय[2] या आज्ञा[3] का सुहृत्सम्मितत्व[4] के लिए तथा भविष्यत्काल का वक्ता या ग्रन्थकार की धारणा, कामना या आशीर्वादात्मक भाव प्रकट करने के लिए[5] किया गया प्रतीत होता है, पर अनेकत्र इसमें विप्रतिपत्तियां भी दृष्टिगत होती हैं, अर्थात् इनका प्रयोग यथावसर छन्दोगत सौविध्यार्थ स्वेच्छया और सन्दर्भशः भी किया गया है। 'अज' शब्द के द्वितीय निर्वचन मे तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) का एक साथ प्रयोग हुआ है[6]।

9. पद प्रक्रिया प्रयोग

वीरकाव्यों के कतिपय निर्वचनो मे धातुरूपो का प्रयोग क्रियाफल के स्वगामित्व अथवा परगामित्व की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे 'आदित्य' का निर्वचन द्रष्टव्य है[7]।

10. पुरुष-प्रयोग

निर्वचनों में 'प्राय:' प्रथम पुरुष का प्रयोग किया गया है। आख्यानात्मक और संवादात्मक पात्रोक्त निर्वचनों मे मध्यम[8] और उत्तम पुरुषों[9] का प्रयोग भी मिलता है।

11. प्रश्नोत्तर-शैली

निर्वचन को स्पष्ट और रोचक बनाने के लिए संवाद या प्रश्नोत्तर-शैली का भी आश्रय लिया गया है[10]। जैसे धृतराष्ट्र के पूछने पर[11] संजय 'वासुदेव' आदि नामों के, उत्तर के पूछने पर[12] 'अर्जुन' अपने दश नामों के तथा अर्जुन के पूछने पर 'कृष्ण' अपने नामो के[13] निर्वचन देते हैं।

12 स्तोत्रगत निर्वचन

कतिपय निर्वचन, स्तोत्रो मे, देव-देवियो के नामों के सन्दर्भ मे प्राप्त होते हैं[14]। वहा ऋषियों, पर्वतो नदियों और तीर्थों आदि के नामो का भी संकीर्तन किया गया है।

स्तोत्रो मे कही-कही स्पष्टतः निर्वचन नही भी हैं, पर अभिप्रेत यही प्रतीत

---

1. कुलपति, जातवेदाः।
2. अग्निहोत्र (I) उदान (III)
3. अक्षर (I), परिक्षित् (I), अरुन्धती।
4. सु–सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च–का. प्र. प्रथम उल्लास।
5. उद्दालक, उपरिचर, एकाक्षिपिंगल, परीक्षित् (II)
6. द्र.–नि. को 14
7. द्र.–8.24
8. अचला, अरुन्धती, ईश्वर (I)
9. अज (I), अर्जुन
10. उपनिषदो की ब्रह्मोद्य चर्चाओं में तथा ब्राह्मण और उपनिषदों के निर्वचनों में भी यह शैली देखी जा सकती है।
11. महा. 5.68 2
12. महा. 4 39.8
13. द्र.–महा. 12.328
14. द्र.–सहदेव द्वारा की गई अग्नि की स्तुति–महा. 2.28

होता है कि मनःस्थ निर्वचन के आधार पर किया गया साभिप्राय शब्द-प्रयोग अन्वर्थक फल भी प्रदान करता है, जैसे बलदेव द्वारा प्रद्युम्न को बताया गया 'प्राह्निक स्तोत्र' ।[1]

13 संकेतित निर्वचन

विवेच्य ग्रंथों में अनेकत्र स्पष्ट निर्वचन नहीं हो पाया है, पर ग्रन्थकार को निर्वचन अभीष्ट है । ये संकेतित निर्वचन अनेकविध हैं, जैसे कहीं निर्वचन या विग्रह दिया गया है, पर तत्सम्बन्धी शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है[2] । कहीं 'सत्यनामा प्रकाशते'[3], 'नामधेयानुरूपस्य'[4] आदि भावप्रकाशक अन्वर्थ शब्दावली से अथवा विशेषण पदों के माध्यम से[5] निर्वचन संकेतित हैं । कहीं आख्यान से ही अभीष्ट निर्वचन का संकेत दिया गया है[6] । कहीं उसी धातु से बने शब्द का[7] और कहीं उसके क्रिया रूप का[8] प्रयोग करके, कहीं शब्द के अर्थ की व्याख्या करके,[9] तथा कहीं आलंकारिक अथवा अनुप्रासयुक्त भाषा का प्रयोग करके [10] भी निर्वचन दिए गये हैं ।

14. वेदोपबृंहण

इतिहासपुराण-ग्रन्थों की यह मान्यता थी कि वैदिक अभिप्रायों का समुपबृंहण किया जाय । यह समुपबृंहण आख्यानों, उपाख्यानों-व्याख्याओं और निर्वचनों से किया गया है । ऐसे निर्वचनों में कहीं 'प्रोक्तमिति श्रुतौ' [11] 'विश्रुत'[12] 'वदन्ति'[13] इति श्रुतिः[14] 'इति प्राहुः'[15] 'वाक्यमाहुः'[16] 'स्मृतः'[17] आदि पदों या वाक्यों का प्रयोग करके वैदिकता स्वीकार करते हुए निर्वचन मूल की ओर संकेत किया

---

1. हरि 2.109
2. अहिंसा, त्रिपुरारि, दैत्य, परिवेदनीया, भार्या, सम्पाति आदि ।
3. अयोध्या ।
4. अनन्त, अन्वर्थनामा संजय ।
5. अयोध्या, अरिष्ट, राम, रावण ।
6. कबन्ध, कल्माषपाद, मेषवृषण, बदरपाचन, वसिष्ठापवाह, समङ्गा ।
7. महा. 1.127.13 ।
8. द्र.–व्यूह ।
9. अनिरुद्ध, शरण्य ।
10. अंगद (कनकाङ्गद), अवन्ती (अश्ववन्ती), दुन्दुभि (दुन्दुभिर्यथा); पा. टि. 5 भी देखें ।
11. महा. आश्व. अपे. 1.4.2527-28
12. महा. 12.176.32
13. महा. गी. प्रे. अनु. 85.108
14. हरि 3.34.42
15. महा. 1.213.60
16. महा. 1.2.8
17. महा. 12.330.9

गया है। कहीं मन्त्रांश उद्धृत करके[1] कहीं वैदिक निर्वचन को ज्यों का त्यों स्वीकार करके[2] कहीं उसका भाव ग्रहण करके[3], कहीं वैदिकी परम्परा का अवलम्बन करते हुए[4] कहीं वैदिक तथ्यों को पौराणिक शैली में प्रस्तुत करते हुए[5] कहीं वैदिक शब्द और तत्कालीन अर्थ का आश्रय लेकर अभीष्ट देवनाम की व्याख्या करते हुए[6], कहीं नैरुक्त शैली को ग्रहण करते हुए[7], कहीं रोचकता लाने के लिए आख्यान, घटना या संवादों से सवलित करते हुए[8], कहीं अनिश्चित वैदिक निर्वचन को आख्यानादि से संयुक्त करके निश्चितता[9] और पूर्णता[10] लाने के लिए निर्वचन किये गये हैं।

15. कुछ निर्वचनों में वैदिकता का स्मरण तो किया गया है, पर उपलब्ध वैदिक साहित्य में वह नहीं मिलता, जैसे 'अधोक्षज'[11]।

16 वैदिक और पौराणिक परम्पराओं के सम्मिश्रण का प्रयास

कतिपय शब्दों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वेद और इतिहास-पुराण दोनों की भिन्न परम्पराएं हैं, पर उन्हें मिलाने का प्रयास किया गया है।[12] यह भी दृष्टिगत होता है कि कतिपय शब्द वेद में सत् और असत् दोनों भावों के द्योतक थे, किन्तु बाद में उनके असदर्थ का अधिक प्रचार हुआ।[13] कुछ वैदिक शब्दों के ध्वनि-साम्य के कारण यहां अद्भुत निर्वचन प्रस्तुत किये गए हैं।[14] इस प्रकार ऐसे निर्वचन भी प्राप्त होते हैं, जिनमें वेदगत निर्वचन के साथ आंशिक साम्य है अर्थात् उनके प्रस्तुतीकरण और वाच्यार्थ आदि में कुछ भेद है।

17. वैदिक अर्थसम्पत्ति का ह्रास

शब्द विशेष की वैदिक निर्वचनों की बहुलता और विवेच्य ग्रन्थों में तद्गत अल्पता देखकर यह प्रतीत होता है कि वैदिक अर्थसम्पत्ति का उत्तरोतर ह्रास हुआ है।[15] कभी-कभी कोशों में या व्याकरण-ग्रन्थों में उन अर्थों का पुनरुद्धार[16] अथवा

---

1. तत्रैव 3,
2. पुत्र, ब्रह्म, रुद्र।
3. 8.1
4. द्र -क, पुरुष, विष्णु।
5. द्र -यक्ष, राक्षस—इनकी उत्पत्ति से सम्बद्ध आख्यान श: ब्रा. के उदाहरण की रक्ष् और यज् धातुओं के अर्थ परिवर्तन से; द्र-अप्सरा:, त्र्यम्बक, अश्विनौ-इनकी उत्पत्ति से सम्बद्ध ऋग्वेद के आख्यान में नाम-परिवर्तन से।
6. द्र -केशव (I) (II), पृश्निगर्भ:, वृषाकपि।
7. द्र.-अभिमन्यु, वसिष्ठ।
8. द्र. अश्विनौ (I), उमा।
9. द्र. मरुत्।
10. द्र. उदक, पृथ्वी।
11. द्र. आगे-3,5
12. भरद्वाज 5,11
13. असुर 4 13 राक्षस 4.23 वृषल 7.18
14. इक्ष्वाकु (छींक से), अश्विनौ (अश्व् से), नासत्य (नासा से)।
15. अग्नि 3.2 आदित्य 8.24 पुरुष 7.11
16. अज 3 4

व्याख्याकारों द्वारा नए अर्थों का उद्भावन[1] किया गया है। कहीं-कहीं धातुओं के विकसित अर्थ का भी प्रयोग हुआ है।[2] कहीं-कहीं वैदिक निर्वचन में प्रयुक्त धात्वर्थ से भिन्न धात्वर्थ का आश्रय लेकर आर्थी निर्वचन प्रस्तुत किये गए हैं।[3] अनेकत्र परम्परा से हटकर ग्रन्थकार ने नए निर्वचन भी दिए हैं।[4] जो कभी-कभी अधिक संगत प्रतीत होते हैं।

18. कल्पनाश्रयता

बहुत से निर्वचनों का वैदिक मूल प्राप्त नहीं होता, जैसे जातवेदा.[5] केशव[6] इन कवि-प्रोक्त निर्वचनों मे कल्पना का विशेष आश्रय लिया गया है।[7] कभी-कभी तो इसे शब्दशः स्वीकार भी किया गया है।[8] इनमे अथौचित्य-प्रदर्शन की लालसा रहती है।[9] ये कौतुकाधायक तो होते हैं, पर विचारसह नहीं होते। कभी-कभी इतने अतिशयोक्तिपूर्ण होते हैं कि सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता[10] पर आर्थी निर्वचनों मे यह सब सुप्राप्य है।

19. प्रतीकात्मकता

जो निर्वचन विश्वसनीय और विचारसह नहीं प्रतीत होते, उनमें प्रयुक्त पदावली का अर्थ न लेकर प्रतीकात्मक अर्थ लिया जा सकता है।[11] क्योंकि कतिपय निर्वचनों में प्रतीकात्मकता का संकेत मिलता भी है।[12] अद्भुत उत्पत्ति से सम्बद्ध निर्वचन[13] इस दृष्टि से विचारणीय हैं। असम्भव नहीं कि किसी अशिष्टता, अश्लीलता या अनैतिकता को छिपाने के लिए भी ऐसे कथन किये गए हों।

20. आख्यानपरता

आख्यान-प्रियता मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है, जो वैदिक संवाद-सूक्तों से लेकर अद्यावधि सर्वत्र देखी जा सकती है। इस गुण का लाभ उठाकर कथकों और व्याख्याकारों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गहन विषयों को आख्यान या पुराकथाओ के माध्यम से प्रस्तुत किया। इसीलिए प्रत्येक वर्ग के अधिकांश निर्वचन आख्यान

---

1. आदित्य (दा= बांधना, दी= चमकना) 8.24, रुद्र 3.32
2. पशुपति 3 20
3. परिक्षित् 6.12, राजा 6.17
4. पुरुष (III) 7.11
5. द्र. 3 15
6. द्र. 3.13
7. चिरकारी, निषाद 7.6, लव 6.18
8. शल्य
9. इक्ष्वाकु, और्व, क्षुप, जाम्बवान् आदि
10. अश्वशकृत्, चर्मण्वती, वधूसर
11. अश्विनौ 3.6, अंगिराः 5.1
12. गोविन्द (III) 3.14;, पंचशिख 5.10, मधु-कैटभ 4.15
13. अश्विनौ (अश्रु से), इक्ष्वाकु (छींक से), जाम्बवान् (जंभाई से), सुरभि (दक्ष मुख से निकली सुगन्ध से) शुकदेव-शुक्र (शुक्र-वीर्य से) वधूसर (वधू के आंसू से)

संवाद, घटना, एक मुख्य क्रिया या विचार से सम्बद्ध हैं। इनमे वेदोपबृंहण[1], संस्कृति, आचार-उपदेश आदि का प्रसार और सम्प्रेषण[2] अलौकिकता और रोचकता के द्वारा आकर्षण[3], कथ्य का प्रमाणीकरण[4], प्राचीन अर्थों का परिवर्तन और नए अर्थों का उद्भावन[5], अर्थौचित्य[6], नामौचित्य[7], मानवीकरण[8], दुर्बोधता[9] आदि दृष्टियां परिलक्षित होती है। इनमे अनेकत्र (विशेषतः देव, नदी, तीर्थ आदि से सम्बद्ध निर्वचनों मे) दर्शन, धर्म, माहात्म्य और फलश्रुति के भी दर्शन होते हैं[10]।

21 इसके अतिरिक्त कुछ संज्ञाओ के निर्वचनों के पीछे प्रायः वातावरणीय इतिहास छिपा रहता है। ऐसे शब्दों का निर्वचन वातावरण विशेष का उद्घाटन करता है। ऐसे नामो से यह भी स्पष्ट होता है कि ये नाम पहले तो अन्वर्थतः रखे जाते हैं और कालान्तर मे ये सामान्य नाम बन जाते है-जैसे आनकदुन्दुभि, आस्तीक, इध्मवाह, उद्दालक, दीर्घतमाः, शकुन्तला, शिशुपाल आदि।

22 डब्ल्यू. डब्ल्यू. स्कीट[11] के मत मे कुछ निर्वचनात्मक शब्दों के साथ प्रायः नीरस और काव्य-सौन्दर्य-विहीन आख्यान जुड़ जाते हैं, उनसे सचेत रहना चाहिए। किन्तु भारतीय निर्वचन प्रायः ऐसे नही हो पाए हैं, क्योंकि भारत के वीरकाव्य और पुराणादि ग्रन्थ मात्र आख्यान-साहित्य या इतिहास-ग्रन्थ नहीं हैं, ये काव्य भी हैं। अतः आख्यानयुत निर्वचनों मे काव्यात्मकता का भी ध्यान रखा गया है। फलत निर्वचनों से सम्बद्ध आख्यान भी सरसता और काव्य-सौन्दर्य से संवलित हैं और ये प्रौढ शिक्षा के माध्यमभूत इन ग्रन्थों के उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतः सहायक हुए हैं।

23 दुर्बोध निर्वचन

निर्वचन- परम्परा मे यत्र तत्र अस्पष्टता और दुर्बोधता दृष्टिगत होती है। वहां टीकाकार अपनी ज्ञानपरिधि मे स्पष्टीकरण देते हैं, पर मतवैभिन्न्य रहता ही है।

---

1. द्र –अनुच्छेद 13, 14, 15
2. द्र.–अहल्या, अणीमाण्डव्य, अहल्या, उद्दालक, उपरिचर, कल्माषपाद, गान्दिनी, चिरकारी, दण्ड, धर्म आदि।
3. द्र –जरासन्ध, जाह्नवी, तिलोत्तमाः, त्रिपुरारि।
4. द्र –कुलपति, दामोदर, देवरात, द्वैपायन, धनञ्जय, नीलकण्ठ।
5. द्र –असुर, मरुत्, यक्ष, राक्षस।
6. द्र –और्व, परिक्षित् III), मिथि।
7. गालव, पृश्निगर्भ, मधुनिषूदन, मुंजपृष्ठ, मेघनाद, मेघवृषण व्यास।
8. आदित्य, जाह्नवी दुर्गा, पादप, पृथ्वी, यमुना, वारुणी, सम्पाति, हनुमान्।
9. द्र.–अनुच्छेद 23
10. द्र –देवनाम, कपालमोचन, कुरुक्षेत्र, महाभारत, बदरपाचन, विपाश, शतद्रु, समंगा, आदि।
11. द्र –एटी. डि. इ लैं 'कैनन्स फार एटीमालोजी'।

महाभारत के एक आख्यान[1] के सन्दर्भ में कतिपय दुर्बोध निर्वचन विशेष उद्देश्य से प्रस्तुत किये गए हैं[2] कि सम्बद्ध व्यक्तियों की यातुधानी से रक्षा हो सके। इन निर्वचनों के स्पष्टीकरण के लिए व्याख्याकारों को अच्छा बुद्धि-व्यायाम करना पड़ा है।

24. आर्थी निरुक्ति

डा. वासुदेव शरण अग्रवाल[3] ने लिखा है कि (मत्स्य) पुराणकार ने शब्दों के अर्थ, आर्थी निरुक्ति (सेमेण्टिक एटीमालोजी) के आधार पर किये हैं। वे शाब्दी निरुक्ति (फोनेटिक एटीमालोजी) में रुचि नहीं रखते थे।[4] वस्तुतः वैदिक और पौराणिक निरुक्तियां अधिकांशतः आर्थी हैं। यही स्थिति वीरकाव्यों की भी है। आर्थी निरुक्तियों का प्रमुख सिद्धान्त है—'अर्थनित्यः परीक्षेत'[5]। इसकी अनुपालना की गई है। महाभारतकार ने तो 'निरुक्त'[6] और शाब्दी निरुक्ति के अधिष्ठाता 'वैयाकरण'[7] का निर्वचन भी इसी परम्परा में दिया है। शाब्दी निरुक्ति का प्रमुख क्षेत्र 'व्याकरण' है, पर वहां भी लौकिकी विवक्षा अथवा आर्थी दृष्टि को प्रधानता दी गई है।[8]

25. पिछले अनुच्छेद में लिखा जा चुका है कि विवेच्य ग्रन्थों में आर्थी निर्वचनों का प्राधान्य है। इनमें नैरुक्त परम्परा का ही अवलम्बन है। 'शिपिविष्ट' के निर्वचन में इसे शब्दशः स्वीकार किया गया है।[9] स्वयं 'महाभारत' का निर्वचन इसी परम्परा मे किया गया है।[10] नैरुक्तों के धातुज सिद्धान्त[11] की भी परिपालना यहां हुई है और धातुएं अपने सामान्य अर्थ, लाक्षणिक अर्थ तथा विकसित-परिवर्तित अर्थ में प्रयुक्त हुई हैं। अभिमन्यु, उपाध्याय के निर्वचनों[12] से ऐसा प्रतीत होता है

---

1. महा. 13.95, ग्री.प्रे.अ. 93
2. अत्रि, अरुन्धती, कश्यप, गौतम, जनदग्नि, भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र (द्र. अ. 5)
3. द्र.–'मत्स्यपुराण एक अध्ययन' पृ. 2।
4. निरुक्ति के ये दो पक्ष हैं (I) शब्द के भाषिक अंश के स्पष्टीकरण पर ध्यान न देकर मात्र अर्थ स्पष्ट करना और (II) शब्द के अर्थ की व्याख्या के साथ-2 उसके ध्वन्यंश की व्याख्या करना। निरुक्त 4.1 पृ. 266 पर टीकाकार दुर्ग सिंह ने स्पष्ट किया है आचार्य जयादित्य की एक कारिका मे इन्हीं दो पक्ष की ओर संकेत है। द्र.–आगे अनु. 30, पा. टि. 3
5. नि. 2.1
6. महा. आश्व. अपे 1.4.2628
7. महा. उद्योग 43.36
8. द्र. विषय प्रवेश अनु. 12
9. महा. 12.330.7
10. महा. 1.1.209
11. नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्च द्र.-नि. 1.12 14
12. महा. 1.213.60; आश्व. अपे 1.4.2526

कि महाभारतकार उपसर्गों को भी धातुज मानते थे। कहीं-कहीं उन्होंने उपसर्गों के अर्थ, प्रचलित अर्थ से भिन्न भी दिये हैं, जैसे उपेन्द्र(उप=उपरि)पारिजात (परि= उपरि), परिवह (परि=पारिप्लव), उदक (उत्=अधः). प्रयाग (प्र=प्रथम) आदि निर्वचन प्राप्त होते हैं, यहां समस्त पदों का विग्रह देकर निर्वचन तो किया गया है, पर पृथक् पदों का निर्वचन नहीं किया गया है, जैसे अङ्गारपर्ण, तिलोत्तमा, दामोदर, देवरात, ब्रह्मदत्त आदि। घटोत्कच नाम मध्यम पद लोपी समास का उदाहरण है। 'पशुपति' के निर्वचन मे अवश्य उक्त दृष्टि परिलक्षित होती है, किन्तु वहां भी पूर्व-पद को सिद्ध ही माना गया है।[2] महाभारत मे 'क' और 'कंस' का निर्वचन प्रश्नवाचक सर्वनाम से किया गया है, जो निरुक्त-परम्परा में ही है, क्योंकि वहां भी कुछ इस प्रकार के निर्वचन प्राप्त होते हैं।[3] डा. सत्यव्रत ने इक्ष्वाकु, और्व, मान्धाता, रुद्र आदि शब्दों की निरुक्तियों को निरुक्त्याभास कहना चाहा है[4] किन्तु वस्तुतः ये निर्वचन आर्षी निरुक्तियों की परम्परा मे ही किये गए हैं।

26. निर्वचनों में मतवैभिन्न्य

निर्वचनों या व्युत्पत्तियों में सर्वत्र समानता नहीं होती। इसमें मतमतान्तर स्वाभाविक हैं। भर्तृहरि ने लिखा है-'अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्द व्युत्पत्तिकर्मसु'[5]। कहीं प्रादेशिक वैभिन्न्य दिखलाई पड़ता है और कहीं आचार्य-वैमत्य। इसका संकेत यास्क[6] और पाणिनि[7] आदि ने दिया है। शाब्दी की अपेक्षा आर्षी मे यह वैमत्य अधिक रहता है, क्योंकि व्याकरण मे एक शब्द की व्युत्पत्ति मे प्रायः एक आधार रहता है, जबकि आर्षी मे विभिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न आधार हो सकते हैं[8]। आचार्य भर्तृहरि ने 'गौ' का निर्वचन करते हुए इसे स्पष्ट किया है[9] और निर्वचनों की अनेकविधता के कारण भी दिये हैं[10]। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी हो सकता है कि पहले सीमित शब्दावली के कारण बात को स्पष्ट करने के लिए अनेक धातुओं और शैलियों का आश्रय लिया जाता रहा हो। यास्क की इस प्रवृत्ति पर डा. सिद्धेश्वर वर्मा का आक्षेप है कि यह यास्क मे निर्वचन करने की तीव्र लालसा के कारण हुआ है। यह उचित नहीं प्रतीत होता। डा. सु. कु. गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि इस प्रकार

---

1. द्र.–नि 2.2
2. द्र –3.20
3. कितव (5.22), कीकट (6 32) कुह(11.32) आदि।
4. द्र.–ऋतम् पृ. 238
5. वाक्य 2 171
6. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषते–नि. 2.2
7. प्राचाम् (पा. 4.1.17, 2.139) उदीचाम् (पा. 4.1 157) एकेषां (पा. 8 3 104) लिखकर और स्फोटायन (पा. 6.1.123, 3.98, 8.4 67, 7 3 99), शाकल्य (पा. 8 3 19) आदि आचार्यों के मतों को प्रश्रय देकर
8. तु.–नि. मी. अनुच्छेद 5, पृ. 208
9. वाक्य 2/175
10. वाक्य 2.316

अनेक निर्वचन प्रस्तुत करना शब्दों की सीमा के कारण एक अनिवार्य आवश्यकता थी।[1] कुछ भी हो, इस परम्परा का अवलम्बन इतिहासपुराण-ग्रन्थों मे हुआ है। 'मित्र'[2], 'शत्रु'[3], 'अत्रि'[4], 'अग्नि'[5], 'उदान'[6], 'और्व'[7], 'त्रेता'[8], 'त्र्यम्बक'[9] आदि मे अनेक धातुओं या पदों से निर्वचन किये गए हैं। कई शब्दो मे पदच्छेद करके अनेकविध निर्वचन दिए गए हैं, जैसे अधोक्षज,[10] हृषीकेश,[11] गोविन्द[12], कृष्ण,[13] पुरुष[14], पाञ्चजन्य[15] आदि।

27. पुनरावृत्त निर्वचन

कतिपय शब्द ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनके निर्वचन अनेक ग्रन्थों में अथवा एक ही ग्रन्थ में अनेकशः एक ही शब्दावली मे अथवा किंचिद् भिन्न शब्दावली में प्राप्त होते हैं, इन्हें पुनरावृत्त निर्वचन कह सकते हैं। जैसे अनेक देवपरक नाम, जिनके निर्वचन महाभारत में मिलते हैं, वायु, लिंग, शिव और मत्स्य आदि पुराणों मे भी मिलते हैं।[16] इसी प्रकार नारायण[17], पुत्र[18] परिक्षित्[19] आदि के क्रमशः सात, ग्यारह और तीन निर्वचन विवेच्य ग्रन्थों मे ही प्राप्त होते हैं।

28. पर्याय और निर्वचन

'पर्याय' शब्द का अर्थ है 'परितः आयः गमनं यस्य' अर्थात् चारों ओर चलना। इसका विकसितार्थ परिपाटी या क्रम है, जो शब्द पर्याय या क्रम से एक ही अर्थ बतलाते हैं और परस्पर एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होते है, पर्याय (सिनानिम) कहलाते हैं।[20]विवेच्य ग्रन्थों में इनसे सम्बद्ध सामग्री तीन रूपों मे प्राप्त होती है।

(अ) निर्वचन-प्रक्रिया द्वारा पर्यायों का स्पष्टीकरण जैसे वासुदेव[21], अर्जुन[22]

---

1 ऐप्रीशियेशन आफ यास्क एज एन एटीमोलोजिस्ट, पृ. 63
2. 6.16
3. 6.21
4. 5 2
5. 3.2
6. नि. को. 66
7. 8.1
8 नि. को 209
9. 3.16
10. 3 5
11. 3.43
12. 3.14
13. 3.12
14. 7.11
15. नि. को. 273
16. अग्नि, अश्विनौ, आदित्य, उमा, कृष्ण, केशव, पशुपति आदि
17. 3 19
18. 7.10.
19. 6 12
20. द्र परमेश्वरानन्द शास्त्रिस्मृति-ग्रन्थ पृ. 52 (केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली–1973-74)
21. महा. 5.68
22. महा. 4.39

विष्णु[1] शिव[2] आदि के नामनिर्वचन। यह नामनानात्व व्यक्तिविशेष के गुण और कर्म के कारण कवियो और भक्तों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण[3] से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कभी कभी आंचलिक प्रभाव भी आ सकता है अर्थात् पृथक् पृथक् प्रदेशों मे पृथक् पृथक् नाम अधिक प्रचलित हुए। उक्त पदो के प्रयोगो मे भी इस स्थानप्रभाव को खोजा जा सकता है, पर यह ग्रन्थ का विषय नहीं है।

(ब) पर्यायों द्वारा निर्वचन का प्रस्तुतीकरण जैसे ब्रह्म[4], बृहस्पति[5] आदि रूढ़ पर्यायो के प्रयोग मे स्पष्टता रहती है, जब कि प्रतीकात्मक प्रयोगों में मत-वैभिन्न्य हो सकता है। अनेकत्र दो पर्यायों का एक साथ प्रयोग करके निर्वचन के द्वारा अर्थगत भिन्नता का संकेत किया गया है, जैसे राजा-सम्राट्[6], पुत्र-अपत्य[7], लता-वल्ली[8] आदि।

(स) अनेकत्र पर्यायो का प्रयोग किया गया है, पर निर्वचन नही दिया गया है, तथापि उसका शब्दार्थ निरुक्ति के आधार पर अभिप्रेत है। जैसे महाभारत के एक स्थल[9] पर पुण्डरीकाक्ष-विश्वभावन-हृषीकेश-महापुरुष आदि। इसी प्रकार सेना के पर्यायों का एक साथ उल्लेख भी द्रष्टव्य है।[10]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विवेच्य ग्रन्थ परम्परया यह स्वीकार करते हैं कि कोई दो पर्याय पूर्णतः समान नही होते।[11]

29. निर्वचनगत वृत्तियां

दुर्गसिंह ने निर्वचन की परिभाषा में 'परोक्षवृत्ति' 'और अतिपरोक्ष-वृत्ति' शब्दो का उल्लेख किया है।[12] इनका आधार निरुक्त के द्वितीय अध्याय के द्वितीय और तृतीय सिद्धान्त हैं। प्रथम सिद्धान्त के लिए प्रत्यक्ष वृत्ति नाम दिया गया है।[13]

इस आधार को ध्यान में रखकर विवेच्य ग्रन्थो मे उपलब्ध निर्वचनो की निम्नलिखित कोटियां निर्धारित की जा सकती हैं—

---

1. महा. चि. उद्योगपर्व अ. 68, शान्तिपर्व अ. 330, हरि 3.88
2. महा. वि. अनु. 146, द्रोण 173 3. श. ब्रा. 1.7.3.8
4. द्र. 3.24 5. द्र. 3.23
6 द्र. 6.24, 7. द्र. 7.10 8. द्र. महा. 5.29.49
9. महा. 12.323.40; द्र. 12.68.54
10. वाहिनी पृतना सेना ध्वजिनी सादिनी चमूः।
अक्षौहिणीति पर्यायैर्निरुक्ताथ वरूथिनी॥
महा (निर्णयसागर प्रेस) उद्योग 152.20
11. तु.–'देयर आर नो टू परफेक्ट सिनोनिम्स इन दि इंगलिश लैंगुवेज'– थी फाउलर
12. द्र. विषय प्रवेश-अनुच्छेद 14 पृ. 11 पा. टि. 6.
13. द्र.-नि. अध्याय 2, पाद 1 संख्या 2, 3, 4

(अ) प्रत्यक्षवृत्ति

अवगत संस्कार अर्थात् व्याकरण-प्रक्रिया से व्युत्पन्न शब्द इस वर्ग में आते हैं। यद्यपि यह व्याकरण का क्षेत्र है[1], तथापि इसे निर्वचन के क्षेत्र मे इसलिए लिया गया है कि यहां व्याकरणग्रन्थों की भांति प्रकृति-प्रत्यय आदि से रूप-सिद्धि नहीं की गई है, किन्तु आधार वही है। कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनमे सम्बन्ध, वंश, परम्परा या गोत्रादि द्योतन के लिए तद्धितप्रत्ययों का आश्रय लिया गया है, जैसे आदित्य, आह्वाण, काकुत्स्थ, कात्यायन, कापिलेय, कार्ष्ण, रौद्र, वैदेह, वैवस्वत, पाण्मातुर आदि। इसी प्रकार तद्धित के अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध (अंगदीया, आर्तायिनि, इन्द्रिय, ऋक्षवान्, औपासन, कुशावती, गोमती, तारकामय आदि) कृदन्त (अघ्न्या, आहवनीय, उद्भिज्ज, चिरकारी, जिष्णु आदि) और समास (अकम्पन, अक्षर, अश्वत्थामा, अहल्या, त्रिधातु, देवरात, नारायण, नीलकण्ठ, पार्श्वमौलि आदि) के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(ब) परोक्षवृत्ति

व्याकरण की प्रक्रिया स्पष्ट नहीं हो और अर्थानुकूल किसी भी वृत्ति से निर्वचन किया जाय यह परोक्षवृत्ति है।[2] इसमें यथासम्भव व्याकरण की सहायता ली जा सकती है। व्याकरण में निपातनादि से शब्दसिद्धि इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।[3] प्रस्तुत ग्रन्थ मे अग्नि, अप्सरा:, अरुन्धती, कन्या केशव, कोविदार, गरुड, पंचाल, पराशर, मारुत, मेदिनी, शान्तनु, सरयू आदि शब्दों के निर्वचन परोक्षवृत्ति श्रेणी के हैं।

(स) अतिपरोक्षवृत्ति

शब्द-निरुक्ति पर प्रकाश डालने के लिए जब किसी भी वृत्ति का आश्रय न मिले, तो अक्षर-वर्ण के साम्य से भी निर्वचन करने की नैरुक्तों की परिपाटी रही है। ऐसी स्थिति मे ये लोग व्याकरण-प्रक्रिया का भी कोई आदर करना आवश्यक नहीं मानते।[4] यह स्थिति विवेच्य ग्रन्थों के कतिपय निर्वचनों मे दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ अतिथि, अत्रि, कश्यप, जमदग्नि, पिनाक, शान्तनु आदि शब्दों के निर्वचन।

(द) प्रत्यक्ष-परोक्षवृत्ति

कतिपय शब्दों के निर्वचनों में इन दोनों वृत्तियों का समावेश हो गया है।

---

1. तु.–'न च निरुक्ते कारक-हारक-लावकादिशब्दा व्युत्पाद्यन्ते, सुबोधैव तेषां व्युत्पत्तिः, प्रसिद्धैव च व्याकरण इति–नि. 2/1 पर दुर्गवृत्ति, पृ. 98
2. तु.-प्रधानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन-नि. 2/1
3. द्र.-विषय प्रवेश, अनुच्छेद 12
4. तु. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान् निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेत। नि. 2/1

अधोक्षज, आस्तीक, उर्वी, पृथ्वी, विष्णु, सरमा आदि के निर्वचनों को इस वर्ग मे रखा जा सकता है।

30. भाषागत परिवर्तन

संस्कृत एक नियमबद्ध भाषा है। अतः भाषागत परिवर्तन अल्प हुए हैं, फिर भी इनका सर्वथा अभाव नही है? व्याकरण में इन्हें अप्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।[1] आचार्य जयादित्य ने तद्गत सिद्धान्तों का सोदाहरण उल्लेख शब्दशः किया है।[2] अभिधेयार्थ की प्रतीति प्रकृति और प्रत्यय दोनों के सम्यक् प्रयोग से होती है। अतः उक्त परिवर्तन की दिशाएं इन दोनों की व्याख्याओं मे देखी जा सकती हैं।

(क) प्रकृत्यंश की व्याख्या

1 वीरकाव्यों मे निर्वचन प्रायः संज्ञापदों के किये गए हैं। इनमें सर्वाधिक निर्वचन ऐसे हैं, जिनमें प्रकृत्यंश की व्याख्या धातु का उल्लेख करके[3], धातु का आख्यात रूप देकर[4], मूल धातु या उसका आख्यात रूप न देकर, अपितु उसके पर्यायभूत धातु के आख्यान या शब्द द्वारा निर्वचन का व्याख्यान करके,[5] एकाधिक धातुओं का प्रयोग करके[6] और धातु के विकसित अर्थ का प्रयोग करके[7] की गई है। कभी-कभी द्वयर्थक धातुओं से सम्बद्ध शब्दों मे धातु का अत्यन्त प्रचलित और सामान्य अर्थ लिया गया है, जबकि वेद मे उसका अन्य अर्थ मिलता है। उस वैदिक अर्थ का प्रयोग यहा भी किया जा सकता था जैसे परिक्षित्[8] में √क्षि (निवास-गत्योः) के स्थान पर √क्ष (क्षये) और बीभत्सु[9] मे √बध (बन्धने) के स्थान पर √बध (निन्दायाम्) का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार भारद्वाज[10] का निर्वचन वैदिक युग में भरत्+वाज से अभीप्सित था, पर यहाँ अश्लील आख्यान प्रस्तुत करके भर+द्वाज से किया गया है।

2. प्रकृत्यंश की व्याख्या अनेकत्र शब्द का विशेष अर्थ देकर[11], शब्द का पर्याय देकर[12], शब्द को विशेषण रूप में रखकर[13], शब्द का पदच्छेद करके[14], शब्द का

---

1. द्र. विषयप्रवेश अनु. 12
2. 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्'–काशिका 6.3.109
,भवेद्वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्।
गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात् पृषोदरः'॥
'अपकर्षश्चोत्कर्षौ विस्तारादेशभाव-संकोचाः।
विनिमय-विसर्पणौ चेदर्थारोपो हि परिवृत्तिश्चार्थे॥
निरुक्त 2.1 भी देखें।
3. कन्या
4. आदित्य, कृष्ण, च्यवन, निषाद, भरद्वाज, मरुत्, वृषल, यम, हर आदि।
5. अग्नि, अप्सराः, रुद्र, विष्णु, शकुन्तला, सत्य, गोविन्द, दामोदर, दुर्गा, पत्नी, पिता।
6. त्रिशंकु, पुरुष, मित्र, राजा, रुद्र, शत्रु आदि।
7. पशुपति 3.20
8. द्र. 6.12
9. नि. को. 309
10. द्र. 5.11
11. अघ्न्या, पृश्निगर्भ, वृषाकपि, हृषीकेश।
12. पशुपति, अधोक्षज।
13. अयोध्या, राम, रावण, शत्रुघ्न।
14. अधोक्षज, हृषीकेश।

आख्यानात्मक या अर्थात्मक व्याख्यान करके[1], निमित्त विशेष बताकर[2], उपसर्गों के विविध अर्थों का निर्देश देकर[3] अथवा उनका निर्वचन देकर[4], तद्धित[5] और समासों[6] का विग्रह देकर भी की गई है। सर्वसहा[7] में निपात के साथ भी समास-विग्रह दिया गया है। व्याकरण मे यह स्थिति नहीं है।

3. पदगत अक्षरो को पृथक् पद मानकर भी निर्वचन किये गए है, जिन्हें एकाक्षर निर्वचन कहा जा सकता है। इसकी चर्चा अग्रिम अंश[8] मे की गई है।

(ख) प्रत्ययांश की व्याख्या

ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रकृत निर्वचनों में प्रायः प्रत्ययो का संकेत नहीं किया जाता और उनकी प्रतीति मान ली जाती है। यह प्रतीति कारक-विभक्तियो के प्रयोग, विग्रहप्रदर्शन और प्रत्ययविशेष से युक्त शब्दविशेष के उल्लेख से होती रहती है। प्रत्ययाश का शब्द-निर्वचन वैदिक-साहित्य मे भी अल्प हुआ है[9] और आगे के साहित्य मे भी। यहां अग्नि (II) मे 'नि' का √नी से,[10] केशव मे 'व' का √वा से,[11] 'सात्त्वत' और 'महाभारत' में 'त' का √तनु[12] से और 'दुर्गा' में आ का किसी कल्पित √आ से[13] निर्वचन किया गया प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यय भी कभी व्युत्पन्न प्रातिपदिक थे, पर कालान्तर में वे पूर्वांश की अपेक्षा उपेक्षित रहे। प्रत्ययों को अव्युत्पन्न मानने वाले डा. सिद्धेश्वर वर्मा आदि भाषाविदो के विचार चिन्त्य हैं।[14]

31. ध्वनिपरिवर्तन

(अ) प्रस्तुत निर्वचनों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ध्वनि-सिद्धान्तों मे से कतिपय का एकशः अथवा समूहशः आवश्यकतानुसार पालन किया गया है। उदाहरणार्थ 'इक्ष्वाकु'[15] के निर्वचन में मात्र √क्षु स्वीकार की गई है और इकार तथा 'आकु' का वर्णागम से अध्याहार किया गया है। 'अतिथि'[16] 'अप्सरा:'[17] का प्रथम

---

1. उर्वी, और्व कृष्ण, केशव, त्र्यम्बक, पृथ्वी।
2. पति, पिता, भर्ता, विष्णु।
3. उदक, उपेन्द्र, परिवह, पारिजात।
4. अभिमन्यु उपाध्याय।
5. आदित्य और्व, चर्मण्वती, दानव, दैत्य, माधव, वारुणी।
6. अच्युत, कुलम्पुन, कुलपति, घटोत्कच, जातवेदाः, प्रमद्वरा।
7. 8.23
8. द्र आगे अनु. संख्या 33
9. ऋक् 4.12.6, 10 126 8, 10.59.1 मे 'प्रतर' का 'तर' √तृ से निष्पन्न है। द्र. एटी. या. पृ. 94
10. 3.2.
11. 3.13
12. 6.25; 6.15
13. 3.18
14. द्र.-एटी. या.-पृ 94
15. 6.3
16. 7.1
17. 4.1

निर्वचन और त्रिशंकु[1] के द्वितीय निर्वचन में वर्णविपर्यय दृष्टिगत होता है। गलबन्ध से 'गालव'[2] का निर्वचन वर्णविकार का उदाहरण है। 'बीभत्सु'[3] का अबीभत्सु और 'सम्पाति'[4] का असम्पाति के रूप मे निर्वचन किया गया है, अतः आदिस्वर-लोप तथा वृषल[5] (वृष-अलं), गरुड[6] (गुरुड) और सरमा[7] (सरोमा) के लिए (क्रमशः अ, उ और ओ का) मध्यस्वरलोप अपेक्षित है। 'शान्तनु'[8] (शान्त तनु) मे मध्यवर्ण लोप (समध्वनि 'त' का लोप) अभीप्सित है। उर्वशी[9] (उर्वसी), गोतम[10] (गोदम), मथुरा[11] (मधुरा), वसिष्ठ,[12] (वरिष्ठ), सनातन[13] (सनादत) आदि शब्द प्रदत्त निर्वचनो के आधार पर वर्णादेश से बने हैं। कोविदार[14] (कोविदारु) में 'प' का व और 'उ' का अ वर्णादेश किया गया है।

(ब) कतिपय शब्दों मे अनेक ध्वनिसिद्धान्त एक साथ कार्य करते हैं, जैसे 'जमदग्नि'[15] के लिए 'जार्जमदयज' मे आदिवर्णलोप (जा) और शब्दादेश (यज् ∠ अग्नि) से, 'यमदग्नि' और 'जगदग्नि' में वर्णादेश (क्रमशः य ∠ ज और ग ∠ म) से निर्वचन संकेतित है। 'अश्विनौ'[16] को यदि 'अश्रु' से सम्बद्ध करना है, तो वर्णादेश, स्वरलोप और वर्णागम सभी स्वीकार करने होगे। इसी प्रकार 'सरयू'[17] (सरस्यु) में वर्णलोप (स) और स्वरादेश (उ 7 ऊ); 'पुरुष'[18] (पुरिशय) मे वर्णादेश (रि ∠ रु, श 7 ष) और वर्णलोप (य); 'अरुन्धती'[19] के लिए 'अरुदधती' में वर्णलोप (द) और वर्णागम (न्), 'रुन्धती' मे स्वरागम (अ) और 'अनुरुन्धती' में वर्णलोप (नु) तथा 'मधु'[20] (मुदु) में आदि-स्वरलोप (अ) और वर्णादेश (द 7 ध) आदि सिद्धान्त मानने होगे।

(स) प्रत्येक भाषा में कुछ ध्वन्यनुकरणमूलक शब्द होते हैं। संस्कृत में भी ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में भी 'भृगु'[21] के भृगुं(भक्-भभक) शब्द मे और 'अक्षर'[22] या 'क्षर' की √क्षर् में ध्वन्यनुकरणमूलकता संकेतित है।

32. अर्थपरिवर्तन

ध्वनिपरिवर्तन की भाति अर्थपरिवर्तन भी भाषा का शाश्वत नियम है, पर

---

1. 6.8
2. 5.6
3. नि०को० 309
4. नि०को० 544
5. 7.18
6. 8.22
7. 4.10
8. 8.10
9. 6.22
10. 5.7
11. 8.6
12. 5.13
13. 5.17
14. 8.18
15. 5.8
16. 3.6
17. 8.16
18. 7.11
19. 5.3
20. 4.22
21. 5.12
22. 3.1

संस्कृत में स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जाने के कारण, अर्थपरिवर्तन की स्थितियां अल्प रही है। निर्वचनात्मक शब्दों के सन्दर्भ में ये स्थितियां और भी सीमित हैं। अर्थपरिवर्तन सम्बन्धी अध्ययन का प्रारम्भ-श्री ब्रील के 'एसे डी सिमेण्टीक' से माना जाता है, पर भारत में भाषा से सम्बद्ध अध्ययन और निर्वचनपरम्परा वैदिक युग से ही प्राप्त होती है। यास्क कृत निरुक्त और भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय में भी पर्याप्त विचार हुआ है। ब्रील के उक्त लेख में इनकी तीन दिशाओं का उल्लेख है—अर्थसंकोच, अर्थविस्तार और अर्थादेश। आगे चलकर ब्लूमफील्ड ने नौ और अन्य भाषा वैज्ञानिकों ने इससे अधिक संख्या भी मानी है। पर उनका अन्तर्भाव इन तीन में सहज किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में इस दृष्टि से किंचित् विचार किया जाता है—

1. अर्थ-संकोच—भाषा के प्रवाह के साथ विस्तृतार्थक शब्द सीमित अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं और रूढ़ होते जाते हैं, इसे अर्थसंकोच कहते हैं[1]। वैदिक युग के अग्निवाची 'रुद्र'[2] और 'अच्युत'[3] यहां क्रमशः शिव और विष्णु में सीमित हो गए। अदिति के समस्त पुत्रों का द्योतक 'आदित्य'[4] मात्र सूर्य के लिए रूढ हो गया। 'अनंग'[5] त्रिपथगा'[6], 'पादप'[7], 'सव्यसाचिन्'[8] और 'हनुमान्'[9] आदि अपने यौगिकार्थ में इन विशेषताओं वाले किसी के लिए भी प्रयुक्त किये जा सकते थे; पर अब ये क्रमशः कामदेव, गंगा, वृक्ष, अर्जुन और पवनसुत के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। 'पृश्निगर्भ'[10] के निर्वचन में 'पृश्नि' के अनेक अर्थों की ओर संकेत है, पर अब वह पूर्ण पद विष्णु का वाचक है। समास और तद्धित से भी अर्थसंकोच हो जाता है, जैसे 'अधोक्षज', 'खण्डपरशु', 'दामोदर' 'पशुपति', 'और्व', कार्तिकेय एवं 'वासुदेव' आदि पदों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ की पृथक् सत्ता नहीं रही और ये शब्द अब विष्णु, शिव, कृष्ण, शिव और ऋषिविशेष या वाडवानल, स्कन्द और कृष्ण के वाचक बन गए हैं। उपसर्ग से भी अर्थसंकोच होता है[11] जैसे 'उपेन्द्र' इन्द्र का वाचक नहीं रहा। 'आवह', 'उद्वह', 'परावह', 'परिवह', 'प्रवह', 'विवह' और 'संवह' नामक सप्त वायुओं और पंच प्राणों[12] (प्राण-अपान, व्यान, उदान और समान) का अपना

1. तु०—कैयट (महाभाष्य) 1.2.22
2. 1-3.32
3. द्र०-3.3
4. 8.24
5. नि०को०21
6. नि०को० 203
7. नि०को० 275; द्र०'वृक्षवाची शब्द'-डा. शिवसागर त्रिपाठी 'भाषा' (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली) जून 1972 पृ. 52
8. नि०को० 553
9. 3.40
10. 3.21
11. तु-नि. 1.3; 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहार संहारविहारपरिहारवत्'--सि. कौ. 8.4.18
12. द्र.--नि.को और वा.पु. 97.52-56; लि. पु. 1.8.61-67 आदि

अपना पृथक् पारिभाषिक अर्थ और क्षेत्र हैं। विशेषणों के संयोग से अर्थ-संकोच देखा जाता है। 'सदाकुमारो देवानाम्' लिखकर 'कुमार' का अर्थ कार्तिकेय निश्चित कर दिया गया है। 'कौशिकी' अपनी पृथक् शब्दावली में देवी भी है और नदी भी तथा 'पाचजन्य' शंख भी है और अग्नि भी। आख्यानविशेष से भी अर्थ संकुचित हो जाता है, जैसे 'गन्धवती', 'गान्दिनी' आदि। यदि यह कहा जाय कि समस्त नामपद अर्थसंकोच के उदाहरण है, तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि ये प्रायः अपने विस्तृत यौगिकार्थ को भुलाकर वस्तु या व्यक्तिविशेष के लिए रूढ हो जाते हैं जैसे 'उदक' 'चक्षु', 'राम', 'रावण', 'गालव'। नानार्थक शब्दों में प्रसिद्धि के कारण अर्थों मे संकोच होने से[1] कोई अर्थ शेष रहता है, अन्य अर्थ अप्रयुक्त हो जाते हैं। महाभारत मे 'उर्वशी' का निर्वचन गङ्गा के अर्थ में है, पर यह शब्द अब भी अप्सराविशेष के लिए ही प्रयुक्त होता है। रामायण मे 'मनुष्य' की उत्पत्ति कश्यप और मनु (स्त्री) से बताई गई है, पर परम्परया मनुष्य को महर्षि मनु की सन्तान ही माना जाता रहा है। पशुपति का निर्वचन वैदिक परम्परा में पशु के व्यापक अर्थ मे किया गया है, पर आज पशु का अर्थ केवल जानवर है।

2. अर्थविस्तार—जब शब्द अपने सीमित क्षेत्र से निकल कर विस्तृत अर्थ का द्योतक हो जाता है, तो उसे अर्थविस्तार कहते हैं। पहले 'राजा' शोभास्पद और आज्ञा देने वाला था, पर बाद मे प्रजा-रञ्जक ही राजा कहलाया और उसके बाद मे इन भावों का द्योतन न कर पाने वाले भी 'राजा' ही कहलाए। बहुसन्तानक्षमा नारी ही 'जाया' थी, पर बाद मे सभी पत्नियो को इस पद से अभिहित किया जाने लगा। 'पति' और 'भर्ता' का प्रमुख कर्त्तव्य पत्नी का पालन तथा याज्ञिक विधियो मे साहाय्य और भार्या का पालन तथा भरण है, पर बाद मे ये पतिवाचक शब्द बन गए। किसी गुणविशेष के कारण शब्द का प्रचलन होता है, पर बाद मे आवश्यकता पड़ने पर वह शब्द पुनः विशेष से सामान्य की ओर बढ़ने लगता है, जैसे प्रजापति', 'बृहस्पति' आदि मे पति शब्द। 'अक्षर' का निर्वचनपरक अतिसामान्य अर्थ है, 'जिसका क्षरण न हो' पर वह ब्रह्मद्योतक भी हो गया।

3 अर्थादेश—भावसाहचर्य के कारण कभी-कभी मूल अर्थ लुप्त हो जाता है और गौण अर्थ प्रचलित हो जाता है, इसे अर्थादेश कहते हैं, जैसे 'असुर' शब्द वेद मे देववाची है, पर इसका प्रचलन अधिकाशतः राक्षसवाची के रूप मे हुआ।[2] इसी प्रकार 'दैत्य' 'राक्षस' और 'वृषल' आदि शब्द अपने निर्वचनपरक मूल अर्थ का जो द्योतन करते हैं,[3] व्यवहार मे उसकी रक्षा नही हो सकी। परम्परागत कुलपति

---

1 तु. नागेश का कथन-'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी-परिभाषेन्दु. परि. 107

2 द्र. 4.13

3. क्रमशः द्र. 4.21, 23, 7.18

शब्द का भाव रामायणगत 'कुलपति' के निर्वचन में नहीं रह सका[1]। वेद के परिक्षित् (अग्नि-√क्षि निवासगत्योः से) में जो भाव था, वह पौराणिक परिक्षित् (राजा √क्षि क्षये) मे नही रहा।[2]

33. एकाक्षर निर्वचन

एकाक्षर निर्वचनो की भी एक परम्परा रही है, जो वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक साहित्य मे प्रचुरतः दृष्टिगत होती है। इससे यह द्योतित होता है कि प्रारम्भ मे अक्षर (और फिर शब्द भी) कई भावों का द्योतन करते थे तथा उनका प्रयोग और ज्ञान प्रसंगतः होता रहता था। शनैः शनैः इनमें रूढ़ि की स्थिति आती गई। अस्तु, 'अधोक्षज' के निर्वचन के सन्दर्भ मे वेदव्यास ने एकाक्षर पदों से निर्वचन की प्रक्रिया को शब्दशः स्वीकार किया।[3] 'उमा', 'माधव' 'हरि' आदि शब्द इसी परम्परा के निर्वचन हैं।[4] *कुछ आंशिक एकाक्षर निर्वचन भी प्राप्त होते हैं, जिनमें* एकाक्षरों के साथ एक शब्द भी पठित हुआ है जैसे 'अधोक्षज'[5] में 'धोक्ष', 'हृषीकेश'[5] मे 'हृषी' और *'कृष्ण'[5] मे कृषि आदि। ये निर्वचन भी परोक्षवृत्ति ही है।*

34. लोककृत निर्वचन

परोक्षवृत्ति को लोककृत निर्वचनों (फाक अथवा पापुलर एटीमालोजीज़) में भी देखा जा सकता है, जो वाङ्मय में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। कुछ विद्वान् ऐसे निर्वचनो को 'भ्रामक' कहकर उपेक्षा करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः ये तत्कालीन लोक-दृष्टि या लोक-भावना या लेखकीय दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे आस्तीक, जातवेदाः, निषाद आदि। प्रायः ये व्याकरण और भाषा-विज्ञान से दूर होते हैं, जैसे 'अम्बा', 'उमा' आदि[6]। कभी-कभी ये पौराणिक कथागत रूढ़ियों से आक्रान्त रहते है, जैसे मेदिनी, कुश आदि[7]। कतिपय शब्द-निर्वचनों में विशेषतः लोककृत निर्वचनों में यह स्थिति दृष्टिगत होती है कि शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति किसी एक निमित्त को लेकर होती है और आगे चलकर उसकी प्रवृत्ति किसी दूसरे निमित्त मे हो जाती है। कहा भी है—'अन्यद्धि शब्दानामुत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्'[8]। यथा 'निषाद' की उत्पत्ति महाभारत में आख्यानपरक है।[9] यह शब्द जातिविशेष के लिए रूढ़ होता गया, बाद मे नाव चलाना आदि कर्म से भिन्न कर्म करने पर भी 'निषाद' पद से ही अभिहित किया जायगा। कभी-कभी उस परिवर्तननिमित्त वाले शब्द का निर्वचन भी अपने ढंग से बदल दिया जाता

---

1. 7 4
2. 6.12
3. महा. चि. 12.342.85
4. द्र. क्रमशः 3.8, 28,42
5. 3 5
6. 3.43
7. 3.12
8. द्र. 7.2, 3.8
9. 8.8, 6.5
10. सा. द. 2.5

है। जैसे 'कुलपति' अपने मूलार्थ में बड़ा गौरवास्पद और सम्मानार्ह पद है। रामायण गत निर्वचन उसके परिवर्तित निमित्त को द्योतित करता है। आज की परिस्थितियो मे अन्य प्रकार से निर्वचन किये जा सकते हैं[1]। 'असुर' और 'राक्षस' के मूलार्थ और निर्वचन देखकर भी ऐसा ही प्रतीत होता है[2]। स्वर की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायः वैदिक और व्याकरणगत निरुक्तियां सामान्य हैं, जब कि इतिहास-पुराणगत लोककृत हैं, जैसे अतिथि[3]। 'सत्य' शब्द के विवेचन में उसके आधुदात्त और अन्तोदात्त रूप पर विचार किया गया है[4]। वेद मे स्वर की दृष्टि से 'राक्षस' संज्ञक दो भिन्न पद हैं। लौकिक 'राक्षस' पद मे उनमें से एक के अर्थ का विकास हुआ प्रतीत होता है[5]। इस प्रकार स्वरभेद से अर्थभेद के कुछ उदाहरण मिलते हैं, वैसे यह विषय वेद का है[6]।

निष्कर्ष—इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विवेच्य ग्रन्थों मे निर्वचनों का प्रयोग अपनी विशिष्ट शैली मे किया गया है। वे प्राय. परम्परापुष्ट हैं। अनेकत्र स्वतन्त्र शैली का भी निर्वाह किया गया है। यहां आर्थी निरुक्तियों का प्राधान्य है, पर कुछ स्थितियों में शाब्दी निरुक्तियों का स्वरूप अपनी शैली मे देखा जा सकता है। ध्वनिपरिवर्तन और अर्थपरिवर्तन भाषा के विकास के शाश्वत तथ्य हैं। संस्कृत की नियमबद्धता ने भले ही इसमे अवरोध उत्पन्न किया हो, पर इस दृष्टि से सूक्ष्मतम विचार करने पर प्रभूत उदाहरण मिल सकते हैं। इस अध्याय में निर्वचनपरक स्वरूप और प्रमुख दृष्टियों का उल्लेख हुआ है। यद्यपि विचार-भेद से अन्य दृष्टियां भी सुझाई जा सकती हैं, पर उनका इनमे अन्तर्भाव किया जा सकता है अथवा उदार दृष्टिकोण से अपनाया जा सकता है।

---

1. द्र.-7.6
2. पूर्ण विवेचन के लिए देखें 7.4
3. द्र.-4.13
4. पूर्ण विवेचन के लिए देखें 7.1
5. द्र-3.38
6. पूर्ण विवेचन के लिए देखें 4.23 आद्युदात्तं स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः-शु. यजु. प्राति. पृ. 1

द्वितीय अध्याय

नामकरण के आधार[1]

विवेच्य ग्रन्थों में उपलब्ध निर्वचनात्मक शब्दों मे सर्वाधिक संख्या व्यक्ति-वाचक नामों की है। अमुक व्यक्ति या वस्तु का नाम अमुक क्यों पडा ? कब पड़ा ? उसकी सार्थकता और औचित्य क्या है ? आदि विषयों का अध्ययन आज 'नाम विज्ञान' (onomatology या onomasiology या onomestics) मे किया जाता है, जो भाषा-विज्ञान की एक शाखा है। किन्तु प्राचीन भारतीय मनीषियों ने भी नामकरण के सम्बन्ध मे अपनी शैली मे विचार किया था[2]। नामकरण षोडश संस्कारों मे से एक है। अतः इस विषय मे शास्त्रीय विचार आश्वलायन,[3] आपस्तम्ब,[4] बोधायन,[5] वैखानस[6] आदि गृह्यसूत्रों और स्मृतियों[7] में भी किया गया है।

'नामकरण' शब्द से प्रकट होता है कि इसमें व्यक्ति या पदार्थों को नाम दिया जाता है, ताकि उसकी पहचान हो सके। नाम किसी क्रिया, घटना, पदार्थ, व्यापार, रूप, गुण, कर्म और कामना आदि के आधार पर सहेतुक होते है[8] जिसे

1. इस अध्याय के मूल या पाद टिप्पणी मे उदाहृत शब्दों के निर्वचन और सन्दर्भ तथा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे किये विवेचन की अध्याय और पद-संख्या परिशिष्ट- एक और दो मे देखें। सुविधा के लिए आवश्यकतानुसार यत्र तत्र पा. टि. में कतिपय शब्दों के अध्याय और विवेचित निर्वचन की संख्या अथवा नि. को. की सख्या भी दे दी गई है।
2. 'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः'—ऋक् 10.71.1; नाम रूपे व्याकरोत्–छा० उप० 6 3.3; नामरूपे सत्यम्–श०ब्रा० 14.4.4.3. स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्:—तै० आ० 2.2 4.2; नाममिर्ममिरे सक्म्यं गोः—ऋक् 3 38.7' सर्वेषां यानि नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। मनु 1.21; तु. नि. 1.20
3. आश्व० 1.15 4-10
4. आप० 15.8-11
5. बोधा० 2.1.23-31
6. वैखा० र बा० 3.19
7. मनु० 2.30-33
8. तु० व्याप्तिमत्त्वात् शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके-नि० 1.2.

निर्वचन से अथवा पदार्थ की मुख्य क्रिया से जाना जा सकता है। नाम याहच्छिक भी हो सकते है, किन्तु वहा भी नामकर्त्ता की मनःस्थिति का योगदान रहता है।

आचार्य शौनक ने प्राचीन नैरुक्तों के दो मतों के अनुसार नौ[1] (निवास, कर्म, रूप, मंगल, वाक् आशीः, यदृच्छा, उपवसन, आमुष्यायण) और चार[2] (आशी., अर्थवैरूप्य, वाक्, कर्म) आधार बतलाए हैं। स्वयं ने मात्र कर्म को प्रमुख आधार माना है[3] व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों मे भी एतत्सम्बद्ध प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।[4] परन्तु वीरकाव्यो मे प्राप्त नामों के निर्वचनों की समस्त धाराएं उपरिलिखित आधारों मे समाहित नही हो पाती हैं। अतः इनका वर्गीकरण निम्न निर्दिष्ट धाराओं मे किया जा रहा है—

दैविक नाम

1. आनुवंशिक
2. जन्म सम्बन्धी
3. कृपा कामना-आशीर्वादात्मक
4. वर्ण-रूप-आकृत्यात्मक
5. वैशिष्ट्य या गुणपरक
6. कर्मपरक
7. आख्यान या घटनापरक
8. वाक् या शब्दानुकृतिपरक
9. उपवसन्परक
10. मंगलात्मक
11. निवासात्मक

भौतिक नाम

1. विशिष्टव्यक्तिहेतुक
2. विशिष्ट लिंग या वस्तुहेतुक
3. उत्पत्तिहेतुक
4. आख्यान या घटनाहेतुक
5. अन्वर्थक

दैविक नाम

1. आनुवंशिक विवेच्य ग्रन्थों मे अनेक नाम ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पिता[5] या पालयिता[6], माता[7] या पालयित्री[8] और गोत्र[9] होते हैं। कतिपय नामों मे पितृगुणो[10] या मातृगुणों[11] का भी आख्यान किया जाता था। गोत्रनाम

---

1. बृ. 1.25
2. बृ. 1.26
3. बृ. 1.27-33
4. द्र. पा का. भा. पृ. 180, सं. व्या. इति.; भ. वि. व्या. द -पृ. 146
5. ऐक्ष्वाकव, पारीक्षित् भारत, वासुदेव, शार्यात सौदास आदि।
6. गोपति, वत्स।
7. आदित्य, काश्यपेय, दैत्य, रौक्मिणेय।
8. कार्तिकेय, पाण्मातुर।
9. आंगिरस्, कौशिकी, काण्वायन, चैद्य, मारीच, यादव, सात्वत।
10. मारुति, रौद्र।
11. कापिलेय, सैंहिकेय।

प्रायः पुरुषनामों पर आधारित होते थे, पर कभी-कभी स्त्री नामों पर भी प्रचलित हो जाते थे। यथा–'मालव' क्षत्रियों के लिए यह संज्ञा स्त्रीनाम मालवी से प्राप्त हुई थी।

2. जन्म सम्बन्धी - कतिपय नाम इस प्रकार के प्राप्त होते हैं, जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप मे जन्म या उत्पत्ति से है। जैसे सभी प्राणियो से पहले उत्पन्न होने के कारण 'अग्नि', न उत्पन्न होने के कारण 'अज' जन्मतः सदा कुमार रहने के कारण 'सनत्कुमार', ब्रह्मास्त्र से परिक्षीण कुल मे उत्पन्न होने के कारण 'परिक्षित्', उत्पन्न होते ही कुशों से आवृत्त होने के कारण 'कौशिक' आदि नाम उदाहार्य हैं।

जन्मस्थान से सम्बद्ध नामों में अग्नि में उत्पन्न 'भृगु' और 'अंगिरा', जल मे 'अप्सराः' और 'अब्ज', भूतल में 'सीता', द्वीप में 'द्वैपायन', शरस्तम्ब में 'शरजन्मा' (कार्तिकेय), और 'शरद्वान्' आदि नाम द्रष्टव्य हैं।

कुछ घटकों के नाम प्रजननांगो से अतिरिक्त अंगों अथवा उनकी क्रियाओं से जन्म लेने के कारण अद्भुत हैं–जैसे 'अश्विनौ' (अश्रु से) 'जाम्बवान्' (जंभाई से) 'क्षुप' और 'इक्ष्वाकु' (छींक से) 'द्रोण' (द्रोणी से) 'नासत्य' (नासा से), 'रौम्य' (रोम कूपो से) और 'शुकदेव' (शुक्र से) आदि।

जन्मकालिक घटना अथवा वैशिष्ट्य के आधार पर रखे गए नामो मे आनक और दुन्दुभि बजने के कारण 'आनकदुन्दुभि', पृथिवी के फटने के कारण 'दरद', कवच-सहित होने से 'वसुषेण', सोम का सवन होने से 'सुतसोम' आदि नाम आते हैं।

जन्मकालिक नक्षत्र के आधार पर नाम रखे जाने की प्रथा थी। अर्जुन का 'फाल्गुन' या 'फल्गुन' नाम ऐसा ही था, जो उन्हें पूर्वोत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे उत्पन्न होने से प्राप्त हुआ था।

3. कृपा-कामना-आशीर्वादात्मक–कुछ नामों में व्यक्तिविशेष की सद्भावना परिलक्षित होतीहै। जैसे शान्तनु ने शरस्तम्ब मे पड़े बालकमिथुन को कृपापूर्वक उठाया, अतः वे बालक 'कृप' और 'कृपी' कहलाए। 'संजय' नाम इस कामना से रखा गया था कि विजय प्राप्त करेगा।

'अकम्पन' का नाम इस भावना से रखा गया था कि महायुद्ध में इसे देवता भी कंपा न सकेंगे। पुरुवंशीय राजा वसु ने इन्द्र को प्रसन्न किया और स्फटिक विमान से आकाशचारी बनने का आशीर्वाद दिया, अतः वह 'उपरिचर' कहलाया। पराशर ने सत्यवती मे उत्तम सुगन्धि का वरदान दिया अतः वह 'गन्धवती' कहलाई। 'पृथु' का यह नाम इसलिए रखा गया था कि वह लोकों का प्रथन करेगा।

4. वर्ण-रूप-आकृत्यात्मक—प्रकृत ग्रन्थों मे वर्ण, रूप और आकृति के आधार पर रखे गए नाम प्रचुर हैं। वासुदेव, अर्जुन और वेदव्यास के लिए 'कृष्ण' और द्रौपदी के लिए 'कृष्णा' आदि नाम कृष्णवर्ण के कारण हैं। तेज के कारण

केशों के मुञ्जवर्ण हो जाने से विष्णु को 'मुञ्जकेशः' जटाओं के धूम्रवर्ण के कारण शिव को 'धूर्जटि' और ग्रीवा में नीलत्व के कारण उन्हें 'नीलकण्ठ' कहते हैं। कान्ति-विशेष से 'विभावसु', श्वेतवर्ण के कारण 'अर्जुन', स्वर्णिम वर्ण के कारण 'रुक्मी' 'रुक्मिणी' और पाण्डु वर्ण के कारण 'पाण्डु' नाम भी रखे गए हैं।

स्त्रीनामों में 'तिलोत्तमा' नाम उसे उसके रूप के कारण मिला, क्योंकि उसके तिल-तिल भाग का सुन्दर निर्माण, सुन्दोपसुन्द के विनाश हेतु किया गया था। स्थूलकेश की कन्या को रूप और गुण में, स्त्रियों में श्रेष्ठ होने के कारण 'प्रमद्वरा' कहा गया। वज्रनाभ दानव की पुत्री चन्द्रतुल्य प्रभा से युक्त होने से 'प्रभावती' कहलाई। एक कन्या का नाम दर्शनीय रूप के कारण 'सुदर्शना' रखा गया था।

आकृतिपरक नामों में विष्णु के 'त्रिककुत्', 'विश्वरूप', 'वामन', 'वृषभेक्षण', 'हयग्रीव', शिव के 'बहुरूप', 'त्र्यक्ष,' 'त्र्यम्बक', ब्रह्मा के 'चतुर्मुख', कृष्ण के महाबाहु इन्द्र के 'अयुताक्ष' आदि नाम प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार कुबेर को 'एकाक्षिपिंगल', वायुपुत्र को 'हनुमान्', कार्तिकेय को 'षडानन', कामदेव को 'अनंग' और वानर-राज को 'सुग्रीव' कहा गया है। दानवों के नाम प्रायः आकृतिपरक हैं, जैसे 'अरिष्ट', 'कबन्ध', 'कुम्भकर्ण' 'घटोत्कच', 'त्रिशिराः', 'दश-ग्रीव',['मय', 'विभीषण', और 'विरुपाक्ष' आदि। ऋषियों में 'मणीमाण्डव्य', 'अष्टावक्र', 'पंचशिख' आदि नाम आकृतिपरक हैं। इन नामों का औचित्य सिद्ध करने के लिए इनके साथ आख्यान, घटना या निर्वचन का आश्रय लिया गया है।

इस वर्ग के नामों में मानवेतर देवों और दानवों के नाम अधिक हैं, क्योंकि इनकी शालीनता या भयंकरता या कर्मनिष्ठता बताकर आकर्षण या विकर्षण उत्पन्न करना मानव या कवि का अभिप्रेत होता है। यह स्थिति विश्व के समग्र साहित्य में है।

5. वैशिष्ट्य या गुणपरक—देवताओं के विभिन्न नामों, विशेषतः सहस्रनामों की कल्पना में तत्तद्देवों के गुण या कर्म संकेतित होते हैं। यथा-'अच्युत', 'अधोक्षज', 'ऋतधामा', 'कृष्ण' 'जनार्दन', 'हरि' आदि विष्णु नाम, 'पशुपति', 'महेश्वर', 'भव', शिव', 'रुद्र', 'हर' आदि शिवनाम, 'कुमार', 'महासेन', 'स्कन्द' आदि कार्तिकेयनाम तथा 'औपासन', 'क्रव्याद', 'जातवेदाः', 'त्रेता', 'पावक' आदि अग्निनाम। 'बुध', 'बृहस्पति', ब्रह्म', 'यम', 'राम', 'संकर्षण' आदि अन्य देवों के नाम भी इस दृष्टि से ध्येय हैं।

इसी प्रकार 'काञ्चनष्ठीवी', 'दुर्योधन', 'भरत', 'मेधावी', 'शल्य', 'शान्तनु', 'राणा', 'सर्वदमन' आदि नाम तत्तद् व्यक्तियों के गुणों का स्थापन करते हैं। 'क्षत्रिय' 'ब्राह्मण', 'दस्यु', राक्षस', 'राजा' आदि जातिवाचक संज्ञाएं जातिविशिष्ट महत्त्व का प्रतिपादन करती हैं।

6. कर्मपरक-ऊपर लिखा जा चुका है कि शौनक ने नाम का प्रमुख और एक आधार 'कर्म' ही माना है[1], क्योंकि प्रत्येक आधार मे कर्म येन केन प्रकारेण अनुस्यूत रहता ही है। परन्तु कतिपय नाम कर्म विशेष के आधार पर विशेष प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। यथा-विष्णु के 'केशव,' 'मधुसूदन' और 'मुरारि' नाम केशी, मधु और मुर नामक दानवो के वध करने के कारण हैं। तीन देवियों की आराधना के कारण शिव 'त्र्यम्बक' और त्रिपुरों का भेदन करने के कारण 'त्रिपुरारि' हैं। इसी प्रकार 'इध्मवाह' 'इन्द्रजित्', 'उग्रसेन', 'उद्दालक', 'धनञ्जय', 'धुन्धुमार', 'पृथु', 'भीम', 'भीष्म', 'भूमिञ्जय', 'वैकर्तन', 'शतक्रतु', 'शत्रुघ्न', 'श्रुतकर्मा', 'सर्वकर्मा', और 'सव्यसाची', आदि नाम कर्मपरक है।

'चित्ररथ' नामक गन्धर्व के परिवर्तित नाम 'दग्धरथ' से यह भी प्रकट होता है कि कर्म या गुणादि के अनुसार रखे नाम परिस्थितिवश बदल जाया करते थे। वस्तुतः मूल नाम स्थायी होता होगा और अन्य नाम परिवर्तनशील। किन्तु यह व्यक्ति पर निर्भर होता होगा कि स्थितिवश वह नाम परिवर्तित करता है या नही। तथापि नाम-नानात्व मे कर्म की निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

7. आख्यानपरक या घटनापरक—यों तो सभी उपलब्ध व्यक्तिवाचक नाम किसी न किसी आख्यान अथवा मुख्य क्रिया या विचार को लेकर हैं। उनमे से कतिपय का उल्लेख अन्य वर्गों मे भी हुआ है, पर यहां कुछ ऐसे नामो की चर्चा की जा रही है, जिनके मूल मे अन्य आधारो की अपेक्षा आख्यान का प्रमुख योग है। कृष्ण के दो नाम 'गोविन्द' और 'उपेन्द्र' गोवर्धन-धारण के आख्यान से सम्बद्ध हैं,[2] जिसमें इन्द्र कृष्ण के प्रभाव से अभिभूत हुए थे। 'दामोदर' नाम कमर मे यशोदा द्वारा रस्सी बांधे जाने की घटना पर आधारित है।[3] दिति के गर्भस्थ बालक को इन्द्र द्वारा खण्डशः करके 'मा रोदीः' कहकर चुप कराए जाने पर वह 'मरुत्' या 'मारुत' हुआ।[4] इन्द्र के 'मेषवृषण' और 'सहस्राक्ष' नाम अहल्योपाख्यान से सम्बद्ध हैं। 'गालव' को यह नाम इसलिए मिला कि उसकी मा उसे गले में बांधकर बेचती फिरी थी।[5] 'च्यवन' नाम का कारण गर्भच्युति है।[6] इसी प्रकार 'अश्मक', 'उमा-एकपर्णा'[7], 'ककुत्स्थ'[8], 'करन्धम', 'कल्माषपाद', 'जरासन्ध', 'दीर्घतमाः', 'पाञ्चजन्य' 'मान्धाता', 'शशाद'[9] और 'सगर' आदि नाम आख्यान या घटना पर आश्रित हैं।[10]

---

1. बृ 1 27; द्र, 1.25
2. द्र. 3.14 और नि. को. 72
3. 3.17
4. 8 25
5. 5.6
6. 5.8
7. 3.8, 9,10.
8. 6.4
9. 6.23
10. द्र. क्रमशः नि. को. मे।

8. वाक् या शब्दानुकृतिपरक—इस वर्ग में ऐसे व्यक्तिवाचक नाम रखे गए हैं, जिनका सम्बन्ध विशिष्ट वाक् या बोली से है। 'अत्रि'[1] 'आस्तीक'[2] 'उमा'[3], 'क'[4] 'कस'[5] और 'सरमा'[6] के नाम क्रमशः 'अत्र-अत्र' 'अस्ति' 'उ-मा', कोऽहम् 'कस्य त्वम्' 'सरो मा वर्द्धत' जैसे उच्चारणों से सम्बद्ध हैं। 'मेघनाद' ने मेघतुल्य शब्द का उच्चारण किया था। द्रोण और कृपी से उत्पन्न पुत्र ने उच्चैःश्रवा नामक अश्व के समान शब्द किया था, अतः 'अश्वत्थामा' कहलाया। 'दुन्दुभि' ने दुन्दुभि के समान गर्जना की थी।[7] 'रावण' नाम उसे शिव की शक्ति से त्रस्त होकर रोने-चिल्लाने के कारण प्राप्त हुआ।[8]

9. उपवसनपरक—आचार्य शौनक ने नामकरण का एक आधार 'उपवसन' माना है, जिसका अर्थ श्री रामकुमार राय ने 'निकटवास'[9] और पं. शिवनारायण शास्त्री ने 'प्रकृति'[10] किया है, किन्तु इसके अन्तर्गत व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध साधन, आयुध, वस्तुविशेष, लक्षण अथवा प्रकृति आदि भी अन्तर्भूत होते माने जा सकते हैं। रुद्र के 'खण्डपरशु' 'वृषभध्वज' 'वृषभाङ्क', चन्द्रमा का 'शशांक', अर्जुन का 'श्वेतवाहन' या 'श्वेताश्व' आदि नाम इस वर्ग में आते हैं। विष्णु का वक्षः स्थल श्रीवत्स से अंकित है। अतः वह 'श्रीवत्सलाञ्छन' हैं। 'कुश' और 'लव' नामों का कारण कुश और गोपुच्छलोम अथवा किञ्जल्क से किया गया संमार्जन था। सत्यवान् का नाम 'चित्राश्व' इसलिए था, क्योंकि उसे बचपन में घोड़े प्रिय थे और वह मिट्टी के या चित्र में घोड़े बनाया करता था। 'चिरकारी' सभी काम देर से किया करता था। इक्ष्वाकु ने अपने उद्दण्ड पुत्र का नाम प्रकृति और व्यवहार देखकर 'दण्ड' रख दिया था।

10. मंगलात्मक—धार्मिक प्रवृत्ति और विश्वास के कारण सेवा, पूजापाठ या आशीर्वाद आदि के द्वारा सन्तान-प्राप्ति के सन्दर्भ आज के समान पूर्व काल में भी प्राप्त होते हैं। सोमदा की सेवा से प्रसन्न चूली तपस्वी ने उसे जो पुत्र प्रदान किया, उसका नाम 'ब्रह्मदत्त' रखा गया। विश्वामित्र ने देवताओं को प्रसन्न करके यज्ञ के लिए बलि का पशु बने हुए शुनःशेप को छुड़ाया था, अतः वह 'देवरात' हुआ।

---

1. द्र 5.2
2. नि. को. 53
3. 3.8
4. 3.11
5. 4.14
6. 4.10
7. 4.20
8. 4.24
9. बृ. 1.25 (रामकुमार राय द्वारा अनूदित और सम्पादित)
10. नि मी. पृ. 147

अश्वत्थामा के ब्रह्मशिरा नामक अस्त्र से क्षीण उत्तरा के गर्भ की रक्षा कृष्ण रूप विष्णु ने की थी। अतः उस गर्भ से उत्पन्न परीक्षित् का अपर नाम धौम्यादि ऋषियों ने 'विष्णुरात' रखा था।

पूर्ववर्ती महापुरुषों या पूर्वजों के नाम के आधार पर भी नाम रख लिये जाते थे। नकुल-पुत्र का नाम राजर्षि शतानीक के नाम पर 'शतानीक' रखा गया था। उल्लेख्य है कि इसी वंशपरम्परा मे जनमेजय के पुत्र का नाम भी यही रखा गया था।

11. निवासात्मक—कतिपय नाम ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनका सम्बन्ध निवास स्थान से है।'पंचाल' देश में रहने वाली पांच प्रमुख जातियो को भी 'पंचाल' कहते थे[1]। महाभारतकार के मत मे विष्णु को पुण्डरीक में निवास करने के कारण पुण्डरीक कहते हैं। स्कन्द का एक नाम'गुह' है। निमेष को 'निमेष' इसलिए कहते है कि वसिष्ठ के शाप से शरीर नष्ट होने के पश्चात् निमि प्राणियों के नेत्रों पर रहते हैं। 'अंगारपर्ण' गन्धर्व का यह नाम, अंगारपर्ण वन में रहने के कारण, पड़ा था[2]।

भौतिक नाम

1. विशिष्ट व्यक्ति-हेतुक

विवेच्य ग्रन्थों में कतिपय स्थान, पर्वत, नदी, वन, वृक्ष, आदि के नाम देवता, संस्थापक, शासक, तपस्वी, योद्धा आदि विशिष्ट व्यक्तियो से सम्बन्ध के कारण पड़े माने गए हैं। जैसे 'अंगदीया', 'उत्कला', 'गया', 'कलिंग', 'तक्षशिला', 'श्रावस्ती', 'पुष्कलावत' और 'हस्तिनापुर' आदि नगर-नगरियों का संस्थापन या शासन क्रमशः अंगद, उत्कल, गय, कलिंग, तक्ष, श्रावस्तिक या लव, पुष्कल और हस्ती आदि राजाओं ने किया था[3]। 'पञ्चाल' देश का नाम तत्रत्य पांच क्षत्रियों (जातियों) के कारण पड़ा था[4]। कश्यप-पुत्री के रूप मे पृथ्वी का एक नाम 'काश्यपी' था।

इन्द्र तीर्थ कुरुक्षेत्र, गर्गस्रोत, नागधन्वा, यायात और सोमतीर्थ क्रमशः इन्द्रदेव, महात्मा कुरु, वृद्धगर्ग, वासुकि, ययाति और सोमदेव से सम्बद्ध है।[5] माण्डकर्णि ऋषि की तपस्या से भयभीत देवों द्वारा प्रेषित पांच अप्सराओ के नाम पर उस तपस्यास्थल का नाम 'पंचाप्सरस्' तीर्थ हुआ।

इसी प्रकार कौशिक विश्वामित्र, जह्नु, भगीरथ और यमी से सम्बद्ध नदियों के नाम क्रमशः कौशिकी, जाह्नवी, भागीरथी और यमुना है। 'मानस' सरोवर को

---

1. द्र० 8.5
2. द्र० 4.7
3. तु०—तेन निर्वृत्तम्—पा० 4.2.68
4. तु०—तस्य निवासः—पा० 4.2.69
5. तु०—'येन येन तपस्तप्तं तस्य नाम्नाऽतिविश्रुतः'—स्कन्द पु० नागर 12-13

ब्रह्मा के मन से निर्मित बताया गया है। 'सागर', 'वैभ्राज' (सरोवर और वन) 'अंगारपर्ण', 'दण्डकारण्य' और 'मधुवन' क्रमशः सगर, विभ्राज, अंगारपर्ण, दण्ड, और मधु से सम्बन्ध होने के कारण विख्यात हुए। वरुणपुत्री होने के कारण मदिरा को वारुणी' कहा गया है। रेगिस्तान में वर्षा करने वाले 'उत्तंकमेघ', मुनि उत्तंक की कृपा से उद्भूत होने से इस नाम से प्रख्यात हुए।

2. विशिष्ट लिङ्ग या वस्तु-हेतुक

प्रायः देखा जाता है कि जो स्थान या देश जिस लिङ्ग (चिह्न) या वस्तु से युक्त अथवा उसके समीप होता है, उस चिन्ह या वस्तु के आधार पर उस स्थान या देश का नाम पड जाता है[1]। पिता की मृत्यु से क्रुद्ध परशुराम ने क्षत्रियों का कई बार विनाश करके, उनके रुधिर से समन्त/पंचक' नामक पाँच ह्रद बनाए थे। इनके समीप विद्यमान देश को भी इनके सामीप्य के कारण 'समन्तपञ्चक' कहते हैं। 'गोकर्ण' नामक तीर्थ की प्रख्याति इसलिए है कि वहां बैल-बछड़े सहित सैंकड़ो गाएं सुखपूर्वक स्वच्छन्द रूप से रहती थी। 'शंखतीर्थ' का यह नाम वहां वर्तमान महाशंख के कारण पड़ा था। 'गोमती' नदी को गोयुत अर्थात् गायों से युक्त कहा है[2]। अनेक द्वारो से सम्पन्न होने के कारण द्वारका को 'द्वारवती' भी कहते थे। सरस्वती नदी के सप्त स्रोत जहा एकत्र हो गए, उस तीर्थ को 'सप्तसारस्वत' कहते है। गगा का एक नाम 'त्रिपथगा' है, क्योंकि वह आकाश, पाताल और भूलोक मे विचरण करती है। एक नदी का नाम है 'पयोधारा' जिसके जल (धारा) को क्षीर के समान बताया गया है। उल्लेख्य है कि पय शब्द जल और क्षीर दोनों का वाचक है। वृक्षविशेष की प्रख्याति उसके पुष्प-फलादि नाम से भी हो जाती है जैसे 'मन्दार'। गरुड़ का नाम 'सुपर्ण' इसलिए पड़ा कि अमृत लाते समय, उसने इन्द्र के प्रहार करने पर भी, उनके प्रति सम्मान प्रकट करने और अपना गौरव दिखाने के लिए एक पंख छोड़ा था।

3. उत्पत्ति-हेतुक

कतिपय नामों का आधार अभिहितों की उत्पत्ति है। 'सरयू' नदी का यह नाम इसलिए है कि वह मानस सर से उद्भूत हुई[3]। 'मानस' सर भी ब्रह्मा के मन से उत्पन्न होने से इस नाम से अभिहित हुआ। 'चर्मण्वती' नदी की उत्पत्ति राजा रन्तिदेव के यज्ञ मे बलिदान किए गए पशुओं के चमड़े (चर्मन्) के भीगने से बताई गई है[4]। 'अश्वशकृत्' नदी कालयवन की सेना के अश्वोष्ट्रादि के मल-मूत्र से उत्पन्न हुई थी। वाडवाग्नि 'और्व' की उत्पत्ति महात्मा अर्व की जंघा को कुशा से मथने से हुई थी[5]।

---

1. महा० 1.2.8; तु–पा० 4.2.67
2. द्र०–वाक्यपदीय० 2.175
3. द्र०–8.16
4. 8 12
5. द्र –8.11

दैविक नामो की भांति कुछ भौतिक नाम भी माता के नाम पर आधारित प्रतीत होते हैं, जैसे 'ऐरावत' की उत्पत्ति रामायण मे 'इरावती' से बताई गई है। 'विनता' पक्षी का नाम उसकी माता नता के नाम पर है।

4. आख्यान या घटना–हेतुक

यद्यपि अन्य वर्गों में वर्णित कतिपय शब्द किसी न किसी आख्यान या घटना से संवलित दृष्टिगत होते हैं, तथापि कुछ शब्दों मे इनका प्रामुख्य प्रतीत होता है। 'नैमिषारण्य' ऋषियों की प्रार्थना पर हरि के चक्र की नेमि के गिरने का स्थान है। जहां सरस्वती विनष्ट (अन्तर्लीन) हुई थी, वह तीर्थ 'विनशन' हुआ। 'सप्तचरु' तीर्थ के नाम का कारण महाविष्णु को प्रसन्न करने के लिए ऋषियो द्वारा चरु (तिल आदि सामग्री) से किया गया हवन था। 'बदर-पाचन' तीर्थ के नाम से मूल मे दो आख्यान हैं। एक के अनुसार यहां इन्द्र की तपस्या मे लीन कन्या ने परीक्षार्थ दिये गये और पकने में असम्भव बदरीफलो को पका दिया। दूसरे के अनुसार यहा तपस्यालीन अरुन्धती ने प्रसन्न महादेव को बेर पकाकर खिलाए थे। 'वसिष्ठापवाह' तीर्थ का नामकरण विश्वामित्र और वसिष्ठ की तपोविषयक स्पर्धा तथा सरस्वती द्वारा वसिष्ठ को बहा लाने की घटना से सम्बद्ध है। 'विपाशा' और 'शतद्रु' नदियों के नाम का कारण यह है कि पुत्रनाश से दुःखी वसिष्ठ के नदी धारा में गिरने पर विपाशा ने वसिष्ठ को पाशरहित कर बाहर फेंक दिया था और दूसरी शतद्रु स्वयं शतभागों मे विभक्त हो गई थी। इसी प्रकार 'गरुड' का यह नाम इसलिए पड़ा कि उसने अपने बोझ से टूटी रोहिण वृक्ष की, उसमे लटके हुए बालखिल्य ऋषियों के गुरु भार से युक्त, शाखा का वहन किया था।

5. अन्वर्थक

कतिपय तीर्थों के अन्वर्थक नामों के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, जैसे 'श्वानलोमापनयन' तीर्थ मे स्नान से श्वानलोमापनयन घटना के समान पापमोचन हो जाता था। 'कुलम्पुन' तीर्थ मे स्नान करने से मनुष्य अपने वंश को पवित्र कर लेता था। जिस तीर्थ मे दक्ष के शाप से यक्ष्मा-ग्रस्त चन्द्रमा रोगमुक्त होकर दिव्य प्रभा से प्रभासित हो गया था, उसे 'प्रभास' कहा गया है। अष्टावक्र के अंगों को सीधा कर देने के कारण मधु-विला नदी का नाम 'समंगा' हो गया था। काशीस्थ औशनस् तीर्थ का अपर नाम 'कपाल-मोचन' इसलिए हुआ, क्योंकि वहां महोदर मुनि, जंघा में लगे राक्षस-कपाल से मुक्त हुए थे। 'प्रयाग' तीर्थ के नाम का कारण भूतात्मा पितामह द्वारा यहा सर्वप्रथम यज्ञ किया जाना बताया गया है।[1]

इसी प्रकार कुछ अन्य शब्द भी हैं, जो अपने यौगिकार्थ से कथन की पुष्टि करते हैं। विष्णुपदी गंगा के ऊपर उत्पन्न होने से कल्पवृक्ष को 'पारिजात' (परि=

1. सम्भवत. यहां 'प्रयाग' का प्र=प्रथम, याग=यज्ञ वाला स्थल अर्थ है।

ऊपर+जात से) और सभी देवों द्वारा नारद के साथ रखने से, गौ को 'सर्वसहा' (सर्व+$\sqrt{}$सह् से) कहा गया है। अपने पक्षों से सूर्य को ढकने के प्रयास में जटायु का भाई विन्ध्य पर्वत पर गिरा, सम्भवतः इसीलिए वह 'सम्पाति' कहलाया।

निष्कर्ष

इस प्रकार विवेच्य ग्रन्थों मे निरुक्त व्यक्तिवाचक नामो में अनेक आधार अपनाए गए हैं। दैविक और भौतिक नामों के आधारों मे अपनाई गई दृष्टियां कहीं-कही भिन्न हैं। भौगोलिक और कालिक परिवर्तन के कारण समय-समय पर इनमे अन्तर आता रहा है, जैसे कतिपय शब्दों का वेदगत, इतिहासपुराणगत और व्याकरणगत नामौचित्य भिन्न-भिन्न दृष्टिगत होता है।

नामो को देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि घटको के मूल-नाम पृथक् होते हैं और विभिन्न आधारो पर पड़े नाम पृथक्, किन्तु किसी विशेष क्रिया, सामर्थ्य और प्रयोग आदि के बल पर कोई या कुछ नाम अधिक प्रचलित हो जाते हैं और कभी-कभी तो मूल नाम लुप्त हो जाते हैं। अतः नामों के उपलक्षित और अनुपलक्षित दो भेद किये जा सकते हैं। श्रीमद्भागवत में गंगा के लिए भगवत्पदी नाम को *अनुपलक्षित (मूलनाम) बताया गया है। यहां श्रीधरस्वामी ने 'जाह्नवी'* और 'भागीरथी' को उपलक्षित नाम कहा है।[1]

---

1. द्र.–भा. पु. 5.17.1 पर टीका।

तृतीय अध्याय

देव-वर्ग

सामान्यत: 'देव' शब्द का अर्थ स्वर्ग से सम्बद्ध प्राणी समझा जाता है, पर यास्क कृत निर्वचन[1] के अनुसार दान और प्रकाश देने वाले सभी 'देव' हैं। इसीलिए साहित्य मे देव का प्रयोग माता-पिता-गुरुजन[2], इन्द्रिय[3], विद्वान्[4], प्राण,[5] ऋषि,[6] राजा,[7] तथा दानव[8] आदि के लिए भी होता रहा है। अत: इस खण्ड में देवता. देवयोनि तथा मानव वर्गों को रखा गया है, क्योंकि इनमे शक्ति, ऐश्वर्य, दान, बुद्धि आदि सामान्य देवोचित गुण प्राप्त होते हैं। इनका वर्णन पृथक्-पृथक् अध्यायों में किया गया है।

प्रस्तुत अध्याय में प्रथम वर्ग के देवों और देवियो के नामों का विवेचन किया गया है। निर्वचनो की सर्वाधिक संख्या इसी वर्ग मे है और देव-प्रधान देश मे यह स्वाभाविक भी है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जिनसे द्योत्य व्यक्तियो का उपास्य देवत्व निर्वचनो मे तो अभिव्यक्त नही हुआ है, परन्तु लोक में वे देवता और उपास्य माने जाते हैं। ऐसे शब्दो को भी इसी वर्ग मे परिगणित किया गया है, जैसे 'कृष्ण', 'राम', 'हनुमान्' आदि। जबकि 'वसुदेव','लव-कुश' आदि राजवर्ग मे ही रखे गये है। क्योंकि आज भी वे उपास्य देवत्व को प्राप्त नहीं हुए हैं। ग्रन्थ के विस्तार के भय से इस वर्ग के मात्र प्रतिनिधि शब्दों का विवेचन किया जा रहा है—

1. अक्षर

(न) अ + $\sqrt{}$क्षर से—'तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि'[9]

'एतदक्षरमित्युक्तम्'[10]

---

1. नि. 7.5
2. तै. उप. 11 अनु.
3. यजु, 40 4
4. श. ब्रा. 3.7.3.10
5. श. ब्रा. 7.5.1.21
6. देवर्षि आदि
7. 'मनुष्यदेव', 'यथाज्ञापयति देवः', 'तत्र देवः प्रमाणम्' आदि शब्दावली द्रष्टव्य है।
8. कौ. ब्रा. 2.2, सर्प–छा. उप. 7.1.2.4; द्र.–वै. ध. द. पृ.-94
9. महा. 12.195.24
10. महा. 12.291.35

'एकत्वमक्षरं प्राहुः'[1]

'यन्न क्षरति पूर्वेण यावत्कालेन वाङ्मयम्'[2]

'अक्षर' शब्द अविनाशी परमपुरुष (परब्रह्म) और स्वरों तथा वर्णों (सिलेबुल) के लिए प्रयुक्त होता रहा है। यह अर्थ वैदिक, उत्तरवैदिक और पौराणिक सभी निर्वचनों से अभिव्यक्त होता है। वैयाकरणों ने इस पर अपनी दृष्टि से विचार किया है, पर उससे भी मूलार्थ की पुष्टि होती है। वाङ्मय में प्राप्त ये निर्वचन उल्लेखनीय हैं (I) अ+√क्षर, (II) अ+√क्षि (III) √अशू (व्याप्तौ)+सर (IV) √अश (भोजने)+सर, (V) अक्ष (√अञ्जू) + र और (VI) अक्षि+र।

वैदिक और पौराणिक साहित्य में प्रथम दो निर्वचन सुप्राप्य हैं, किन्तु महाभारत में प्रथम के अधिक प्रयोग मिलते हैं। उणादि प्रकरण में व्युत्पन्न तृतीय निर्वचन को कोशकारों और व्याख्याकारों ने भी स्वीकार किया है। चतुर्थ निघण्टु के व्याख्याकार देवराज यज्वा का व्याख्यान है। पञ्चम निरुक्त-परम्परा का द्योतन करता है। षष्ठ अक्षर के स्वरूप और प्रवृत्ति का द्योतक है–'अक्षीणि रमन्ते यस्मिन्' इन सभी पर अन्यत्र विस्तार से विचार किया गया है[3]। यहां केवल प्रस्तुत सन्दर्भ में ही विवेचन अपेक्षित है।

उपरिलिखित महाभारतीय प्रथम निर्वचन 'ब्रह्म' के सन्दर्भ में दिया गया है, जो स्त्री, पुमान्, नपुंसक, सत्-असत्, सदसत् कुछ भी नहीं है और जिसका क्षरण नहीं होता है। क्षरण का अर्थ संचलन होता है और संचलन का अर्थ कोशकारों ने स्पष्टतः बहना, पिघलना, चूना, और विनष्ट होना स्वीकार किया है। धातु के मूल पर विचार करते हुए डा० फतहसिंह ने इसे अनुकरणमूलक बताया है, क्योंकि जलादि के गिरने या बहने से छर, भर, झर आदि ध्वनियां होती हैं[4]। इसलिए सम्भवतः इस प्रकार की ध्वनि करने वाले जल और जलद को 'क्षर' तथा वर्षा को 'क्षरिन्' कहा है[5]। जल भी अपने स्थान से च्युत होकर क्षरण करता है। कई स्थितियों में परिवर्तन होकर विनष्ट या विलीन होता है। अतः √क्षर का अर्थ 'परिवर्तन होना' या 'विनष्ट होना' भी लिया जा सकता है। ये ही क्रियाएं शरीर में भी होती हैं, अतः उसे भी–'क्षर' कहा गया है[6]। स्पष्ट है कि यह क्षरण या च्यवन उस वस्तु से है, जो अपनी पूर्वावस्था में शाश्वत है, स्थिर है, 'अक्षर' है। इसीलिए क्षर की भांति 'अक्षर' का अर्थ भी जल है तथा 'क्षरिन्' की भांति 'अक्षरिन्' का अर्थ भी वर्षा

---

1. महा. 12.293.47 2. महा. चि. 12 302.13
3. 'अक्षर'–एक अध्ययन–डा. शिवसागर त्रिपाठी, 'भाषा'–मार्च 1968, पृ. 67-75
4. तु०–क्षर,(excurren या curren (लै०) current (अं०) courent (फ्रेंच) skir या scour (प्रा०अं०)
5. आप्टे–संस्कृत-अंग्रेजी-कोश।
6. तत्रैव

गहतु है। तात्पर्य यह है कि जो अपरावस्था में 'क्षर' है, वही अपनी पूर्वावस्था में 'अक्षर' है[1]। महाभारत मे स्पष्ट रूप से 'क्षर' और 'अक्षर' ये परमात्मा के दो रूप बताए गए हैं[2]। दोनों की संज्ञा प्रकृति-पुरुष भी दी गई है और उनमे नारी-पुरुष जैसा सबन्ध बताया गया है[3]।

इस प्रकार अक्षर जहां परमब्रह्म[4], आत्मा, शिव,[5] विष्णु[6] और मोक्ष[7] या परागति[8] का वाचक है, वहां वह शब्द-ब्रह्म[9] भी है, जो उपनिषद् दर्शन का प्राण है और जिसका एक नाम है 'अक्षर', जो ऊंकार, प्रणव या अमृत का वाचक है[10]। इसी से स्वरवर्णोच्चारण[11], वाक्[12] और वेदचतुष्टयी की उत्पत्ति हुई। वायुपुराण में इसे यों स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म या 'अक्षर' की चिन्ताधारा से 'अक्षर' की उत्पत्ति कण्ठ से हुई[13]। उसके चतुर्मुख से चतुर्दश मुख तथा एक-एक मुख से अकारादि स्वरो की उत्पत्ति हुई। इन्ही स्वरो में कल्पों का भी समन्वय किया गया है[14]। जिस प्रकार ब्रह्म स्त्री, पुम्, नपुम्, सत्, असत्, एवं सदसत् से परे है, उसी प्रकार अक्षर या वर्ण भी अपने द्योत्य के लिए लिंगभेद से मुक्त है। लिंगभेद शब्दवत् प्रक्रिया है, जो इस अक्षर ब्रह्म 'एकाक्षरं परं ब्रह्म'[15] या 'अक्षराणामकारोऽस्मि'[16] का क्षर रूप है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी उपर्युक्त प्रमुख चार अर्थों—परमात्मा[17], जीवात्मा[18], ऊंकार[19] और वर्ण[20]—मे 'अक्षर' का प्रयोग हुआ है।

'अक्षर' का प्रयोग व्यवहार मे प्रायः लिखित या अंकित ध्वनि सकेत के अर्थ मे होता है। इसका प्रयोग शब्द, शब्दसमूह या वाक्य वर्ण (letter) और 'सिलैबुल' के अर्थ मे भी हुआ है, जिसका कारण है, 'अक्षर' (अविनाशी) का अर्थविकास 'जो तोडा न जा सके' या 'जिसका विश्लेषण न किया जा सके'[21]। वाक् (भाषा) को

---

1. संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरञ्च–श्वे० उप० 1.7 'अक्षरमहं क्षरमहम्–अथर्वाङ्गिरस् उप०, अक्षर-वाक् के पक्ष मे भी यह सत्य है। अक्षर (फोनीम) क्षर रूप वर्णों की मौलिक ध्वनियां हैं। वैभिन्न्य होते हुए भी दोनों मे एकात्मकता है।
2. महा० 12.231.31, गीता 15.16 3. महा० 12.293.12
4. अक्षरं परमं ब्रह्म–गीता 17.45
5. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः–श्वे० उप० 1.1.9
6. म०पु० 248.39
7. महा० 12.231.34
8. वा०पु० उ० 42.43
9. मनु० 2.83
10. प्रश्न उप० पंचम प्रश्न
11. महा० 12.330 35
12. महा० शान्ति 231 56
13. वा० पु० पू० 26.9
14. द्र०-वा० पु०पू० अ० 26
15. मनु० 2.83
16. गीता 10.33
17. तत्रैव 8.3
18. तत्रैव 15 16
19. तत्रैव 8.11,
20. तत्रैव 10.33
21. 'न क्षरति' नान्यथाभावमापद्यते–नि०दु० 13.12

ब्रह्म की भांति[1] अक्षीण माना जाता था[2]। अतः उसे 'अक्षर' कहा गया है[3]। इसकी पुष्टि निरुक्त से भी होती है[4]।

अक्षर के लिए प्रयुक्त 'सिलेबुल' में भी अर्थसाम्य है syn=साथ+lamba-neim=रखना या लेना से निर्मित ग्रीक शब्द syllabli का अर्थ है—'जो एक मे बंधा हो'। यही संश्लिष्टता 'अक्षर' मे भी है। आज तो 'अक्षर' को 'फोनीम' की संज्ञा दी गई है, जो अक्षर की आत्मा के अधिक निकट प्रतीत होता है। क्योंकि 'फोनीम' एक ऐसा लघुतम ध्वनिविकासात्मक ऐक्य है, जिसके फिर कोई टुकड़े नहीं किये जा सकते'—और यही 'अक्षर' का निर्वचन परक अर्थ है।

महाभारत से ही उद्धृत अन्य दो निर्वचन प्रथम निर्वचन के ही प्रकारान्तर हैं। द्वितीय मे नञ् समास के द्वारा 'क्षर' से भिन्न तत्व को 'अक्षर' कहा गया है। इसी प्रकार तृतीय अक्षर का व्याख्यान 'एकत्व' शब्द के द्वारा किया गया है अर्थात् जो अखण्डनीय है अर्थात् एक है। चतुर्थ निर्वचन प्रथमवत् है।

इस प्रकार 'अक्षर' का निर्वचनपरक अर्थ अखण्ड्य, अविश्लेष्य तथा अविनाशी लेकर केवल मौलिक ध्वनि 'अ' को अक्षर स्वीकार कर लिया जाय, तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती। 'अक्षराणामकारोऽस्मि'[5] 'एकाक्षरं परं ब्रह्म'[6] 'एकाक्षरा वै वाक्'[7] आदि उक्तियों से यही अभिप्रेत प्रतीत होता है। एकाक्षर कोशों मे 'अ' को शिव, केशव, ब्रह्मन्, भानु, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देवों का वाचक कहा गया है[8]। इसी प्रकार का द्योतन करने वाले 'अक्षर' शब्द को 'ब्रह्म' का भी वाचक माना गया है, जैसा कि महाभारतीय उद्धरणों से और उपरिलिखित विवेचन से स्पष्ट होता है।

2. अग्नि

अग्र+नि (निर्+√मा) से–

'यस्मादग्रे स भूतानां सर्वेषां निर्मितो मया'[9]।

अग्र (=पूर्व)+नी(=प्र+√दा) से–

'यस्मात् सर्वक्रत्येषु पूर्वमस्मै प्रदीयते'[10]।

अञ्ज्(=√दीप्) से– आहुतिः···· ···· ···· ···· ···· ····

---

1. वाग् वै ब्रम्ह–ऐ. ब्रा० 6.3, श. ब्रा. 2.1.4.10; वागिति तद् ब्रह्म–जै. उप. 2.9.6
2. न वै वाक् क्षीयते–ऐ. ब्रा. 5.16
3. ता. ब्रा. 4.3.3
4. नि. दु. 13.10
5. गीता 10.33
6. मनु. 2.83
7. ता० ब्रा० 4.3.3
8. ए. को 1.5; 2.6; 3.2, 5.1,2; 6.3
9. महा. आश्व. अपे. 1.4.2563-64
10. तत्रैव 1.4.2566

'दीप्यमानाय तस्मादग्नीति कीर्त्यते'[1]।

अग्रि(=प्रपुथा)+√नी से– 'यस्माच्च नयति ह्यग्र्यां गतिं विप्रान् सुपूजित,।
तस्माच्च नयनाद्राजन् वेदेष्वग्नीति कीर्त्यते[2]।

भारतीय देवों में अग्नि एक प्रधान देव है। वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य मे अग्नि के (सात) निर्वचन प्राप्त होते हैं[3] जिन पर डा. फतहसिंह ने विस्तार से विचार किया है। यह दृष्टिगत होता है कि उत्तरोत्तर अत्यन्त प्रचलित और स्पष्ट निर्वचन स्वीकार किये जाने लगे। स्वयं आचार्य शौनक ने केवल तीन निर्वचनों का उल्लेख किया है।[4] और आगे चलकर व्याकरण में केवल एक ही व्युत्पत्ति मानी गई है।[5]

उपरिलिखित महाभारतीय निर्वचन भी वैदिकी और नैरुक्तिक परम्परा मे है, शब्दावली मे यत्र-तत्र (अर्थ या पर्याय देकर) परिवर्तन कर दिया गया है। चतुर्थ निर्वचन मे तो उसकी वेदमूलकता को स्वीकार भी किया गया है।

प्रथम निर्वचन 'अग्नि' की प्रथम रचना की ओर स्पष्ट संकेत करता है। इसमे पूर्व पद (अग्र) स्पष्ट है। उत्तरपद के लिए निर् +√मा का प्रयोग करके कथन को स्पष्ट किया गया है। एतत्सम्बद्ध वेदिक निर्वचनो मे भी 'अग्र' के बाद √सृज् √जनी√या आदि धातुओं का प्रयोग किया गया है।[6]। यद्यपि लोक मे जल को आदि सृष्टि कहा गया है।[7], तथापि वेद ने जल को नित्य उपादान तत्त्व मानकर[8] अग्नि को ही प्रथम सृष्टि कहा है।[9] इस महाभारतीय निर्वचन मे इसी का प्रतिनिधित्व किया गया है, जो अन्य पुराणों मे भिन्न शब्दावली मे प्राप्त होता है।[10]

द्वितीय निर्वचन मे पूर्वपद (पूर्व) और उत्तरपद (√दा) पर्याय के रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। यह निर्वचन निरुक्तगत निर्वचनो से तुलनीय है–अग्रणीर्भवति। अग्र

---

1. तत्रैव 2566
2. तत्रैव 2568
3. द्र. वै.-एटी. पृ. 8-12
4. बृ. 2.24
5. √अगि+नि।
6. ऋक् 6.16.48; 'सर्वस्याग्रमसृज्यत'-श. ब्रा. 6.1.1.11; अग्रे देवानामजनयत तत्रैव 2.2.4.2; तु.–तै. ब्रा. 2.1.6 4 'सुगान् पथः कृण्वती यात्यग्रे-ऋक् 5.80 2
7. अभि. शा. 1.1 मनु 3 8
8. ऋक् 10.128.3; तै. ब्रा. 1.1.3 5; श. ब्रा. 7.5 2.8 उल्लेख्य है कि 600 ई. पू यूनान के थेलोबा नामक विद्वान् ने जल को सर्वमूल द्रव्य मानकर उसी से सब कुछ उत्पन्न हुआ माना था।
9. ऋक् 10.121.8; 10 5.7; यजु: 31.12 तै. ब्रा. 3.2.8.65.66, तां.ब्रा. 25.9.2 आदि।
10. अग्रजोऽग्निः-लि. पु. 70.105; तु. बा. पु. 5 40 सर्वदेवतात्मनो मुखम्-भा.पु. 8.16.9

यज्ञेषु प्रणीयते[1]' यहां उसका प्रामुख्य और नेतृत्व निदिष्ट है। महाभारतीय निर्वचन इसके आगे की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है कि सभी धार्मिक कृत्यों में आहुति सर्वप्रथम अग्नि को ही दी जाती है। इससे भी उसका अग्रणीत्व अथवा प्रामुख्य सिद्ध होता है। आदित्य को[2] किंवा समस्त देवों को इसी के माध्यम से हविष्यान्न प्राप्त होता है।[3] पुराण-काल मे भी अग्नि का यह मुख्य कर्म माना जाता था।[4] इसके अपर पर्याय 'वह्नि' (मूलार्थ–वहतीति) हुताशन, हव्यवाहन आदि शब्दों से भी यही द्योतित होता है।

[तृतीय निर्वचन श्लोकाश मे प्रयुक्त विशेषण (दीप्यामानाय) मे संकेतित है, अर्थात् (कान्ति) दीप्त्यर्थक √अञ्ज् से भी इसकी निरुक्ति स्वीकार की गई है। ऋग्वेद, अथर्ववेद और निरुक्त मे भी इस धातु को स्वीकार किया गया है।[5] डा. फतहसिंह ने अनुमान लगाया है कि अग्नि का पूर्वरूप दीप्तिमत्ता के कारण 'अग्नि' रहा होगा।[6] शतपथ ब्राह्मणकार और आचार्य शाकपूणि ने √इ धातु का भी संकेत किया है[7], पर मैक्डानल ने इसे गत्यर्थक या प्रेरणार्थक √अज् से निष्पन्न माना है।[8] इस निरुक्ति से भी अग्नि का गतिमत्त्व और इस कारण ज्ञानवत्त्व अभिव्यक्त होता है। निघण्टु मे इसे पदनामो मे पढ़कर ज्ञान अर्थ किया भी गया है।[9]

चतुर्थ निर्वचन में पूर्वपद (अग्रया=अग्र) और उत्तरपद (√नी) दोनों का स्पष्ट संकेत है, अर्थात् जो पूजित होकर विप्रो को श्रेष्ठ गति की ओर ले जाती है। वेद ने भी अग्नि से मानवो को सुपथ से धन-सम्पन्न करने की प्रार्थना की है।

'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्[10]'

इस निर्वचन में अग्र के लिए अग्रया पर्याय का उल्लेख हुआ है, जब कि शतपथ ब्राह्मण में 'अग्रि' का प्रयोग हुआ है[11] और जिसे 'अग्नि' का पूर्वरूप माना जा सकता है। 'अग्नि' की व्युत्पत्ति के लिए √नी धातु यद्यपि व्याकरण में ग्राह्य नहीं हुई, पर आगमादि ग्रन्थो में प्राप्त निर्वचनों में इसके बराबर दर्शन होते हैं।[12]

1. नि 7.14 2. मनु. 3.76
3. ऐ. ब्रा. 3.14, ऐ. ब्रा. 1.4, तै. ब्रा. 2.4.3 3; ऋक्. 2.1.13, ता. ब्रा. 25.14.4; कौ. ब्रा. 3 6.5 5. ता. ब्रा. 6.1.6, गो. उप. 1.23
4. वि. पु. 1.14 30, ब्र-वा पु 34 81, म पु. 67.10; मुखमग्निरिद्धः–भा.पु. 2.1.29
5. ऋक् 8.38.1, ऋक् 8.60.1; अथर्व 18.3.11, अक्तात्–नि. 7.14.6.
6. वै. एटी. पृ. 14
7. 'एतीति प. ब्रा. 2.2.4.2, इतात्–नि 7.14
8. ए वैदिक रीडर फार स्टूडेन्ट्स-पृ. 3 9. निघण्टु 5.1.1
10. यजुः–ईशोपनिषद् 19
11. श. ब्रा. 6.1.11; 2.2.4.2
12. नयत्यात्मानमित्येवमग्नि शब्दो निरुच्यते–अहि.उ. 57.44.

इस प्रकार 'अग्नि' के निर्वचन पर प्रारम्भ से ही मत वैभिन्न्य रहा है। वैदिक निर्वचनों मे अनेक दृष्टियां रही है, जो उत्तरोत्तर सीमित होती गई। इन निर्वचनों से अग्नि की प्रथम रचना, धार्मिक कृत्यों में प्रथमत्वेन–आहुति प्रदान, दीप्तिमत्ता, अग्रगामित्व, गतिशीलत्व और नेतृत्व आदि भाव प्रकट होते हैं। व्याकरण में इसे √अग् (कुटिलायां गतौ), √अगि (गतौ) धातुओं से औणादिक 'नि' प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया गया है।[1] इसमें अग्नि 'आग' की ज्वालाओं के कुटिलगतित्व, ऊर्ध्वगामित्व और प्रसरणशीलत्व आदि का प्रामुख्य दृष्टिगत होता है।[2] उल्लेख्य है कि उपर्युक्त वैदिक एवं महाभारतीय निर्वचनों मे प्रयुक्त 'अग्र'[3] 'अग्रि' या 'अग्र्या' पदों में √अग् धातु ही सुरक्षित है।

3. अच्युत

नञ् (अ) + √च्यु— 'निर्वाणं परमं सौख्यं धर्मोऽसौ पर उच्यते।
तस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा।[4]

विष्णु के पर्यायवाची नामों में परिगणित 'अच्युत' शब्द का निर्वचन व्याकरणपुष्ट है। यह √च्युङ् (गतौ) में निष्ठा 'क्त' से निष्पन्न 'च्युत' का नञ् समस्त रूप है। अथवा √च्युतिर् (आसेचने) और √च्युतिर् (क्षरणे) से अच् प्रत्यय[5] निष्पन्न करके नञ् समस्त पद माना जा सकता है। कतिपय पुराणों[6] में और कोशों में[7] निर्वचन या विग्रह देकर इस शब्द को स्पष्ट किया गया है।

वैदिक साहित्य में यह शब्द इसी निर्वचन के अग्नि के पर्याय के रूप में आया है[8]। डा. फतह सिंह ने इसका विकास लोक-प्रचलित धातु क्षरणार्थक 'चु' से मानते हुए क्रमशः ह्रास, पतन और लोप अर्थ की ओर संकेत किया है। देववाची और आत्मवाची अग्नि मे यह क्रिया नही होती। अतः वह अच्युत है। आत्मा परमात्मा के ऐक्य के कारण ही आगे चलकर यह शब्द परमात्मा (विष्णु) के लिए प्रयुक्त होने लगा। क्योंकि उसका क्षय, क्षरण और च्यवन न होता है और न

1. अगेर्नलोपश्च–उ. को. 4.51
2. द्र.–अ. सु., श. क., अगति ऊर्ध्वं गच्छति न लोकमग्रं व्रजति, ऊर्ध्वव्रज्या स्वभावत्वाद् अग्निः–जिन सहस्रनाम–7.10
3. 'रुद्रेन्द्राग्नेति निपातनाद् रकि नलोपः–धा. क-पृ. 66, तु.-उ. को. 2.29
4. महा. 12.330.16
5. पा० 3.1.134
6. ब्र०पु० 2.36.178; अ० पु० 47.5 'यस्मान्न च्यवसे स्थानात्'–म० पु० 248.35
7. 'नास्ति च्युतं स्खलनं स्वपदा यस्य'–'अ०सु० 1.1 19', न च्यवते स्वरूपतो न गच्छति, श०क० । 'न च्यवते स्म स्वरूपादच्युतः' जि०स० 8.40 आदि।
8. जै०ब्रा० 3.23:4 मे विभिन्दुकीयों के सत्र मे प्रतिहर्त्ता का कार्य करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। द्र०-तै० सं० 2.6.3.3.

होगा। निष्कर्षतः यह भी सिद्ध है कि जो आवागमन से मुक्त है अर्थात् जिसका च्यवन या आगमन लोक मे नही होता। इस दृष्टि से समस्त प्राणि-जगत् च्युत है और विष्णु अच्युत है।

लोक मे नीच और पतित अर्थ मे गाली के रूप में प्रयुक्त 'चूतिया' शब्द 'च्युत' का ही तद्भव है और निश्चित ही विष्णु 'अच्युत' है।

4. अज

नञ् (अ)+√जनी से-(I) 'न जायते जनिष्यां यदजः'[1]।

(II) 'न हि जातो न जायेऽहं न जनिष्ये कदाचन'[2]।

विष्णु के लिए प्रयुक्त 'अज' शब्द का निर्वचन वेदव्यास ने नञ् समस्त पद के रूप मे लिया है, जिसका निर्वाह अन्य पुराणों[3] और कोशो[4] मे भी हुआ है, अर्थात् जो माता के गर्भ से उत्पन्न नही होता। इसीलिए यह पद ब्रह्म, ब्रह्मा प्रजापति, आत्मा, शिव, काम आदि के लिए भी प्रयुक्त होता रहा है। आशाधर ने जिन सहस्रनाम मे यही व्युत्पत्ति स्वीकार की है[5]। निरुक्त में पूषन् के घोडे के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त 'अज' का अर्थ यही प्रतीत होता है कि जो उत्पन्न नहीं होते थे[6]। दूसरी ओर मेष या बकरे के द्योतक 'अज' के लिए उक्त निर्वचन को डा० फतह सिंह ने अवैज्ञानिक कहा है[7], जबकि उणादि प्रकरण मे √जन-डन् से पूर्व अट् का आगम करके संगति बिठाई गई है कि जो उत्पन्न होता है[8]। यह स्थिति उक्त महाभारतीय निर्वचन से भिन्न है।

वैदिक साहित्य में अनेकत्र 'अज'[9] और 'अजा'[10] के प्रयोग मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण मे 'वाक्' को अजा कहकर उक्त की ओर संकेत किया जा चुका है, क्योंकि वह प्रजापति की तपस्या से उत्पन्न हुई थी[11], किन्तु बकरी के लिए प्रयुक्त 'अजा' या 'आजा' को[12]√अज् (गतिक्षेपणयोः) से भी सिद्ध माना गया है। निरुक्त के उक्त स्थल[13] पर भी इस धातु से संगति बैठ सकती है। अर्थात् वे अच्छे दोड़ने वाले रहे

1. महा० 5 68.8 2-तत्रैव 12 330 9
3. 'अजातत्वादजः स्मृतः-लिं०पु० 70.100 आदि
4. न जायते। नञ्+जन्='अन्येष्वपि दृश्यते' इति डः-श०क०; अ०मु०।
5. जि०स० 8.15
6. अजा अजननाः-नि० 4.25.8 7. वैं०एटी०-पृ० 25
8. जनेरित्येव जनेर्डन् प्रत्ययः। धातोः अडागमश्च। जायते इति अजः पशुविशेषः-उ.5.33 (वै.एटी. पृ. 25 पा.टि. से उद्धृत)।
9. ऋक् 10.16.4; 1.162.2., अथर्व 9.3.1 आदि।
10. ऋक् 8.70.15, अथर्व 6.71.1, वा.सं.23.56 आदि।
11. 'तपसोह वा एषा प्रजापते. सम्भूता यदजा-श ब्रा. 3 3.3.8
12. श ब्रा 3 3.3.9. 13. नि.2 25.8

होगे। एक अन्य स्थल पर 'अज: एकरात्' में अजन-गमन अर्थ ही किया गया है[1]। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार निरुक्त टीकाकार दुर्गादास को उक्त धातु अभीप्सित थी। अमरकोश सुधा व्याख्या में √अज् (गतौ) मे अच् (पचादि) प्रत्यय लगाकर इसे सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग मे 'अज' के दो निर्वचन माने गए थे, किन्तु पुराण काल मे उनमे से एक ही अधिक प्रचलित रहा प्रतीत होता है। परन्तु बाद में कोशकारों, वैयाकरणों और व्याख्याकारों ने पुन: दोनों निर्वचन स्वीकार किये हैं। स्वयं दयानन्द सरस्वती ने दोनो धातुओ की सत्ता मानी है[2]। मोनियर विलियम्स ने लैटिन और अंग्रेजी के अगो' (ago) तथा ऐसे ही अन्य भाषाओं के शब्दो के मूल में 'अज' शब्द को देखने का प्रयास किया है[3], जो उपर्युक्त दोनों प्रकार के निर्वचनों से सगत प्रतीत होता है।

काव्यादि मे भी रूपकात्मक और आलकारिक शैली मे दोनो निर्वचन चलते रहे प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ 'आत्मजन्मानमजं' मे शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करते हुए अजन्मा (ब्रह्मा) के नाम पर रखा बताया गया है[4]। पर वस्तुत. इसे √अज् (गतौ) से सिद्ध करके उसकी गतिमत्ता और शक्तिमत्ता को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया जा सकता है जैसा कि स्वयं कालिदास को अभीष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि महर्षि कौत्स ने आशीर्वाद मे रघु को शास्त्रपारिगामित्व (विद्वत्ता) और शत्रु-पारगामित्व (शौर्य) जैसे तत्सदृश गुणों से समन्वित पुत्र प्राप्त करने को कहा था[5]। स्वयं 'रघु' का नामकरण 'इसीलिए गत्यर्थं' √रघि या√लघि धातु से किया गया था[6]।

5. अधोक्षज

अध:+अक्ष (अ+क्षि)+ज से–'अधो न क्षीयते जातु यस्मात्तस्मादधोक्षज:'[7]।।

अध:+अक्ष+ज) से— 'पृथिवी नभसे चोमे विश्रुते विश्वलौकिके।

अध:+अक्+√अञ्ज् से तयो: सन्धारणार्थं 'हि मामधोक्षजमञ्जसा'[8]।।

अ+धोक्ष+ज से— 'शब्द एकमतं (एकपदे) रेष व्याहृत: परमर्षिभि:।
नान्यो ह्यधोक्षजो लोके ऋते नारायणं प्रभुम्'[9]।।

---

1. नि. 12.29.18
2. यो अजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति जनयति कदाचिन्न जायते सोऽज:–द.स.प्र.-पृ 16
3. मो.वि.–पृ. 9-III
4. रघु 5 36
5. तत्रैव 5.35
6. तत्रैव 4 21
7. महा० 5.68 17
8. महा० 12.330.17
9. महा० 12.330.18

शान्तिपर्व में अग्नीषोमीय जगत् की व्याख्या के सन्दर्भ में कतिपय भगवन्नामों के निर्वचन दिये गये हैं। वहां और अन्यत्र भी 'अधोक्षज' के विविध निर्वचन प्राप्त होते हैं। प्रथम उद्धरण में परमात्मा की सर्वोच्चता और सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए जो निर्वचन दिया गया है, उसमें पूर्वपद में 'अधः' पद को स्वीकार किया गया है। उत्तर पदस्थ अक्ष' को नञ् पूर्वक√क्षि (क्षये) से निष्पन्न माना गया है। 'ज' वर्ण√जनी (प्रादुर्भावे) से 'ड' प्रत्यय लगाकर प्रायः बनता है, पर यहां मूल उद्धरण में उसे 'जातु' शब्द का प्रतिनिधि माना गया प्रतीत होता है, जिसके उत्तरपदावयव लोप से 'ज' बना माना जा सकता है। अर्थात् जो कभी नीचे की ओर क्षीण नहीं होता है. अर्थात् उसमें 'अच्युत'[1] का भाव है। वैसे यह भी अर्थ किया जा सकता है कि जो नीचे क्षीण न होता हुआ वर्तमान रहता है[2]।

यहां अ+√क्षि का यौगिकार्थ प्रस्तुत किया गया है। अक्ष शब्द इन्द्रियवाची भी है[3], जो√अक्ष् (व्याप्तौ)+अच्[4] या घञ्[5] से सिद्ध किया गया है[6]। किन्तु उसे 'अ+√क्षि' से भी सम्बद्ध किया जा सकता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर के साथ भी इन्द्रियों की सत्ता मानी गई है। कोशों में 'अक्ष' (=इन्द्रिय) से सम्बद्ध विग्रह दिये भी गए हैं—'अधः ज्ञातृत्वाभावात् हीनं अक्षजं प्रत्यक्षज्ञानं यस्य[7]' 'अधः कृत अक्षजमैन्द्रियक ज्ञानं येन। अधोक्षाणां जितेन्द्रियाणां जायते प्रत्यक्षो भवति वा'[8] आदि।

द्वितीय निर्वचन अर्थ या पर्याय देकर किया गया है। यहां मूल शब्द 'अधः' के लिए पृथिवी, 'अक्ष' के लिए 'नभस्' और 'ज' के लिए सन्धारण है, अर्थात् जो पृथ्वी और आकाश को धारण करने वाला है। गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत की इस व्याख्या[9] में प्रदत्त अक्ष का आकाश अर्थ कोशों में प्राप्त नहीं है, हाँ, लक्षणा से यह अर्थ लिया जा सकता है। 'ज' का अर्थ सन्धारण भी व्याकरण-पुष्ट नहीं है, पर एकाक्षरकोश में इसका अर्थ आवरण दिया है[10], जिससे संगति बिठाई जा सकती है। इस विषय में टीकाकार नीलकण्ठ का मत अधिक उपयुक्त और संगत प्रतीत होता है—'अध इति पृथिवी। √अक्ष् (व्याप्तौ) इत्यतोऽक्ष् आकाशः। ते उभे संजयति संगेन धारयति। अधोक्-शब्दपूर्वात् सञ्जेः क्षः अनिदितामिति नकारलोपः'[11]। यह व्युत्पत्ति व्याकरण-पुष्ट है।

1. द्र०–अच्युत 3.3
2. जन्म के पश्चात् ही 'सत्ता' सम्भव है। इस लौकिक स्थिति के अनुसार ही यहां 'उत्पत्ति' का भाव 'सत्ता' लिया गया है।
3. अमर० 3.3.221
4. पचाद्यच्–पा 3.1.134
5. हलश्च–पा० 3.3.120
6. द्र०–अ०सु०, पृ० 436
7. श०क०
8. अ०सु० 1.1.21–पृ० 9
9. महा०गी०प्रे० शान्ति 342.82–टीका
10. ए०को० 21.23, पृ० 111
11. महा०चि० 12.342.82, पृ० 720

उल्लेख्य है कि महाभारत के मूल पाठ में इस श्लोक से आगे एक और श्लोक दिया गया है—

निरुक्तं वेदविदुषो ये च शब्दार्थचिन्तकाः ।
ते मा गायन्ति प्राग्वंशे अधोक्षज इति स्थितिः[1] ॥

यहां वेद-निरुक्त-प्रतिपादित किसी निर्वचन की ओर संकेत है, जैसा कि टीकाकार नीलकण्ठ ने भी निर्दिष्ट किया है—'निर्वचनान्तरमाह-निरुक्तमिति' किन्तु निरुक्त और वैदिक इण्डेक्स आदि में यह शब्द और निर्वचन उपलब्ध नहीं होता है। अतः अन्वेष्टव्य है।

तृतीय उद्धरण मे पूना से प्रकाशित आलोचनात्मक संस्करण के 'एकमतं.' पाठ के स्थान पर अन्यत्र[2] 'एकपदैः' पाठ है, जिससे 'अधोक्षज' शब्द मे आंशिक एकाक्षरी निर्वचन की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। टीकाकार नीलकण्ठ ने 'एकपदैः' का अर्थ 'पृथक्पदैः' करते हुए इसे स्वीकार ही नही किया है, अपितु तत्सम्बद्ध व्याख्यान भी प्रस्तुत किया है—'अतन्ति सततं गच्छन्ति अस्मिन्निति 'अः' √अत (सातत्यगमने) अस्माड्डः। धोक्षः√दुह (प्रपूरणे) अस्मात् औणादिकः सः गुणभष्भावौ। जायतेऽस्मात सर्वमिति जः, जगल्लयस्थितिजन्मस्थानमित्यर्थः[3]। इस प्रकार परामर्षि 'अधोक्षज' शब्द को पृथक् पृथक् तीन पदों का समुदाय मानते हैं। अ=लयस्थान, धोक्ष=पालनस्थान और ज=उत्पत्तिस्थान।

इस प्रकार अधोक्षज शब्द का स्पष्ट निर्वचन प्रथम उद्धरण मे ही प्राप्त होता है। द्वितीय मे अन्य शैली अपनाई गई है और मात्र अर्थ या पर्याय देकर निर्वचन किया गया है। तृतीय मे एकाक्षरी परम्परा का अवलम्बन है, पर वह संकेतित है। इस प्रकार के निर्वचनों मे तीन शैलियां या धाराएं सुस्पष्ट हैं।

6. आश्विनौ

अश्व+अश्विनी से— (I) देवौ तस्यामजायेतामश्विनौ भिषजा वरौ।
नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनाविति[4] ॥

अश्रु से— (II) अश्रुतोऽस्य समुत्पन्नावश्विनौ रूप सम्मतौ[5] ॥

वैदिक युग्म देवताओं[6] मे अन्यतम, सदा द्विवचन में प्रयुक्त 'आश्विनौ' पद से निरूप्यमान अश्विनी कुमार से नासत्य और दस्र दो व्यक्तियों (देवों) का बोध होता है। महाभारत और अनेक पुराणों[7] में इनका आख्यानपरक निर्वचन प्राप्त होता है। विवस्वान् (सूर्य) के तेज को न सहन कर सकने के कारण उसकी पत्नी संज्ञा अपने पिता त्वष्टा या विश्वकर्मा के घर चली गई। अन्य वर्णन में वह वडवा या अश्विनी रूप धारण कर उत्तरकुरु चली गई। दिव्य दृष्टि से इस तथ्य को

---

1. महा० 12.330.18
2. महा० (चि) ग्री०प्रे० 12.342.82
3. तत्रैव पृ० 720
4. हरि० 1.9.55
5. महा० गी०प्रे०अनु० 85.109
6. मित्रावरुण।
7. वि०पु० 3.20; म०पु० 11.3

जानकर सूर्य भी अश्व रूप में उत्तरकुरु पहुंचे। संज्ञा ने मैथुनाभिलाषी अश्वरूप सूर्य के प्रति पर-पुरुष की आशंका से मैथुन के विपरीत चेष्टा की। सूर्यमुख के समीप हुए, तो उसने उनके वीर्य को नाक से गिरा दिया, जिससे वैद्यों में श्रेष्ठ उक्त दो देवता उत्पन्न हुए। कतिपय पुराणों में इस कथांश में यत्किंचित् परिवर्तन प्राप्त होता है। कुछ पुराणों में नासिकासंयोग और कुछ में मुखसंयोग[1] का उल्लेख है। ब्रह्मपुराण[2] के अनुसार उस प्रस्रवित वीर्य से गंगा में दोनों कुमारों का जन्म हुआ। जब कि शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत महाभारतीय उद्धरण[3] के अनुसार वे अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेद में भी इन्हें आकाश की सन्तान कहा गया है।[4]

उपर्युक्त आख्यान का आधार ऋग्वेद का एक स्थल है, जहां त्वष्टा-कन्या सरण्यु की प्रतिकृति एवं विवस्वान् के अश्विनी और अश्वरूप से 'अश्विनौ' की उत्पत्ति बताई गई है।[5] पुराणों में स्त्रीपात्र संज्ञा और छाया नाम से तथा विवस्वान् सूर्य नाम से अभिलिखित किये गए हैं। अश्व के दो अर्थ होते हैं, घोड़ा और प्राण। उपर्युक्त आख्यान में दोनों का प्रतीकात्मक शैली में प्रतिनिधित्व किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि 'अश्विनौ' का जन्म अश्व-अश्विनी रूप विस्वान् और संज्ञा से तथा उनके प्राणस्थान नासिका के संयोग से बताया गया है।[6] वराह पुराण में प्राण और अपान को अश्विनीकुमार कहा भी गया है।[7] दोनों ही स्थितियों में वे शक्ति और स्फूर्ति के प्रतीक सिद्ध होते हैं। इसीलिए पौराणिक कल्पना में इन्हें शाश्वत सौन्दर्य से सम्पन्न युवा और देववैद्य माना जाता है, जिसकी पुष्टि ऋग्वेद के कतिपय उद्धरणों से भी होती है।[8]

द्वितीय उद्धरण के अनुसार 'अश्विनौ' की उत्पत्ति अश्व से न बताकर अग्नि के अश्रुओं से कही गई है।[9] भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यहां 'र' का 'व' में परिवर्तन और उकार का लोप माना जा सकता है। किन्तु यह क्लिष्ट कल्पना ही होगी।

---

1. ब्र. पु. अ, 89
2. 'तयोर्वीर्येण गंगायामश्विनौ समजायताम्'–ब्र. पु. 89.36
3. महा. 1.60.34 तु-वा. पु. उ. 22.23-24
4. ऋक् 1 182.1
5. ऋक् 10.17.1-2
6. हरि. 1.9.54, महा. गी. प्रे. अनु. 150.17
7. व. पु. 20.18, वै. को. में 'अश्विनौ' के ब्राह्मणोक्त अर्थ भी देखें
8. ऋक 3.39.3; 10 17.2, 7.67.10, 6.63.1, 8.18,8, 8 22.10, अथर्व 7.53.1, 1.116.16, 1.112.8, मूर्स टेक्सट्स v/244-246, हि. वि. (वसु) आदि
9. तु.–श. ब्रा. 13 3 1.1 तथा 6.1.1.11 यहां अश्व (सूर्याश्व) की उत्पत्ति प्रजापति की आंखों की सूजन(√टुओश्वि वृद्धौ) से तथा उसके अश्रु से बताई गई है। तु-नि. 12.1.3 आश्विनौ में से एक रस द्वारा और दूसरा ज्योति द्वारा सर्वत्र व्याप्त है। रस का सम्बन्ध जल या अश्रु, और ज्योति का सम्बन्ध (स्रोत रूप) नेत्र से द्रष्टव्य है।

वायुपुराण में इसी प्रकार का अन्य पाठ मिलता है, जहां उसे ब्रह्मा के स्रोतों से उत्पन्न बताया गया है।[1] इतिहासपुराण ग्रन्थों में विभिन्न देवों को भगवान् के विभिन्न अंगों के रूप मे द्योतित करने की भी एक परिपाटी है। तदनुसार ये ब्रह्मपुराण मे 'प्रजापति की नासिका से उत्पन्न[2], भागवत-पुराण मे ब्रह्म के विराट् पशुरूप को नासिका रूप[3] और मत्स्य पुराण में वामनावतार के श्रोत्र रूप[4] बताए गए हैं।

यूनानी, जर्मन और लैटिन भाषाओं मे 'अश्विनौ' का साम्य देखा जा सकता है। यूनानी कथा मे केस्टर और पोलुक्स दो प्रसिद्ध अश्वारोही ज्यूस (द्योस्) के पुत्र हैं, जो सूर्य-पुत्री से विवाह करने जाते हैं और उन्हे डियोस्कोरी' कहा गया है।[5] वेद में भी ये द्योस् (आकाश) के पुत्र है[6] और सूर्या से विवाह करते हैं। डियोस्कोरी और द्योसकुमारों में साम्य द्रष्टव्य है।

इस प्रकार उपर्युक्त महाभारतीय दोनो निर्वचन अधातुमूलक हैं अर्थात् उन्हें अश्व में मत्वर्थीय इन्[7] प्रत्यय लगाकर और अश्व से निपातनात् सिद्ध माना जा सकता है। वैदिक साहित्य मे यह धातुमूलक माना गया है। वहा अश्[8] (व्याप्तौ सघाते च) अश्[9] (भोजने) और टुओश्वि[10] (गतिवृद्ध्योः) धातुओं में क्वन्[11] प्रत्यय लगाकर 'अश्व' शब्द की सिद्धि मानी गई है।[12]

7. आदित्य—द्रष्टव्य 8.24

8. उमा—

उ-मा से—

उ मा इति निषेधन्ती मातृस्नेहेन दुःखिता।
सा तथोक्ता तया मात्रा देवी दुश्चरचारिणी॥
उमेत्येवाभवत् ख्याता त्रिषु लोकेषु सुन्दरी।
तथैव नाम्ना तेनेह विश्रुता योगधर्मिणी॥[13]

---

1. वा. पु. उ. 4.57
2. ब्र. पु. 3.1.57 द्र.-भा. पु. 3.5.20-38
3. नासत्यदस्रौ परमस्य नासे-भा. पु. 2.1.29
4. म. पु. 246 56
5. द्र.-वै. दे पृ. 126; प्रा. भा, सा.-पृ. 57
7. ऋक् 1.182 1
6. पा. 5.2.115
8. तै. ब्रा. 3.8.7.2; 3 8 13.2; ऐ. ब्रा 5 1 नि. 1.4 1, 2 7.5, 12.1.3
9. श. ब्रा. 13.1.2.7; तै ब्रा, 3 8.7.1; नि. 2.7.5;
10. बृह. उप. 1.2.6.7; श ब्रा. 13.3.1.1; 7 6 2.6; तै. ब्रा 1.1 5.4; तां. ब्रा. 21.4.2
11. अशप्रुषि लटि कणि खरिविशिभ्य क्वन्—उ. 1.149
12. द्र.-निरुक्त के दुर्गाचार्य आदि टीकाकार
13. हरि. 1.18. 18-20

पार्वती के पर्याय उमा का निर्वचन करते हुए एक आख्यान की ओर संकेत किया गया है। हिमवान् की पत्नी मेना के तीन पुत्रियां थी–अपर्णा, एकपर्णा और एकपाटला। इनमे प्रथम पुत्री (अपर्णा) ने अपने लक्ष्य (शिवपतित्व) की प्राप्ति के लिए विकट तपस्या की,[1] यहा तक कि उसने पत्ते खाना भी बन्द कर निराहार हो गई। माता ने उस कोमलांगी अबोध बाला का इस कार्य के लिये निषेध किया, तो उसके मुख से दो शब्द निकले–विस्मय, दया, हैरानी, अनुग्रह, कोप आदि से संवलित सम्बोधनार्थक 'उ' तथा निषेधार्थक 'मा'। इस कारण उस पुत्री का नाम 'उमा' पड़ गया। उक्त आख्यान मत्स्य, वायु, कालिका आदि पुराणो मे मिलता है, किन्तु उनमे नामो का व्यत्यय भी प्राप्त होता है।[2] यहां निर्वचन का स्वरूप लगभग यही रहा है।[3] मत्स्य पुराण मे तपस्या के विचार से रोकते हुए हिमालय ने 'उ' 'मा' कहा और आकाशवाणी ने घोषित किया कि भविष्य मे वह 'उमा' कहलाएगी। नामकरण का यह प्रकार बृहद्देवता मे वर्णित सिद्धान्तो मे 'वाक्' के अन्तर्गत लिया जा सकता है।[4]

महाकवि कालिदास ने भी उक्त महाभारतीय निर्वचन स्वीकार किया है।[5] कोशकारो ने व्याकरण के आधार पर इसके अन्य निर्वचन भी प्रस्तुत किये हैं–'ओः हरस्य (महेशस्य) मा 'लक्ष्मीरिव' 'उ शिवं माति मिमीते वा' अवति ऊयते (√ऊ शब्द करना) वा'–अर्थात् वहां इस शब्द को शिववाची 'उ'[6] और लक्ष्मीवाची 'मा' से अथवा √मा धातु से[7] और √उङ् (शब्दे) + मक् से[8] सिद्ध किया गया है। कुछ विद्वान् √वेञ् (तन्तु सन्ताने)+मक्‌टिलोप + (ए) सम्प्रसारण (व< उ), टाप् से भी सिद्ध करते है। मैक्समूलर केनोपनिषद्[9] के तृतीय खण्ड में 'उमा हैमवती' के सन्दर्भ में उमा को√वा= बुनना से सम्बद्ध करके उसे पत्नी का पर्याय मानते हैं। इन वाद के निर्वचनों में धार्मिकता, धातुज प्रवृत्ति और बलात् सिद्धि की स्पष्ट झलक मिलती है।

---

1. यद्दुस्तरं यद्दुराप यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
   तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ मनु. 11.238
2. म. पु. 13.8; वा. पु. पृ. 10/4; कालिका अ. 42
3. वा. पु. उ. 11.12; म. पु. 154.294-299
4. ब्र. 1.25,26
5. कु. 1.26
6. अत्+ड, अन्त्य ऊत् और उसके बाद के वर्णों की टि संज्ञा और लोप होने से समस्त धातु का लोप, उ.=शिवः।
7. मा+क, आत्व लोप, टाप्।
8. श.क. मे 'विभाषा तिलमाषोमभङ्गाणुभ्यः-पा. 5.2.4 का उल्लेख है, पर यत् और खञ् प्रत्ययो का विधायक सूत्र है, जिससे 'उम्य' और औमीन् शब्द बनते हैं। किन्तु सूत्र में 'उमा' शब्द पठित है, अतः उसकी सिद्धि उङ्+मक् से निपातन से मानी जा सकती है।
9. के. उप. 3.12

इस प्रकार व्याकरण में 'उमा' की सिद्धि धातुज मानी गई है, किन्तु महाभारत में उसका निर्वचन आख्यानपरक है। इसे एकाक्षरी निर्वचन भी माना जा सकता है, क्योंकि यहा 'उ' और 'मा' दोनों के पृथक् अर्थ स्वीकार करके संगति बिठाई गई है। प्रतीत होता है कि यह पौराणिकी 'उमा' वैदिकी ब्रह्मशक्ति[1] का विकसित रूप है।

9. एकपर्णा

एक+पर्ण से— आहारमेकपर्णेन एकपर्णा समाचरत् ।[2]

10. एकपाटला

एक+पाटल से— पाटला पुष्पमेकञ्च आदधावेकपाटला ॥[3]

पूर्वाधीत शब्द 'उमा' के सन्दर्भ में लिखा जा चुका है कि मेना की तीन पुत्रियां थीं—अपर्णा एकपर्णा और एकपाटला। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में इन तीनों ने विकट तपस्या की[4] और उसी आधार पर ये तीनों कर्मज नाम पड़े। मूल-नाम भी रहे होंगे, पर उनका उल्लेख प्राप्त नही होता। जिसने तपः काल मे पत्ता खाना भी बन्द कर दिया, वह 'अपर्णा, (उमा), जो केवल एक पत्ता खाती थी, वह एकपर्णा (एकपर्णी-वा. पु.) और जो केवल पाटल वृक्ष का पुष्प अथवा कोई भी पुष्प ग्रहण करती थी, वह 'एकपाटला' नाम से अभिहित हुई। ये आख्यानपरक निर्वचन हैं। इनमें धात्वादि का निर्देश आवश्यक नही, विग्रह के द्वारा दोनों पदो का उल्लेख करके व्याख्यान करना पर्याप्त है। ये निर्वचन वायुपुराण[5] मे भी प्राप्त होते हैं। वहां एकपर्णा का न्यग्रोध वृक्ष के नीचे तपस्या करना और उसी का एक पत्ता खाना और एक पाटला का पाटल वृक्ष के नीचे तपस्या करना और उसी का एक पत्ता या एक पुष्प खाना संकेतित है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार देवी पुराण मे भी इनका ऐसा ही निर्वचन प्राप्त होता है।[6] कालिदास ने कुमारसम्भव मे 'अपर्णा' का सुस्पष्ट निर्वचन उक्त प्रकार से ही दिया है।[7]

इस प्रकार उपर्युक्त दोनो ही एक ही श्रेणी के आख्यानपरक सविग्रह निर्वचन हैं।

11. कः

किम्-से— 'कस्त्वं कश्चोद्भवस्तुभ्यं केन वासीह चोदितः ।
कः स्रष्टा कश्च वै गोप्ता केन नाम्नाऽभिधीयसे ॥

---

1. के. उप. 3.12
2. हरि. 1.18.17
3. तत्रैव
4. मनु. 11.238
5. वा. पु. उ. 11.8,9
6. द्र.–अ. 45
   अपर्णाशा निराहारा एकाशी एकपर्णिका ।
   पाटला पाटलाहारा देवी लोकेषु गीयते ॥
7. कु.- 5.28

यः क इत्युच्यते लोके ह्यविज्ञातः सहस्रशः ।
तत्सम्भवं योगवन्तं किं मां नावगच्छथः ॥[1]

उपर्युक्त संवाद मधुकैटभ तथा ब्रह्मा का है, जिससे यह प्रकट होता है कि 'क' नामक देवविशेष का यह नाम प्रश्नवाचक किम् शब्द से सम्बद्ध है । इस शब्द के अनेक अर्थ कोशो मे[2] प्राप्त होते हैं, पर वैदिक साहित्य मे इसके अर्थ प्राण[3] और प्रजापति[4] रहे हैं । वहां भी इसके निर्वचन प्रश्नशैली में 'किम्' से ही दिए गए हैं।[5] वस्तुतः प्रजापति का रूप अज्ञात है—अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीय का द्योतन 'किम्' से ही किया जा सकता है । फलतः वे 'क' देव कहलाए । हिरण्यगर्भ सूक्त में 'कस्मै' का अर्थ 'किसके लिए' और 'प्रजापति के लिए' दोनों हैं ।[6] पाणिनि-सूत्र 'कस्येत्'[7] के सन्दर्भ मे पतञ्जलि ने 'क' को प्रजापति की ही संज्ञा माना है ।

प्रतीत होता है कि यह शब्द अपने सर्व नाम रूप से विशेषण रूप मे विकसित होकर देवविशेष के स्वतन्त्र नाम के रूप मे प्रचलित हुआ होगा । 'कस्मै देवाय[8] मे सर्वनाम किम् का विशेषणत्व स्पष्ट है । इससे अगले विकास मे 'किम्' प्रजापति का नाम हो गया । यह बात 'को नाम प्रजापतिः'[9] 'प्रजापतिर्वै कः.[10] जैसे उद्धरणो से पुष्ट होती है ।[11] निरुक्तकार ने इसे √'कम्' या √क्रम् से खोजने का प्रयत्न किया है ।[12] सायण ने इसे √कमु (इच्छायाम्) से व्युत्पन्न किया है—'सृष्ट्यर्थं' कामयते इति क.' (√कम्+डः) । निघण्टु मे 'क' को पदनामों मे पढ़ा है ।[13] इस पाठ और यास्कीय निर्वचन से प्रतीत होता है कि यास्क इसे संज्ञा (Noun) पद मान रहे हैं,

---

1. हरि. 3.13.13-14
2. विष्णु-प्रजापति अग्नि, वायु. सूर्य आदि, तन्त्रशास्त्रीय अर्थ—श क. । एकाक्षर अर्थ-ए को परिशिष्ट देखें ।
3. जै. उप ब्रा 4.23.4
4. ऐ ब्रा. 2.38. 6.21; कौ. ब्रा. 5.4, ता. ब्रा. 7.8.3, तै. ब्रा. 2.2.5.5, गो. ब्रा. 2.1.22 आदि
5. कः स्याम्'—ऐ ब्रा 3 21; 'कोऽहमिति । यदेवेददवोच इत्यब्रवीदय ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत्को नाम प्रजापतिः—ऐ. ब्रा 12.10; द्र. जै. उप. ब्रा. 4.23. 4, तै. ब्रा. 2.2.10.6
6. कस्मै देवाय हविषा विधेम—ऋक् 10.12.1 सायण-'यदाऽसौ किं शब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मै भावः सिद्धः, और 'अत्र किं शब्दो निर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते' ।
7. पा. 4.2 25
8. ऋक् 10.121.1
9. ऐ. ब्रा. 3.22.7
10. तै. स. 1.7.6.6
11. इसी प्रकार अह (ब्रह्म) सर्व (शिव) सर्वनामों का विकास भी देवता रूप में हुआ प्रतीत होता है । अन्य सर्वनाम विकसित हुए या नहीं, यह पृथक् शोध का विषय है । यह कहा जा सकता है कि देव (धर्म) प्रधान देश मे जिन सर्वनामो का देवसम्पर्क हुआ, वे विशेषणरूप से संज्ञारूप में विकसित हो गए । नि 10 22
12. एटी. या.-पृ. 129,
13. निघण्टु 5.4.14

जिसकी रूपों की दृष्टि से ही पाणिनि-विहित सर्वनाम संज्ञा है। यही मत बृहद्देवता का प्रतीत होता है, क्योंकि उसने इसे प्राणियों का रक्षक और अपने हृदय में प्राणियों के लिए सुख प्रदान करने वाला कहा है।[1]

महाभारत के प्रस्तुत सन्दर्भ में भी उसी परम्परा का निर्वाह किया गया है और प्रजापति जैसी पहेली (अपरिचित व्यक्ति) को जानने के लिए प्रश्नों की झड़ी लगा दी गई है, किन्तु सर्वतोमुख ब्रह्मा ने सम्भवतः दानवद्वय से बचने के लिए अथवा उन्हें परमसत्ता की अनिर्वचनीय शक्ति का परिचय कराने के लिए पहेली को पहेली ही रहने दिया। उन्होंने उस अविज्ञात 'क' की ओर संकेत किया, जिससे उनकी उत्पत्ति हुई है। उनका संकेत परमसत्ता रूप प्रजापति से हो सकता है, जो अलक्ष्य है अथवा विष्णु से भी हो सकता है, जिसके नाभि-कमल से वह ब्रह्मा उद्भूत हुए थे, क्योंकि 'क' का अर्थ विष्णु भी होता है।

अन्य पुराणों में इस प्रकार निर्वचन तो नहीं मिलता, पर 'क' का प्रजापति या ब्रह्मा के ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। भागवत पुराण में इसे विराट् का मेढ्र[2] या उसके मेढ्र से सृष्टि की उत्पत्ति[3] बताई है, क्योंकि सृष्टि की रचना का भार इन्हीं पर है।

कोशों में इसे √कै (शब्दे) और √कच् (दीप्तौ) से ड प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया गया है।[4] यह सिद्धि 'क.' में विद्वत्ता, दीप्तिमत्ता और एकत्व की सत्ता को इंगित करती है।[5] वायुपुराण के एक निर्वचन में इस भाव की रक्षा भी की गई है 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानादेकत्वाच्च स कः स्मृत.[6]।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने यद्यपि अनेक प्रकार से निर्वचन किये हैं, पर महाभारत में वेद-पुष्ट 'किम्' से सम्बद्ध निर्वचन को ही स्वीकार किया गया है।[7] प्रश्नवाचक यह शब्द संस्कृत के कतर, कर्हि, कथं आदि में; जेन्द के क, का, कत में; लैटिन के क्विस, क्विद मे, लिथु. के कस्, का में, गाथिक के ह्वस्, ह्वो, ह्व में, प्रा. स्लै. मे कुतो मे, ऐ.सौ. के ह्वा में और अंग्रेजी के हू, ह्वाट् आदि में सहज देखा जा सकता है।[8] इन रूपों के आधार पर आधुनिकों ने 'क' के प्रजापति अर्थ को स्वीकार नहीं किया है। परन्तु प्रजापति के अनिरुक्त स्वरूप और उपर्युक्त विवेचन की दृष्टि में यह मान्यता

---

1. बृ 2.47
2. कस्तस्य मेढ्म्-भा. पु. 2.1.32
3. मेढ्रतः क.-भा. पु. 8.3.39
4. द्र.-श. क. 1 अ. सु.।
5. 'कचति दीप्यते स्वेन ज्योतिषा ज्योतिर्मयत्वात्'-श. क.।
6. वा. पु. 4.41 ।। तु.-पतिरेक आसीत्-ऋक् 10.121.1
7. इसे पाश्चात्य विद्वानों ने अपने मतों में स्वीकार किया है। वैदिक हिम्स-पृ. 11-13; हाप्किन्स-'रिलीज आफ इण्डिया'-पृ. 282; ब्लूमफील्ड- 'रिलीजन आफ दि वेद' पृ. 240, म्योर-'संस्कृत टेक्ट्स'-4.16-17
8. द्र.-हि.वि. (ना. प्र)।

भारतीय परम्परा के विरुद्ध है और इसलिए अस्वीकार्य है। महाभारतीय निर्वचन में भारतीय परम्परागत भावना ओतप्रोत है।

12. कृष्ण

कृष्ण (केश) से– 'स चापि केशौ हरिरुद्बर्ह शुक्लमेकमपरं चापिकृष्णम्।
तौ चापि केशौ निविशतां यदूनां कुले स्त्रियौ देवकी रोहणी च ॥
तयोरेको बलदेवो बभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः।
कृष्णो द्वितीय केशवः सम्बभूव केशो योऽसौ वर्णत कृष्ण उक्तः ॥[1]

कृषि+ण-से– कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः।
कृष्णस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः[2] ॥

√कृष् से– 'कृषामि मेदिनी' पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान्'[3]

कृष्ण (वर्ण) से– कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात्कृष्णोऽहमर्जुन' ॥[4]

ईश्वर के पर्यायवाची नामों मे 'कृष्ण' का नाम अन्यतम है। कृष्ण से सम्बद्ध निर्वचनों मे उपरि-प्रदत्त प्रथम निर्वचन आख्यानपरक है। गर्वित इन्द्र के मद को चूर करने के लिए शकर ने विश्वभुक्, भूतधाम, शिव और शान्ति नामक इन्द्रों की भांति तेजस्वी इन्द्र को भी गुफा मे डाल दिया और मृत्युलोक में भेजना निश्चय किया। फिर नारायण के पास पहुंचे, जहां देवो की स्तुति से प्रसन्न होकर उन्होने एक काला और दूसरा श्वेत बाल फेका। कृष्ण वर्ण के बाल से कृष्ण उत्पन्न हुए। इस आख्यान से एक तो यह स्पष्ट होता है कि पंचपाण्डव (पच इन्द्र रूप), कृष्ण और बलराम निर्धारित देव-योजना के अनुसार उत्पन्न हुए और कृष्ण-बलराम ईश्वरांश रूप हैं।[5] केश शब्द स्वयं अंशवाची है, जो उनके ईश्वरांश त्व की पुष्टि करता है। दूसरे इससे कृष्ण का कृष्णवर्णत्व भी स्पष्ट होता है, जिसे चतुर्थ निर्वचन मे शब्दशः स्पष्ट कहा गया है। निरुक्तगत निर्वचन[6] का द्वितीय पद 'निकृष्टवर्णः' भी कृष्ण शब्द में कृष्णवर्णत्व का सकेत करता है, क्योंकि यह रंग अच्छा नहीं माना जाता। कृष्ण शब्द का वर्णवाची होना 'कृषेर्वर्णे' सूत्र से व्याकरण-संगत भी है।[7] कोशों मे अन्य अनेक अर्थों के साथ यह काले वर्ण का भी द्योतक है और वहां 'कृष्णवर्णोऽस्त्यस्य' विग्रह करके 'अच्' से भी सिद्ध किया गया है।[8] आश्चर्य की

1. महा. 1/189/31
2. तत्रैव 5/68/5
3. तत्रैव 12/330/14
4. तत्रैव।
5. परम्परया 'कृष्ण' को साक्षात् भगवान् माना जाता है–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'।
6. कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्ट वर्णः–नि 2 20
7. उ.को. 3/4
8. अर्शआद्यच्-पा. 5.3.127

बात यह है कि अन्य भाषाओं मे प्राप्त कृष्ण से मिलते-जुलते शब्द भी काला या अन्धकार का द्योतन करते हैं।[1] संस्कृत में भी काले रंग की अनेक वस्तुओ और व्यक्तियों का नाम कृष्ण है।[2] लोक में काले रंग का कारण (कभी-कभी प्यार मे भी) लोग अपने बच्चों का नाम 'कल्लू' आदि रख लेते है। इसी प्रकार 'कृष्ण' नाम रखा गया होगा।

द्वितीय निर्वचन कृषि+ण से दिया गया है, जो मध्यवर्ती इकार लोप से सम्भव है। यह स्थिति भाषाविज्ञान मे सुप्राप्य है। यहा कृषि के भूवाचक और 'ण' को निर्वृतिवाचक बताया गया है, अर्थात् जो पृथ्वी पर सुख या निर्वृति (मोक्ष) प्रदान करने वाले हैं। यह निर्वचन एकाक्षरी परम्परा का भी अवलम्बन करता है। एकाक्षरी कोशो मे 'ण' शब्द जप[3], ज्ञान[4], निःश्रेयस, निर्वाण या मोक्ष[5] का भी वाचक बतलाया गया है। अतः इन अर्थों का द्योतन भी इस शब्द से होता है। गीताप्रेस से प्रकाशित महाभारत की पादटिप्पणी में 'कृष्'का अर्थ 'सत्' और'ण' का अर्थ 'आनन्द' बताकर कृष्ण को इन दोनो से उपलक्षित सच्चिदानंद भगवान् कहा है।[6] अथर्ववेदीय गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद् मे कृषि+न से इसका निर्वचन दिया गया है। वहां भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इलोप और णत्व विधान अभिप्रेत है। 'कृषि' शब्द √कृष (विलेखने) से बनता है[7] और इसका मूलार्थ भूमिविलेखन या हल चलाना होता है, किन्तु इसके अन्य प्रतिविधान भी इसमे परिगणित किये जा सकते हैं। कात्यायन और पतञ्जलि ने इसके बीज, बैल और कर्मचरो के लिए भोजन का प्रबन्ध आदि भी अर्थ किये हैं।[8] कृष्ण के व्यक्तित्व का एक रूप 'कृषि' और उसके प्रतिविधानों से भी रहा है। कृषि देवता के रूप मे इन्द्र के गर्व को चूर करना-उनके महत्त्व को कम करना, व्रज-रक्षा, पशु-पालन-चारण, गोवर्धनधारण आदि उनके कार्यों को दीपावली के बाद अन्नकूट के दिन गोवर्धन-पूजा के रूप मे आज भी स्मरण किया जाता है। तृतीय निर्वचन मे कृष्ण स्वय कहते हैं कि 'कृषामि मेदिनीम्'।[9]

---

1. भारो. qrs=Colour (dark or dirty) प्रशियन Krisnan=dark एटी. या पृ. 55
2. 'कृष्णः सत्यवती-पुत्रे वायसे केशवेऽर्जुने।'
   'कृष्णः काके पिके वर्णे विष्णौ व्यासेऽर्जुने कलौ। कृष्ण तु मरिचे लोहे-इति हैमः।
3. ए को. 1.58
4. तत्रैव 8.22; 9.1411.22; 13.10 आदि।
5. तत्रैव 10.21; 15.23; 20.33
6. महा. गी. प्रे. शान्ति 342.79 पा.टि.।
7. 'इक् कृष्यादिभ्यः-पा. 3.3.108 पर वार्तिक।
8. नाना क्रियाः कृषेरर्थाः नावश्यं कृषिविलेखन एव वर्तते। कि तर्हि प्रतिविधानेऽपि वर्तते, यदसौ भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधान करोति स कृष्यर्थः-महाभाष्य 3.1.26.
9. महा. 12.330.1

वस्तुतः समस्त प्राणी उस जगदाधार के विलेखन और संकर्षण के ही आश्रित है, क्योंकि उनका जीवनाधार ही कृषि है। ब्रह्मवैवर्तपुराण[1] में कृषि को सर्ववाची, भक्तिवाची, निश्चेष्ट, निर्वाण एवं कर्मनिर्मूलबोधक तथा 'न' को आत्मवाचक, आदिवाचक, वाच्यवाचक, बीजवाचक, भक्तिवाचक और मोक्षवाचक मानकर निर्वचन किये गए हैं, जो शब्दों के विशिष्ट अर्थ देकर निर्वचन करने की परम्परा के बोधक हैं, जिसका ही परिपालन उपरिलिखित महाभारतीय द्वितीय उद्धरण मे है। एकाक्षर के रूप में वहा केवल 'ण' को परिगृहीत किया गया है, जब कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में 'क्' 'ऋ' 'ष्' 'ण्' 'अ'—सभी के एकाक्षर कोश-पुष्ट अर्थ देकर भी निर्वचन किये गए हैं।[2] इस प्रकार कृष्ण को सर्वतः तेजोराशि, परिपूर्ण-तम ब्रह्म, सर्वमूर्ति, सर्वाधार और सर्वबीज बतलाया गया है।[3] √कृष से सम्बद्ध आकर्षण और अपकर्षण आदि पर आधारित धर्माचार्यों द्वारा किये गए निर्वचनों का तथा इस धातु के सामान्य अर्थ घसीटना या खींचना के आधार पर लोकरीतिपरक नाम (कृष्ण) के अनुमान और निष्कर्षों का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।[4]

प्रतीत होता है कि यह नाम अत्यन्त लोकप्रिय रहा, जो वैदिक काल[5] से लेकर अब तक प्रचलित है। यह रूप या कर्म के आधार पर नाम बलराम[6], अर्जुन[7], वेदव्यास[8], कल्पविशेष[9] और स्त्रीलिंग मे द्रौपदी के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। मेगस्थनीज ने अपने लेखों 'इण्डिका' मे कृष्ण को भारतीय हरक्युलिस कहा है और अन्य लोगो ने इस शब्द को यूनानी हरक्युलिस या 'ख्रिस्टास्' से निकला बताया है, पर उपर्युक्त विवरण के बाद यह क्लिष्ट कल्पना मात्र प्रतीत होती है।

13. केशव

केश+√वा से–	'केशवः सम्बभूव केशो ह्योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः[10]।
केश+√वा से–	'सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत। अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिता। सर्वज्ञाः केशवस्तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः॥[11]

---

1. ब्र. वै. प्र. ख.—28.66, 67; 2.25, 26; कृ. खं. 13.61,62
2. तत्रैव कृ. ख. 13.68; 13.57-58.
3. तत्रैव 13.56-59
4. द्र.-'कृष्णनाम निरुक्ति' डा. शिव सागर त्रिपाठी-विश्वम्भरा 10.4.1978
5. ऋक् 8.85.3,4 ; छा० उप० 3.17.6 आदि
6. भा० पु० 10.8.13
7. महा० 4.39.20
8. महा० 1.105.14
9. लि. पु. पू 23.19
10. महा० 1.189.31
11. महा० 12.328.43

क+ईश+√वा से- क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्।
आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात्केशव नामवान्[1]।
केशिन्+√वा से- यस्मात्त्वया हतः केशी तस्मान्मच्छासनं शृणु।
केशवो नाम नाम्ना तु ख्यातो लोके भविष्यसि[2]॥

विष्णुवाची केशव शब्द के दृष्टिभेद से अनेक निर्वचन उपलब्ध होते हैं। महाभारत और हरिवंश में उक्त चार निर्वचन प्राप्त होते हैं। प्रथम उद्धरण से सम्बद्ध व्याख्यान 'कृष्ण' शब्द के प्रथम अनुच्छेद में दिया जा चुका है[3]। उत्तरांश का व्याख्यान अग्रिम निर्वचन के साथ द्रष्टव्य है। द्वितीय उद्धरण में सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा आदि की किरणों को 'केश' कहा गया है और 'प्रकाशन्ते' से √वा का व्याख्यान किया गया प्रतीत होता है, जो उसके गत्यर्थ से प्रतीयमान है। अंशुवाची 'केश' शब्द का उल्लेख निरुक्त और महाभारत में अन्यत्र भी मिलता है[4]। इस निर्वचन में 'व' मत्वर्थीय भी हो सकता है। *जैसा कि वैयाकरणों ने माना है।*

हरिवंश में शिव द्वारा की गई विष्णु-स्तुति में केशव शब्द के निर्वचन में क(=ब्रह्मा) और ईश (=शिव) को विष्णु से उत्पन्न बताया गया है।[5] यहां भी गत्यर्थक√वा से उत्पन्न होना प्रतीयमान है (व तः जात इत्यर्थः)। शब्दकल्पद्रुम में 'व' को√वेञ् (तन्तु सन्ताने)+क से व्युत्पन्न[5] और विकल्प में प्रत्यय भी माना है[6]।

चतुर्थ उद्धरण में 'केशी' नामक दानव को मारने के कारण कृष्ण को 'केशव' कहा गया है[7]। यहां पूर्वपद में 'केशी' का अवशेष 'केश' है और फिर 'व' का अर्थ हनन' किया गया है। यह गन्धन-हिंसार्थक√वा रूप है। टीकाकार नीलकण्ठ का भी यही अभिप्राय है[8]। अमरकोश के टीकाकार मुकुट ने 'व' को √वध+ड[9] से व्युत्पन्न माना है तथा पृषोदरादि[10] से 'केशिन्, के 'इ' को 'अ' और 'न' का लोप किया है। भानुजि दीक्षित ने √वध से 'व' बनाए जाने का विरोध किया है, क्योंकि यह पृथक् धातु नहीं है।[11]

---

1. हरि 3.88.48 2. तत्रैव 2.24.65
3. द्र.–3.12
4. 'केशाः रश्मयः'–नि. 12.25 'सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुःकेशाश्चैवांशवः स्मृताः–महा. चि. 12.342.66, सूर्याचन्द्रमसौ शश्वत्केशैर्मे अंशुसंज्ञितैः–महा. 12.330.1; द्र.–व्योमकेश-नि. को. 476
5. को ब्रह्मा ईशः रुद्रः तौ आत्मनि स्वरूपे वयति प्रलये उपाधिरूपं मूर्तित्रयं मुक्त्वा एकमात्रपरमात्मस्वरूपेणावतिष्ठते'।
6. कश्च अश्च ईशश्च ते केशा. ब्रह्मविष्णुरुद्राः नियम्यतया सन्त्यस्य। यद्वा कश्च ईशश्च तौ केशौ पुत्रपौत्रत्वेन भवतोऽस्य। व प्रत्यय.–पा 5 2.109
7. आख्यान द्र.-भा. पु. 10.36.1-8 8. हरि. 2.24.65-पृ. 210.
9. अन्येभ्योऽपि दृश्यते–वा. 3.2.101 10. पा. 6.3.109
11. द्र.–अ. सु. 1.1.18-पृ. 9

शब्द के स्पष्टीकरण के लिए 'प्रशस्ता: केशाः सन्त्यस्य'[1] 'कश्च ईशश्च केशौ पुत्र-पौत्रौ स्तोऽस्य' केशी. वाति; कश्च अश्च ईशश्च केशास्त्रिमूर्तयस्ते वशे वर्तन्ते यस्य स.' 'के जले शववत् भातीति । प्रलयकाले क्षीरोदशायितया तथात्वम्' 'कश्च अश्च ईशश्च ते केशाः ब्रह्मविष्णुरुद्राः नियम्यतया सन्त्यस्य' आदि विग्रह भी कोशों में प्राप्त होते हैं।

14. गोविन्द

गो+√विद्लृ से—'गां विन्दता भगवता गोविन्देनामिततेजसा'[2]
'नष्टां च धरिणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम्।
गोविन्द इति मां देवा वाग्भिः समभिष्टुवुः'[3] ॥

गो+इन्द्र से — अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः।
गोविन्द इति लोकास्त्वां स्तोष्यन्ति भुवि शाश्वतम्[4] ॥

गो+√विद् से — गौरेषा तु यतो वाणी तां च वेद यतो भवान्।
गोविन्दस्तु ततो देव मुनिभिः कथ्यते भवान्[5] ॥
'गोविन्दो वेदनाद् गवाम्'[6] ॥

शान्तिपर्व में अग्नीषोमीय जगत् के व्याख्यान के सन्दर्भ में भगवन्नामों के निर्वचन दिये गए हैं। गोविन्द शब्द के निर्वचन मे प्रलयकाल की ओर संकेत किया गया है, जब पृथ्वी रसातल मे चली जाती है। उस समय भगवान् वराह मत्स्यादि अवतारों से पृथ्वी का उद्धार करते हैं। गो शब्द अनेकार्थक है,[7] उनमें से सम्बद्ध अर्थो का ग्रहण करके भी उद्धारक भगवान् को 'गोविन्द' संज्ञा दी गई है,[8] उत्तरपद में √विद्लृ (लाभे) धातु स्पष्ट है। टीकाकार नीलकण्ठ ने 'नष्टां जले मग्नां गा धरणीं विन्दति लभते' अर्थ किया है। वैसे वेदों के उद्धार के लिए हयग्रीव नामक एक अन्य अवतार की कल्पना भी की गई है।[9] उपरिलिखित प्रथम दो उद्धरणों में भिन्न शब्दावली मे एक जैसा ही निर्वचन है।

अनेक पौराणिक उल्लेखों और आख्यानों से यह प्रकट होता है कि वैदिक इन्द्र का महत्त्व शनैः शनैः कम होता गया। प्रस्तुत निर्वचन भी ऐसे ही एक आख्यान

---

1. केशाद्वोऽन्यतरस्याम्—पा. 5.2 109 तु.—जि.स. 'प्रशस्ताः अलिकुलनीलवर्णाः केशाः मस्तके यस्य सः।
2. महा. 1.21.12
3. महा. 12.330.5
4. हरि. 2.19.45
5. तत्रैव 3.88 50
6. महा. 5.68.13
7. गौरादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः।
   स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि ॥
   नृस्त्रियां स्वर्गवज्राम्बु रश्मिदग्बाणलोमसु ॥
8. म. पु. 248.44; तु.—ब्र. वै. प्रकृति-खण्ड अ. 24
9. द्र.—हयग्रीव-नि. को. 591

पर आधारित है। इन्द्र ने कृष्ण को नीचा दिखाने के लिए अप्रतिम वर्षा करके प्रलय मचा दी, तो कृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत उठाकर और समस्त व्रज की रक्षा करके उन्हें चकित कर दिया। अन्ततः वे कृष्ण के पास आए और उनकी स्तुति करके उन्हे प्रसन्न किया।[1] उसी सन्दर्भ मे यह निर्वचन दिया गया है कि जैसे मैं देवताओं का इन्द्र हूं, उसी प्रकार आप गोधन के इन्द्र (स्वामी-श्रेष्ठ) हो गए हो, अतः आपका नाम 'गोविन्द' प्रसिद्ध होगा। यह लोककृत निर्वचन प्रतीत होता है, क्योंकि व्याकरण की दृष्टि से गो+इन्द्र से गोविन्द नहीं बनता। इसके लिए भाषा-विज्ञान की शरण लेनी पड़ेगी और 'व' के आगम तथा अन्तिम 'र' के लोप से ही गोविन्द' बन सकता है। वैसे व्याकरण की दृष्टि से उक्त अर्थ मे ही—'विन्दतीति विन्दः पालकः स्वामी वा। गवां विन्दः गोविन्दः (गो+विद+शः)—'सरलतया बन सकता है।[2]

तृतीय उद्धरण में 'गो' का अर्थ वाणी देकर √विद् (ज्ञाने) से गोविन्द शब्द को सिद्ध किया गया है। यही निर्वचन चतुर्थ उद्धरण मे भी दिया गया है।

15. जातवेदा :

वेद+जात (जात+वेद) से

'वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि'[3]

यह समस्त शब्द जात (√जनी-प्रादुर्भावे) और वेद (√विद्-लाभे, ज्ञाने, सत्तायाम्[4], वेदने, करणे[5],+असि[6]) इन दो पदों से बनता है और मुख्यतः अग्नि[7] के लिए तथा गौणतः प्राण,[8] वायु[9] आदि के लिए वैदिक और बाद के साहित्य मे प्रयुक्त होता रहा है। अर्थात् जो देवताओं[10] के या समस्त प्राणियो[11] के जन्मों को जानता है या प्राप्त करता है और वायु के सन्दर्भ मे जो सब कुछ करने की सामर्थ्य रखता है। निरुक्त में भी इसे अग्नि का वाचक बतलाया गया है और वहां छः निर्वचन दिये गए हैं,[12] जो बृहद्देवता में भी प्राप्त होते हैं[13], पर उनका सम्बन्ध √विद् के उपर्युक्त प्रथम तीन अर्थों से है। इन निर्वचनों मे अनुमान और कल्पना का विशेष

1. द्र.-हरि. 2.19.; तु.-वि. पु. 5.12.12; भा. पु, 10.27.23
2. 'गवां शास्त्रमयीनां वाणीना विन्दः पति.' 'गाः मनः प्रधानानीन्द्रियाणि तेषां विन्दः प्रवर्तयिता चेतयिता वा'। 'गोभिर्वाणीभिर्वेदान्न वाक्यैः विद्यतेऽसौ पुरुषः' 'गोभिरेव यतो वेद्यो गोविन्दः समुदाहृतः'।
3. महा. 2.28.29
4. पा. धा. :
5. ऐ. ब्रा. 2.39
6. उ. को. 4.228
7. ऋक् 6.15.13, 7 10 2 अथर्व 2.12 8, ऐ. ब्रा 3.36 श.ब्रा. 1.7.3.15
8. ऐ. ब्रा. 2.39
9. ऐ. ब्रा. 2.34
10. ऋक् 3.4.10, 7.4.10, 7.10.2
11. ऋक् 6.15.13; श. ब्रा. 9.5.1.6; मै. सं. 1.8.2 यहां 'पशून्' का अर्थ जीवमात्र है, सामान्य पशु नहीं।
12. नि. 7.19
13. बृ. 2.30-31; द्र.-बृ. 1.92

आश्रय लिया गया माना गया है। डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने 'राथ' के मत का उल्लेख किया है कि उन्होंने इस शब्द को वेदस् (प्रोजेक्शन) से व्युत्पन्न किया है कि जिसके अधीन सब कुछ है[1] पर इसके लिए न उन्होंने कोई प्रमाण दिये और न आगे ही वे मिलते हैं।

प्रस्तुत महाभारतीय निर्वचन में किसी भी प्राचीन निर्वचन का आश्रय नहीं लिया गया है और नया ही निर्वचन गढ़ा गया है। यद्यपि 'वेद' और 'जात' दोनों पद संगृहीत हैं और उनमे धात्वर्थ भी पूर्ववत् हैं, पर इनका प्रस्तुतीकरण अत्यन्त सामान्य रूप से किया गया है कि अग्नि के लिए चारो वेदों की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः इसे लोककृत निर्वचन माना जाना चाहिए, जिसमें अभिप्रायविशेष से 'जात' और 'वेद' को प्रस्तुत कर दिया गया है, जैसा कि स्तुतियों मे प्राय: देखा जाता है।

भागवत पुराण[2] मे पुरूरवा और उर्वशी के आख्यान के माध्यम से इसकी उत्पत्ति अरणि-मन्थन से बताई है और फिर उसे वेदत्रयी द्वारा तीन रूपों–आहवनीय, गार्हपत्य और दाक्षिणात्य–मे विभक्त किया है।[2] यहां भी आख्यान के द्वारा 'जात' और 'वेद' की सगति बिठाई गई है, पूर्ववर्ती निर्वचनों का निर्वाह नही किया गया है।

इस प्रकार 'जातानि वेद' और 'जाते जाते विद्यते' जैसे अत्यन्त प्रचलित[3] और कोशकारों द्वारा भी स्वीकृत एवं विशदीकृत[4] निर्वचनो के अतिरिक्त बाद के साहित्य मे नए निर्वचनो की जानकारी मिलती है, जिसमें प्रचलित लोक-भावना का पता चलता है। आगमग्रन्थों मे कुछ वैदिक निर्वचनों का आश्रय लेते हुए इस शब्द को अपने ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[5]

16 त्र्यम्बक–त्र्यक्ष

1–त्रि+अम्बक (अम्बिका-देवी) से

तिस्रो देवीर्यदा चैव भजते भुवनेश्वर:।
द्यामप: पृथिवी चैव त्र्यम्बकश्च तत: स्मृत:[6]॥

भूमित्रयाणां देव यस्मात् प्रतिष्ठा
पुनर्लोकानां भावनामेयकीर्ति:
त्र्यम्बकेति प्रथमं तेन नाम..........[7]

2—त्रि+अम्बक (=नेत्र)—त्र्यक्ष—त्रि+अक्षि से—

निमीलिताभ्यां नेत्राभ्यां बलाद्देवो महेश्वर:।
ललाटे नेत्रमसृजत्तेन त्र्यक्ष: स उच्यते[8]॥

---

1. एटी. मा. पृ.–133
2. भा. पु. 8.14.46
3. द्र.–ऋक् 3.1.20, अथर्व 5.11.2 के. उप. 3.4 मे जातवेदा: का अभिधेयार्थ।
4. श. क. । श. सु।
5. द्र.-अहि. उ. 57.29–32
6. महा. 7.173.89
7. हरि. 2/74/28
8. महा ग द्रोण 202/138

ऋतुवप्राप्तमन्युना च दक्षेण भूयस्तपसा चात्मानं
संयोज्य नेत्राकृतिरन्या ललाटे रुद्रस्योत्पादिता[1] ।।

रुद्र के पर्याय के रूप में त्र्यम्बक (या त्र्यक्ष, त्रिनयन आदि) शब्द ऋग्वेद से लेकर अब तक बराबर प्रयुक्त हो रहा है। ऋग्वेद में मृत्युविमोचिनी ऋक्[2] की व्याख्या में सायण ने रुद्र को 'त्रि' अर्थात् ब्रह्मविष्णुरुद्र का 'अम्बक' अर्थात् पिता लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका अर्थ (अन्तरिक्ष, आकाश एवं पृथ्वी रुपिणी) माता किया है।[3] स्वामी दयानन्द ने (त्रिष्वम्बकं रक्षणं यस्य द्रस्य यद्वा त्रयाणां जीवकारणकार्याणां रक्षकः) के अनुसार अम्बक का अर्थ रक्षक किया है। वाजसनेयि संहिता में अम्बिका को रुद्र की स्वसा और रुद्र को अंशभागी कहा गया है।[4] इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण ने रुद्र को स्त्री के साथ अंशभागी होने से 'त्र्यम्बक' कहा है।[5] सम्भव है इस दृष्टि से यह शब्द मूलतः 'स्त्र्यम्बक' रहा हो और बाद मे आदि-लोपवश 'त्र्यम्बक' बन गया हो। इधर वेददीपकार महीधर ने 'त्रीणि अम्बकानि यस्य' विग्रह किया है।[6] कोशों[7] मे अम्बक के व्याख्याकारों द्वारा किये गए ऊपर वर्णित अर्थ प्राप्य हैं, अतः रुद्र के त्रिलोकी के रक्षक होने, त्रिनेत्र होने और उनके अम्बिका के अंश भागी या पति होने की कल्पना इतिहासपुराण ग्रन्थों मे कर ली गई प्रतीत होती है।

उपर्युक्त महाभारतीय निर्वचनों में यही स्थिति दृष्टिगत होती है। प्रथम निर्वचन में 'अम्बिका' के लिए 'देवी' पर्याय दिया गया है। फलतः जो द्यौः, अपः (पाताल) और पृथिवी स्वरूप तीन देवियों का सेवन करता है, अर्थात् जो तीनों लोकों का स्वामी है, वह त्र्यम्बक है।[8] महाभारतीय निर्वचन के उपर्युक्त व्याख्यान में यदि 'तिस्रो देवी, 'त्र्यम्बकं' पद के 'त्रि' का और 'भजते' 'अम्बक' का व्याख्यान मान लिया जाय तो त्र्यम्बक का अर्थ जो तीनों लोकों का पिता है, होगा, जैसा कि आगम-वेत्ता कहते हैं—'त्रयाणां लोकानामम्बः (क.)पितेति'[9]। सायण ने भी 'अम्बक' का अर्थ पिता ही लिया है, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। अमरकोश की सुधाव्याख्या मे 'त्रयाणां लोकानां अम्बकः पिता' यह विग्रह भी दिया गया है।

---

1. महा. 12.329.14
2. ऋक् 7.59.12 ब्रह्म विष्णुरुद्राणाम् अम्बकं पितरं यजामहे.......।
3. ऐ.ब्रा. 1/6/10
4. एष ते रुद्र भाग सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा—यजुः 3.57
5. 'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तया—यैष सह भागस्तद्यदस्यैव स्त्रिया सह भागस्तस्मात् त्र्यम्बकः–श ब्रा. 2.6.2.9
6. हि.वि. वसु-पृ. 645
7. आप्टे-सं,इं.डि. । अम्बकं नयनं दृष्टिः इति हलायुधः।
8. तु.—तिस्रो अम्बाः द्यौर्भूम्यापो यस्येति तु भारतम्—अ सु., तु.–अहि उ. 57/64-65 में तीन माताएं हैं—इच्छा, ज्ञप्ति (ज्ञान) और क्रिया।
9. धा.क.-पृ. 120

विवेच्यमान निर्वचन के द्वितीय उद्धरण मे भी लगभग यही भाव है। टीकाकार नीलकण्ठ ने इसे अत्यन्त विशदता से प्रस्तुत किया है—'जो भूमि अन्तरिक्ष और स्वर्ग या प्राण, अपान और व्यान या अग्नि, वायु और सूर्य या भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि की प्रतिष्ठा और लोकों की उत्पत्ति के कारण हैं। इस प्रकार 'त्रीणि सर्गस्थित्यादीनि अम्बयति गमयति प्रकाशयतीति त्र्यम्बकः' यह अर्थ निष्पन्न होता है।[1] इसी प्रकार लिङ्गपुराण के दो स्थलों[2] पर मृत्युविमोचनी ऋचा की व्याख्या मे त्रिलोक, त्रिमण्डल, त्रिगुण, त्रितत्त्व तथा त्रिलोक, त्रिवेद, अ उ म, त्रिगुण आदि अर्थ किए गए हैं। यह मन्त्र अन्य पुराणों[3] में भी प्राप्त है। अमरकोश की सुधाव्याख्या मे भी त्रिवेद,[4] त्रिलोक या त्रिकाल[5] और अ उ म[6] परक विग्रह प्रस्तुत किये गए हैं।

त्र्यम्बक के उपरि निर्दिष्ट द्वितीय निर्वचन में 'अम्बक' को नेत्र का पर्याय मानकर आख्यान के माध्यम से त्र्यक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके द्वितीय उद्धरण में स्पष्ट निर्वचन तो नहीं दिया गया है, पर आख्यान के माध्यम से संकेतित अवश्य है अर्थात् शिव का रुद्र या यह नाम तृतीय नेत्र की रचना के बाद पड़ा। अमरकोश सुधाव्याख्या में ऐसा ही विग्रह किया गया है—'त्रीण्यम्बकान्यस्य त्रिष्वम्बकमस्येति वा'। शब्दकल्पद्रुम में 'त्रीणि' को स्पष्ट किया गया है-'चन्द्रसूर्याग्निरूपाणीति अम्बकानि नेत्राणि यस्य'। वायुपुराण[7] में 'त्रिभिः अम्बकैः इज्यते' इस प्रकार त्र्यम्बक का निर्वचन किया गया है कि 'प्रजापति आदि देव अपने अभीष्ट फलों की प्राप्ति के लिए ओषधियों के क्षय हो जाने पर तीन कपालों और अम्बकों (नेत्रों) से भगवान् की पूजा करते हैं।[8]

---

1. हरि.चि. पृ. 341
2. लि.पु. 1.35.16–35, एवं 2.54.17–31
3. कू.पु. 2.18.94–95 शि पु. 1.24.34 आदि।
4. त्रीन् वेदान् अम्बते शब्दायते वा।
5. त्रिपु लोके कालेपु वा अम्बः शब्दो वेदलक्षणो यस्येति वा।
6. त्रयः अकारोकारमकाराः अम्बाः शब्दा वाचका यस्येति वा।
7. प्रजापतिमुखैर्देवैः सम्यगिष्टफलार्थिभिः।
   त्रिभिरेव कपालैस्तु अम्बकैरोषधिक्षये।
   इज्यते भगवान् यस्मात् तस्मात्त्र्यम्बक उच्यते॥
8. तु.–अम्बकैरयजन्त-श.ब्रा. 11.6.2.1
   विशेष–डा. सु. कु गुप्त ने अपने एक लेख मे (कोकोनट इन दि ऋग्वेद इज दि ओरिजिन आफ शिव कल्ट–ग्रा. इ. ग्रो. का.–दरभंगा (1948) मे पठित) 'त्र्यम्बक' का अर्थ नारियल किया है। उन्होने उससे एक होम्योपैथ औषध भी बनाई है। वा. पु. के इस स्थल पर नारियल अर्थ किया जा सकता है, क्योंकि इसमे तीन नेत्र भी होते हैं और कपाल भी।

17. दामोदर

दाम+उदर से—'स तु तेनैव नाम्ना तु कृष्णो वै दामबन्धनात् ।
गोष्ठे दामोदर इति गोपीभिः परिगीयते[1]॥
'दाम्ना चोलूखले बद्धो विप्रकुर्वन् कुमारकम् ।
बभञ्जार्जुन वृक्षौ द्वौ ख्यातो दामोदरस्तदा[2]॥
'स बद्धांगदनिर्व्यूहश्चित्रया वनमालया ।
शोभमानो हि गोबिन्दः शोभयामास तद्वनम् ॥
नाम दामोदरेत्येवं गोपकन्यास्तदाब्रुवन्[3] ।

दम (दाम)+उदर से—'देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरं विदुः'[4]॥
दम+उत्+√ईर)—दमात् सिद्धि परीप्सन्ते मां जनाः कामयन्ति हि ।
दम+उत्+√ऋ) से दिवं चोर्वी च मध्यं च तस्माद् दामोदरो ह्यहम् [5]॥

कृष्ण का एक नाम 'दामोदर' है, जो एक आख्यान पर आधारित है, जिसका संकेत प्रथम दो उद्धरणों में है। कृष्ण के बाल सुलभ चापल्य से पीडित यशोदा ने रस्सी (दाम) से कृष्ण के उदर को बांधकर उलूखल में बांध दिया। इस घटना की स्मृति में उनका नाम 'दामोदर' हो गया।[6] (दाम उदरे यस्य)।

तृतीय उद्धरण में निर्वचन का वही प्रकार संकेतित है, केवल दाम का अर्थ पुष्पदाम (वनमाला) लिया गया है और उदर का अर्थ वन-स्थल अभिप्रेत है।

चतुर्थ उद्धरण में दम को ही 'दाम' बताया गया है और 'दाम' तथा 'उदर' की पारिभाषिक व्याख्या दी गई है। गंगाप्रसाद शास्त्री ने अपनी हिन्दी व्याख्या मे इस पंक्ति का अर्थ यह किया है कि इन्द्रियों का प्रकाशक उदर है और दमनकारक दाम होता है। इसी आधार पर उन्हे दामोदर कहा जाता है।

इसी प्रकार पारिभाषिक शब्दावली में ही एक निर्वचन शान्तिपर्व में दिया गया है। इस पंचम उद्धरण मे पूर्वपद में 'दम' (दाम) को स्वीकार कर 'उदर' का यौगिक व्याख्यान किया गया है। गीता प्रेस से प्रकाशित महाभारत में प्रदत्त व्याख्या (दम एव दामः, तेन उदीर्यति उन्नति प्राप्नोति यस्मात् सः) के अनुसार इसे दम (दाम) उत्+√ईर (गतौ) से सिद्ध किया गया है।[7] किन्तु टीकाकार नीलकण्ठ ने उत् पूर्वक ऋ(गतौ) धातु स्वीकार की है[8] (दाम (=दमन)+ उत्+अर)। यह विचार

---

1. हरि. 2.7.36
2. तत्रैव 2.101 34.
3. तत्रैव 2.20.21,22
4. महा. 5.68.8
5. महा 12.328.39
6. तु.-वि. पु. 5.6.19-20
7. महा. गी प्रे शान्ति 341.44 टीका।
8. दमनं दामस्तेन उत् उत्कर्षेण ऋच्छन्ति प्राप्नुवन्ति स्वर्गादिकं यस्मादिति–महा. चि. 12.341.44-पृ. 714

अधिक स्वस्थ प्रतीत होता है, वैसे दोनों व्याख्याओं से एक ही अर्थ की प्रतीति होती है कि दम या इन्द्रियदमन से सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक लोग पृथ्वी, स्वर्ग और मध्यवर्ती लोकों में ऊंची स्थिति पाने की अभिलाषा करते हैं।

व्याख्याकारों ने 'दामोदर' की कुछ अन्य व्याख्याएं भी प्रस्तुत की हैं, जैसे 'दामादिसाधनेनोदारा उत्कृष्टा मतिर्या तया गम्यते'। 'विष्णु सहस्रनाम' के व्याख्याकार शंकर का मत है—

दामानि लोकनामानि तानि यस्योदरान्तरे।
तेन दामोदरो देवः श्रीधरस्तु रमाश्रितः ॥

उक्त दोनों मत शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत हैं और दाम का अर्थ बन्धन और बन्धन से लोक अर्थ लेते हुए कृष्ण के विराट् रूप की ओर संकेत किया गया है।

18. दुर्गा

दुर्ग + (तारण अर्थ में) आ से–

दुर्गात्तारयसे दुर्गे तत्त्वं दुर्गा स्मृता जनैः[1] ॥

विराट् नगर में पहुंचकर पाण्डवों द्वारा की गई दुर्गा-स्तुति में दुर्गा का निर्वचन दुर्ग+आ (+√तृ) से किया गया है। यहां दुर्ग का अर्थ दैत्यविशेष अथवा विपत्ति लिया गया है और देवी को इनसे तारण या उद्धार करने वाली कहा गया है। *यहां 'आ' को मात्र स्त्रीलिंग टाप् प्रत्यय नहीं माना जा सकता,* क्योंकि उससे अर्थ की संगति नहीं बैठती। अतः सम्भव है कि √आ-धातु तारणार्थक कभी रही हो, जिसका संकेत वेदव्यास ने किया है। डा. मु. कु. गुप्त के अनुसार धातुओं के निर्माण के प्रारम्भिक युग में एकाधिक धातुओं के मेल से भी धातुएं बनी हैं। जैसे √या (=√इ ∠ √आ), √दा (√दा + √धा[2])।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में 'दुर्ग' और 'आ' दोनों पदों के विशेष अर्थ देकर स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है। यहां दुर्ग के दैत्यभेद, महाविघ्न, भवबंध, कुकर्म, शोक, दुःख, नरक, यमदण्ड, जन्म, महाभय और अतिरोग अर्थ देकर 'आ' का अर्थ हन्ता किया गया है[3] अर्थात् इन सबका विनाश करने वाली देवी दुर्गा है। महाभारतीय निर्वचन में और अग्निपुराणगत निर्वचन[4] में 'आ' का अर्थ, 'तारण' और मार्कण्डेय पुराण[5] और स्कन्दपुराण में 'हनन' या घातन (दुर्ग नामक दैत्य का)[6] अर्थ किया

1. महा.ग. विराट् 6.21
2. मो०आ०वे०लै०-पृ०74,
3. ब्र०वै०पु०–प्र.ख. पृ-57
4. 'दुर्गात् तारयते यस्मात् तेन दुर्गा शिवा मता'–अ. पु. 323,7
5. मा.पु. 91.46
6. स्कन्द पु. काशीखण्ड अ. 72

गया है। एकाक्षर कोशों में इसके परिताप[1] या सन्ताप[2], प्रलय[3] आदि अर्थ भी दिये गए हैं, जो उक्त सन्दर्भ मे संगत प्रतीत होते हैं। इस प्रकार उक्त निर्वचन मे पूर्वपद को पारिभाषिक रूप मे और उत्तरपद को एकाक्षरी परम्परा मे स्वीकार किया गया है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के अन्य स्थल[4] पर शुद्ध एकाक्षर परम्परा का अवलम्बन करते हुए प्रत्येक अक्षर का विशेष अर्थ देकर निर्वचन किया गया है, जिसकी संगति एकाक्षर कोशों मे दिये गए अर्थों से भी होती है[5]। यथा द=दैत्यनाश, उ—विघ्न-नाशक; र—रोगनाशक, ग—पापनाशक और आ—भयशत्रुनाशक।

व्याकरणदृष्ट्या इस पद की व्युत्पत्ति-दुर् + √गम् + ड + टाप्—से सम्भव है। शब्द कल्पद्रुम मे दुर्गा अर्थ 'दुर्दुःखेन गम्यतेऽस्याम्' और अमरकोश सुधा व्याख्या 'दुःखेन गम्यते ज्ञायतेऽस्याम्' किया गया है। सुधा व्याख्या मे इसे दुर् + √गै(शब्दे)—अट्' से भी सिद्ध करके 'दुःखेन दुष्टैर्वा गीयते स्तूयते' अर्थ किया गया है। किन्तु इन अर्थों और प्रकारो की संगति उपर्युक्त नैरुक्तिक अथवा एकाक्षर परम्परा में किये गए पौराणिक निर्वचनों से उपयुक्त नही बैठती। यहां नैरुक्तिक और व्याकरणगत परम्परा मे स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है।

इस प्रकार 'दुर्गा' पद के उपर्युक्त निर्वचनो मे धार्मिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, जिसमे अपनी आराध्या का समस्त ऐहिक कष्टों से त्राण देने वाली बताकर भक्तो का अभिप्रेत सिद्ध किया गया है। यहां तक कि महाभारतीय निर्वचन भी उससे अस्पृष्ट नही है। सम्भवतः इसीलिए पूना के आलोचनात्मक संस्करण मे इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर परिगृहीत नही किया गया है।

19. नारायण

नार + अयन से—

'अपा नारा इति प्रोक्ता संज्ञा नाम कृतं मया।
तेन नारायणोऽस्म्युक्तो मम तद्धयनं सदा'[6] ॥
'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं मम तत्पूर्वमतो नारायणो ह्यहम्'[7] ॥
'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः।
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृत.'[8] ॥

1. ए. को 6.4. 21.2
2. तत्रैव 8.3, 10 4, 14.29, 15.6
3. तत्रैव 9 37
4. ब्र वै.पु., कृ.ख.–27.18–22
5. द्र.–ए. को परिशिष्ट N विशेष द्रष्टव्य–ब्र.वै.प्र. पृ. 112
6. महा. 3.187.3
7. महा. 12.328.35; तु–महा.ग. वन. 271.42 हरि. 1 1.28; 3. 88.44,
8. महा. गी. प्रे. अनु. 124.दा–6

नर+अयन से— 'नाराणामयनाच्चैव तेन नारायणः स्मृत.'[1] ॥
'नाराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः'[2] ।

परमात्मा के सहस्राधिक नामों में 'नारायण' अन्यतम है । इसका निर्वचन 'नार' और 'अयन' शब्दों की व्याख्या करते हुए स्मृतियों[3] और पुराणों[4] में अनेकत्र किया गया है । इन निर्वचनों में प्रायः शब्दावली का अन्तर मात्र है । निर्वचन का प्रकार समान है । प्रथम दो उद्धरणों में जलों को (आपः) 'नारा.' कहा गया है । यह शब्द नर+अण्+टाप् से बना है[5] । श्रीमद्भागवत के अनुसार विराट् पुरुष से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई । अण्ड को फोड़कर जब परमपुरुष बाहर आया, तब अपने रहने के स्थान के लिए उसने सर्वप्रथम जल की सृष्टि की[6] । इसीलिए श्रुति कहती है—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'[7]

इस प्रकार नर से उत्पन्न होने के कारण जल को 'नार' संज्ञा दी गई है[8] और उसे 'नरसूनु' कहा गया है । उद्धरणों से प्रायः यह शब्द स्त्रीलिंग (टाप्) में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु व्याकरण के नियम से इसमें ङीप् प्रत्यय सम्भव है, जैसा कि कुल्लूक भट्ट ने भी निर्दिष्ट किया है[9] । अतः तृतीय उद्धरण में इसे नपुंसक लिङ्ग में दिया गया है । उत्तर पद तीनों उद्धरणों में समान रूप से स्वीकार किये गये हैं । यह 'अयन' शब्द√अय् (गतौ)+ल्युट् से बनता है और आवासस्थल तथा गमन अर्थ देता है । प्रथम अर्थ के अनुसार (नारा अयनं यस्य) प्रलय काल में विष्णु का शेषशय्या-शयन इंगित होता है[10] । अयन=गमन में प्रवेशस्थान और लयन दोनों अर्थ सम्भाव्य हैं । अतः जल और विष्णु को जीवों का लयस्थान भी कहा जा सकता है ।

---

1. महा. 5 68 10
2. महा. 12.328 34
3. मनु. 1.10 आदि ।
4. वा. पु. 5.35, 6 5, 7.59, लि. पु 70.119, 120; म. पु 248.43, कू पु. पू. 4.62, 5.2, 5 कू. पु. उ. 18.62, मा. पु 4.43, 47.5, ब्र.पु. 17,8, वि. पु. 1.4.6, अहि. उ. 2.53,54,55
5. 'तस्येद' (पा. 4.3.120) इत्यण् प्रत्ययः । यद्यपि अणि कृते ङीप्प्रत्ययः प्राप्तस्तथापि छान्दसलक्षणैरपि स्मृतिषु व्यवहारात् 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते इति पाक्षिको ङीप्. प्रत्ययस्तस्याभाव पक्षे सामान्यलक्षण-प्राप्ते टा पि कृते नारा इति रूप-सिद्धिः—इति मनुसंहितायां कुल्लूक भट्टः—पृ. 7
6. म.पु 2.10.10,11; तु गा. 1.1; 'आपो नारायणोद्भूताः—कू पु. उ 18.62 द्र.—तै ब्रा. 2.2.9. ऋक् 10.129.3
7. तै.सं. 2.6.1.
8. महा. चि. 12.341.40 नीलकण्ठ-टीका पृ. 713
9. द्र.—3.19 पा. टि. 5
10. तु.—लि. पु. पू. 4.59 तत्रैव 70.120

पञ्चम और षष्ठ उद्धरणों में 'नार' के स्थान पर मात्र 'नर'[1] शब्द का प्रयोग करके 'नारायण' बनाया है, जब कि नरायण' शब्द बनना चाहिए। अत स्वार्थ में अण् प्रत्यय करके उसे भी 'नारायण' ही समझा गया प्रतीत होता है अथवा 'अन्येषामपि दृश्यते' से भी दीर्घ किया जा सकता है[2]। यहाँ विष्णु को मनुष्यों का शरण्य बतलाया गया है[3] अथवा नर-समूह को 'नार' और उसे अपना स्थान या आश्रय बनाने वाला परम तत्त्व नारायण कहा जा सकता है। (नाराणा समूहः नारं, तत्रायनं स्थानं यस्य)। इससे विष्णु का घट-घट-व्यापित्व प्रकट होता है। उसे जन-मानस मे निवास करने वाला शुद्ध चैतन्य भी माना जा सकता है। वायु पुराण में 'नाराः' की भांति 'नरा.' का भी 'आपः' अर्थ किया गया है।[4]

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे पारिभाषिक शब्दावली मे 'नार' का अर्थ सारोप्यमुक्ति और मोक्ष तथा अयन का अर्थ ज्ञान (सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थकाः) करके नारायण को ज्ञान और मोक्ष में सहायक माना गया है[5]। कहा भी है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। वहां एक श्लोक[6] मे उन्हे पापी व्यक्तियों का (नाराश्च कृतपापाश्च) विनाशक और उद्धारक (अयनं गमनं स्मृतम्) भी बताया गया है।

महाभारत की टीका में एक स्थल पर आकाशादि पंचतत्त्वों को 'नार' और नारायण को उनमे व्याप्त कारणात्मा रूप बताया है[7]। अहिर्बुध्न्य संहिता मे 'नर' का एकाक्षरी निर्वचन देकर तत्सम्बद्ध कार्यों को 'नार' कहा है और नारायण को उनका धारक-पोषक- नियामक–सर्जक आदि बताया है[8]।

पाणिनीय व्याकरण मे नर शब्द से फक् (आयन्) प्रत्यय करके भी नारायण शब्द बनता है[9] पर उसका अर्थ नर (ऋषिविशेष) की गोत्रापत्य सन्तान होगा अथवा नररूप ब्रह्म से उत्पन्न समस्त मानव जाति अर्थ भी लिया जा सकता है। किन्तु नारायण शब्द का प्रयोग परमपुरुष या विष्णु के अर्थ मे प्रारम्भ से ही हो रहा है, अतः उक्त पाणिनीय व्युत्पत्ति सर्वत्र मान्य नही है। हां, विश्वकोष का

1. ध्येय है कि 'नर' और 'नार' दोनों शब्द जलवाची हैं। वायुपुराण में (I) 'अर्' शीघ्रार्थक निपात (7 58) और (II) शीघ्रार्थक धातु (100 183) स्वीकार करके लिखा है कि एकार्णव अवस्था में आप् शीघ्रतापरक या स्यन्दनहीन थे, अतः उन्हें 'नर' कहते हैं।
2. पा. 6.3.137
3. महा. ग. उद्योग 70.10 टीका।
4. द्र.–पृ. 85 पा टि. 7
5. ब्र.वै.-कृ.खं. 111.22 और 24,25
6. तत्रैव 111.23
7. नर आत्मा ततो जातानि आकाशादीनि नाराणि तानि कार्याणि अयते कारणात्मना व्याप्नुते नारायणः'–महा. 13.149.39
8. अहिबु. 52.50–53
9. नडादिभ्यः फक्–पा. 4.1.99

यह मत अवश्य संगति के लिए स्वीकार्य है कि किसी मन्वन्तर में भगवान् विष्णु नर नामक ऋषि के अपत्य हुए थे, इस कारण भगवान् का नाम नारायण हुआ है[1]।

20. पशुपति

पशु+पति(√पा) से सर्वथा यत्पशून्पाति तैश्च यद् रमते पुनः।
तेषामधिपतिर्यच्च तस्मात्पशुपतिः स्मृतः ॥[2]
ग्राम्यारण्यानां त्वं पतिस्त्वं पशूना
ख्यातो देवः पशुपतिः सर्वकर्मा[3]॥

यह समस्त शब्द रुद्र के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त होता रहा है, जो उनके सर्वभूताधिपतित्व को द्योतित करता है। ऋग्वेद मे यह शब्द नही आया है। पशु पालने वाले के सामान्य अर्थ मे[4] अथवा लाक्षणिक रूप मे पूषन्[5] के लिए 'पशुप' का प्रयोग अवश्य हुआ है। ऋग्वेद के एक मन्त्र[6] मे इसके मूल को अवश्य खोजा जा सकता है, जहां रुद्र से मनुष्य सहित उन पाच पशुओं–अश्व, गो, अवि, अज और पुरुष-के लिए कल्याण कामना की गई है, जिन्हें शतपथ ब्राह्मण मे पशु का निर्वचन देते हुए परिगणित किया गया है।[7] ऋग्वेद मे ही मनुष्य को द्विपाद पशु और काठक संहिता में उसे पशुओ का राजा कहा गया है[8]। अथर्ववेद में भी मनुष्यों की गणना पशुओ मे की गई है और पशुपति का अर्थ 'पशुओं का स्वामी' किया गया है।[9] यजुर्वेद[10] मे अग्नि, वायु और सूर्य के लिए भी 'पशु' का प्रयोग हुआ है। लिङ्गपुराण[11] मे देव, मनुष्य, पिशाच आदि सभी को पशु कहा है और इनके पतित्व के कारण ही शिव को 'पशुपति' संज्ञा दी गई है।

डा फतह सिंह[12] ने वैदिक साहित्य मे प्राप्त निर्वचनों के आधार पर इसके केवल दो अर्थ किये हैं–अग्नि[13] और ओषधि[14], रुद्र के रूप मे विकसित अर्थ की ओर उन्होंने संकेत नही किया है। सम्भव है उन्होने दोनों का एकत्व स्वीकार करते हुए उसे अग्नि मे समाहित मान लिया हो। शतपथ ब्राह्मण मे अष्टरुद्रों को अग्निरूप कहा भी गया है[15]। ऐतरेय ब्राह्मण में एक आख्यान के माध्यम से रुद्र को 'पशुपति,' या पशुमान् सिद्ध किया गया है[16]।

---

1. हि. वि. (वसु)।
2. महा. 7.173.82; महा. ग्री.प्रे. अनु. 161.14
3. हरि. 2.74.23
4. ऋक् 1.114.9, 144.6 आदि।
5. ऋक् 6 58 2
6. ऋक् 1.43 6
7. श ब्रा. 6 2.1.2,4
8. ऋक् 3.62 14; का. सं. 20.10
9. अथर्व 11.2.9, 7 83
10. यजु 23.17
11. लि पु पू 7.54, लि पु उ. 9 12
12. द्र.–वै. एटी-पृ. 158
13. श. ब्रा. 6.2.1.2, 4; 6.1 4.12; तै.ब्रा. 1.1 4.3 कपिष्ठल 31.19 आदि।
14. श. ब्रा. 6.1.3.7, 12; ऋक् 2.33.2, 4 आदि।
15. श. ब्रा. 6.1.3.18; 1.7.3.8; 4.3.4.11 रुद्रो वा अग्निः। पशवो अंशवः– कपिष्ठल 40.4
16. ऐ. ब्रा 3.33

महाभारतीय प्रथम उद्धरण में तीन पृथक् पृथक् विग्रह देकर समासयुक्त पशुपति पद का व्याख्यान किया गया है—1, पशून् पाति–पशु+√पा से 'पशुपति' 2. तैः (पशुभिः) रमते–पशु+√रम् से पशुरमण=पशुपति 3. तेषां (पशूनाम्) अधिपतिः–पशु+(अधि)√पा से=पशुपति।

एतदनुसार शब्द का विग्रह करके पृथक् पदों का निर्वचन देकर यास्कीय प्रणाली[1] का अनुकरण किया गया प्रतीत होता है। यहां पूर्वपद पशु का निर्वचन नहीं दिया गया है, जिसे संहिता[2], ब्राह्मण[3], निरुक्त[4], और व्याकरण[5] में पश्य (पा. व्या. मे दृश् के आदेश)+उणादि कु प्रत्यय से सिद्ध किया गया है। 'अविशेषेण सर्वं पश्यतीति'। निरुक्त के टीकाकारों ने इसे √पश् (बन्धने) से सिद्ध करने का सकेत दिया है[6]। पाणिनीय धातुपाठ में√स्पर्श ('बन्धनस्पर्शयो) विचारणीय है। शिव पुराण मे पश्य (दृश्) के अतिरिक्त√पश् से भी निरुक्त करने का संकेत है–'पाशनाच्च पशवः'[7]। विदेशी भाषाओ मे प्राप्त इससे मिलते-जुलते शब्द पशु, पशुविशेष, तत्सम्बद्ध वस्तु और धनवाची मिलते हैं[8]। शुल्कवाची अंग्रेजी 'फी' शब्द मूलतः पशुवाची है। भारत मे भी पशु को धन माना जाता है।

उत्तरपदीय 'पति' का निर्वचन√पा से अभिप्रेत है, जो औणादि डति प्रत्यय से निष्पन्न होता है[9]। द्वितीय और तृतीय विग्रह मे भी पूर्वपद की वही स्थिति है। यहां पति के पर्याय 'रमण' के द्वारा निर्वचन किया गया है। तृतीय में उपसर्ग (अधि) को संयुक्त कर पति के अर्थ मे मात्र वैशिष्ट्य लाया गया है।

द्वितीय प्रथम निर्वचन मे ही अन्तर्भूत हो गया है। उसमे पशुओ को दो भागों में बांट दिया गया है। दृष्टि-भेद से पशुओ के अन्य भेद भी हो सकते हैं[9]।

इस प्रकार महाभारत में पशु और पशुपति का अतिप्रचलित अर्थ स्वीकार करते हुए वेदव्यास ने निर्वचन प्रस्तुत किया है। पुराणों[10] मे सीधे या आख्यान द्वारा इसी प्रकार निर्वचन किये गए है। कोशों[11] मे भी पशु को स्पष्ट करने के अतिरिक्त अन्य कोई नवीनता नही है।

---

1. अथ तद्धितसमासेष्वेक पर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्–नि. 2.2 10
2. तै सं. 5.9
3. श ब्रा. 6 2.1 2,4
4. पशुः पश्यते–नि. 3.16.7
5. ऊर्जिदृशि····हकारश्च–उ. को 1.27
6. वै. एटी.–पृ 157
7. शि. पु.–वायवीय संहिता 5,60,62
8. Feha fihu (प्रा. हा.ज.) vieh (प्रा. हा. ज) fehu (प्रा सँ.) feoh (ऐ सँ.) fe (प्रा. आइस.) faihu (गाथिक) pecus (लें) pecu (ग्री.)=पशु या धन वाची peki=wool (भारोपीय)।
9. पातेर्डतिः– उ. को 4.58
10. वा. पु. पू 27.11; ब. पु.-श. क. में द्रष्टव्य; वि. पु. 1.8.6; लि. पु. पू. 7.54; लि पु.उ. 9 12; ब्र पु. 2.10.8; म. पु. 8.5
11. पशूना स्थावरजंगमानां पति.–श क.। पशूनां जीवानां पतिः–अ. सु।

21 पृश्निगर्भ

पृश्नि+गर्भ से — पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेदा आपोऽमृतं तथा।
ममैतानि सदा गर्भे पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम्[1]॥

विष्णु या कृष्ण के पर्याय के रूप से संदृब्ध पृश्निगर्भ एक समस्त पद है, जिसका महाभारत मे विग्रहमात्र दिया गया है, दोनों पदों का निर्वचन नही। हाँ, पूर्वपद के विशिष्ट अर्थों का द्योतन अवश्य किया गया है। प्रतीत होता है कि वेदव्यास ने इसे पारिभाषिक शब्द के रूप में ग्रहण किया है और परमसत्ता के वैशिष्ट्य को प्रकट करने के लिए अर्थविनिश्चय कर दिया है, जो वैदिक पृष्ठभूमि पर ही किया गया है। अन्य अर्थ में 'पृश्नि' शब्द ताण्ड्य[2], शतपथ[3] और तैत्तिरीय[4], ब्राह्मण आदि मे प्रयुक्त हुआ है। श्री हरिशरण ने निरुक्त[5] के 'संस्पृष्टा भासा' के आधार पर 'पृश्नि' का अर्थ-ज्ञान-करण' किया है[6]। इस प्रकार यह शब्द वेद का वाचक माना जा सकता है।'पृश्नि' का जल अर्थ शब्दार्थकौस्तुभ में दिया गया है[7]। वैदिक साहित्य मे 'पृश्निगर्भा' का प्रयोग 'आप:' के विशेषण रूप में हुआ है[8] और 'आपः' अमृत रूप भी होता है।

इसके अतिरिक्त 'पृश्नि' शब्द के द्यु लोक[9], आदित्य या किरण[10], विशिष्ट मन्त्र[11] आदि अर्थ भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद मे 'पृश्निमातर:' शब्द का प्रयोग 'मरुत्' के विशेषण रूप में हुआ है[12]। सायण ने पृश्नि का अर्थ चितकबरी[13] किया है और मैक्डानल ने उसे अस्पष्ट मानकर छोड़ दिया है।[14]

इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अमरकोश मे यह 'अल्पतनु' का पर्याय है[15] तदनुसार विष्णु के वामनावतार की ओर संकेत किया जा सकता है। भागवत पुराण के अनुसार स्वायम्भुव मनु के समय सुतपा प्रजापति के रूप मे वसुदेव और पृश्नि नाम से देवकी थी। दोनों की तपस्या से प्रसन्न भगवान् ने उनकी इच्छा के अनुरूप अपने समान पुत्र पाने का वर दिया, किन्तु अन्य को उतना तेजस्वी न देखकर

1. महा. 12.328.40
2. ता. ब्रा. 12.10.24
3. श. ब्रा. 8 7.3.21
4. तै. ब्रा. 2.2.6.1; तु.-अन्नोत्पादिका पृथिवी-ता. ब्रा. 1.4.1.5
5. नि. 2.14
6. ऋ. ऋ, पृ 118
7. श. कौ, पृ. 713
8. वा. सं. 7.16,
9. निघण्टु 1.4
10. नि. 10.39; 2.14; तु.-ऋक् 2.2.4, 2.34.2, 6.48.22, 7.56.4, 6.6.4. आदि
11. द्र.-तै. सं. 3.3.5.2 पर डा. फतहसिंह का मत वै. सं. पृ. 168
12. ऋक् 1.23.10, 1.168.9; 7.35.13
13. ऋक् 1.89.7; द्र. ऋक् 1.160.3; 7.103.4
14. ऋक् 1.85.2 की व्याख्या में।
15. अमरकोश सुधा व्याख्या।

स्वयं पृश्निगर्भ नाम से जन्म लिया[1]। शब्दकल्पद्रुम ने इस ओर संकेत किया है[2]। आप्टे और मो. वि. के कोशों में प्रदत्त भूमि, मेघ और नक्षत्र युक्त आकाश आदि अन्य अर्थों से भगवान् के विराट् स्वरूप का सहज आभास होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'पृश्नि' शब्द के अर्थ परिवर्तित और विकसित होते रहे हैं। बाद में ये सभी अर्थ जीवित नही रह सके। महाभारतीय निर्वचन मे वैदिकी परम्परा का ही निर्वाह है। यहा अनेकार्थक 'पृश्नि' से समन्वित 'पृश्निगर्भ' शब्द विष्णुवाची है। पुराणों में 'पृश्नि' और 'गर्भ' के संयोग से बने इस शब्द मे देवकी और उसके गर्भ से उत्पन्न विष्णु रूप की भी कल्पना कर ली गई है।

22. प्रजापति

प्र+√जनी+पति से..................सर्वमेभिर्जगत् ततम्।

प्रजापतय एते हि प्रजाभागरिह प्रजाः[3]॥

महाभारत के उक्त सन्दर्भ में आठ प्रजापतियों के रूप में यह शब्द बहुवचन मे आया है और उसे प्रजा के गुणों से युक्त होने के कारण प्रजा भी कहा गया है। यहां उन्हें प्रथमतः जगत्स्रष्टा और निष्कर्षतः जगत् का पालयिता कहा गया है। उत्तर पद का निर्वचन अथवा अर्थ यहां नही दिया गया है। बाद में पुराणो मे पूर्वपद को सिद्ध मानकर उत्तर पद के निर्वचन दिये गए हैं—'पाति यस्मात् प्रजाः सर्वा.[4], पहले निरुक्त मे भी इसे √पा या √पाल् से ही सिद्ध बताया गया है[5]। प्रजापति से लोकों की उत्पत्ति[6] और उनके विस्तीर्ण करने के उनके कर्म की ओर संकेत भी पुराणों में है[7]। वेद मे इसे प्रजास्रष्टा[8], प्रजापालक[9] और प्रजासंहर्ता[10] के अतिरिक्त सगुण-ब्रह्म, निर्गुणब्रह्म, सूर्य, वायु, प्राण, अग्नि और वाक् रूप में भी देखा जा सकता है[11]। इसी प्रकार बाद के साहित्य में भी वह प्रजापति मनु और ब्रह्मा के मानस पुत्र[12] आदि के रूप मे वर्णित हैं। सख्या भी सात, आठ, नव[13] दश[14] ग्यारह, चौदह

---

1. भा. पु. 10.3.41
2. पृश्निः जन्मान्तरजातदेवकी तस्याः गर्भं उत्पत्ति-स्थानत्वेऽस्त्यस्येति+अच् =श्रीकृष्ण : द्र.–कृष्ण के लिए 'पृश्निधर' शब्द-मो वि.–पृ.–647-I
3. महा. गी. प्रे. 85.134
4. कू. पु पू 4.59, लि. पु. 70 101; वा. पु 5.37
5. प्रजानां पाता पालयिता वा-नि. 10 42
6. भा. पु 1 1.25
7. ब्र. वै. पु.–अ 44
8. अथर्व 3.10.13, 4.35 1, तै०ब्रा० 2.2.20.1, श० ब्रा० 2.5.1.8, 1.4.2.1 3.9.1.6 आदि।
9. गो० ब्रा० 1.1.4. यहां प्रजास्रष्टा और प्रजापालक एक साथ कहा गया है।
10. श०ब्रा० 5.1.3.13, तु०–10.4.2.2.
11. वै०एटी०–पृ० 165-166
12. म०पु० 1.33
13. द्र.-पु०इ०,पृ० 404
14. द्र०-श०क०।

और इक्कीस[1] तक गिनाई गई है। शाब्दिक अर्थ के अनुसार यह देवता प्रजा की रक्षा करने वाला[2] या सभी का पालन करने वाला[3] है। वैदिक कोश में इसके अनेक अर्थ और उद्धरण दिये गए है, पर लगभग सभी सन्दर्भों मे यही मूल तत्व द्रष्टव्य है।

उल्लेख्य है कि प्रजापति पर पुत्री (सरस्वती)-अभिगमन का दोष कतिपय उद्धरणों[4] के आधार पर लगाया जाता है, पर वह वाक् (सरस्वती) के पति अर्थात् रक्षक हैं[5] और इसे ही प्रतीकात्मक रूप से स्पष्ट किया गया प्रतीत होता है।

23. बृहस्पति

1. बृहत् (=ब्रह्म=महत्)+√पा से—

'बृहत् ब्रह्म महच्चेति शब्दा: पर्यायवाचका: ।
एभिः समन्वितो राजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः [6]॥

2. बृहस्पति=विद्वान्

लौकिक संस्कृत मे देवगुरु के लिए प्रयुक्त 'बृहस्पति' का यह महाभारतीय निर्वचन पर्यायो के द्वारा निर्वचन करने की प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। यहां 'बृहत्' शब्द के पर्याय देकर शब्द को स्पष्ट किया गया है। वैदिक साहित्य में इस शब्द का अर्थ-विकास होता रहा प्रतीत होता है। ऋग्वेद में इसका उच्च स्थान है। वहां उसे 'ब्रह्मणस्पति' कहकर निर्वचन का संकेत किया गया है[7]। निघण्टु[8] तथा निरुक्त[9] के अनुसार 'ब्रह्मणस्पति' ब्रह्म का पाता या पालयिता का नाम है। बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति है[10]।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे वृद्ध्यर्थक √बृह् से निष्पन्न करते हुए इसे 'ब्रह्म'[11] 'प्राण'[12] और बृहती या वाक् के अधिपति[13] अथवा स्तुति के अधिपति[14] और प्रज्ञा-देवता[15]

---

1. महा० 1.1.29-33
2. ऋ०ऋ० 27
3. द०स०प्र० 1
4. ऐ०ब्रा० 3.33, ता०ब्रा० 8.2.10 आदि।
5. प्रजापतिर्वै वाक्पतिः-श०ब्रा० 3.1. 2.2; द्र०-ता०ब्रा० 20.14.2
6. महा० 12.323.2
7. ऋक् 10.72.2; द्र०-श०ब्रा० 14.4.1.23, 14.1.2.15
8. निघण्टु 5.4
9. नि० 10.12
10. द्र०-वैं० को०पृ० 340-I
11. ब्रह्म वै बृहस्पतिः-श०ब्रा० 3.9.1.11, 3.1.4.15, जै०उप०ब्रा० 1.37.6, ऐ०ब्रा० 1.13, गो उ.ब्रा. 1.3.4. आदि।
12. एष (प्राण) उ ए बृहस्पति :—श.ब्रा. 14.4.1.22; जै.उप.ब्रा. 2.2.5.
13. वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः-श.ब्रा. 14.4.1.21., तु-ता.ब्रा. 1.7.4.1 वागिव बृहती तस्या एष पति :-छा.उप. 1.2.11
14. वै.इ-पृ-78
15. ऋक् 1.190.2.3, 5.50 आदि।

कहा गया है। निरुक्तकार को बृहत्+√पा से निर्वचन अभिप्रेत[1] है। अर्थात् जो विशाल जगत् का रक्षक है[2]। आचार्य शौनक का भी यही मत है–'बृहतस्पतिना',[3] किन्तु अन्यत्र उन्होंने बृहत् विशेषण का प्रयोग दो बार करते हुए उन्हें अपने विशाल (बृहत्) कर्म से मध्यम और उत्तम दो लोकों का पालयिता कहा है[4]। आगे चलकर इन्हें सब लोकों का पति घोषित कर दिया गया[5]।

प्रस्तुत महाभारतीय निर्वचन पौराणिक देव (देवगुरु) के परिप्रेक्ष्य में उक्त वैदिक पृष्ठभूमि का प्रतिनिधित्व करता है अर्थात् पूर्वपद को ब्रह्म और विशाल, वाची बताया गया है, साथ ही 'विद्वान्' विशेषण देकर उसका वाचस्पतित्व भी संकेतित है। उत्तर पद का निर्वचन स्पष्ट नहीं दिया गया है, पर सम्बद्ध अर्थ द्योतित होता है।

उल्लेख्य है कि गुणे और मैक्डानल ने बृहस्पति शब्द की निष्पत्ति 'वाचस्पति' के सादृश्य (अनालाजी) पर बताई है, पर यह बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होती। व्याकरण मे इसे सुडागम और तलोप करके निपात से सिद्ध किया गया है[6]। फिर भी यहां 'वाच.' की भांति 'बृह.' के षष्ठी न होने मे 'बृ' पर उदात्त है, जबकि 'वाचः' मे 'च' उदात्त है। अतः यह एक स्वतन्त्र शब्द है।

महाभारत में बृहस्पति का ब्रह्मत्व प्रतिपादित किया गया है। यही स्थिति भागवत पुराण मे है, जहां भगवान् स्वयं अपने को 'बृहस्पति' घोषित करते हैं— 'ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः'[7]। अपरतः देवताओं के यज्ञ मे इन्हें ब्रह्मा का पद भी प्रदान किया जाता है। अहिर्बुध्न्य संहिता[8] मे 'बृंहपते (=बृहत् शक्ति का पति) और 'देव देव' पदों से भी यही स्पष्ट होता है।

24, ब्रह्म

√बृह्–से– 'यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
यं विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः' ॥[9]

बृहत्–बृंहण (√बृह) से—

'बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तस्माद् ब्रह्मेति शब्दित.[10] ॥

त्रिगुणातीत, विशुद्ध सत्त्वरूप, चित्स्वरूप परमशक्ति केन्द्र और सृष्टि-कारण-

---

1. 'बृहतः पाता पालयिता वा-नि. 10-11.2
2. तत्रैव, दुर्ग टीका
3. बृ. 2.3
4. बृ 2.39
5. बृहता पतिः–(द्र.–पा. 6.1.157 पर वार्तिक)
6. द्र०–पा.टि. 5
7. 14. भा.पु 11.16 22
8. अहि. उ. 58.33.
9. महा. 12.47.26
10. हरि 2.88.46

भूत 'ब्रह्म' एक प्राचीन वैदिक शब्द है। संहिता[1] ब्राह्मण[2] और उपनिषदादि[3] में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। जहां वाक्, यज्ञ, मन्त्र, ऋक्, गायत्री, प्रणव आदि अर्थ दिये गए हैं[4]। ऐतरेय ब्राह्मण मे ही ब्रह्म के बृहस्पति श्रोत्र, चन्द्रमा, गायत्री, वाक्, रथन्तर तथा पवमान पर्याय मिलते हैं[5]। महाभारत की अंशभूत श्रीमद्भगवद्गीता मे परमात्मा[6], ईश्वर,[7], प्रकृति[8] ब्रह्मा[9], ओंकार[10], वेद,[11], परमधाम[12] आदि अनेक अर्थ बताए गए हैं। किन्तु जिस प्रकार यह समग्र सृष्टिप्रपञ्च उस 'एकं सत्' का ही उपबृंहण या विस्तार है, उसी प्रकार इन समस्त अर्थों मे उसी एक तत्त्व का द्योतन है। यही बात इस शब्द के निर्वचन से भी प्रकट होती है, क्योंकि यह वृद्ध्यर्थक √बृह (भी वि) √बृहि (बृंहति, बृह्यते वा)से व्युत्पन्न किया गया है। 'अणोरणीयान्' ब्रह्म ने 'एकोऽहं बहु स्याम्' की भावना से लोक का वर्धन किया है[13]। वह यश और श्री के कारण 'परिवृढ' है[14]। वह सब ओर से परिपूर्ण है[15]। वह बृहत्तम, महत्तम, ज्येष्ठ, प्रथमज, स्वयम्भू, परात्पर, प्रधान और परममहत् है[16]। दयानन्द सरस्वती का निर्वचन 'सर्वेभ्यो बृहत्वात् ब्रह्म'[17] भी यही द्योतित करता है। इसीलिए कभी-कभी आदित्य[18], चन्द्रमा[19], वायु[20], अग्नि[21], प्राण[22] अथवा मन, चक्षु, हृदय, श्रोत्र आदि उसके प्रकाशक तत्वों को भी ब्रह्म कहा गया है[23]।

उपरिलिखित महाभारतीय भीष्मस्तवराज के श्लोक में कहा गया है कि उक्थ नामक बृहत् यज्ञ के समय अग्न्याधानकाल मे ब्राह्मण जिसे ब्रह्म रूप में स्तवन करते

1. ऋक् 1.80.1; 164 34 अथर्व 2.15.4; 9 7.9, 12.5; तै. सं. 3.3.1.1; वा सं. 6.3.7.21
2. श. ब्रा. 14.8.5.1, तै ब्रा. 3.9.5.5
3. जै. उप. 2.9.6, 13.1 2 4.,25 3; गो उप. 1 3.4
4. श. ब्रा. 2 1 4 10; ऐ. ब्रा. 6.3; 7 22; कौ ब्रा. 7.10 श. ब्रा. 7.1.1.5; 3.3.4.17; ऐ. ब्रा. 4.11; कौ ब्रा. 3.5; तां. ब्रा. 11.11.9 श.ब्रा. 4.4.1.18; कौ ब्रा 11.4; गो. उप. 3.11
5. ऐ ब्रा.अ.-पृ. 61 ऋत, सत्य आदि अनेक अर्थों के लिए द्र.–वै को. पृ. 341-I
6. गीता 7.29
7. तत्रैव 5.10
8. तत्रैव14.4
9. तत्रैव 8.17
10. तत्रैव 8.13
11. तत्रैव 3.15
12. तत्रैव 8.24
13. कौ. ब्रा. 6.10; छा. उप. 4.17.1
14. जै. उप. ब्रा. 4.24.11
15. ब्रह्म परिवृढं सर्वतः–नि. 1.8
16. मी. वि-पृ. 737-III
17. द स. पृ.4
18. आदित्यो वै. ब्रह्म-जै. उप, 3.4.9, श. ब्रा. 7.4.1.14
19. चन्द्रमा वै ब्रह्म. ऐ. ब्रा. 2.41
20. ऐ. ब्रा. अ. पृ. 61
21. ब्रह्म वा अग्निः–श. ब्रा. 2.5.4.8; तै. ब्रा. 3.9.16.3
22. जै. उप. ब्रा. 1.33.2, श. ब्रा. 14.6.10.2
23. 'मनो ब्रह्म' 'चक्षुर्ब्रह्म' 'हृदयं वै ब्रह्म', 'श्रोत्रं वै ब्रह्म–द्र.–वै.एटी पृ. 175

हैं, उस वेदात्मा को नमस्कार है। यहां श्लोक में 'ब्रह्म' का शब्दशः उल्लेख नहीं हुआ है, पर 'बृहन्तं' और 'बृहति' पदों के प्रयोग से निर्वचन की ओर संकेत अवश्य किया गया है।

हरिवंश से उद्धृत द्वितीय स्थल पर निर्वचन स्पष्ट है, जहां ब्रह्म को यह संज्ञा उसके बृहत् या सर्वोपरि होने और बृंहणा-शक्ति से सम्पन्न होने के कारण दी गई है। अर्थात वह स्वयं निरतिशय-महत्त्व लक्षणों से युक्त है और प्रजा का वर्धन भी करता है।

उपर्युक्त दोनों निर्वचनों में एक ही धातु से निष्पन्न शब्दों के द्वारा उसी धातु से निर्मित 'ब्रह्म' पद का व्याख्यान किया गया है। पुराणों में भी इससे मिलते-जुलते निर्वचन प्राप्त होते हैं।[1]

विष्णु पुराण के एक स्थल[2] पर उद्धृत श्रुति वचन 'यस्मादुच्चार्यमाण एवं बृहति बृंहति' की तुलना अथर्वशिरः उपनिषद् के इस वाक्य से की जा सकती है–'यस्मात्परमपरं परायणं च बृहत् बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म।'[3] यहां भी ब्रह्म के निर्वचन की पुष्टि उक्त प्रकार से ही की गई है। आगम ग्रन्थ अहिर्बुध्न्य संहिता में भी पुराणों की भांति ही निर्वचन किया गया है।

कोशों में उक्त प्रकार से विग्रहगत विवेचन देते हुए[4] व्याकरण के उणादि प्रकरण में नकार को अकार, ऋकार को रेफादेश और मनिन् प्रत्यय के द्वारा[5] निष्पन्न बताया गया है। किन्तु काशकृत्स्न धातुपाठ में √ब्रह्म भी पठित है, तदनुसार सीधे मनिन् प्रत्यय से भी यह शब्द सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार ब्रह्म शब्द का निर्वचन वैदिक काल से लेकर अब तक निर्विवाद है। व्याख्याकारों धर्माधिष्ठाताओं और ब्रह्मवादियों ने इसके महत्त्व-प्रतिपादन में गूढ जटिल, पारिभाषिक, प्रतीकात्मक और आकर्षक शब्दावली का प्रयोग अवश्य किया है, पर 'ब्रह्म' का व्युत्पत्तिग्राह्य सरल व्याख्यान वही है, जो ग्राह्य और उपास्य है।

25. भरत (अग्नि)

द्रष्टव्य—6.14

---

1. वि. पु. 1.12.57; 3.3.22; लि. पु. 70.16; वा. पु. 4.40, 4.29. 61. 107:तु.–वा. पु. 5.39
2. वि. पु. 6.7.47
3. ईशाद्य–पृ. 145
4. श. क., श्र. सु. आदि।
5. बृहेर्नोऽच्च–उ. को. 4.147 द्र.–बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म [ईश्वरो वेदस्तत्त्वं तपो वा–द. व्याख्या पृ–147.

26. भव

√भू — भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं जगदशेषतः ।
भव एव ततो यस्माद् भूतभव्यभवोद्भवः ॥

√'भू' (सत्तायाम्) से निष्पन्न 'भव' शब्द का यौगिकार्थ उत्पत्ति या जन्म है, किन्तु इसका प्रयोग सृष्टि के उत्पादक तत्वों (घटकों) के लिए होता रहा है। शतपथ ब्राह्मण में इसे पर्जन्य कहा गया है, क्योंकि उसी से सब कुछ उत्पन्न होता है[2]। वहां एक अन्य स्थल पर अग्नि को प्रमुख देव मानते हुए उसके अन्य नामों का परिगणन किया गया है[3]। जो रुद्र के भी नाम माने जाते हैं। अष्ट रुद्रों के परिगणन में स्पष्टतः कहा भी गया है कि ये अग्नि रूप हैं[4]। उक्त दोनों ही स्थलों में 'भव' नाम आया है, जिसे प्राच्यदेशीय पुकारते थे[5], जो अग्नि या रुद्र को सृष्टि का उत्पादक देव के रूप में माने जाने के प्राच्य देशीयों के विश्वास को प्रकट करता है। कौषीतकि ब्राह्मण में 'यद्भव: आपस्तेन'[6] कह कर भव को 'जल' कहा भी गया है। बाद में प्रसिद्ध अष्ट मूर्तियों[7] में आद्या सृष्टि जलमयी मूर्ति को 'भव' से ही सम्बद्ध किया गया है—'भवाय जलमूर्तये नमः'। शिव के विभिन्न नामों के द्वारा विभिन्न वस्तुओं की रक्षा के सन्दर्भ में जल का रक्षक 'भव' को बताया गया है।

'भव' का महाभारतीय निर्वचन भी√भू से सम्बद्ध है, किन्तु वहां स्पष्ट रूप से वह शिव का पर्याय है। यहां उसे भूत, भविष्यद्-वर्तमान तथा सम्पूर्ण जगत् का उत्पन्न करने वाला बताया गया है। यह निर्वचन व्याकरण-पुष्ट है। वैयाकरणों ने 'भवत्यस्माद् विश्वम्' 'विश्वमस्त्यस्मिन्' आदि विग्रह करके पचादि अच् या बाहुलक अप् से सिद्ध किया है[8]।

वायुपुराण में इसे 'भव' इसलिए कहा गया है क्योंकि वह ध्यान करते हुए ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुये थे[9]। अन्यत्र इसका निर्वचन इसी दृष्टि से किया भी गया है[10]। शिव से अतिरिक्त संसार, सत्ता, प्राप्ति, क्षेम आदि अन्य अर्थों में

---

1. महा० (ग) द्रोण 202.135
2. श०ब्रा० 6.1.3.15
3. तत्रैव 1.7.3.8.
4. तत्रैव । 'एतान्यष्टौ (रुद्रः शर्वः पशुपतिः उग्रः अशनिः भवः महादेवः ईशान) अग्निरूपाणि·········1.6.1.3.18
5. प्रतीत होता है कि विभिन्न अंचलों में पृथक् पृथक् नाम प्रचलित हो जाते थे और इस प्रकार पर्याय-संख्या बढती जाती थी।
6. कौ०ब्रा० 6.2
7. अभि०शा० 1.1; तु –तम् आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्-ऋक् 10.129.3; 'अप एव ससर्जादौ-मनु 3.8,
8. अ.सु । श.क. । हलायुध कोश आदि ।
9. वा.पु. 31.53
10. वा.पु. 4.40

'भवति उत्पद्यतेऽस्मिन्'—विग्रह करके व्युत्पत्ति पूर्ववत् दी गई है[1]। वायुपुराण में इसे संसारवाची इसीलिए बताया गया है, क्योंकि प्रलयकाल में समस्त जीवों के विनाश के बाद पुनः भव या उत्पत्ति होती है[2]।

इस प्रकार 'भव' शब्द का निर्वचन तज्जन्य मूल अर्थ प्रारम्भ से अब तक लगभग एक ही है, किन्तु अर्थ-विस्तार मे और उसका प्रयोग विभिन्न उत्पादक तत्वों, देवो और उनसे उत्पन्न संसार के लिए प्रयुक्त होता रहा है। काशकृत्स्न धातुपाठ में 'भू' के दश अर्थ किये है[3]। उस दृष्टि से विचार करके 'भव' सत्तावान्, माङ्गलिक, वृद्धिशील, सर्वत्र निवास करने वाले, सर्वव्यापी, सम्पत्तिशाली, सदाशय, शक्तिमान् और गतिमान् आदि अत्यन्त व्यापक अर्थ किये जा सकते हैं।

27. मरुत्

द्रष्टव्य—8.25

28. माधव

मा+ध+व से— मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्।
सर्वतत्त्वलयत्वाच्च···· ···· ···· ····[4]॥

मधु से— 'मधोस्तु माधवाः स्मृताः'[5]॥

मा+धव से— मा विद्या च हरेः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान्।
तस्मान्माधवनामासि धवः स्वामीति शब्दितः[6] ॥

श्रीकृष्ण के पर्यायों में 'माधव' शब्द पठित है, जो कोशों मे 'मायाः लक्ष्म्याः धवः पतिः' विग्रह देकर व्याख्यात है, किन्तु महाभारत में उक्त प्रकार से भिन्न निर्वचन प्राप्त होते है। प्रथम उद्धरण मे एकाक्षरी परम्परा का अवलम्बन करते हुए मा, ध और व वर्णों के विशिष्ट अर्थ देकर निर्वचन किया गया है। तदनुसार मा का मौन, ध का ध्यान-योग और व का वेद या ज्ञान अर्थ दिया गया है। इनमें से 'ध' का प्रदत्त अर्थ एकाक्षर कोशो से पुष्ट है[7]। अन्य दो के प्रदत्त अर्थ एकाक्षर नाम-कोष संग्रह मे प्राप्त नही हुए हैं, पर अन्य अनुपलब्ध कोशों मे इनकी सत्ता सम्भव है, क्योंकि ये अर्थ आचार्यों को स्वीकार्य हैं। एक यह भी परिपाटी रही है कि कवि या कथक प्रसंगानुसार विशिष्ट अर्थ देकर भी निर्वचन कर देते हैं, उसका भी अवलम्बन किया गया हो सकता है। इस प्रकार यहां 'माधव' शब्द मे मौन, ध्यान, योग और सर्वतत्त्वविलय आदि भावो का एकत्र संकलन किया गया है।

---

1. श.क.।
2. वा.पु.उ. 32.203
3. 'सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः'—काशकृत्स्न धातुपाठ।
4. महा. 5.68.4
5. हरि. 1.33 55
6. तत्रैव 3 88.49
7. ए. को. 2 50; 6.43 आदि।

द्वितीय उद्धरण मे यह बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है और यदु के ज्येष्ठ पुत्र के गोत्रापत्य वंशजो के लिए आया है[1] (मधु+अण्)।

तृतीय उद्धरण मे 'मा' का अर्थ 'विद्या' और 'धन' का अर्थ ईश और स्वामी दिया गया है। यह निर्वचन कोश और व्याकरण से पुष्ट है, जहां 'मा' के 'लक्ष्मी' और 'विद्या' दोनों अर्थ प्राप्त होते हैं। इस प्रकार माधव का अर्थ विष्णु किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे 'मा' को मूल प्रकृति, ईश्वरी, नारायणी, विष्णुमाया, महालक्ष्मी, वेदमाता, सरस्वती, राधा, वसुन्धरा और गंगा भी बताकर इनके स्वामी को 'माधव' कहा गया है[2]

अमरकोश की सुधा व्याख्या मे उपरिव्याख्यात द्वितीय और तृतीय निर्वचनों के अतिरिक्त दो विग्रह और दिये गए हैं–1-'मधोर्हन्ता' अर्थात् मधु नामक दानव का वध करने वाले। यहां शैषिक अण् का विधान किया गया है।[3] 2–'मा नास्ति धवोऽस्य'-अर्थात् जिसका कोई स्वामी नही है। इससे विष्णु का परात्परत्व और एकत्व अभिप्रेत है।

इस प्रकार माधव शब्द के अनेक निर्वचन उपलब्ध होते हैं। इनमें व्याकरण की दृष्टि से मधु से सम्बद्ध निर्वचन अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। अन्य लोककृत निर्वचन कहे जा सकते हैं।

29. मारुत

द्रष्टव्य—8.25

30. मार्तण्ड

द्रष्टव्य—8.26

31. यम

√यम्–यम् से—प्रजास्त्वयेमा नियमेन संयता
नियम्य चैता नयसे न कामया।
अतो यमस्त्वं तव देव विश्रुतम्॥
....[4]

सत्यवान् की आत्मा को ले जाने वाले यम का अनुसरण करती हुई सावित्री के वर-याचना के प्रसंग मे प्रस्तुत श्लोक में 'यम' शब्द का निर्वचन दिया गया है। इसी √यम् से निर्मित 'नियम'-'संयत' और 'नियम्य' आदि पदो का मूल मे प्रयोग करके निर्वचन की ओर स्पष्ट संकेत हैं और इसे तृतीय चरण मे–ब्राह्मणों मे प्राप्त निर्वचन-शैली का अनुसरण करते हुए शब्द में भाववाचक 'त्व' लगाकर निर्दिष्ट भी किया गया है। यहां√यम् या √यम् नियमने, उपरमे, परिवेषणे-परिवेष्टने)[5]

---

1. तु०–भा. पु. 9.23 30; लि. पु. पू.–68.15
2. ब्र० वै०-कृ० ख०–प्र० 110, श०क० मे द्रष्टव्य।
3. शेषे-पा. 4.2.92
4. महा. 3.28.33
5. पा. धा. पा.। धा. क.।

धातु अभिप्रेत है, जिसमें अच् या अप् अथवा कुछ के अनुसार घञ् प्रत्यय लगाकर[1] 'यम' शब्द सिद्ध किया जाता है। 'यमयति नियमयति जीवानां फलाफलमिति।' यम के नगर या नगरी का नाम भी साहित्य में संयमन या संयमिनी प्राप्त होता है।[2] योग की शब्दावली के यम, नियम और संयम शब्द उक्त धातु से ही निर्मित है और अपने विशिष्ट अर्थ देते हैं।[3] डा० सिद्धेश्वर वर्मा और डा० फतहसिंह ने इससे मिलते-जुलते विदेशी शब्दों या धातु का उल्लेख किया है।[4] इस दृष्टि से इसका निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान को ग्राह्य हो सकता है।

वैदिक साहित्य में भी 'यम' शब्द में उपर्युक्त धातु ही मानी गई है और अर्थ भी नियमन करने वाला या व्याप्त करने वाला किया गया है।[5] किन्तु वहा मृत्यु और यम को कहीं एक[6] और कही पृथक् वेद के रूप मे स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में यम-यमी (भ्रातृ-भगिनी) के संवाद में यम का संयम या जितेन्द्रियत्व उसके शाब्दिक अर्थ (मन या इन्द्रियों को वश में रखना) को पुष्ट करता है।

यम की ख्याति धर्मराज और मृत्युदेव के रूप मे है। यह मृतकों का शासन करने वाला[7] पितरों के स्वामी, नरकों के अधिकारी और दक्षिण दिशा के दिग्पाल भी है। मत्स्य पुराण में यम के निर्वचन के साथ उसके अन्य पर्यायो के भी निर्वचन दिये गए हैं।[8] विष्णु पुराण के अनुसार इन्हें पाप-पुण्य का विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था, किन्तु वह स्वयं भी स्वतन्त्र नही है, क्योंकि उन पर विष्णु का नियन्त्रण है।[9] मत्स्य, मार्कण्डेय आदि पुराणों में उन्हें प्रजा का संयमन करने वाला कहा गया है।[10] स्वामी दयानन्द ने यम को परमात्मा का ही अपर नाम बतलाया है—'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः'।[11]

इस प्रकार यम के समस्त कार्यकलापों मे मूल धातु के अर्थ का संरक्षण है।

3. रुद्र

√रुद्र से— यन्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत्प्रतापवान्।
मांसशोणितमज्जादो यत्ततो रुद्र उच्यते[12]॥

---

1. श. क। अ. सु। 2. तु०-पितृलोक=की ग्रा० 16.9
3. पा. यो. 2.30; 3.32; 3.1-4, 11 द्र-म. पु अ. 109, 230
4. भारो. Um=to restrain ग्रीक-herroros=Tame इटी० या०, पृ० 50, ymir, yma, yima वै. एटी., पृ. 187
5. वै. एटी, पृ. 187
6. अथर्व 6.28.3, तु०-1.165.4 7. ऋक् 10.16.9
8. म० पु० 213.2; तु०-श० क० में उद्धृत ग्र० वै० पु०, अ० 26
9. वि० पु० 3.7.15 10. म० पु० 213.1, म० पु० 77.4 :
11. द० स० प्र० पृ०-21 12. महा. 7.173.98, गी. प्रे.अनु. 161.7

√रुद् + √रु से— रुद्रो देवस्त्वं रुदनाद्रावणाच्च ॥[1]
√रु + √द्रु से— रोरूयमाणो द्रावणाच्चातिदेवः ॥[2]
√रु + √द्रु से— 'ते रुदन्तो द्रवन्तश्च भगवन्तं पितामहम् ।
रोदनाद् द्रावणाच्चैव ततो रुद्रा इति स्मृताः[3] ॥

महाभारत में रुद्र शब्द के उपर्युक्त निर्वचन वैदिकी परम्परा का ही अवलम्बन करते हैं। प्रथम निर्वचन में अभीप्सित धातु का सीधा निर्देश नहीं है, अपितु उसका व्याख्यान किया गया है, जिससे 'रुद्र' का दहनत्व, तीक्ष्णत्व, प्रतापशीलत्व एवं उसका सर्वभक्षी रूप प्रकट होता है। इन अर्थों का द्योतन करने वाली रुद्र धातु पाणिनीय धातुपाठ में प्राप्त नहीं होती, पर अन्य पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों में, जो अब लुप्तप्राय है, अवश्य यह धातु रही होगी। ग्रासमान और पिशेल ने क्रमशः 'चमकना' और 'लोहित होना' अर्थ वाली कल्पित √रुद्र धातु से रुद्र शब्द को निष्पन्न माना भी है। मोनियर विलियम्स ने भी इन अर्थों वाली, रुद्र और रुध् (रुधिर में प्राप्त) धातुओं से इसे सम्बद्ध किया है[4]। इससे उक्त निर्वचन में भी संगति बैठ सकती है। इसके अतिरिक्त उक्त समस्त गुण अग्नि के लिए उपयुक्त प्रतीत होते हैं। वैदिक साहित्य[5] में रुद्र और अग्नि का एकत्व वर्णित है। महाभारत[6] और पौराणिक उल्लेखों[7] से भी रुद्र और अग्नि के एकत्व की पुष्टि होती है। डा० फतहसिंह ने यह माना है कि बाद के साहित्य में उपलब्ध महादेव-शिव अग्नि-रुद्र का ही विकसित रूप है[8]।

द्वितीय निर्वचन में √रुदिर् (अश्रुविमोचने) और √रु (शब्दे)—दो धातुओं का उल्लेख है अर्थात् रोने के कारण और रुलाने या चिल्लवाने के कारण रुद्र कहे जाते हैं। इसी प्रकार तृतीय निर्वचन में भी √रु और √द्रु (गतौ)—दो धातुओं का उल्लेख है। अर्थात् रोते रहने के कारण और भगाते या रुलाते रहने के कारण रुद्र कहे-

---

1. हरि. 2.74.22 2. तत्रैव।
3: हरि. 2.74.22 4 मो वि. 883–I
5. ऋक् 1.27 10, 2.1.6, 3 2.5: अथर्व 7.87.1, अग्निर्वै रुद्रः—श. ब्रा. 5.3.1,10; तु.—9.1 1.1, 6 1.3.18 में अग्नि के नव नामों में दोनों का परिगणन है। 2:3.2.9 में अग्नि के समिद्ध रूप को रुद्र कहा है। तै० स० 1.5.1, 2.6.6, 3.5.5, तै०ब्रा० 3.11 4 2,
6. रुद्रमग्नि द्विजाः प्राहु -महा. वन० 22.7.16
7. अग्निरित्युच्यते रौद्री घोरा या तेजसी तनुः— शिवपुराण। शिव (रुद्र) के ज्योतिर्लिंग का आविर्भाव रुद्र के अग्नि रूप से समता रखता है (शि० पु०, रु० सं.8.16)। त्रिपुरदहन (म०पु० अ० 131–138) कामदहन (ब्र० पु० अ०38) आदि रुद्र ने किया। इसके अतिरिक्त पौराणिक धारणा के अनुसार महादेव (रुद्र) यज्ञ (अग्नि) के अधिकारी हैं।
8. वै. एटी. पृ. 191

लाते हैं[1]। ये तीनों धातुएं वैदिक साहित्य[2] में उपलब्ध निर्वचनों में भी प्राप्त होती हैं। सर्वत्र रुद्र का रोने, चिल्लाने, रुलाने आदि से विशेष सम्बन्ध प्रकट किया गया है, किन्तु इसका कारण सुस्पष्ट नहीं है। फिर भी कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। निरुक्त के टीकाकार दुर्ग ने रुद्र को मेघ के सदृश शब्द करने वाला, शब्द करते मेघोदरस्थ होकर जलरूप में द्रवभूत होने वाला अर्थात् वर्षा करने वाला और शत्रुओं को रुलाने वाला कहा है। उन्होंने एक आख्यान की ओर भी संकेत किया है कि रुद्र अपने पिता प्रजापति के बाण से बींधे जाने पर रोये थे[3]। ऋग्वेद के एक स्थल[4] की व्याख्या करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है कि गर्जन-परवश यह रुद्र बार-बार शब्द करता है। स्वामी दयानन्द ने 'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः' विग्रह करते हुए लिखा है कि जो जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करने वाले जीव ईश्वर की न्याय रूपी व्यवस्था से दुःख रूप फल पाते हैं, तब रोते हैं। इस प्रकार ईश्वर उन्हें रुलाता है[5]। इसके अतिरिक्त अनेकत्र अनेकशः विग्रह देकर अर्थ-संगति बिठाने का प्रयास किया गया है। इन विग्रहों के आधार पर डा० मधु शर्मा ने अपने एक लेख में रुद्र कोसभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, न्यायाधीश, वैद्य, ब्रह्मचारी आदि बताया है[6]।

पुराणों में रुद्र के रोने के अन्य कारणों[7] और निर्वचनों[8] (प्रायः √रुद् और √द्रु से) का भी *आख्यान शैली में उल्लेख किया गया है,* जैसे *कूर्म पुराण* के अनुसार सिसृक्षु ब्रह्मा की गोद में एक नीललोहित कुमार उत्पन्न हुआ और वह रोने लगा। रोने का कारण पूछने पर उसने नाम रखने का आग्रह किया। ब्रह्मा ने नाम 'रुद्र' रखा। वह सात बार रोया और उसके सात नाम रखे गए[9]। ऐसा ही उल्लेख वायुपुराण में प्राप्त होता है[10]। इसका मूल शतपथ ब्राह्मण का वह स्थल प्रतीत होता है, *जहां उत्पन्न कुमार (रुद्र) से प्रजापति रोने का कारण* पूछता है और वह अपने नामकरण का आग्रह करता है[11]।

---

1. मो.वि.–पृ. 883–I भी देखें।
2. यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्–इति का. कम्। यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रविकम्। तु.–तै. सं. 1.5.1.1, श. ब्रा. 6.1.3.10, 9.1.1.6; यद्रोदयन्ति *तस्माद् रुद्राः–बृ. उप. 3.9.4; प्राणा वै रुद्राः प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति*–जै.उप.ब्रा. 4.2.6; नि. 10.5.2 आदि।
3. नि.दु. 10.5 तु.–स (प्रजापति) रुद्रेण विद्ध ऊर्ध्वं उदपतत्। तमेन मृगः इत्याचक्षते-ऐ.ब्रा. 3.33.
4. ऋक् 4.58.3
5. द.स पृ 14.
6. द्र.–दयानन्द भाष्य में रुद्र का स्वरूप-भाशोसा–II 3.3-4 पृ. 23=26 (लेख)
7. भा.पु. 3.12.7-20, कू.पु.पू. 10.22, मा.पु. 22.2,3; वि.पु. 1.8.4.
8. ब्र.वै.पु.–ब्र.ख. 22.20; लि.पु.पू. 1.1; भा.पु. 3.12 20 कू.पु.पू. 10.25; मा.पु. 22.4,5; म.पु. 171.37-38
9. कू.पु.अ. 10
10. वा. पु. म. 27
11. श. ब्रा. 6.1.3.7

निरुक्तगत निर्वचन के सन्दर्भ मे श्रीश्रीधर त्रिपाठी की √रा (दाने) धातु की कल्पना भ्रममात्र प्रतीत होती है[1]। काठक तथा कठकपिष्ठल[2] में √रुज् तथा हरिवंश के उपर्युक्त उद्धरण की नीलकण्ठ-कृत टीका में √रुध् धातुओं की ओर भी संकेत है,[3] जिनकी सत्ता सायण के ऋग्वेद भाष्य[4] एवं भट्ट भास्कर मिश्र के कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य[5] के निर्वचनों मे भी स्वीकार की गई है। किन्तु इनका निर्वाह महाभारत या पुराणादि में हुआ प्रतीत नहीं होता है। आगम-ग्रन्थ अहिर्बुध्न्य संहिता मे अवश्य √रुध् धातु के द्वारा निर्वचन किया गया है[6]।

व्याकरण के अनुसार रुद्र शब्द की सिद्धि उणादि प्रकरण में 'रुद्+णिच्+रक् से की गई है[7]। वेदभाष्यकारों[8], कोशकारों[9] द्वारा और यत्र तत्र पुराणों[10] मे भी अनेक प्रकार से विग्रह करते हुए 'रुद्र' पद के निर्वचन किये गए हैं, जिनमे रुज्, रुध्, द्रु, दु, रा, द्रु, रध्, रुद्, रु आदि धातुओं को भी संकलित किया गया है।

---

1. द्र—श्रीधर त्रिपाठी रुद्रनिर्वचनम्; दिव्यज्योतिः, अक्टूबर—नवम्बर 1971
2. काठक 25.1; कठकपिष्ठल-38.4-'रुद्रः तां (इषुं) व्यसृजत्। तया पुरसमरुजत्। यत्समरुजत्, तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'।
3. हरि. पृ. 341।
4. रुणद्धि आवृणोतीति सत् अन्धकारादि तद् दृणाति विदारयति।
5. रुक् तेजः तेजस्वी रुद्रः, रोधिका, बन्धिका मोहिका शक्तिस्तस्या द्रावयिता— द्र-पा. टि 4.
6. अहि उ. 58.32 7. रोदेर्णि लुक् च-उ. 2.179
8. सायण-'रोदयति सर्वमन्तकाले'। रुद्रः शब्दरूपोपनिषद् तामिदूंयते गम्यते प्रतिपाद्यते' रुत् शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्या आत्मा विद्या वा तामुपासकेभ्यो राति ददातीति (ऋग्वेद भाष्य)। भट्टभास्कर मिश्र-'रुतो नादान्ते द्रवति द्रावयति वा'। रुत्या वेदरूपया धर्मानवलोकयति प्रापयतीति वा'। 'रुतं शब्द वेदात्मानं ब्रह्मणे ददाति कल्यादौ तस्माद् रुद्रः।' (कृष्ण यजु', तत्तिरीय आरण्यक) कौण्डिन्य-'एतस्याभिलापस्य भयस्य वा द्रवणात् सयोजनात् रुद्रः-'पाशुपत रुद्रभाष्य 2.4 दयानन्द सरस्वती-' रुद्रय रोगाणां द्रवकस्य निःसारकस्य' रुद्रः रोगाणां प्रलयकृत्। महीधर-'रुत् दुःख द्रावयति रुद्रः। रु गतौ, रवणं रुत् ज्ञानं राति ददाति रुद्रः। रोदयति इति रुद्रः- शु. य सं. 16.1
9. रोदयत्यरीन्। रोदयत्यसुरान्। अ. सु, आदि।
10. रुद्दुःखं तद् द्रावयति-शि. पु. 6.9.14 'रोरूयते भृशं शब्दयते वा उच्यते वागालम्बनीभूतः प्रपञ्चो रुः, तस्य द्रावणात् लवणोदकन्यायात् प्रविलापनाद् वा रुद्रः। महा. हरि. नीलकण्ठटीका पृ. 341. इसके अतिरिक्त धर्म-ग्रन्थों में इन्हीं से मिलते-जुलते अथवा इनसे भिन्न अनेक विग्रह प्राप्त होते हैं-'रुति शब्द राति ददातीति प्राणो रुद्र' 'रुत्या वाग्रूपया वाच्यं प्रापयतीति रुद्रः' रुत्या प्रणवरुपया स्वात्मानं प्रापयतीति' 'रुत्या वेदरूपेण धर्मादीन् बोधयति वा रूपयति' 'रुद दुःखं द्रावयति विनाशयति'।

इस प्रकार 'रुद्र' शब्द के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि महाभारतीय निर्वचन वेदोक्त और ब्राह्मणादि मे प्रोक्त रुद्र धर्म के प्रतिपादक हैं। पुराणो मे भी इसका निर्वाह किया गया है, पर उनमे यत्र-तत्र दार्शनिक और साम्प्रदायिक प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। बाद के ग्रन्थों और उल्लेखों मे प्राप्त निर्वचन में रुद्र पर समारोपित धर्मों का प्रभाव अधिक से अधिकतम होता गया है। वेद का रुद्र, पुराण तक आते-आते, पशु, वन, पर्वत, श्मशान आदि का भी शक्तिशाली देव बन गया है।

33. रुद्राः

√रु+√द्रु से— 'ते रुदन्तो द्रवन्तश्च भगवन्तं पितामहम्।
रोदनाद् द्रावणाच्चैव ततो रुद्रा इति स्मृता[1]॥

रुद्र का बहुवचन में 'रुद्राः' के रूप में प्रयोग पृथक् स्थिति का द्योतक है, किन्तु उसका भी निर्वचन पूर्ववत् √रु और √द्रु से ही किया गया है। हरिवंश में इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा और सुरभि से बतलाई गई है और इनकी संख्या एकादश है—निर्ऋति, सर्व, अज, एकपात्, पिनाकी, दहन, ईश्वर, अहिर्बुध्न्य, भगवान्, कपाली और सेनानी। विभिन्न पुराणों मे इनके जन्मविषयक आख्यानों और नामों में मतैक्य नहीं है।[2] इनकी संख्या में भी मतभेद है। रुद्र कल्पद्रुम[3] में पांच, अथर्ववेद में सात, महाभारत और पुराणों मे प्रायः एकादश रुद्र हैं।[4] भागवत पुराण में कोटिशः रुद्र हैं, पर मुख्य एकादश हैं[5] वायु पुराण के अनुसार उत्पन्न होने के बाद ये रुद्र हजार-हजार के दल में रुदन और द्रवण कर रहे थे और वही उन्हें शतरुद्र नाम भी दिया गया है[6], जो यजुर्वेदीय शतरुद्रिय[7] का परिवृंहण या उससे परिगृहीत प्रतीत होता है।

इस प्रकार रुद्र के एकवचन और बहुवचन दोनों में ही निर्वचन किये गए है और वे वैदिक साहित्य और इतिहासपुराण ग्रन्थो में परम्परया सुप्राप्य हैं। उपर्युक्त विवेचन से डा० फतहसिंह की इस उक्ति की पुष्टि होती है कि 'रुद्र' के निर्वचन भाषा-विज्ञान की अपेक्षा दर्शन और धर्मशास्त्र से अधिक सम्बद्ध हैं।

34. वारुणी

वरुण+अण्+ङीप् से—

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन।
उत्पपात महाभागा मार्गमाणा परिग्रहम्[8]॥

---

1. हरि. 3.14.39. तु.–म.पु. 171.37-38
2. भा. पु. 3.12.7-20, 5.25.3, 6.6.7, ब्र. पु. 4.33.84-96, लि. पु. पू. 22.23, 24,
3. रुद्रा. पंचविधाः प्रोक्ताः, दा.वि.पृ. 117
4. ब्र.–वा. पु. 25.66
5. भा. पु. 6.6.10.
6. वा. पु. 10. 54-55
7. रुद्राष्टाध्यायी-पंचमाध्याय शतरुद्रिय है। इसे रुद्राध्याय भी कहते हैं। यह रुद्र का अस्त्र है—दा. वि. पृ. 119.
8. वा. रा. बाल. 45.35

अहं ते दयिता कान्ता वारुणी समुपस्थिता ।

....

समीपं प्रेषिता पित्रा वरुणेन तवानघ ॥[1]

वाल्मीकीय रामायण मे समुद्र-मन्थन के सन्दर्भ मे समुद्र से निकलने वाली वस्तुओ मे 'वारुणी' का भी उल्लेख हुआ है। उसे वरुण-कन्या कहा गया है और जिसकी प्रसिद्धि मदिरा या सुरा के रूप में है। इसे ग्रहण करने के कारण देवता 'सुर' कहलाए। विष्णु की एक संज्ञा वारुणीश[2] भी है। सुरा के न ग्रहण करने के कारण दानव 'असुर' कहलाए।[3] भागवत पुराण के अनुसार बाद मे असुरो ने भी हरि की अनुमति से उस कमललोचना कन्या वारुणी को ग्रहण कर लिया था।[4] ब्रह्मपुराण में इसे उदक की भगिनी भी कहा गया है।[5]

हरिवंश पुराण मे वारुणी की कथा अन्य प्रकार से प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण और संकर्षण दोनो एक बार गोमन्त पर्वत पर विचरण कर रहे थे, तो एक प्रफुल्ल कदम्ब से मद्यसंस्पर्शज गन्ध आई। देखा, तो कदम्ब-कोटर में वर्षा का जल मदिरा बन चुका था। अत: उसका नाम कादम्बरी रख दिया गया। उसके पान से मत्त होने पर तीन देवागनाएं आईं– वारुणी, चन्द्रकान्ति और श्री। वारुणी ने बलराम को अपना परिचय दिया कि इस रूप में मुझे पिता वरुण ने आपके पास भेजा है और फिर उसने (बलराम) का वरण कर लिया। भगवत के अनुसार भी बलराम के रमण-काल मे वरुण ने स्वयं इसे भेजा था।[6] ऐसा ही उल्लेख विष्णु पुराण में भी है।[7] साहित्य मे बलराम के स्वयं तथा पत्नी रेवती के साथ उत्कट मदिरा-पान के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[8]

उपर्युक्त दोनो उद्धरणों में अधातुमूलक तद्धित सम्मत निर्वचन दिये गये है, जिनका सम्बन्ध पृथक्शः आख्यानों से है। 'वरुणस्येयं वारुणी' विग्रह करके वरुण शब्द से अण् और फिर ङीप् प्रत्ययों से इसकी सिद्धि होती है।

प्राकृतिक पदार्थों में दैवी शक्ति की कल्पना और उनका मानवीकरण भारतीय-साहित्य की विशेषता रही है, जिसे वैदिक काल से बराबर देखा जा सकता है। मदिरा को वरुण की पुत्री बताकर और उसे दैवी साधनो से, दैवी शक्ति से या दैवी कृपा से उत्पन्न बताकर और इस प्रकार उसे मदिराधिष्ठातृदेवी के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। मोनियर विलियम्स के कोश में भी इसे 'गाडेस आफ स्पिरिचु-

---

1. हरि. 2.41.17-21
2. द्र.-मो.वि.।
3. वा. रा. बाल. 45.37 द्र.- ब्र. पु. 4.9.67-69
4. भा. पु. 8.8.30
5. ब्र. पु. 2.36.102-104
6. भा. पु. 10.65.19
7. वि. पु. 5.25; द्र.-1.9.94
8. मेघ. पूर्व 52; शि.व. 2.16 आदि।

अल लीकर' कहा गया है[1] और पत्नी या कन्या रूप में इसे वरुण-शक्ति का मानवीकृत रूप माना है।

35. विष्णु

1. √विष् (क्रमु) से— 'विष्णुर्विक्रमणादेव'[2]।
'क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञित:'[3]।

2. √विष् (गतौ-व्याप्तौ) से 'व्याप्य सर्वानिमांल्लोकान्स्थितः सर्वत्र केशव।
ततश्च विष्णुनामासि धातोर्व्याप्तेश्च दर्शनात्[4]॥

√वश (कान्तौ)से— गतिश्च सर्वभूतानां प्रजानां चापि भारत।
व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाप्यधिका मम[5]॥

3.वृहत् √विष्णु से— 'वृहत्वाद्विष्णुरुच्यते'[6]।
'अधिभूतानि चान्तेऽहं तदिच्छंश्चास्मि भारत'[7]।

विष्णु शब्द परमसत्ता का द्योतक है। वेद में यह एक सामान्य देव है, पर उसकी श्रेष्ठता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यह उसके निर्वचनों और कार्यकलापों से विदित होता है। उपरिलिखित महाभारतीय उद्धरणों मे मूलतः√विष्लृ (व्याप्तौ) को स्वीकार किया गया है। जहां इसका सीधा संकेत नही है, वहां भी उसमे गतिशीलता का प्राधान्य, अर्थ देकर या एतदर्थक अन्य धातु के निर्देश से, प्रदर्शित किया गया है। साथ ही इनमे उनका देवाधिदेवत्व और उनकी शक्तिमत्ता का संकेत किया गया है। अन्तिम निर्वचन में उनकी श्रेष्ठता का ही कथन है।

प्रथम निर्वचन से सम्बद्ध दोनों उद्धरणों में 'विष्णु' पद के साथ विक्रमण या क्रमण (√क्रमु पादविक्षेपे) के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि शब्द में कवि को गत्यर्थक√विष् अभिप्रेत है। यह धातु यद्यपि पाणिनीय धातु-पाठ में नही है, किन्तु ऋग्वेद में इसका प्रयोग बहुधा हुआ है। वेद मे इस देवता की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, उनमे भी उसकी गतिशीलता ही प्रधान है, जिसे उरुक्रमस्य[8], त्रिविक्रम.[9], त्रेधा विचक्रमाणः[10], विक्रमणेषु[11], एको विममे त्रिभिरित्पदेभि[12] आदि पदो से परखा जा सकता है[13]। इसी प्रकार विष्णु आदित्य रूप से पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश या द्युलोक-तीनो स्थानों में अथवा त्रिविध गुणों (सत्व, रजस्, तमस्,) से समन्वित समस्त प्राणिलोक में पादचारण करते हैं। इस प्रकार वामनावतार की

---

1. मो.वि. पृ 944-III
2. महा. 5.68 13
3. महा. 12.328.38
4. हरि.3.88 43
5. महा. 12 328.37
6. महा. ग. उद्योग 70/3
7. महा 12.328 38
8. ऋक् 1.154.5, 90.9, 5.87.4
9. तु.–बृ 2.64, श ब्रा. 1.1.2.13, 1.9.3.9
10. ऋक् 1.154.1, 2.1.3, 4.3.7,
11. ऋक् 1.154.2
12. ऋक् 1.154.3
13. श.ब्रा. 6.7 2.10, 6.7.4.10

पृष्ठभूमि उपर्युक्त उद्धरणों मे दिखाई पड़ती है। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को वामन कहा भी गया है[1]। पौराणिक साहित्य मे अवतार, दानवदलन, भक्तरक्षा के लिए भागना आदि मे विष्णु का उक्त रूप ही प्रकट होता है।

द्वितीय निर्वचन से सम्बद्ध प्रथम और द्वितीय उद्धरणों में तो दोनों अर्थों वाली √विष् को स्वीकार भी किया गया है। क्योंकि उसे सभी लोकों और प्रजाओं मे व्याप्त बताया गया है। ऋग्वेद मे इसे इन लोकों का निर्माता कहा गया है—'यः पार्थिवानि विममे रजांसि'[2]। इस उद्धरण के चतुर्थ चरण मे 'कान्ति' शब्द का उल्लेख होने से √वश (कान्तौ) भी कवि को ग्राह्य प्रतीत होती है। अहिर्बुध्न्य सहिता मे तो इस धातु से 'विष्णु' शब्द निरुक्त भी किया गया है[3]।

तृतीय निर्वचन के अनुसार विशालता, वैशिष्ट्य या गुणों को बताने के लिए विष्णु मे बृहत् पद की संयोजना की गई है। कूर्मपुराण मे इसे भिन्न शब्दावली मे व्यक्त किया गया है[4]। द्वितीय उद्धरण मे इन्हें 'अधिभूत' कहा गया है और सृष्टि का भरण-पोषण और पालन करने वाला प्रधान-देव माना गया है। वैदिक साहित्य मे अनेकत्र विष्णु को देवताओं का मुखिया कहा गया है[5]।

यद्यपि उपर्युक्त महाभारतीय निर्वचनों में √विश् (प्रवेशने) से यह शब्द निष्पन्न नही किया किया गया है, किन्तु वैदिक[6] और पौराणिक साहित्य[7] में इसकी भी स्थिति स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त इस शब्द को अनेक विद्वानों ने अनेक धातुओं से सम्बद्ध करना चाहा है। उदाहरणार्थ यास्क ने[8] √विश् (प्रवेशार्थक), वि+√अश् (व्याप्त्यर्थक) और √विष् (व्याप्त्यर्थक) से, शौनक ने[9] √विष् (विप्रयोगार्थक)[10], √विश् तथा √ विष् से, सायण ने √विश-विष् से, अहिर्बुध्न्य सहिता मे √वश (कान्त्यर्थक) √इष्(इच्छार्थक), √विष् √विश √विचिर् (पृथग्भावार्थक) तथा √वी (गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनार्थक)+ ∠पच् (समवायार्थक और सेचनार्थक)+ष्णु (प्रस्रवणार्थक) के समुदय से, महाभारत[12] (गी. प्रे.) की पाद-

---

1. श.ब्रा. 1.2.5.5 13.2.2.9 2. ऋक् 1.154.1
3. कान्तिर्नाम गुणः सोऽयं वशेर्धातोर्निरूपणात्—अहि.उ. 40-41
4. विभुत्वाद् विष्णुरुच्यते-कू.पु.पू. 4.63; 5.12
5. तै. सं. 1.7.5.4, वा. सं. 1.30, 5.21, अथर्व 5.26.7
6. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्-तै. उप. 5.6; तद् यद् एव विशतीव विदुः ह्यस्य वैष्णव रूपम्-कौ. ब्रा. 8.2
7. विष्णुः सर्वप्रवेशनात्-लि. पु. 70.90, वा. पु. 5.33; द्र.-म. पु. अ. 2; वि. पु. 2.1.45
8. नि. 12.18 9. बृ. 2.69
10. 'विष्णाति वियुनक्ति भक्तान् मायापसरणेन संसारादिति'।
11. अहि. उ. 52.37-45 12. महा. गी. प्रे. पृ. 5364 (पा. टि.)

टिप्पणी में √ विच्छ (गत्यर्थक, दीप्त्यर्थक, भाषार्थक) √विषु (प्रवेशार्थक) √ष्णु (प्रस्रवणार्थक) से कुछ लोगों ने विष्णु के सादृश्य (Analogy) पर, वि+स्नु से भी बनाना चाहा है। ग्रोल्डन बर्ग ने[1] वि+स्नु (विस्तृत उद्योग करना) से, ब्लूमफील्ड[2] ने वि+स्नु (सानु=चोटी)[3] से अर्थात् उच्चतम चोटी पर चढ़ने वाला, मैकडानल[4] ने विश् (उद्योगी या व्यवसायी होना) से तथा दयानन्द ने विष्लृ (व्याप्त्यर्थक) से इसका निर्वचन स्वीकार किया है[5]।

इस प्रकार विष्णु पद में प्रवेश, व्याप्ति, विमुक्ति, कान्ति, इष्टि, समवाय, सेचन, प्रस्रवण, गति, दीप्ति, वाक्, उद्योग, आरोह या उन्नति आदि अर्थ समाहित हैं। ध्येय है कि इन सभी में उसकी गतिशीलता ही प्रधान है, जो वेद से लेकर अब तक के सभी निर्वचनों में दृष्टिगत होती है।

36. वृषाकपि

वृष+कपि— कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः 6॥
कपिः श्रेष्ठ इति प्रोक्तो धर्मश्च वृष उच्यते।
स देवदेवो भगवान् कीर्त्यतेऽतो वृषाकपिः[7]॥

महाभारत में भगवन्नामों में 'वृषाकपि' शब्द आया है। प्रदत्त निर्वचन के आधार पर यह शब्द वृष और कपि दो पदों से बना है, जिन्हें अर्थ देकर स्पष्ट किया गया है—वृष धर्म तथा कपि—श्रेष्ठ और वराह। अर्थात् श्रेष्ठ धर्म से सम्पन्न अथवा (सब देवों में) श्रेष्ठ और धर्मस्वरूप भगवान्। द्वितीय पद का प्रदत्त अर्थ कोशों से पुष्ट नहीं होता है, पर इस प्रकार विशिष्ट अर्थ देना पौराणिक निर्वचनों की एक विशेषता है[8]। फिर भी यदि विचार किया जाय, तो कपि में √पि (गतौ) से गमनीय या कमनीय अर्थ करके[9] अथवा उसमें √पा (रक्षणे) कल्पित करके श्रेष्ठत्व का अर्थ आरोपित किया जा सकता हैं। इसी प्रकार कम्पन अर्थ से भी श्रेष्ठत्व की संगति बैठती है, जैसा कि वैयाकरणों द्वारा प्रदत्त विग्रहों से स्पष्ट होता है[10]। इसके अतिरिक्त 'कपि' और 'वराह' दोनों पद विष्णुवाची हैं[11]। विष्णु का श्रेष्ठत्व असन्दिग्ध है। अमरकोश में वृषाकपि को 'हर' और 'विष्णु' दोनों का वाचक कहा

---

1. वै. एटी. पृ. 217 2. तत्रैव।
3. द्र.-माइथालाजी आफ आल रेसेज-इण्डिया पृ. 29. सानु=पृष्ठ-'संसार के पृष्ठ को पार करने वाला-हि. धा. पृ. 63
4. वै. एटी. पृ 217
5. द.स., द्र.-पृ. 10 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगतः'।
6. महा. 12.330.24 7. महा. ग. द्रोण 202.136
8. द्र.-अ. 1, अनुच्छेद 30 क (II) 9. द्र-नि. 3 18 में कपिञ्जल शब्द
10. द्र.-पृ. 109.
11. 'कपिर्ना सिह्लके शाखामृगे च मधुसूदने' इति विश्वमेदिन्यौ।
'वराहो""""मेघे मुस्ते गिरौ विष्णौ-इति हैमः।

गया है[1]। वही उनकी पत्नी वृषाकपायी[2] का अर्थ गौरी और श्री दोनों किया गया है[3]। शब्द कल्पद्रुम मे इसका अर्थ विष्णु, शिव, अग्नि, इन्द्र और सूर्य दिया गया है, क्योंकि साहित्य में इन सबके लिए इसका प्रयोग हुआ है[4]। एकादश रुद्रों मे भी यह अन्यतम है[5]। ऐतरेय ब्राह्मण मे इसका एक अर्थ 'आत्मा' दिया है[6]। ऋग्वेद के एक सूक्त मे इसे इन्द्र का मित्र कहा गया है[7]।

वैदिक साहित्य मे भी इसके निर्वचन प्राप्त होते हैं। गोपथ ब्राह्मण मे √वृष (वृषा) और √कपि से[8] तथा निरुक्त मे मात्र उत्तरपदीय धातु का उल्लेख करके इसकी निष्पत्ति की गई है[9]। पूर्वपदीय धातु का निर्देश टीकाकार दुर्ग ने किया है अर्थात् जो अवश्याय (ओस) का बरसाने वाला और रश्मियों से भूतों को कंपाने वाला होता है[10]। बृहद्देवता मे वृषा को वर्षिष्ठ (उच्चतम) बताया गया है, जो रश्मियों से कम्पित करते हुए जाता है[11]। वही 'कपि' का अर्थ 'कपिल'[12] करते हुए लिखा गया है कि वह कपिल वृषभ का रूप धारण करके आकाश में ऊपर चढ़ता है। इस प्रकार 'कपि' के धात्वर्थ 'चलना' को भी अपनाया गया है।

सम्भव है कभी √वृष धातु धारणार्थक भी रही हो, जिससे वृष या वृषा का अर्थ 'धर्म' प्रचलित रहा है—'वृषो हि भगवान् धर्मः'[13]। शाब्दी निरुक्तिकार वैयाकरणों ने इसी अर्थ से सम्बद्ध विग्रह प्रस्तुत किये हैं —' वृषो धर्मस्तस्याकपिः अकम्पिता'[14] 'वृषाद्धर्मादाकम्पयति दुष्टान्' 'वर्षति कामान्..........आकम्पयति पापानि वृषश्चासौ अकपिश्च'। 'वृषा इन्द्रः, कम्पते अस्मात्'। 'वृषो धर्मः वृषा इन्द्रो वा कपिरिति वशे यस्य'। वृषरक्षकः कपिर्वराहः'। 'वृष्णः इन्द्रस्याकं वृषाकं पियति (√पि गतौ) इन्द्रदुःखं प्राप्नोति प्रापयति वा दैत्यान् रक्षकत्वात्' आदि। साथ ही शब्दसिद्धि के लिए धातु, प्रत्यय और दीर्घत्व आदि के ससूत्र निर्देश दिये हैं[15]। इस

---

1. हरो विष्णुर्वृषाकपिः—इत्यमरः। वृषाकपिः पुमान् कृष्णे शंकरे जातवेदसि-इति मेदिनी।
2. नि. 2.8.4, पा. 4.1.37
3. वृषाकपायी श्रीगौर्योः-इत्यमरः।
4. भा. पु. 10.1.20, 6.6.17, वि. पु. 1.15.124 तु.—ऋक् 10.86.21 गो. ब्रा. 2.6.12
5. वि. पु. 1.15.124, भा. पु. 6.6.17 आदि
6. आत्मा वै वृषाकपिः—ऐ. ब्रा. 6.29, वै एटी—पृ. 218
7. ऋक् 10.86.12; तु.—सखाऽभवत्स चेन्द्रस्य अब्जकः स वृषाकपिः—ब्र. पु. 129.99
8. गो. ब्रा. 2.6.12
9. नि. 12.27
10. तत्रैव—दुर्ग-टीका।
11. बृ. 2.67
12. √कपि+इलच्—धा.क., पृ. 119
13. महा. 12.330.23
14. धा. क. पृ. 119
15. अ. सु. 3.3.103-पृ. 419

सबसे यह प्रतीत होता है कि इस शब्द का निर्वचन प्रारम्भ से ही विवादास्पद रहा है। आर्थी निरुक्तियों मे अपनी शैली के अनुसार अर्थ-संगति बिठाई गई है, किन्तु शाब्दी निरुक्तियों मे आर्थी संगति बिठानी पडती है, भले ही उसके लिए क्लिष्ट कल्पनाएं या द्रविड प्राणायाम करना पड़े–यहा यह द्रष्टव्य है।

37. शाकम्भरी

शाक+(भृ) से– दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रत।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप॥
ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधना।
आतिथ्यं च कृतं तेषा शाकेन किल भारत॥
ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम्[1]॥

महाभारत के तीर्थयात्रा पर्व मे त्रिशूलखात तीर्थ के आगे शाकम्भरी देवी का सन्दर्भ आया है और वहां उक्त प्रकार से निर्वचन दिया गया है कि उन्होने सहस्र दिव्य वर्ष तक शाक का आहार किया और अभ्यागत तपस्वियो आदि का आतिथ्य भी शाक से ही किया। अर्थात् शाक[2] से स्वयं का और सभी का भरण पोषण उस देवी ने किया। अतः 'शाकम्भरी' नाम पड़ा। यहा शाकम्भरी शब्द के पूर्वपद का स्पष्ट उल्लेख किया गया है और उत्तर पद का व्याख्यान किया गया है, जिसमे √'भृ' धातु की ओर स्पष्ट संकेत है। अन्यत्र पुराणो मे भी इस शब्द के निर्वचन प्राप्त होते है, वहां ∠'भृ' धातु का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत वायु पुराण के निर्वचन में लोकों का समूलशाक से भरण करने के कारण 'शाकम्भरी' (शाक+√भृ) कहा गया है[3]। इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण में लिखा है कि वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाइसवें युग में एक बार सौ वर्ष के लिए वर्षा रुक गई। उस समय शरीर से उत्पन्न शाकों के द्वारा ससार का वर्षा होने तक, भरण-पोषण करने वाली देवी का नाम 'शाकम्भरी' (शाक+भृ) पडा[4]। यह दुर्गा का अपर नाम है। बारहवी शताब्दी के अन्तिम दशक मे श्री जयानक विरचित 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' मे इसके नाम का आधार शकम्भर विद्याधर भी बताया गया है, जिसकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए देवी ने यह नाम स्वयं रख लिया था[5]। निश्चय ही यह नामकरण कविकल्पनाप्रसूत है।

व्याकरण में यह शब्द 'शाकेन बिभर्ति' विग्रह करके शाक+√भृ+खश्+ङीप्' से सिद्ध होता है[6]।

---

1. महा. 3.82 12-13
2. 'शाक' शब्द से वनस्पतियों की कन्द, मूल, फल, पत्र आदि समस्त खाद्य सामग्री का ग्रहण होता है–द्र–आप्टे कोश
3. श. क., वा. पु. अ. 53
4. मा. पु. 91.46
5. पृ. वि. 4.65
6. श. क.।

राजस्थान मे शाकम्भर (सांभर) स्थान है जहां से सांभर नमक प्राप्त होता है। वहा शाकम्भरी देवी का मन्दिर भी है। सुरजनचरित महाकाव्य मे इसका उल्लेख आया है।[1] भागवतपुराण मे शाकम्भरी ओषधि के गुण बतलाए गए है।[2]

उल्लेख्य है कि उपर्युक्त महाभारतीय और पुराणगत सन्दर्भों मे 'शाक' का प्रति सामान्य अर्थ लेकर उसके निर्वचन किये गए हैं, जिसकी पुष्टि कोशो से भी होती है, पर 'शाक' (√शक् से निष्पन्न) का शाब्दिक अर्थ शक्ति भी होता है[3]। दुर्गा शक्ति की प्रतीक है। उसने अपनी शक्ति से समस्त दैत्यो का संहार करके लोक का भरण या पालन-पोषण या सरक्षण किया था। वस्तुत: दुर्गा को 'शाकम्भरी' नाम इसीलिए दिया गया होगा, किन्तु इस रूप मे इस शब्द का निर्वचन उपर्युक्त उद्धरण मे या अन्यत्र पुराणो में उपलब्ध नही होता। आगम ग्रन्थों में यत्र तत्र इस पर विचार हुआ है। श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य ने 'शाक' शब्द की उक्त अर्थ में अच्छी व्याख्या की है। उन्होंने शाकका पुंल्लिगपरक अर्थ शिव[4] तथा स्त्रीलिंगपरक अर्थ शक्ति किया है। उन्होंने सब कुछ शिव और शक्ति से पूरित बताकर 'सिद्धिमहारहस्यम्' में शाकम्भरी का निर्वचन अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।

शाकेन भरितं सर्वं शाकरूपमहम्महः।
शाकम्भरीति विख्यातं शिवं विजयते परम्[5] ॥

शाक शब्द को और स्पष्ट करते हुए उन्होने उसे तान्त्रिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, भौतिक सब प्रकार के बल का प्रतिष्ठान एवं ऐहिक तथा आमुष्मिक आश्रय कहा है। इस दृष्टि से 'शाकम्भरी' का अर्थ प्रचलित निर्वचन के आधार पर गृहीत अर्थ की अपेक्षा सुसंगत और आकर्षक प्रतीत होता है।

इस प्रकार शाकम्भरी का निर्वचन दुर्गा की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए पुराणों मे अतिसामान्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। कवियो को सम्भवतः यह बहुत संगत नही प्रतीत हुआ। अत: उन्होने इस शब्द को अपने ढंग से प्रस्तुत किया। श्रीसिद्धिमहारहस्यम् में यौगिकार्थ के द्वारा उसके मूल भाव की रक्षा और शिव-शक्ति की सार्वभौम सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

---

1. सु. च. (चतुर्थ सर्ग) में शाकम्भरी और लवणाकर का वर्णन है। यहां लवणाकर का निर्माता विश्वपति है, जबकि पृथ्वीराज विजय (चतुर्थ-पंचम सर्ग) मे राजा वासुदेव।
2. शाकम्भरीयं कथितं गडाख्यं रोमकं तथा।
   गडाख्यं लघु वातघ्नमत्युष्णं भेदि पित्तलम् ॥
   तीक्ष्णोष्ण चापि सूक्ष्मं चाभिष्यन्दि
   कटुपाकि च 11–भा. पु., पूर्वखण्ड, मिश्रप्रकरण 6.242
3. द्र–मो.वि. पृ. 1061–III; आप्टे पृ 550; सि. म. 20, 27, 32
4. सि. म.–29, 32, 38, 40, 53, 68,
5. सि. म.–43

38. सत्य—

सत्य— 'सत्ये प्रतिष्ठित: कृष्ण: सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ।
सत्यासत्यं च गोविन्दस्तस्मात्सत्योऽपि नामतः[1] ॥

सत्—इ) (आ√विश् पे–
सच्चासच्चैव कौन्तेय मयावेशितमात्मनि ।
पौष्करे ब्रह्मसदने सत्यं मा ऋषयो विदु.[3] ॥

प्रथम उद्धरण मे परमात्मा कृष्ण के लिए प्रयुक्त अभिधान सत्य का निर्वचन तो नहीं किया गया है, पर सत्य और कृष्ण का एकात्मत्व बताते हुए एक दूसरे का पर्याय स्थिर कर दिया गया है। यह शैली इतिहासपुराण ग्रन्थो मे अनेकत्र प्राप्त होती है।[3] द्वितीय उद्धरण मे भी निर्वचन स्पष्ट नही है, पर उससे ईश्वर का सत्यभाषित्व प्रकट होता है।

तृतीय उद्धरण में सत् को निष्पन्न शब्द के रूप मे स्वीकार करके उत्तर पद मे √इण् (गतौ) धातु अभिप्रेत प्रतीत होती है, क्योंकि उसके पर्याय के रूप मे √विश् के ण्यन्त रूप का प्रयोग किया गया है। निरुक्त मे आचार्य शाकटायन ने भी उत्तर पद मे √इण् के ण्यन्त प्रयोग को ही स्वीकार किया है। पूर्वपद मे √अस् (भुवि) का शतृरूप स्वीकार किया गया है, जैसा शाकटायन ने भी निर्दिष्ट किया है। अर्थात् उन्होने इस एक शब्द में दो धातुएं मानी हैं। निरुक्त में ही अन्यत्र सत् (अस्)+तनु (विस्तारे) से[5] अर्थात् जो अच्छे लोगों मे फैलता है अथवा जो विद्यमान वस्तुओं में फैलता है और सत् (अस्) से—अर्थात् जो सत् से उत्पन्न होता हैं—निष्पन्न किया गया है। दोनो मे ही यास्क की धातुज प्रवृत्ति स्पष्ट है, जो प्रत्ययों मे भी दृष्टिगत होती है।[6]

सत् और सत्य दोनो को 'ब्रह्म' का रूप माना जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे सत्य शब्द को सत् और यत् से निष्पन्न करते हुए उसे मूर्त-अमूर्त, स्थिर-गतिशील स्वरूप ब्रह्म का रूप माना गया है।[7] विष्णुपुराण मे भी ब्रह्म के अमूर्तरूप को सत् कहा गया हैं।[8] महाभारत के उक्त उद्धरणों मे तथा अन्यत्र[9] ब्रह्म के विष्णु, कृष्ण आदि अन्य पर्यायों के लिए भी सत्य या सत् का प्रयोग होता है।

---

1. महा. 5.68.12
2. महा. 12.330.10 (महा चि. 12.342.75)
3. महा. 12.330 11
4. भा. पु. 10.1; कू. पु. पू. 51.30 आदि।
5. नि. 1.13 3 द्र-दुर्ग-टीका भी। 6. नि. 3.13.19
6. एटी. या.-पृ. 55 और 95
7. बृह. उप. 2.3.2; तु-शा. ब्रा. 14.8.6.2
8. वि.पु. 6.7.69 9. गीता 17.23; ब्र.पु. 3.3.115; द. स पृ 17

व्याकरण मे सत्य को 'सते हितम्' या 'सति साधु', विग्रह करते हुए सत्+यत् से सिद्ध किया गया है।[1] किन्तु इस अवस्था मे यह शब्द आद्युदात्त होगा।[2] जब कि यह शब्द अन्तोदात्त है। आचार्य सायण ने अनेकत्र[3] इसकी व्युत्पत्तिया दी हैं—'सत्सु साधुः' 'सत् क्रियमाणं कर्म तत्र साधुः' 'सत्स भवो वा', सत् फल तदर्हतीति वा'। उन्हें भी यह शब्द अन्तोदात्त ही अभिप्रेत है। अतः उन्होंने पद-मञ्जरीकार हरदत्त के मत का संकेत किया हैं कि यह शब्द य प्रत्ययान्त है—सत्+या। पाणिनि ने भी 'सत्यादशपथे'[4] सूत्र मे इसे अन्तोदात्त पढ़ा हैं—सत्सु साधुः सत्यम् प्राग्घितीये यति प्राप्तेऽस्मादेव निपातनाद् यः। अन्तोदात्तो हि सत्यशब्दः 'सत्येनोत्तभिता भूमिः[5] 'ऋतञ्च सत्यञ्च'[6] आदि[7]। इसके अतिरिक्त वर्णों के पारिभाषिक अर्थ देकर धर्मशास्त्रीय व्याख्याएं भी प्राप्त होती हैं जैसे 'पृथिव्यप्तेजोमय सत्' और वाय्वाकाशमय 'त्य' से भूतपचकार्थक 'सत्य' पद बनता[8] है, आदि।

इस प्रकार सत्य शब्द का मूल निर्वचन वेद से लेकर अब तक पूर्णतः सुरक्षित है। धर्माधिष्ठाताओ के द्वारा तत्तद्धर्मानुकूल दार्शनिक व्याख्याएं अवश्य की गई हैं, जिससे उसका विकसित रूप ही स्पष्ट होता है।

39. सीता

सीता— अथ मे कृषतः क्षेत्र लांगलादुत्थिता मम।
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा[9]॥

रामायण में धनुर्भंग के प्रसग में राजा जनक ने विश्वामित्र से सीता का परिचय देते हुए बतलाया कि वह भूतल से-हल की कूंड से उत्पन्न कन्या हैं, अत. नाम सीता है। इस प्रकार काव्यकार ने उसके निर्वचन की ओर संकेत किया है, क्योंकि सीता का वास्तविक अर्थ हल द्वारा किया गया चिन्ह या कूंड ही होता है और इसी अर्थ मे ऋग्वेद[10], अथर्ववेद[11] तथा अन्य संहिताओ[12] मे प्रयुक्त होता रहा है। यह कृषि-देवता और हल की फाड या कूंड के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। धीरे-धीरे

---

1. श क.। अ. सु
2. यतोऽनाव—पा. 6.1.213
3. ऋक् 1.1.5; 1.145 5
4. पा. 5.4.66
5. ऋक् 10।85।1
6. ऋक् 10.190.1
7. द्र.-ऋक् 5.25 2; मु उप. 3.1.6
8. भा. पु. 10.1 मे सत्ययोनि की श्रीधरस्वामी की व्याख्या-'सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि त्यशब्देन वाय्वाकाशौ। एवं सच्च त्यच्च सत्यं भूतपंचकम्। तु.-पृथिव्यप्तेजासि सत् वाय्वाकाशौ त्य तदुभयात्मत्वाद् वा सत्यं मामाहमित्यर्थ.—नीलकण्ठ—महा. चि. 12.342.76 पृ. 720
9. वा रा. बाल 66.13-14
10. ऋक् 4.57.6,7
11. अथर्व 11.3.12
12. तै.सं. 5.2.5; 6.2.5 का.सं. 20.3 वा.सं. 12.69-72 आदि।

प्रथम अर्थ लुप्त होता गया। उत्तरवर्ती साहित्य[1] मे यह द्वितीय अर्थ में अधिक प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र में एक स्थल पर प्रथम अर्थ द्रष्टव्य है—'सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च'[2]। अन्यथा यह वहां भी अपने द्वितीय अर्थ में या भूमि की उपज अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है[3]। जो प्राणियों का आधार होता है। सम्भवत. इसीलिए सीता को 'प्राण' भी कहा गया है[4]। पाणिनि ने सीता शब्द का प्रयोग हल की जोत मे आए खेत के अर्थ में किया है[5]। इस प्रकार जनक-नन्दिनी का सीता नाम जन्म-स्रोत के कारण रखा गया था, वास्तविक नाम कोई अन्य रहा होगा। अन्य पुराणों[6] मे भी सीता-जन्म की कथा उक्त प्रकार से लगभग एक सी प्राप्त होती है। विष्णु पुराण[7] के अनुसार जनक की कई पीढी बाद हुए सीरध्वज को सन्तानार्थ यज्ञभूमि जोतते समय मिली कन्या का नाम सीता रखा गया था। अन्यत्र उसे जनक की अयोनिजा पुत्री कहा गया है[8], जबकि शतपथ ब्राह्मण मे रूपकात्मक दृष्टि से सीता या हल की कूंड को योनि-स्वरूप कहा गया है[9], जिसका निर्माण बीज के लिए किया जाता है।

रामायण में यह अधातुमूलक और आख्यानपरक निर्वचन है। व्याकरण मे इसे√षिञ् (बन्धने) और√षो (अन्तकर्मणि) से क्त प्रत्यय और निपात या बाहुलक से दीर्घ करके बनाया गया है। मोनियर विलियम्स ने√सी (=सीधी रेखा खींचना) धातु की भी कल्पना की है, जो धातु पाठ में प्राप्त नहीं है। कहीं कहीं तालव्य आदि 'शीता' शब्द भी प्राप्त होता हैं, जो 'शेते भुवि' विग्रह करके √शीङ् (शयने) से भी व्युत्पन्न किया गया है[10]। अथर्ववेदीय गीतोपनिषद् मे सीता को मूल प्रकृति बताते हुए उसकी एकाक्षरा व्याख्या भी की गई है। तदनुसार 'स' को सत्य और अमृतरूप विष्णु, 'ई' को योगमाया और दीर्घमात्रायुक्त त अर्थात् 'ती' को महालक्ष्मी का स्वरूप प्रकाशमय एवं विस्तारकारी (जगत्स्रष्टा) कहा गया है। यहा उनके तीन स्वरूप बताए गए हैं—प्रथमतः शब्दब्रह्ममयी बुद्धि स्वरूपा है। द्वितीयतः वह पृथ्वी पर महाराज जनक की यज्ञभूमि मे हलाग्र से उत्पन्न हुई है। तृतीयतः वे ईश्वर स्वरूपिणी अव्यक्त स्वरूपा रहती है। ये तीनो रूप समन्वित रूप मे सीता हैं। रामायण को यह निर्वचनप्रक्रिया अभिप्रेत प्रतीत नही होती, अन्यथा वह इस का इसी प्रक्रिया से मिलता-जुलता कुछ विस्तृत रूप प्रस्तुत करते। तो भी सीता

1. कु. 5.61
2. अर्थ 2.24
3. अर्थ. 2.15 आदि।
4. श.ब्रा. 7.2 3.3.
5. सीतया संगतं क्षेत्रं सैत्यम्–पा. 4.4.91 विशेष द्र.–पा.क.भा-पृ. 199
6 पद्म पु पातालखण्ड, वा.पु.उ–27, ब्र.पु, अ पु. शि.पु आदि
7. वि.पु. 4.5 28
8. वि पु. 4.4.93
9. श ब्रा. 7.2.2.5
10. शीता नमः सरिति लांगलपद्धतौ च शीता दशाननरिपोः सहधर्मिणी च। शीत स्मृतं हिमगुणे च तदन्विते च शीतोऽलसे च बहुवारतरौ च दृष्टः॥ अ. सु से उद्धृत। द्र.–शक.।

की जो प्रतिष्ठा रामायण मे है, उस में गीतोपनिषद् की व्याख्या संगत मानी जा सकती है।

40. हनुमान्

हनु+(मतुप्) से— 'क्षिप्तमिन्द्रेण ते वज्रं क्रोधाविष्टेन धीमता।
तदा शैलाग्रशिखरे वामो हनुरभज्यत।
ततो हि नामधेयन्ते हनुमानिति कीर्त्यते[1]।।
'हस्तान्तादतिमुक्तेन कुलिशेनाभ्यताडयत्।
ततो गिरौ पपातैष इन्द्रवज्राभिताडितः।
पतमानस्य चैतस्य वामो हनुरभज्यत[2]।।
'मत्करोत्सृष्टवज्रेण हनुरस्य यथा हतः।
नाम्ना वै कपिशार्दूलो भविता हनुमानिति[3]।।
'पतितस्य कपेरस्य हनुरेका शिलातले।
किंचिद्भिन्ना दृढहनो (नु) र्हनुमानेष तेन वै[4]।।

रामायणगत आख्यान के अनुसार मानवेतर पात्र और अब देवस्वरूप मे प्रतिष्ठित हनुमान् का निर्वचन कई स्थलों पर दिया गया है, किन्तु उनका प्रकार और आधार लगभग एक-सा है। किष्किन्धा काण्ड मे सीतान्वेषण के सन्दर्भ में हनुमान् की जन्मकथा वर्णित है। तदनुसार पुञ्जिकास्थला नामक अप्सरा शापवश अञ्जना वानरी हुई, जो केसरी नामक वानर की पत्नी बनी। मानवी रूप मे विचरण करते इसे वायु ने देखा और कामवश आलिङ्गन किया। वायु ने उस क्षुब्ध अञ्जना को महाबलवान् तथा बुद्धिमान्-पुत्र की प्राप्ति का वचन दिया, जिसका जन्म कन्दरा मे हुआ था। एक बार वह सूर्य को फल समझकर उसे लेने के लिए उड़े, तो इन्द्र ने वज्रप्रहार किया, जिससे वह पर्वत पर गिरे और वाम भाग की हनु टूट गई या टेढ़ी हो गई। इसके फलस्वरूप 'हनुमान्' नाम हुआ।

इसी प्रकार अन्य उद्धरणों के सन्दर्भों मे भिन्न शब्दावली में आख्यान प्राप्त होते हैं। उत्तरकाण्ड मे इन्द्र के वज्र से मृत अपने पुत्र के शोक जन्य विरोध मे वायु ने अपना सञ्चरण बन्द किया, तो ब्रह्मादि देवो ने हनुमान् को जिलाया और वर दिये। युद्ध-काण्ड मे राम की सेना का परिचय कराते हुए सारण ने रावण से हनुमान् के विषय मे भी बताया, जिसमे वैशिष्ट्य यह है कि 'हनु' के टूटने का कारण इन्द्र के वज्र-प्रहार को नही, अपितु सूर्य को न पकड़ पाने से उदयाचल पर गिरना बताया गया है। यह उपरिप्रदत्त अन्तिम उद्धरण मे संकेतित है। यहां 'दृढहनु' विशेषण निर्वचन पर भी प्रकाश डालता है अर्थात् जिनकी 'हनु' अत्यन्त दृढ़ थी।

---

1. वा.रा.कि. 66 24-25
2. वा.रा. उत्तर 35.47
3. तत्रैव 36.11
4. वा.रा. युद्ध 28.15

मानव और वानरादि के शरीर में 'हनु' (ठोढ़ी) की सत्ता सामान्य रूप से होती है, फिर 'मतुप्' प्रत्यय के द्वारा उससे युक्त वानरेन्द्र को ही क्यों बताया गया है ? वस्तुतः अंगविशेष में कुछ वैशिष्ट्य होने के कारण भी व्यक्तियों के नाम पड़ जाते हैं, जैसे पुण्डरीकाक्ष, कुबेर, चतुर्मुख, महाबाहु, कबन्ध, कुम्भकर्ण, सुग्रीव, करी, चक्षुःश्रवा आदि। यहां हनु के दृढ़ होने से या उसके टूटने के कारण टेढ़ी हो जाने से यह नाम पड़ा—यह स्पष्ट है । अतः यह भी आकृतिपरक नाम है ।

थाइलैण्ड की रामकियेन रामायण[1] में 'हनु' के टेढी होने का कारण जोंक का दंश बताया गया है, जो नारद की प्रेरणा से शक्ति-परीक्षण हेतु हनुमान् की हनु में चिपक गई थी[2] ।

जैन साहित्य में 'हनु' के तत्सम या तद्भव रूप को स्वीकार करते हुए निर्वचन दिये गए हैं, । पउमचरिम[3] के अनुसार यह नाम उन्हे (विद्याधर वंशज) हनुरुहपुर मे रहने के कारण मिला । गुणभद्र के उत्तरपुराण[4] मे अणिमा शक्ति से सम्पन्न होने के कारण 'अणुमान्' का विकसित रूप 'हनुमान्' बताया गया है ।

इसी प्रकार कुछ अन्य विचार भी प्रस्तुत किये गए हैं, जैसे हनुमान् वैदिक वृषाकपि (या इन्द्र या अग्नि या मरुत्) से अथवा द्रविड शब्द आणमन्दि या आणमन्ति (नरकपि) से[5] अथवा मलेशिया रामायण के हंडुमान्[6] (अण्डमान द्वीप के लिए प्रयुक्त) से सम्बद्ध है । ये सब विचार हनुमान् के महत्त्व को अवश्य द्योतित करते है, पर इनसे प्रस्तुत सन्दर्भ मे निर्वचन पर कोई विशेष प्रकाश नही पड़ता ।

इस शब्द के विषय में व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर अन्य निष्कर्ष निकलता है । शब्द का पूर्वपद 'हनु' √हन् (हिंसागत्यो) से उणादि मे निष्पन्न होता है[7] । निरुक्त मे भी यही धातु स्वीकार की गई है—'हनुर्हन्तेः[8], अर्थात् हिंसा और गति के प्राधान्य से युक्त हनुमान् थे । इनकी उत्पत्ति और कर्मों को देखकर शब्द के यौगिकार्थ पर प्रकाश पड़ता है । सूर्य को पकड़ने की अभिलाषा, इन्द्र द्वारा वज्र-प्रहार, समुद्रलंघन, सीतान्वेषण, सुरसा आदि को नष्ट करना, लंका-दहन, अशोक-वन-उच्चाटन, युद्ध मे दानवों की हिंसा, यथेच्छ महान् या लघु रूप धारण करना, संजीवनी ओषधि लाना आदि कृत्यों को देखकर उक्त बात की पुष्टि होती है । रामायण में स्वयं भी स्वीकार किया गया है कि (अलौकिक) कृत्यों के कारण ही हनुमान् नाम पड़ा—'हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा'[9] ।

1. द्र.–अ. 23 2. द्र–रा.क., पृ. 499
3. प. च, पर्व 15-18 4. द्र.–रा.क.–पृ 461–468
5. रा.क.–अनुच्छेद 103
6. द्र.–नवभारत टाइम्स–11फरवरी 1968 (मुखपृष्ठ)।
7. उ को. 1.10 8. नि. 6.17
9. वा.रा. सु, 35 83

इस प्रकार 'हनुमान्' नाम रामायणीय आख्यानों से आकृतिपरक और उसके कृत्यों से कर्मपरक है, जिसकी पुष्टि धातुगत अर्थों में भी होती है।

41 हर

√हृ से— ब्रह्माणमिन्द्रं वरुणं यमं धनदमेव च।
निगृह्य हरते यस्मात्तस्माद्धर इति स्मृतः[1] ॥

शिव के पर्याय के रूप में प्रयुक्त 'हर' का निर्वचन √ हृ (हरणे अथवा प्रसह्यकरणे) धातु से किया गया है। यहां यह भी प्रदर्शित किया गया है कि उसकी प्रभुता ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण यम और कुबेर से बढ़कर है, क्योंकि वह इन्हें पकड़कर हरण कर लेता है अर्थात् ये सब उसके वश में हैं।

वैदिक साहित्य में भी इस शब्द को उक्त धातु से ही निष्पन्न किया गया है, पर अर्थ भिन्न-भिन्न है। अथर्ववेद में यह अग्नि और उसकी ज्वाला के लिए प्रयुक्त हुआ है[2]। अनेकत्र इसका प्रयोग रुद्र के लिए हुआ है[3]। जो स्वयं भी प्रारम्भ में अग्निदेव है। अग्नि का कार्य देवों के लिए बलि ले जाना है, अतः रुद्र भी 'हर' कहलाए। अग्नि और रुद्र का एकत्व हम रुद्र के अध्ययन में देख चुके हैं[4]। निरुक्त में सान्त हरस्[5] पद का अर्थ ज्योतिः है, क्योंकि यह टीकाकार दुर्ग के अनुसार स्नेह अथवा अन्धकार का हरण करता है[6]। यहां उसे उदक (=जल) भी कहा गया है क्योंकि प्राणियों के द्वारा जीवन के लिए इसका हरण किया जाता है[7]। इसी प्रकार जब लोकों को इस संज्ञा से अभिहित किया जाता है, तो उसका तात्पर्य यह है कि पुण्यों के क्षीण हो जाने पर प्राणी यहां लाए जाते हैं[8]।

पौराणिक कल्पना के अनुसार यह त्रिदेवों में अन्यतम है और ब्रह्मा द्वारा सृष्ट तथा विष्णु द्वारा पालित जगत् का हरण या संहार करते हैं। कूर्मपुराण में यही निर्वचन दिया गया है—'हरः संसारहरणात्'। ब्रह्मपुराण[9] में इसी प्रवृत्ति के कारण इन्हें कालरूप कहा गया है[10]। कोशकारों ने इन्हें पापों का हरण करने वाला बताया है[11], जो धर्म-विश्वास पर आधारित है।

व्याकरण में इसे 'अच्' प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया गया है[12]। एकाक्षर कोशों में 'ह्'[13] और 'र'[14] दोनों अक्षर शिव के वाचक हैं।

---

1. महा. भ. द्रोण 202.137; तु.–म. पु. 248.36 (हरि के लिए संदर्भ)।
2. अथर्व 2.19.1; द्र.–सायण-टीका।
3. श. ब्रा. 7.5.2.17; वा. सं. 13.4
4. रुद्र 3.32
5. सान्त पद प्रायः अदन्त भी होते हैं। लौकिक संस्कृत में अदन्त 'हर' पद ही प्राप्त होता है।
6. नि.-4.19, दुर्ग-टीका द्रष्टव्य।
7. तत्रैव।
8. तत्रैव।
9. कू. पु. पू. 4.63; 5.2
10. ब्र. पु. 3.7.26; 23.33
11. हरति पापानीति–श. क.।
12. पा. 3.1.134
13. ए. को. 2.80-81; 6.73-74; 10.41-42; 15.42-43 आदि।
14. ए. को. 1.103; 5.97-98 आदि।

इस प्रकार 'हर' शब्द के निर्वचन मे वेद से अब तक मूल धातु√हृ की ही प्रधानता है। प्रसङ्गानुसार कुछ अर्थ-भेद अवश्य प्राप्त होते हैं।

42. हरि

√हृ से—	इडोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम्[1]। हरसि प्राणिनो देव ततो हरिरिति स्मृतः[2]।।
हरि से—	वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः[3]।
हृ-रि से—	प्राणकान्तारपाथेयं संसारच्छेदभेषजम्। दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम्[4]।।

विष्णु के नामों मे परिगणित 'हरिः' का निर्वचन 'हर' की भांति√हृ (हरणे अथवा प्रसह्यकरणे) धातु से किया गया है। प्रथम उद्धरण में आश्वलायन श्रौतसूत्र[5] के एक मन्त्र के प्रसंग से बतलाया गया है कि यज्ञ-भाग का हरण करने के कारण हरि कहा जाता है। द्वितीय उद्धरण मे उन्हें प्राणियों का (अर्थात् उनके प्राणो का) हरण करने वाला कहा गया है। कौषीतकि ब्राह्मण में भी हरि को प्राणवाची बताते हुए यही निर्वचन दिया गया है—'प्राणो वै हरिः, स हि हरति'[6] ऋग्वेद में हरि शब्द का बहुवचन मे प्रयोग सूर्य की रश्मियों के लिए हुआ है[7], क्योंकि वे भी वाष्पादि का हरण करती हैं। निरुक्त मे इसका स्पष्ट संकेत दिया गया है[8]। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण मे वह सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है[9], जो जलादि का हरण करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह मृत्यु[10] (यमराज) का भी नाम है, क्योंकि वह प्राणों का हरण करता है। डा. फतहसिंह ने जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण का सन्दर्भ देते हुए बहुवचन में इसी अर्थ का उल्लेख किया है।[11] पुराणो में भी इसके निर्वचन में √हृ को ही स्वीकार किया गया है। मत्स्य पुराण मे इन्द्रादि देवो का निग्रहण कर हरण करने से,[12] भागवत पुराण में लोकत्रय की व्यथा का हरण करने से[13] अथवा प्रिय भक्त का धन हरण करने से ताकि वह अपने बन्धुबान्धवों से अलग होकर भगवद्-भक्ति में लग सके,[14] पद्मपुराण में पापों का हरण करने से,[15] लिङ्ग पुराण में पापों का सहरण (विनाश) करने से[16] कूर्म पुराण में सब कुछ हरण करने से[17] और हरिवंश

---

1. महा. 12.330.3
2. हरि. 3,88.44½
3. महा. 12.330.3
4. महा. पूना संस्करण, पादि.-पृ.-204
5. श्रा. श्रौ. 1.7.7
6. कौ ब्रा. 17.।
7. ऋक् 1.164.47, तु.=अथर्व 6.22.1, 9.10.22 तै. सं. 3.1.11.4
8. नि. 7.24
9. श ब्रा. 14 3.1.26; द्र.-वा. सं. 38-22
10. तै. ब्रा. 3.10.8.1
11. जै. उप. ब्रा 1.44.5
12. म. पु. 248.36
13. भा. पु. 2.7.2
14. भा. पु. 10.88.8,9
15. प. पु. उ. वि. 72.12
16. लि. पु. पू. 1.1
17. कू.पु.पू. 4.61

में 'हरित्व' की व्याख्या में टीकाकार नीलकण्ठ के अनुसार दुःख देने वाले पाप और दैत्यादि का हरण (विनाश) करने से विष्णु को 'हरि' कहा गया है।[1]

तृतीय निर्वचन से यह ज्ञात होता है कि हरि को यह नाम उनके वर्ण के आधार पर दिया गया है, क्योंकि यह नामकरण का एक आधार शास्त्रीय[2] और व्यावहारिक दृष्टि से माना जाता रहा है। कृष्ण, धूर्जटि, नीलकण्ठ, मुञ्जकेश, अर्जुन, पाण्डु, प्रभावती आदि इसी परम्परा में रखे गए नाम हैं।[3] हरित (नील या कृष्ण-वर्ण) वर्ण होने के कारण विष्णु को 'हरि' कहा गया है। हरि शब्द का हरित वर्ण अर्थ निरुक्त[4] और कोशों[5] से पुष्ट है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने अन्य भाषाओं के शब्दों से इसे तुलनीय बताया है, जहां उनका अर्थ हरित अथवा पीत बताया गया है।[6] महर्षि यास्क ने तो मर्कटवाची हरि के नाम का कारण भी हरिद्वर्ण ही माना है[7], जबकि वानरों का वर्ण पिंगल होता है :[8]। वस्तुतः हरित्व में पिङ्गलत्व या स्वर्णिम पीतत्व समन्वित है, जो हरित् संज्ञक स्वर्णिम किरणों से[9], उक्त इतर भाषाओं के शब्दों से और विष्णु भगवान के कमनीय वर्ण से भी पुष्ट होता है।

चतुर्थ निर्वचन से सम्बद्ध उद्धरण में एकाक्षरी परम्परा का अवलम्बन किया गया प्रतीत होता है। वहां 'ह' और 'रि' इन दो अक्षरों को "प्राण-कान्तार' का पाथेय, संसार की मुक्ति दायक औषध और दुःख-शोकादि से परित्राण दिलाने वाला कहा गया है। सूक्ष्मता से देखने पर इन तीनों ही विशेषणों में 'हृ' धातु के ही अर्थ की रक्षा अप्रत्यक्षतः की गई है। अथवा 'ह' में $\sqrt{}$हृ (हरणे) का और 'रि' में $\sqrt{}$रि (गतिरेषणयोः) धातुओं का अर्थ भी स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार के कथन प्रायः धर्माधिष्ठाताओं और कथावाचकों द्वारा ग्रन्थविशेष में सम्मिलित कर दिये जाते हैं। सम्भवतः इसीलिए पूना से प्रकाशित आलोचनात्मक संस्करण में इस श्लोक को मूल में न देकर प्रक्षिप्त मानते हुये पादटिप्पणी में दिया गया है।[10]

व्याकरण में $\sqrt{}$हृ धातु से इन् प्रत्यय लगाकर हरि शब्द सिद्ध किया जाता है।[11]

---

1. हरि. 1.42.1 की टीका पृ. 115 2. वृ. 1.25
3. द्र.–क्रमशः नि. को. 128, 246, 256, 371, 37, 274, 300
4. हरिः सोमो हरितवर्णः-नि. 4, 19.8
5. हरिः..........वाच्यवत्पिङ्ग हरितोः-मेदिनी द्र.-अ. सु.
6. भारोपीय ghel=green or yellow, लैटिन helvus=yellow (रलयोरभेदः)
7. नि. 4.19.8
8. शिरीषकुसुमप्रख्याः केचित् पिंगलकप्रभाः-वा.रा.। नि.दु. से उद्धृत।
9. नि. 4.11.1 10. महा. पूना संस्करण-पृ. 204
11. उणादि 4.558

इस प्रकार विष्णु वाची हरि के अनेकशः निर्वचन महाभारत पुराण और बाद के साहित्य मे रचयिताओं और भक्तों द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं। इनमे अनेकत्र उनकी धर्म भावना के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं।

43 हृषीकेश

हृषी+क+ईश से—'हर्षात्सौख्यात्सुखैश्वर्याद् हृषीकेशत्वमश्नुते'[1]।

हृषी+केश से— 'बोधनात्तापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत्।
अग्नीषोमकृतैरेभिः कर्मभिः पाण्डुनन्दन।
हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकभावनः[2]॥

√हृष् से— 'जायमाने हृषीकेशे प्रहृष्टमभवज्जगत्'[3]

हृषीक+ईश से— हृषीकाणीन्द्रियाण्याहुस्तेषामीशो यतो भवान्।
हृषीकेशो ततो विष्णो ख्यातो देवेषु केशव[4]॥

श्रीकृष्ण को 'हृषीकेश' नाम से अभिहित किया जाता है। महाभारत मे इसे कई प्रकार से निरुक्त किया गया है। प्रथम उद्धरण मे आंशिक एकाक्षर निर्वचन है—हृषी+क+ईश। प्रथम पद से हर्ष, द्वितीय से सुख[5] और तृतीय से सुखैश्वर्य का व्याख्यान किया गया है, किन्तु मूल शब्दों या वर्णों को मूल में नही लिखा गया है। तीनों ही पदों से लगभग एक ही भाव व्यक्त किया गया है। वस्तुत. यह द्विरुक्ति अर्थ पर बल देने के लिए है और इसमे आनन्दकन्द आनन्द-राशि परमेश्वर कीओर संकेत है। वस्तुतः जीवन का चरम लक्ष्य ही ब्रह्मानन्द है। पंचकोशों में भी आनन्दमय कोश ही सर्वोपरि है।[6]

द्वितीय उद्धरण मे 'हृषी' शब्द का अर्थ सूर्य और चन्द्र किया गया है, जो उनके क्रमशः बोधन और तापन तथा हर्षण (मोद) मय कर्मों से संकेतित है। इन कर्मों से जगत् को हर्ष होता हे, अतः ये हृषी है[7]। अहिर्बुध्न्य संहिता मे 'हृषी' को ज्ञानवाची भी बताया है[8]। इस उद्धरण में इन्हें 'अग्नीषोम कहा है। शान्तिपर्व मे अग्नीषोमीय जगत् की भी चर्चा आई है।[9] क्योंकि उसमे वे ही दो तत्त्व और पूर्वोक्त दोनों भाव व्याप्त है। ये अग्नीषोम और सूर्य-चन्द्र जिसके केश (अंशुरूप) हैं[10], उसे 'हृषीकेश' संज्ञा दो गई है। यह अलुक् समास है। उक्त भाव

---

1. महा. 5 68.9
2. तत्रैव 12.330.2.
3. हरि. 2.4.20
4. तत्रैव 3.88 47
5. सुखशीर्षजलेषु कम्—इति मेदिनी।
6. तै. उप. 3 2-6
7. 'तौ जगत् हर्षयतः यस्मात्तस्मात्तौ हृषी'। हृष्यतेरिन्-नीलकण्ठ-महा.चि. 12.342 67 पृ. 720
8. अहिबु. 53.45
9. महा. 12.330.17
10. महा. 12.328.43, 12.330.1, महा. चि. 12.342.66, नि. 12.25

का द्योतन करने वाला एक अन्य नाम व्योमकेश है, जो शिव के लिए प्रयुक्त हुआ है[1]। यहां भी 'व्योम' का स्पष्टीकरण सूर्य और चन्द्र ही किया गया है और केश अंशुवाची हैं। पूतना-वध के पश्चात् बालक कृष्ण की रक्षा के लिए नन्दगोप ने अपने स्वस्तिवाचन में हृषीकेश से बालक की आकाश मे रक्षा करने के लिए कहा है[2], यह उक्त निर्वचन के आधार पर ही कहा गया होगा।

तृतीय उद्धरण में पूर्वपद के लिए √हृष् (तुष्टौ) का संकेत है और उत्तरपद को पूर्ववत् स्वीकार किया गया प्रतीत होता है। यहां प्रथम उद्धरण में व्याख्यात भाव ही अभिप्रेत है कि जो स्वयं हर्ष-मोदमय है और जिनसे संसार हर्षमय हो जाता है।

चतुर्थ उद्धरण मे 'हृषीक' को एक पद मानकर उसे इन्द्रियवाची बताया है। यह शब्द √हृष् से ईकन् प्रत्यय से बनता है—'हृष्यति तुष्टो भवतीति येन तत्'[3]। विष्णु को इन्द्रियों का स्वामी (हृषीकाणामीशः) कहा गया है, इससे उनका जितेन्द्रियत्व अभिप्रेत है[4]। शङ्कराचार्य ने तो यहां तक कहा है कि 'इन्द्रियाणि यद् वशे वर्तन्ते स परमात्मा'। मत्स्य पुराण[5], और अहिर्बुध्न्य संहिता[6] मे भिन्न शब्दावली में यही निर्वचन दिया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता मे √हृष् और हृषीक के आधार पर कुछ अन्य निर्वचन भी दिये गए हैं[7]।

इस प्रकार 'हृषीकेश' शब्द के उक्त प्रकार से अनेक निर्वचन प्राप्त होते हैं। सर्वत्र, √हृष् धातु का प्राधान्य है। उत्तर पद मे 'केश' या 'ईश' को स्वीकार किया गया है। एकाक्षर निर्वचन की अपनी पृथक् स्थिति है। अहिर्बुध्न्य संहिता मे भी इस शब्द का एकाक्षर निर्वचन प्राप्त होता है, पर वहां पारिभाषिक शब्दावली अपनाई गई है। अर्थात् वहां 'श' को छोड़कर किसी भी वर्ण को शब्दशः स्वीकार नही किया है, अपितु उनका व्याख्यानमात्र है[8]।

---

1. महा. ग. द्रोण. 202.134
2. वि.पु. 5.5.21
3. उ. को. 4.18 व्याख्या।
4. तु.—हृषीकाणि नियम्याहं यतः प्रत्यक्षतां गतः।
   हृषीकेश इति ख्यातो नाम्ना तत्रैव संस्थितः॥ व.पु.—श.क. से उद्धृत।
5. म.पु. 248.45
6. अहि. स. 53.41
7. तत्रैव 53.40, 42-46
8. तत्रैव 53.48-50

चतुर्थ अध्याय

देवयोनि वर्ग

दैविक खण्ड के द्वितीय वर्ग में 'देवयोनियां रखी गई हैं, क्योंकि देव और असुर दोनों ही प्रजापति की सन्तान हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में अप्सराः, यक्ष गन्धर्व और दानवों से सम्बद्ध शब्दों का विवेचन किया गया है। अमर सिंह ने भी देवयोनियों में दानवों का परिगणन किया है[1]। वैसे भी दानवादि शब्द मूलतः असदर्थक नहीं हैं[2]। दानवों के कतिपय नाम उनके उद्भावित अथवा यथार्थ कर्मों आदि के आधार पर रखे गए प्रतीत होते हैं। उनके प्रचलित नाम मूल नहीं हैं। परिस्थिति, उग्रता और असहिष्णुतावश ये देव भिन्न (अ-देव[3]; अ-सुर[4]) प्रदर्शित किये गए है। कर्मणा[5], आकृत्या[6] और प्रकृत्या[7] रखे गए इनके 'विद्युज्जिह्व' आदि नाम इसकी पुष्टि करते हैं। 'कंस' की राक्षसोत्पत्ति और व्यवहार के कारण ही उसे इस वर्ग में रखा गया है, जबकि उसके सम्बन्धी 'उग्रसेन' आदि को राजवर्ग मे रखा गया है।

1. अप्सरा:

(I) अप्+√रस् से ....अप्सराश्च सुवर्चसः।

अप्सु निर्मथनादेव रसात्तस्माद्वराः स्त्रियः।

(II) अप्+√सृ(उत्पतनार्थ) से उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् 8

(III) अप्+रस (सार)+√सृ से

समुद्र-मन्थन से अन्य वस्तुओं के साथ कुछ वर्चस्विनी और सुन्दर स्त्रियां भी निकली थी। जो 'अप्सरसः' (बहुवचन-अप्सराएं) कहलाईं। अप् (जल) का आस्वादन करने से (√रस आस्वादने) अथवा जल में (रस या अप्) सरण (उत्+√पत्=√सृ) करने से उन्हें यह संज्ञा दी गई हैं। यहां प्रथम निर्वचन 'रस' शब्द के उल्लेख

---

1. अमर 1.1.11
2. द्र.–असुर, दानव, दैत्य, यक्ष, राक्षस आदि के विवेचन।
3. तु.–ऋक् 6.22.11; 3.32.6 आदि। 4. द्र.–4.13
5. द्र.–अरिष्ट, इन्द्रजित् आदि।
6. कुम्भकर्ण, दशग्रीव, विद्युज्जिह्व आदि।
7. विभीषण, भया आदि। 8. वा.रा. बाल 45.32।

से अनुमित है, क्योंकि घञ् (भावे) प्रत्ययान्त 'रस' का अर्थ ल्युट् (भावे) प्रत्ययान्त रसन से किया जा सकता है। जलवाची अन्य शब्दों की अपेक्षा 'रस[1] के उल्लेख से इसका मात्र जल अर्थ लेना उचित नहीं प्रतीत होता। फिर प्रथम चरण में 'अप्' के उल्लेख से इसकी व्यर्थता सिद्ध होती है। अतः 'अप्सरस्' का निर्वचन 'अप्रसस्' के रूप में मूलतः रहा होगा और भाषावैज्ञानिक नियम वर्ण-विपर्ययवश 'अप्रसस्' अप्सरस् हो गया होगा। असुन् अथवा असि[2] प्रत्यय दोनों शब्दों में समान रूप से विधातव्य हैं। यद्यपि कुछ लोग इस निर्वचन को क्लिष्ट कल्पना-प्रसूत कह सकते हैं और वेदादि ग्रन्थों में इसके संकेत भी प्राप्त नहीं होते, पर महर्षि वाल्मीकि का यह निर्वचन विचारणीय अवश्य है। उपर्युक्त वर्णविपर्यय की क्रिया बहुत पहले हो चुकी होगी, क्योंकि ऋग्वेदादि[3] में यह शब्द 'अप्सरस्' रूप में ही प्राप्त होता है।

यदि 'रस' का अर्थ 'रसन' अथवा जल न ग्रहण करके सार अर्थ लें, तो यह अर्थ करना अधिक उचित प्रतीत होता है कि जल में मन्थन करने से उत्पन्न रस या सार से श्रेष्ठ या सुन्दरी स्त्रियां उत्पन्न हुईं। इस प्रकार प्रथम निर्वचन को अन्य प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु उसमे द्वितीय निर्वचन के √सृ का आश्रय लेना होगा।

द्वितीय निर्वचन में उत्तरपदीय √सृ का यद्यपि उल्लेख नहीं हुआ है, पर उत्+√पत् के उल्लेख से धात्वर्थ देकर उसका व्याख्यान किया गया है। क्योंकि जल में सरण करने वाला जीव ही उत्पतन या उछाल ले सकता है अथवा निकल सकता है।

यद्यपि यजुर्वेद और अथर्ववेद की अपेक्षा ऋग्वेद मे अप्सरस् का उल्लेख कम हुआ है तथापि यजुः और अथर्ववेद की भांति यहां भी[4] उन्हें जल से सम्बद्ध या समुद्र मे रहने वाली कहा गया है[5]। निरुक्त[3] में भी 'अप्सारिणी' कहकर अप्+√सृ से निर्वचन किया गया है अर्थात् वह जल के प्रति नित्य सरण करती है (क्योंकि वह उससे उत्पन्न हुई है)। निरुक्त मे ही अ+√प्सा (भक्षणे) अप्स=रूप और मतुप्प्रत्ययार्थक 'र' अथवा √रा (दाने=ग्रहणे) से निष्पन्न करके उसका अर्थ रूपवती भी किया गया है[7]। स्पष्ट करने के लिए इसे 'अप्सानीय' या अभक्षणीय[8] और आदर्श-

1. अमरकोश में यह जलवाची नहीं है, वहां 'घनरस' शब्द आया है–1.10 5, किन्तु अन्य कोशों में परिगणित है।
2. सर्वधातुभ्यः असुन्–उ. 4.628 अथवा 4 237
3. ऋक् 7 33.9, 12; 10.123.5, श ब्रा. 13.4.3.8
4. श ब्रा. 9.4.1.10 अनेकत्र अप्सरस्तीर्थ का उल्लेख है। द्र.–शा. 6.30 पाश्चात्य देशों में भी इन्हें 'लेक ड्वेलर्स' माना है।
5. ऋक् 9.78.3 द्र–श.ब्रा. 11.5.1.4 द्र.–मो वि. पृ. 59 III
6. नि. 5.13
7. तत्रैव।
8. वा. सं. 20.17 प्सात=भक्षित–अमरकोश 3.1.110

नीय या सामने खड़ा होकर देखने योग्य कहा है, अर्थात् आचार्य शाकपूणि के मत में वह स्पष्टतः नेत्रों से देखी जाने योग्य है, मुख से खाने योग्य नहीं। अंग्रेजी में एक कहावत भी है–'ब्यूटी टु सी एण्ड नाट टु टच'। यहां अप्स को 'आप्लृ' (व्याप्तौ) से सम्बद्ध बताकर और व्यापनीय[1] अर्थ करके उपर्युक्त अर्थ की ही पुष्टि की गई है। डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने इन दोनों निर्वचनों को लोकनिरुक्ति वर्ग में रखा है[2]। इसी प्रकार वक्षोजादि के वाचक 'अप्सस्' में 'र' या√रा से अप्सरा: सिद्ध मानकर और उसका रूपवती अर्थ करके अथवा अप्स[3] (—रूप)+√रा (दाने=ग्रहणे) का निर्वचनपरक अर्थ रूप बदलने वाली या नये रूप ग्रहण करने वाली अर्थ करके लोककृत निर्वचन का एक और उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। ये लोकनिरुक्तियां वस्तु या व्यक्तिविशेष के जन्म-विषयक और स्वरूप-विषयक लोक-विश्वास को प्रकट करती हैं, किन्तु इनकी पुष्टि वैदिक और लौकिक साहित्य तथा व्याकरण से भी होती है जैसा कि आगे दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त 'फेयरी' (अं.) हूरी (फा.) हवरा (अरबी) आदि विदेशी शब्द प्रस्तुत शब्द से मिलते-जुलते है। भाषा-विज्ञान के अनुसार आदि स्वर या आदि व्यजन के लोप से तद्भव शब्द बन जाते है जैसे मनु 7 नोह (नूह), आयुष्मान् 7 खुमान आदि।

ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर 'प्सरस्' शब्द आया है[4] जिसका अर्थ प्रायः जल या द्रव किया गया है और यदि 'अ' (नञ्)[5] का अर्थ तत्सादृश्य या तदल्पता लेते है, तो उक्त बात की पुष्टि होती है, अन्यथा उसका अभाव, तदन्यत्व या विरोध आदि अर्थ लेते हैं, तो उनका सम्बन्ध जल से नहीं माना जा सकता। वस्तुतः अप्सराओं का सम्बन्ध मात्र जल से ही नहीं पृथ्वी, स्वर्ग दोनों के मध्य वर्तमान अन्तरिक्ष तथा न्यग्रोध अश्वत्थादि वृक्षों[6] से भी रहा है। एक स्थल[7] पर 'प्सरस्' का अर्थ प्रसन्न करना या अच्छा लगना किया गया है। यदि 'अप्सरस्' के सम्बन्ध में इसे विचार में लाया जाय, तो अप्रिय, घृणित या बदसूरत अर्थ निकलता है, जो परम्परया संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि समग्र साहित्य में अप्सराओं का चित्रण अतिसुन्दरी रूपवती, नर्तनप्रिया, देवाङ्गना और स्वर्वेश्या आदि के रूप में हुआ है। अतः अप्सरस् शब्द में स्वार्थ में 'अ' का आगम स्वीकार करके 'प्सरस्' के उक्त दोनों अर्थों को सुसगत माना जा सकता है। अथवा इसे आदि स्वर-लोप का उदाहरण माना जा सकता है[8]।

---

1. वा. स. 14.4
2. एटी. या. पृ. 101
3. मो. वि.-पृ. 59–III
4. ऋक् 9.2.2. 74.3 आदि।
5. सि. कौ, बा. म-पृ 454
6. अथर्व 4 37.4; तै. स. 3.4.8.4
7. 'देवप्सरस्तम-'ऋक् 1.75.1
8. यथा (अ) दमुत–'अनतिद्मुत–ऋक् 8.90 3; (आ) रमा, रमासं, रमनि, रमने–मो. भ. वे. वै.-पृ. 66; (अ) सित; (अ) सुर; (उ) दक आदि।

रामायणीय द्वितीय निर्वचन[1] की पुष्टि कोशों में प्रदत्त व्युत्पत्ति से भी होती है, जहां इसे अद्भ्यः समुद्रजलेभ्यः सरन्ति उद्यान्ति'[2] 'अद्भ्यः सरन्ति'[3] 'अप्सु सरन्ति' आदि विग्रह करके √अप (व्याप्तौ)+क्विप् 7 अप्[4]+√सृ (गतौ)+असुन्[5] अथवा असि[6] प्रत्यय से सिद्ध किया गया हैं। इसका प्रयोग प्रायः बहुवचन में होता है, किन्तु महाभाष्य[7] कोशों[8] और साहित्य में यत्र तत्र[9] रस का एकवचन रूप भी उपलब्ध होता है कई स्थानों पर इसका आकारान्त प्रयोग भी मिलता है। इस स्थिति मे अप्सरा की व्युत्पत्ति अप्+√सृ+अच्+टाप् से भी होती है।

इस प्रकार 'अप्सरस्' का रामायणीय निर्वचन परम्परापुष्ट है। यहां उनका सम्बन्ध जल से दिखलाया गया है और उन्हें श्रेष्ठ और सुन्दर स्त्रियां कहा गया है। इन्ही दो बातो की ओर सकेत निरुक्तगत निर्वचनो मे है और जिसकी अनुपालना इतिहासपुराण ग्रन्थों मे हुई है।

2. तिलोत्तमा

तिल+उत्तम से

'तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद्विनिर्मिता।
तिलोत्तमेत्यतस्तस्या नाम चक्रे पितामहः[10]॥
'तिलोत्तमा नाम पुरा ब्रह्मणा योषिदुत्तमा।
तिलं तिलं समुद्धृत्य रत्नानां निर्मिता शुभा[11]॥

महाभारत के उक्त दो स्थलों पर तिलोत्तमा नामिका अप्सरा का आख्यानपरक निर्वचन दिया गया है। अप्सराओं या स्वर्वेश्याओं का उपयोग विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी किया जाता था। प्रस्तुत आख्यान से इसको पुष्टि होती है। सुन्द और उपसुन्द नामक दैत्यो के अत्याचारो से पीडित देवादि अपनी व्यथा लेकर ब्रह्मा के पास पहुंचे, तो उन्होने विश्वकर्मा को एक आकर्षक सुन्दरी के निर्माण की आज्ञा दी, जो दोनों को आकृष्ट कर सके। निर्माता ने रत्नों को लाकर उसका तिल-तिल भाग बनाया, तो ब्रह्मा ने उसका नाम 'तिलोत्तमा' रख दिया। द्वितीय उद्धरण मे किंचित् भेद के साथ यही निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। यहां निर्माता स्वयं ब्रह्मा है। योषित् का स्पष्ट उल्लेख है, जबकि प्रथम मे उसका सकेत सर्वनाम से किया गया है। इस निर्वचन मे एक यह वैशिष्ट्य है कि यहां दोनो पदो का (तिल+उत्तम) उल्लेख हुआ है, जबकि प्रथम में पूर्वपद का ही उल्लेख है। तिलोत्तमा एक अधातुमूलक निर्वचन है और यह समस्त पद है, जिसका विग्रह 'तिलैः तिलप्रमाणै.

---

1. वा. रा. बाल 45.32
2. श. क.
3. अ. सु।
4. आप्नोतेः ह्रस्वश्च–द्र.- 2.217
5. सर्वधातुभ्यः असुन्-उ. 4.628,
6. सर्तेरप्पूर्वादसिः–उ. 4.676
7. द्र.–अनचि च-पा. 8.4.47 पर भाष्य मे 'अप्सराः' प्रयोग।
8. स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्यादेकत्वेऽप्सरा अपि–इति शब्दार्णवः।
9. शा. पृ. 90, रघु 7.53
10. महा. 1.203.17
11. महा. गी. प्रे. अनु. 141.1

4. शकुन्तला

शकुन्त + √ला से—   'निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिरक्षिता।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया[1]॥

महाभारतीय शकुन्तलोपाख्यान में शकुन्तला शब्द का आख्यानपरक निर्वचन दिया गया है। देवगण अप्सराओं का उपयोग ऋषियों के तपोभङ्ग आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी किया करते थे[2]। विश्वामित्र की तपस्या से सन्तप्त देवेन्द्र ने मेनका को भेजा था, जो लक्ष्य-सिद्धा तो हुई, पर समय पर कन्या के उत्पन्न होने पर उसे मालिनी नदी के तट पर फेंककर इन्द्रपुरी चली गई। उस निर्जन स्थान पर पक्षियों ने (शकुन्त) उसकी रक्षा की (√ला-आदाने)। महर्षि कण्व ने उसे कन्या रूप में स्वीकार किया और उसका नाम 'शकुन्तला' रखा। वैसे अनेकशः नाम किसी विशिष्ट घटना के आधार पर भी रख दिये जाते हैं। पहले ऐसे नाम यथार्थतः सामान्य रूप से कहे जाते हैं, फिर सामान्य नाम भी बन जाते हैं और जो आजीवन उसका स्मरण दिलाते रहते हैं। प्रस्तुत नाम भी इसी प्रकार का है।

मूल में प्रदत्त विग्रह से स्पष्ट है कि यह निर्वचन कृदन्त गत है और व्याकरण के अनुसार शकुन्त पूर्वक √ला (आदाने) धातु में घञर्थक 'क' प्रत्यय और कित् होने से आत्व लोप और टाप् करके व्युत्पन्न किया गया है। यद्यपि मूल में सीधा धातु-निर्देश नहीं है, फिर भी उसके अर्थ का व्याख्यान 'परिरक्षिता' अथवा 'परिवारिता'[3] पदों से किया गया है और यह परिपाटी इतिहासपुराण ग्रन्थों में सुलभ है। यहां पूर्वपद सिद्धपद के रूप में स्वीकार किया गया है। व्याकरण में उसे √शक्लृ (शक्तौ) + उन्त[4] से सिद्ध किया जाता है।

शकुन्तला अप्सरा-पुत्री है और मानव-पालिता है। शतपथ ब्राह्मण में भी शकुन्तला पद आया है। वहां भी वह भरत को जन्म देने वाली अप्सरा है[5]। उपर्युक्त शकुन्तलोपाख्यान के आधार पर महाकवि कालिदास ने अपना विश्वप्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' लिखा, जिसकी लोकप्रियता और प्रचार के कारण शकुन्तला अप्सरा की अपेक्षा मानवी अधिक है। यद्यपि दुष्यन्त द्वारा प्रत्याख्यान किये जाने पर उसका साथ एक दिव्यज्योति (अप्सरा) ही देती है।

शकुन्तला का चित्रण प्रकृति की प्रतिनिधि कन्या के रूप में हुआ है, जो प्रकृति की क्रोड में जन्मी, प्रकृति के घटकों से रक्षित हुई, प्रकृति की गोद में 'परिणाई' गई और प्रकृति की गोद में ही वह मां बनी। यह सब मानो उसके निर्वचन में संकेत रूप से विद्यमान है।

---

1. महा. 1.66.14
2. द्र.–तिलोत्तमा 4.2
3. चित्रशाला प्रेस-पूना के पाठानुसार
4. शकेरुनोन्तोन्त्युन्यः-उ. 3.329
5. 'शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरतं दधे-श.ब्रा. 13.5.4.13, वेबर ने इस उद्धरण में 'नाडपिती' ईकारान्त पढ़कर उसे शकुन्तला का विशेषण माना है— द्र.–वै.को.भू.-पृ. 502–II.

यक्ष

5. पार्श्वमौलि

पार्श्व+मौलि— 'तस्य तेन प्रहारेण मुकुटं पार्श्वमागतम् ।
ततः संयुध्यमानेन विष्टब्धो न व्यकम्पत ।
तदा प्रभृति यक्षोऽसौ पार्श्वमौलिरिति स्मृतः ।।[1]

'पार्श्वमौलि' एक समस्त पद है और एक यक्ष का नाम है, जिसका वास्तविक नाम मणिभद्र था। व्यक्ति के कर्मज नाम भी होते हैं और कभी-कभी घटना-विशेष के कारण भी नाम पड़ जाया करते हैं। प्रस्तुत शब्द इसका एक उदाहरण है। रामायण में कुवेर और रावण के युद्ध के सन्दर्भ में यक्ष और राक्षसों का युद्ध वर्णित है। तदनुसार जब मणिभद्र नामक यक्ष ने धूम्राक्ष नामक राक्षस को गिरा दिया, तो रावण ने स्वयं उसके मुकुट पर प्रहार किया, जिससे उसका मुकुट शिर के साथ बगल (पार्श्व) में आ गया और उसका नाम 'पार्श्वमौलि' पड़ गया। 'पार्श्वे मौलिः यस्य सः'। यहां दोनों पदों को सिद्ध मान कर निर्वचन किया गया है।

6 यक्ष

√यक्ष से— (रक्षामेति च तत्रान्ये) यक्षाम इति चापरे ।
भुक्षिता भुक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत् ।
(रक्षामेति च यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः)
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्तु वः ।[2]

वाल्मीकीय रामायण में राम की यक्ष-राक्षसोत्पत्ति सम्बन्धी जिज्ञासा शान्त करते हुए अगस्त्य ने कहा कि ब्रह्मा ने अर्द्धभाग जल और अर्द्धभाग पृथ्वी उत्पन्न करने के पश्चात् अनेक जीवों को उत्पन्न किया। उनके यह पूछने पर कि हम क्या करें? ब्रह्मा ने रक्षा करने के लिए कहा, किन्तु उनमें से कुछ भूखे प्राणियों ने 'यक्षामः' कहकर खाने की इच्छा प्रकट की, अतः वे यक्ष कहलाए। यह आख्यान किंचित् परिवर्तन के साथ अनेक पुराणों में भी प्राप्त होता है। वायु पुराण में कश्यप-पत्नी खशा के ज्येष्ठ पुत्र ने क्षुधा से पीड़ित होकर माता से जो व्यवहार किया, तदनुसार कश्यप ने यक्ष नाम रखा[3]। इसी पुराण के एक अन्य सन्दर्भ[4] में यक्ष का निर्वचन√क्षि (क्षये) से किया गया, क्योंकि उत्पन्न होने पर यक्षों ने जल को क्षीण करने की चेष्टा की थी। इस विवेचन में भी क्षय या विनाश (भक्षण) का भाव निहित है। भागवत पुराण में सृष्टि-रचना के बाद ब्रह्मा का तमोमय शरीर रात्रि रूप में परिणत हो गया, जिसे यक्ष-राक्षसों ने अपना लिया। भूखप्यास से व्याकुल उनमें मतभेद हो गया। ब्रह्मा को खा जाने की प्रवृत्ति वाले

---

1. वा.रा. उत्तर 15.15
2. वा.रा. उत्तर 4.11-13
3. वा.पु.उ. 8.97
4. वा.पु.पू. 9.29

यक्ष कहलाए[1]। इसी प्रकार विष्णु पुराण[2], मार्कण्डेय पुराण[3], लिङ्गपुराण[4] और ब्रह्मपुराण[5] आदि मे भी आख्यानपरक निर्वचन प्राप्त होते हैं। इनमे भक्षणार्थक √यक्ष से यक्ष का निर्वचन किया गया है, पर यह धातु पाणिनीय धातुपाठ मे पठित नही है, निश्चय ही अन्य व्याकरणकर्ताओं को यह अभिप्रेत रही होगी। पाणिनीय धातु पाठ मे भक्षणार्थक √जक्ष अवश्य है, जिसे विष्णुपुराण और भागवत पुराण ने स्वीकार भी किया है[6]। इस विषय मे 'य' के स्थान पर वैदिक 'ज' के उच्चारण का प्रभाव भी अनुमित किया जा सकता है।

यदि उपर्युक्त आख्यान से अलग हटकर विचार करें, तो पाणिनीय धातुपाठ में पठित √यक्ष (पूजायाम्) और √यज् (देवपूजासंगतिकरणदानेषु) धातुओं से इसे निष्पन्न किया जा सकता है। वैयाकरणों ने 'यक्ष्यते पूज्यते', 'यजति शिवम्' 'इज्यते लोकेन' आदि विग्रह करके घञ् प्रत्यय से इसे सिद्ध भी किया है[7]। यह व्युत्पत्ति परम्परया भी समुचित प्रतीत होती है, क्योंकि वेदों में यक्ष शब्द अनेक स्थलों पर मिलता है[8] तथा प्रायः पूजा, स्तुति और यज्ञ के अर्थ प्रकट करता है[9]। लुडविग ने ऋग्वेद के अनुवाद में पवित्र आयोजन भोजनोत्सव का आशय भी माना है[10] पर वह पुराण-परम्परा से प्रभावित प्रतीत होते हैं, जिसमे भक्षण अर्थ प्रधानतः माना गया है। लोक मे भी यक्ष का पूज्य रूप ही प्रचलित है। अमरकोश मे इन्हें देवयोनि मे परिगणित किया गया है[11]। कालिदास-कृत 'मेघदूत' मे यक्ष का देवयोनि रूप ही वर्णित है। भानुजिदीक्षित[12] ने इसकी दो व्युत्पत्तियां दी है, जो उसके स्वरूप, स्वभाव और गुण को प्रकट करती हैं-(I) 'इः कामः, तस्येवाक्षिणी यस्य' 'इरक्षिणी यस्येति वा' (इ+अक्षि) अर्थात् जिसके नेत्र काम के समान है अथवा जिसकी आंखों मे काम भरा रहता है[12], (II) ईःलक्ष्मीः अक्ष्णोति व्याप्नोति (ई-√अक्ष्=व्याप्तौ) अर्थात् जो लक्ष्मी या धनसम्पत्ति से व्याप्त है। धनेश कुबेर भी यक्षराज है।

वैदिक साहित्य मे यक्ष अनेकशः आया है और उसे ब्रह्म नाम से अभिहित

1. भा.पु. 3 20.20-21
2. वि पु. 1 5.43
3. मा.पु. 48.20
4. लि.पु. 70.226
5. ब्र पु. 3.7.60
6. द्र.-टिप्पणी 1,2
7. श क.; अ. मु. अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्–पा. 3.3.19 इति सूत्रम्।
8. ऋक् 1 190 4, 4.3.13, 5.70.4, 7.56.16, अथर्व 8.9.25, 10.2.33 आदि।
9. सायण-'न यक्षं न पूज्यं दृश्यते'-ऋक् 7.61.5; 'तव यक्षं पशुपते अप्स्वन्तः-अथर्व 16.2 24; यक्षतिः पूजार्थः-ऋक् 10.88.13 पर सायण भाष्य। नि. 6.13 और 8.14 मे 'यक्षि' का उल्लेख 'यज' के अर्थ में द्रष्टव्य।
10. पु. इ. भाग 2, पृ. 202
11. अमर. 1.1.11
12. तत्रैव, सुधा व्याख्या।

किया गया है[1]। पहले 'यक्षमहः' और 'ब्रह्ममहः' जैसे यज्ञ भी होते थे। इसका उल्लेख द्राह्यायण और गोभिल गृह्यसूत्र मे हुआ है[2]। बौद्ध साहित्य में देवताओं को यक्ष मानकर पूजा किये जाने के संकेत मिलते है[3]। पहले यक्षरथोत्सव भी होता था, जिसका प्रसार विदेशों तक मे हो चुका था। श्री एन. जी. तवाल्कर ने सुमेरियन और बेबीलोनियन प्राचीन इतिहास के 'जिगरत' को यक्षरथ का ही अपभ्रंश माना है। भारत मे मल्लयुद्ध से पूर्व कही यक्ष और कही हनुमान् की पूजा का विधान है। दक्षिण भारत में लोक-नाट्य के रूप में 'यक्षगान' अत्यन्त लोक-प्रिय है। उत्तर भारत मे यह गांवों में रक्षकदेवता, मन्दिरों मे द्वारपाल तथा रोग-दोष-उत्पातादि-विनाशक के रूप में पूज्य है[4]। इस प्रकार यक्ष में धात्वर्थ संवलित पूजा का भाव ही अधिक व्यवहृत है, जब कि उपर्युक्त निर्वचनों मे 'भक्षण' का भाव निहित है। ऋग्वेद के खिल सूक्त मे[5] यक्ष अग्नि के विशेषण के रूप मे आया है और अग्नि का कार्य पदार्थों का भक्षण करना है, तो यक्ष मे भी भक्षण का भाव संक्रान्त हो गया होगा[6]। इस दृष्टि से उपरि उद्धृत रामायणीय निर्वचन को प्रतीकात्मक माना जा सकता है। पुराणो के प्रभाववश कही-कही उनका भक्षक रूप भी दिखाई पड़ सकता है। जैसे ब्रह्मपुराण मे लिखा है कि यक्षगण देखते-देखते मनुष्य के रक्तमांस आदि का भक्षण कर जाते है[7]। ब्रह्मवैवर्त पुराण में यक्षो का जो स्वरूप-चित्रण है, वह राक्षसो जैसा प्रतीत होता है[8]। महासुतसोमजातक मे वाराणसी के राजा कल्माषपाद को उनके पूर्वजन्म में नरभक्षक यक्ष बताया गया है[9]। मिश्रदेशीय राजवंश 'हिक्स' या 'हिक्सो' या हिट्टाइट भाषा केH-yksos का यक्ष से साम्य द्रष्टव्य है। ये जिस पर चढ़ाई करते थे, उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे। इस प्रकार साहित्य मे यह अतिमानव, भूत-प्रेत, अप्देवता, अर्धदेवता और कुबेर के धनरक्षक के रूप मे चित्रित है। अनेक भारतीय मूर्तियों और चित्रों मे यक्ष को स्थूलकाय, कृष्णवर्ण और अद्भुत दिखाया गया है। इस प्रकार वैदिक व्यवहारगत तथा पौराणिक परम्परा मे स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है, जो निर्वचनों के अध्ययन से सामने आया है।

इस प्रकार यक्ष शब्द का निर्वचन पहले√यक्ष् या√यज् धातुओं से किया गया और उसमे पूजा-भाव सुरक्षित रहा। फिर√यक्ष् मे√अद् का भाव (सम्भवतः उच्चारण साम्यवश) संक्रान्त हो गया। परन्तु यहां एक समस्या यह उपस्थित होती है कि इस संक्रान्ति में पौराणिक यक्ष के स्वरूप मे वैदिक पूजनीयत्व भाव रा

1. पु-मं. ब्रा. 1.7.14 (यक्षप्रिय वस्तु की तुलना यक्ष से)।
2. 'महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये' अथर्व 10.7.38; के. उप. 3,4.1
3. द्रा. गृ 3.1 25, गो. गृ. 3 4.28
4. पा. भा.–पृ. 359
5. द्र.–'यक्षाज' भाग-2–आनन्द कुमार स्वामी।
6. ऋक् 4.9.2
7. पौ. पु. प्र.–अ 8
8. ब्र पु. 2.8.35,36
9. प्र. वै. पु.ग.–पं 17
10. रा.क-पृ. 608

सर्वथा लुप्त कैसे हो गया और कालान्तर मे दोनों विचारो के समन्वय आवश्यकता पड़ी, जिसके फलस्वरूप कोशकारों और वैयाकरणो के व्युत्पत्तिविग्रह प्रवृत्त हुए तथा कलाकारो ने अपनी मूर्तियो या चित्रो को प्रस्तुत किया।

गन्धर्व

7. अङ्गारपर्ण

अङ्गार+पर्ण से — अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम्।
अंगारपर्णमिति च ख्यातं वनमिदं मम ॥[1]

सोमश्रवायण तीर्थ पर जलक्रीडासक्त गन्धर्वराज ने वहां पहुंचे पाण्डवों से अपना नामोल्लेख सहित परिचय दिया, जिसमें 'स्वबलाश्रय' पद ध्यान देने योग्य है अर्थात् वह शक्तिसम्पन्न था और उसके अंग (पर्ण) अंगार सदृश रक्तिम या चमत्कृत थे। ऋग्वेद में भी गन्धर्व के लिए 'हिरण्यपक्ष' शब्द आया है[2]। वहां वह ज्योतिर्मयी शक्तियों के साथ पठित है[3]। ध्यातव्य है कि यह गन्धर्व जहां अर्जुन से पराजित अर्थात् बल-हीन या निस्तेज हो गया, तो उसने 'न च श्लाघे बलेनाद्य न नाम्ना जनसंसदि[4]–कहकर इस नाम को परित्याग कर दिया था और दूसरा नाम रख लिया था[5]। अपने नाम की अन्वर्थता के प्रति वह इतना जागरूक था कि विशिष्ट और विचित्र रथ के कारण अपने 'चित्ररथ' नाम को–उस रथ के आग्नेयास्त्र से जल जाने के कारण-छोड़कर 'दग्धरथ' नाम रख लिया था।

द्वितीय पङ्क्ति मे वह अपने वन का नाम भी अंगारपर्ण बतलाता है, जहां वृक्षो के पत्ते अंगारवत् चमत्कृत और भासमान रहे होंगे। पर्ण शब्द का अर्थ 'पलाश' या 'किंशुक' भी होता है[6] जिसके पुष्प अंगार जैसे लाल होते हैं और कविगण इसका इस रूप में वर्णन करके कृतकृत्य हुए है[7]। पुष्प-काल में उसके पत्ते गिर चुके होते हैं अथवा इतने विरल होते हैं कि पुष्पों की रक्तिम आभा के सामने उपेक्षणीय रहते हैं। उस समय वस्तुतः पलाश वृक्ष 'अंगारपर्ण' हो जाता है। उस वन में इन वृक्षों की अधिकता रही होगी। मोनियर विलियम्स[8] ने इसके स्त्रीलिंग रूप अंगारपर्णी का एक वृक्ष के लिए उल्लेख किया है, जिसका वनस्पति शास्त्रीय 'नाम क्लेरोडेन्ड्रोन सिफोनानन्थस'[9] है और जिसके पत्ते और पुष्प रक्तिम होते है। अतः नाम की सार्थकता समुचित है। सम्भव है उस वन मे इन वृक्षों का आधिक्य हो, जिसके कारण

---

1. महा. 1.158.12
2. ऋक् 10.123.6
3. द्र.–वै. दे. पृ. 354
4. महा. 1.138.35
5. द्र.–चित्ररथ–दग्धरथ
6. 'पलाशे किंशुकः पर्णो वातपोथः' इत्यमरः। 'पर्णं पत्रे किंशुके वा' इति कोशः। वनस्पतिशास्त्रीय प्राचीन BUTEAFRONDOSA नाम भी है। मो. वि. पृ. 606 II
7. द्र.–कु. 3.29; ऋ. सं. 6.21
8. मो. वि. पृ. 8-I
9. CLEROENDRON SIPHONANANTHUS

समस्त वन अंगारपर्ण कहलाया। क्योंकि नाम साधारणतः मुख्य वस्तुओं या भावों के आधार पर पड़ जाते हैं, जैसा कि भर्तृहरि[1] और पतञ्जलि[2] ने भी उल्लेख किया है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि निवासस्थल (वन) या वस्तु विशेष के नाम से भी व्यक्ति के नाम पड जाते थे[3] अथवा यह भी कहा जा सकता है कि महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का निवासस्थान होने से उसके नाम के आधार पर पड़ा हुआ भी यह नाम हो सकता है।

8. (I) चित्ररथ—(II) दग्धरथ

(I) चित्र+रथ से अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं (दग्धो मे रथ उत्तम)।

(II) दग्ध+रथ से सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम्[4]॥

सोमश्रवायण तीर्थ के गन्धर्वराज अंगारपर्ण ने पाण्डवों को वहां आने से रोक दिया। इस पर विवाद और युद्ध हुआ। शत्रु द्वारा प्रयुक्त आग्नेयास्त्र से वह अचेत हो गया, तब उसकी बहन कुम्भीनसी ने युधिष्ठर से प्राण-दान मांगा। अपनी पराजय से दुःखी गन्धर्व ने बल-हीन और निस्तेज हो जाने के कारण अपना पूर्व नाम छोड़ दिया। इसी प्रकार उसे सुन्दर और विचित्ररथ के कारण पड़ा नाम चित्ररथ भी बदलना पड़ा, क्योंकि वह आग्नेयास्त्र से जल चुका था इसीलिए उसे अपना नाम अब 'दग्धरथ' रखना पड़ा।

उपर्युक्त दोनो पद समस्त हैं। इनका निर्वचन आख्यानपरक है। 'चित्रो रथो यस्य' 'दग्धो रथो यस्य' दोनों ही विग्रह आख्यानगत भाव को स्पष्ट करते हैं।

9. ब्रह्मदत्त

ब्रह्म+दत्त से— तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ पुत्रमनुत्तमम्।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिनः सुतम्[5]॥

सोमदा नामिका गन्धर्वी 'चूली' नामक तपस्वी की सेवा मे रत थी। मुनि के प्रसन्न होने पर उसने अपति होने के कारण एक पुत्र की याचना की और चूली ने उसे पुत्र प्रदान किया, क्योंकि ब्रह्मर्षि की कृपा से यह पुत्र उसे प्राप्त हुआ था। अतः उसका नाम 'ब्रह्मदत्त' पड़ा। धार्मिक प्रवृत्ति और विश्वास के कारण सेवा या पूजा पाठ से अर्जित आशीर्वाद या मङ्गल-कामना से सन्तान-प्राप्ति के सन्दर्भ आज कल की भांति पहले भी प्राप्त होते हैं। जिसका यह एक उदाहरण है। ऐसे नामों मे सेव्य या आराध्य का नाम साथ मे अवश्य रहता है। बृहद्देवता[6] मे परिगणित नामकरण के आधारों मे पठित 'मंगल' के अन्तर्गत ऐसे नाम आते हैं।

---

1. मुख्येनैव पदार्थेन व्यवहारो विधीयते—वाक्य 3. पृ 136
2. भूयस एव ग्रहणानि भविष्यन्ति—महाभाष्य 1.1.47
3. बृ. 1.25; द्र.-पा. 4.3.89; 4.3.25
4. महा. 1.158.37
5. वा. रा. बाल. 32.18
6. बृ. 1.25

10. सरमा

सरस्+मा (=माङ्) से— (सरस्तदा मानसं तु ववृधे जलदागमे।
माता तु तस्याः कन्यायाः स्नेहेनाक्रन्दितं वच)
सरो मा वर्धयस्वेति ततः सा सरमाऽभवत्[1]॥

वाल्मीकीय रामायण में विभीषण की पत्नी सरमा का निर्वचन प्राप्त होता है। यह शैलूष नामक गन्धर्वराज की पुत्री थी, जो मानसरोवर के पास उत्पन्न हुई थी। वर्षा ऋतु में मानसरोवर का जल बढने लगा, तो कन्या तक पहुंच गया। भयभीत रोती हुई मां ने कहा कि 'सरः मा वर्द्धतु'। उसकी इच्छा शक्तिवश कन्या की रक्षा हो गई और इस घटना के आधार पर उसका नाम 'सरमा' हो गया। लोक में भी ऐसे नाम प्रायः रख लिये जाते हैं—जैसे सुभाषचन्द्र बोस की पुत्री का नाम सुनीता इसलिए रखा गया था कि वह विदेश मे उत्पन्न हुई थी और भारत मे 'लाई गई थी'। ऐसे निर्वचन लोककृत होते हैं और आवश्यक नहीं कि वे व्याकरण से सर्वथा पुष्ट हों, जैसे कोई व्यक्ति अनेक पुत्रियों के जन्म के बाद परेशान होकर अपनी पुत्री का नाम 'शोभना' यह समझकर रख दे या अन्य लोग समझ लें कि अब पुत्री होना शोभा नहीं देता,-अच्छा नहीं लगता और अवाञ्छनीय है।

व्याकरणदृष्ट्या यह शब्द 'सरोमा' बन सकता है, सरमा नहीं। यह अवश्य माना जा सकता है कि मूलतः यह शब्द 'सरोमा' रहा होगा और मध्य स्वर लोप से सरमा हो गया। 'सर्वे सान्ताः अदन्ताः' के अनुसार अदन्त सर शब्द स्वीकार करने पर स्वतः ही शब्द सिद्ध हो सकता है, किन्तु वैयाकरणों को यह सब स्वीकार नहीं। अतः उन्होंने 'रमया शोभया सह वर्तमाना' विग्रह से[2] (स-रमा) सरमा अथवा√सृ (गतौ)+अम (बाहुलकात्)+टाप्[3] से सिद्ध किया है।

दानव

11. अकम्पन

अ+√कपि से— न हि कम्पयितुं शक्यः सुरैरपि महामृधे।
अकम्पनस्ततस्तेषामादित्य इव तेजसा[4]॥

राक्षसराज रावण के एक सेनापति का नाम 'अकम्पन' था। उसे अत्यन्त बलशाली सिद्ध करने के लिए निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। यह नञ् समास युक्त धातुमूलक कृदन्त निर्वचन है। मूल मे ही विग्रह देकर स्पष्ट किया गया है कि प्रारम्भिक अ 'नञ्' का अवशेष है। √कपि (चलने) से ल्युट् प्रत्यय से कम्पन बनता है। महायुद्ध मे जिसे देवता भी विचलित या कंपा न सके। अपने कथन की पुष्टि मे एक उपमा का प्रयोग भी कर दिया है, जिससे उसके बलशालित्व की पुष्टि होती है।

---

1. वा. रा. उत्तर 12.26-27
2. श. क.।
3. अ. सु. सर्तेश्च भोजः+अम्-अ उ. 30-4.90
4. वा. रा. युद्ध 55.8

दानवों के नाम प्रायः प्रकृति या गुण बोधक और वर्ण, रूप या आकृतिपरक होते हैं। यह नाम कविकल्पनाप्रसूत भी हो सकता है और परम्परया रखा हुआ भी हो सकता है। प्रस्तुत नाम यदि मूल नाम से पृथक् है, तो उसकी शक्ति-सत्ता द्योतन के लिए रखा गया होगा। यदि यह पैतृक नाम है, तो वह कृपा, कामना या आशीर्वाद रूप में रखा गया होगा, क्योंकि पिता अपनी सन्तान का नाम, अपनी-अपनी परम्परानुसार उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना से रखता है। 'नामकरण' के आधारों मे इसे 'आशी:' पद के अन्तर्गत रखा जाता है।[1]

12. अरिष्ट

अरिष्ट— अरिष्टो नाम हि गवामरिष्टो दारुणाकृतिः।
दैत्यो वृषभरूपेण गोष्ठान् विपरिधावति[2]॥

कंस द्वारा श्रीकृष्ण को मारने के असफल प्रयासों मे एक घटक उसका मित्र वृषभासुर भी था, जिसका नाम 'अरिष्ट' था और जो गोवंश का विनाश करता था। उसके इस या ऐसे ही अशुभ आचरण या कर्म के कारण 'अरिष्ट' नाम दिया गया प्रतीत होता है। यह मूल में वर्णन के ढंग से संकेतित है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत[3] और विष्णुपुराण[4] आदि ग्रन्थों मे सम्बद्ध आख्यान के अध्ययन से उसके अरिष्टत्व या अशुभ आचरण की प्रवृत्ति की पुष्टि होती है।

प्रस्तुत उद्धरण मे 'अरिष्ट अशुभं अक्षेमं वा यस्मात्' विग्रह से पुष्ट इस समस्त पद[5] को सिद्ध मानकर प्रयुक्त किया गया है। व्याकरण मे इसे √रिष् (हिंसायाम्)+ क्त; नञ् समास से भी सिद्ध किया गया है। यह शब्द शुभ और अशुभ दोनों अर्थों में कोशों मे पठित है[6] परन्तु यहां अशुभ या शुभ अर्थ[7] से ही संगति बैठती है। सम्भव है यह प्रारम्भ में शुभार्थक रहा हो[8] और बाद मे शुभार्थक 'रिष्ट'[9] के विलोम मे अशुभार्थक हो गया हो।

13. असुर[10]

अ+(वरुणात्मजा=) सुरा से—

---

1. नि. 5.22, बृ. 1.25
2. हरि 2.21.7
3. भा. पु. 10.36.1-16
4. वि. पु. 5.14
5. पा. 2.2.24
6. *'अरिष्टे तु शुभाशुभे' इत्यमरः।* 'अरिष्टमशुभे·······शुभे मरणचिह्ने च,—विश्वमेदिन्यौ:। द्र. रोगिणो मरणं यस्मादवश्यं भावि लक्ष्यते। तल्लक्षणमरिष्टस्याद्रिष्टमप्यभिधीयते॥ आप्टे-कोश से उद्धृत।
7. आप्टे पृ. 50-III
8. तु. अहिंसासाधनभूत 'अरिष्ट' साम—ता. ब्रा. 12.5 2
9. 'रिष्ट' क्षेमाशुभाभावेपु इत्यमरः
10. विस्तृत विवेचन के लिए देखें–'असुर-एक निर्वचनात्मक अध्ययन'–डा. शिवसागर त्रिपाठी, विश्वम्भरा–10 3-1978 पृ 5-12; 'असुर का सुरत्व'-सन्दर्भ-1, पञ्चशील प्रकाशन जयपुर पृ. 121-130,

'दितेः पुत्राः न तां राम ! जगृहुर्वरुणात्मजाम् ।
असुरास्तेन दैतेयाः..............................[1] ॥

रामायण के एक प्रसंग के अनुसार समुद्रमन्थन से निकलने वाली वस्तुओं में 'वारुणी' भी थी, जिसे 'वरुणकन्या' कहकर उसमें देवतात्व आरोपित किया गया प्रतीत होता है। इसे लौकिक सुरा का पर्याय माना गया है, अतः इस उद्धरण में सुर और उसे न ग्रहण करने वाले दिति-पुत्र दैत्यों या दैतेयों को 'असुर' कहा गया गया है। रामायण के बम्बई संस्करण मे एक अन्य पाठ में प्राप्त ऐसे ही निर्वचन में 'सुरा' का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

सुराप्रतिगृहाद् देवाः सुरा इत्यभिविश्रुताः ।
अप्रतिग्रहणात्तस्याः दैतेयाश्चासुरास्तथा[2] ॥

यहां नञ् समास के द्वारा निर्वचन प्रस्तुत करके जो बात कही गई है, वह लोक-विश्वास के विपरीत है और रामायण या अन्य साहित्यगत वर्णनों से उसकी पूर्णतः पुष्टि नही होती। उपर्युक्त निर्वचन से यह बात अवश्य द्योतित होती है कि मूलतः असुर सुरादि निन्दनीय तामसी पदार्थों को ग्रहण न करते थे।

ऋग्वेद मे 'सुर' शब्द नही प्राप्त होता, किन्तु 'असुर' देव अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है—'महद्देवानामसुरत्वमेकम्[3] वहां यह वरुण आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। उसे प्राजापत्य भी कहा गया है[4]। प्रतीत होता है कि असुर शब्द मूलतः देववाची था और फिर इसका अर्थापकर्ष हुआ है।[5] वहां 'सुरा' शब्द भी मिलता है,[6] जो उस समय भी निन्दित मानी जाती थी और जिसे पीकर लोग दुर्मद हो जाते थे और परस्पर लड जाते थे। निरुक्त में 'सुरा' का निर्वचन √सु धातु से किया गया है।[7] असुर मे भी इस धातु को स्वीकार कर 'जिनमे दयादानदाक्षिण्यादि गुणों का अभिषवण नही होता'—अर्थ किया जा सकता है। अथवा भाषा की एकाक्षरा-विकास-प्रक्रिया में स्वार्थ मे 'अ' का आगम करके 'इन दयादि गुणों से सम्पन्न' यह देवपरक अर्थ किया जा सकता है। श्री ब्रडके और श्री रामचन्द्र जैन आदि तो 'असुर' और 'सुर' दोनों को एक ही शब्द मानते हैं।[8]

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में 'असु' शब्द प्राणवाची भी है।[9] 'र' को

---

1. वा. रा. बाल. 45.37-38
2. सर मोनियर विलियम्स के कोश से उद्धृत।
3. ऋक् 3.55
4. शा. ब्रा. 1.7.2.22; बृह. उप 1.3.1
5. ऋक्–10.138.3, अथर्व 8.9.24; प. ब्रा.–4.1
6. तत्रैव 8.2.12, 7.86.6 आदि।
7. सुरा सुनोतेः–नि० 1.11
8. द्र०–'असुर-एक निर्वचनात्मक अध्ययन–डा. शिव सागर त्रिपाठी, विश्वम्भरा 10.3 सं. 2035 पृ.-5-12
9. श. ब्रा. 6.6.2.6, तै. ब्रा. 2.2.8.2, जै. उप. 3.35.3

मत्त्वर्थीय[1] या एकाक्षर कोशों के अनुसार उसका 'रक्षण'[2] अर्थ मानकर प्राणवान् या प्राणों की रक्षा करने वाला अर्थ किया जा सकता है, जो उसके पर्याय 'रक्षस्' और राक्षस के निर्वचनगत अर्थों से मिलता जुलता है।[3] इसी प्रकार 'असु' का अर्थ प्रज्ञा[4] और माया[5] लेने पर इन्हें प्रज्ञावान् और माया से सम्पन्न भी कहा जा सकता है। चरणव्यूह मे 'आसुरायण' नाम मिलता है। यदि वह राक्षसवाची होता, तो कोई अपनी सन्तान का यह नाम नही रखता।

पाणिनीय धातुपाठ में उपलब्ध √अस् धातु के अर्थों[6] के आधार पर भी इसका अर्थ सत्तावान्, गतिमान्, दीप्तिमान्, दानी, शत्रुओं को खण्डश. कर देने वाला, पीडा पहुंचाने वाला और उन्हे प्रक्षिप्त कर देने वाला आदि किया जा सकता है। कोशो में 'असुर' का एक अर्थ सूर्य है[7] जो एक देवता है। अमरकोश मे असुरो को 'पूर्वदेवा:' कहा गया है।[8]

कतिपय विद्वानों के अनुसार प्रारम्भ मे आर्य असुरोपासक थे। उन में कभी एक पारस्परिक संघर्ष की स्थिति आई होगी। कुछ जो ईरान (आर्याणा देश:) आदि देशों की ओर चले गए, वे अपने मूल रूप मे अहुर, एसिर, अस्सुर अश्शुर आदि[9] बने रहे। अन्य एक वर्ग, जो भारत में रहा, 'असुर' से अपनी भिन्नता सिद्ध करने के लिए 'सुर' हो गया। असुर को देव-भिन्न (अ-सुर) मानकर सम्भवत: ईर्ष्या-द्वेष वश स्वरूपत:, व्यवहारत: और प्रकृत्या कुछ इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया कि वह भयावह और हेयरूप मे प्रसिद्ध हो गया। यही स्थिति ईरान आदि देशों में गए वर्ग ने अपने विरोधियों की भी की।[10]

यह विघटन या संघर्ष ऋग्वेद-काल मे ही हो चुका था, अत: 'असुर' अपने परिवर्तित असदर्थ मे वैदिक[11], पौराणिक[12] और कोश-साहित्य[13] किंवा समग्र वाङ्मय मे प्राप्त होता है, किन्तु वह सब रामायणगत निर्वचन से भिन्न है।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि 'असुर' शब्द मूलत: देववाची था। वैदिक-काल में इसका परिवर्तित असदर्थ भी प्रचलित हो गया था।

---

1. असुरिति प्राणनामस्त: शरीरे भवति, तेन तद्वन्त:-नि. 3.8
2. ए. को. 23 30. 25.115
3. द्र.-राक्षस 4.23
4. नि. 10-34
5. श. ब्रा. 6.6.2.6, तु.-अथर्व 19.66.1
6. √अस्-भुवि, गतिदीप्त्यादानेषु, उपतापे, क्षेपणे।
7. आप्टे पृ. 71-I, मो. वि. 121-I,
8. अमर 1.12, सुधा-व्याख्या भी देखें।
9. क्रमश: अवेस्ता, नार्स माइथालोजी, असीरिया, उत्तरी पूर्वी ईराक आदि मे।
10. द-ए (देव), गन्दरेवा (गन्धर्व) वेरेथ्घ्न (वृत्रघ्न = इन्द्र) आदि सभी दैत्यवाची।
11. ऋक् 10.138.3, 124.5, 157.6 अथर्व 8.9.2.4, श ब्रा 1.2.4.8,नि.3.8
12. ब्रह्मा के जघन भाग से उत्पत्ति-वि पु. 1.2.31 भा. पु.-3.20, 23, 24
13. अमरसुधाव्याख्या, श-क, वाचस्पत्यम् आदि।

साहित्य मे इन दोनो अर्थों से सम्बद्ध सामग्री प्राप्त होती है, किन्तु प्रबल प्रचार उसके दूसरे अर्थात् असद् रूप का ही हुआ। रामायण और महाभारत मे भी ये ही भिन्न स्थितियां दृष्टिगत होती हैं।[1] पुराणकोश में बत्तीस पाराध्यदेवों में एक असुर भी है, जो गृहनिर्माण के समय बाहरी भाग मे पूज्य होते थे। इन्हें सुरा का भोग लगता था।

14. कंस

कस्य (किम्) से— 'कस्य त्वमिति यच्चाहं त्वयोक्तो मत्तकाशिनि'।
कंसस्तस्माद् रिपुध्वंसी तव पुत्रो भविष्यति[2] ॥

राजा उग्रसेन के पुत्र और कृष्ण के मातुल 'कंस' का निर्वचन हरिवंश में प्रश्नवाचक सर्वनाम 'किम्' रूप से प्रस्तुत किया गया है। नारद और कंस के संवाद के सन्दर्भ से ज्ञात होता है। राजा उग्रसेन की पत्नी, सुयामुन पर्वत पर दर्शनार्थ, स्त्रियों के साथ गई थी, जिसका दुर्मिल दानव ने अपहरण कर लिया और उग्रसेन का रूप धारण कर व्यभिचार किया। इस छल का पता लगने पर रानी दुर्मिल ने पूछा कि 'कस्य त्वं' अर्थात् तुम किसके पुत्र हो? इस प्रश्न से उसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ऐसा घृणित कार्य करने वाले तुम किसके पुत्र हो? जाति क्या है? कैसे संस्कार है? आदि। सुसंस्कृत वंश मे उत्पन्न व्यक्ति ऐसा नीच कार्य नहीं कर सकता, फिर तुम कौन हो? यह समस्त भावना उक्त प्रश्न मे सन्निहित है। आज भी असामाजिक तत्वो से कुछ ऐसे ही कार्य किये जाने पर और पकड़े जाने पर ऐसे ही प्रश्न किये जाते है। वस्तुतः अज्ञात की जिज्ञासा 'किम्' से ही प्रकट की जाती है।

मायावी राक्षस ने उत्तर में भावी पुत्र का नामकरण ही कर दिया कि तुमने 'कस्य त्वं'? इस शब्दावली में प्रश्न किया है, अतः भावी पुत्र का नाम 'कंस' होगा।

यह आख्यानपरक निर्वचन है और व्याकरण सम्मत नही है। यह स्पष्टतः लोककृत निर्वचन है, जिसमें उक्त लोकभावना का पता चलता है। इस प्रकार 'कंस' की 'क' 'स' का 'कस्य' से साम्य देखकर निर्वचन कर दिया गया है। भाषा-विज्ञान

---

1. महाभारत आदिपर्व में एक आख्यान है। जिसमें असुर ने पुलोमा नामक सुन्दरी का अपहरण किया। पिता ने पहले इसे असुर को ही देने का वचन दिया था, पर बाद में भृगु के साथ परिणय हो गया। निश्चय ही पिता ने असुर राक्षस को नहीं, अपितु असुरदेव अथवा सत्पुरुष को देने का विचार किया होगा, पर अपेक्षाकृत अच्छे वर भृगु को पाकर उन्होने विचार बदला होगा। तो असुर को भी विवाहिता–अपहरण जैसा मार्ग अपनाना पड़ा होगा। ज्ञातव्य है कि यह पुलोमा भृगु की पत्नी और च्यवन की माता थी।
2. हरि 2.28.103

के अनुसार यह ध्वनि-साम्य का उदाहरण है। कथानक का योग तो उसके निर्वाह के लिए किया जाता है। इसीलिए यह बहुत असंगत निर्वचन प्रतीत होता है, क्योंकि जब व्यभिचार अनिच्छा से हुआ था, उग्रसेन की पत्नी को अरुचिकर था और उग्रसेन को भी अरुचिकर, अप्रिय और क्रोधप्रदायक रहा होगा, तो उस दानव द्वारा दिये गए नाम का ही अनुपालन क्यों किया गया ? अन्य नाम भी रखे जा सकते थे। यदि अन्य कोई नाम रखा गया था, तो यही क्यों प्रचलित हुआ ? तथा वह राज्य का अधिकारी कैसे बना ? आदि प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं।

उल्लेख्य है कि इस प्रकार नाम रखे जाने के अन्य उदाहरण भी पुराणों में प्राप्त होते हैं, जिनमें कथित शब्दावली से ही नाम रख लिये गए बताए गए हैं— जैसे उमा, सरमा, अत्रि, आस्तीक आदि[1]। यद्यपि ये निर्वचन व्याकरण से पुष्ट नहीं होते और व्याकरण में इनकी व्युत्पत्तिया अपने ढंग से दी गई हैं, पर इनकी सत्ता अवश्य है।

वैयाकरणों ने 'कामयति मित्रादिबन्धुवर्गान् अभिभूय पापात्मकं राज्यविषयादिभोगं यः' विग्रह करके √कमु (कान्तौ) से और 'कंसते शास्ति शत्रून्' विग्रह करके √कसि (गतिशासनयो') से औणादिक 'स' प्रत्यय[2] लगाकर 'कंस' शब्द की व्युत्पत्ति दी है। यद्यपि शब्दकल्पद्रुम में प्रत्ययविधायक सूत्र का निर्देश नहीं है और न प्रस्तुत सूत्र 'वृतृवदिहनिकमिकशिभ्यः सः' मे 'कसि' पठित है, फिर भी 'कशि' के अनुकरण पर 'उणादयो बहुलम्[3] की पतंञ्जलि की व्याख्या के अनुसार 'स' प्रत्यय का आगम मानकर कंस' शब्द को सिद्ध किया जा सकता है।

इस प्रकार रामायण मे 'कंस' का अधातुमूलक और आख्यानपरक निर्वचन 'किम्' से सम्बद्ध प्रश्नवाचक शैली मे किया गया हैं। पूर्ववर्ती साहित्य मे भी किम् सर्वनाम-जन्य निर्वचन मिलते हैं[4]।

15. कैटभ-(मधु)

वायुप्राणौ तु तौ गृह्य ब्रह्मा पर्यमृशच्छनैः।
एकं मृदुतरं मेने कठिनं वेद चापरम्॥
नामनी तु तयोश्चक्रे स विभुः सलिलोद्भवः।
मृदुस्त्वयं मधुर्नाम कठिनः कैटभोऽभवत्[5]॥

सृष्टि के आदि मे जब पृथ्वी रसातल मे थी, तो जलमय तल पर मधुकैटभ उत्पत्ति के सन्दर्भ मे उक्त लेख प्राप्त होता है। इनके उत्पत्ति की कथा यत्किंचित्

1. द्र. क्रमशः 3.8, 4.10, 5 2, नि. को 54
2. उ. 3.342; पाठभेद..................कपिभ्यः सः–उ. को. 3.62
3. पा. 3.3.1
4. कितव–नि. 5-22, कुहू-नि. 11.32; कीकर-नि. 6.32 आदि।
5. हरि 1.52.24-25

भेद के साथ अनेक पुराणों[1] में है कि वे जल पर शयन कर रहे (I) विष्णु के कान के मल से या (II) ब्रह्मा के स्वेद से या (III) रजस्-तमस् के प्रतीक रूप उत्पन्न हुए थे। किन्तु हरिवंश के वर्तमान सन्दर्भ मे बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने मिट्टी के दो खिलौने बनाए थे। (आगे उन्हें विष्णु के कर्ण-स्रोत से भी उत्पन्न बताया है)। काष्ठ की दीवार की भांति अचेतन उन दोनों मे ब्रह्मा के आदेश से वायु ने प्रवेश किया और दो महान् असुर हो गए। ब्रह्मा ने उन्हे स्पर्श किया तो एक मृदु था और दूसरा कठिन। इसी आधार पर इन दोनो के नाम क्रमशः 'मधु' और 'कैटभ' हो गए।

उपर्युक्त सकेतित निर्वचन मे मृदु और मधु मे और कठिन और कैटभ मे सम्बन्ध स्थापित किया गया है, जबकि इनमे अर्थसाम्य कहीं से भी पुष्ट नही हैं। हां, ध्वनि-साम्य किंचित् मात्रा मे अवश्य देखा जा सकता है। इस प्रकार यह नैरुक्तिक परम्परा मे किया गया निर्वचन है। महर्षि यास्क का कथन है—'अक्षर-वर्ण-सामान्याद् निब्रूयात्, न त्वेव न निब्रूयात्[1] अर्थात् अक्षर या वर्ण का सादृश्य लेकर ही निर्वचन करे। किन्तु ऐसा न हो कि निर्वचन ही न करे निरुक्त में 'मधु' शब्द का निर्वचन सोम या मद्य अर्थ मे√मद से किया गया है[3]। वहां कैटभ का निर्वचन प्राप्त नही होता है।

उपर्युक्त उद्धरण मे दोनों नामों का यह प्रस्तुतीकरण आचार्य शौनक द्वारा उल्लिखित नामकरण के आधारो में 'रूप' के अन्दर लिया जा सकता है[4], क्योकि स्पर्श से वे आकृत्या मृदु और कठिन प्रतीत हो रहे थे। यदि स्वभावगत मृदुता और कठिनता भी रही हो, तो 'उपवसन' नामक आधार भी स्वीकार किया जा सकता है[5]। व्याकरणगत व्युत्पत्ति (कैटभ–कीट+√भा+ड+अण्) अथवा (मधु–√मन्+उ–ध[6]) से उक्त निर्वचनो की पुष्टि नहीं होती, क्योकि वह अपनी परम्परा का निर्वाह करता है। निरुक्त गत प्रणाली का परिपालन उसके लिए आवश्यक नही है। उसकी दृष्टि मे कठिन[7] और मृदु[8] दोनों पृथक शब्द हैं। भाषाविज्ञान के अन्तर्गत अवश्य इन्हें (कैटभ ＞ कठिन; मृदु ＞ मधु) वर्णादेश, स्वरलोप और स्वरागम का भी उदाहरण माना जा सकता है।

उल्लेख्य है कि मधु और कैटभ के रजस् और तमस् का प्रतीक मानकर उन पर सत्त्व रूप विष्णु की विजय दिखाई गई है। महाभारत के ही एक स्थल पर

---

1. म.पु, 170.1; विष्णु ध. 1.15, प. पु. सृष्टि खण्ड–अ. 40, मा. पु. अ. 78, दे.भा. 1.4, महा. शान्ति 355.22-23
2. नि. 2.1
3. नि. 4.8, तु.–ऋक् 5.61.11
4. बृ.–1.25
5. तत्रैव
6. फलिपाटिनमिमनिजनां–इत्युः धश्च-उ. 1.18 द्र.–अ. सु.-पृ. 176-I
7. √कठ कृच्छ्रजीवने। 'बहुलमन्यत्रापि.-उ. 3.49 (अ. सु. से उद्धृत) इति इनच्
8. √मृदु क्षोदे,√म्रद मर्दने। प्रथिम्रदिभ्रस्जां संप्रसारण सलोपश्च (उ. 1.28) इति कुः सम्प्रसारणञ्च।

लिखा है कि विष्णु से अहंकारस्वरूप ब्रह्मा प्रकट हुए। कमल पर बैठकर वे सृष्टि मे प्रवृत्त हुए। कमल पर तमोगुण और रजोगुण स्वरूप दो जल की बूंदें उत्पन्न हुई, उनसे मधु और कैटभ की उत्पत्ति हुई। मत्स्य पुराण में भी ऐसा संकेत प्राप्त होता है[1]। अत: यह प्रतीकात्मक निर्वचन कहा जा सकता है।

16. घटोत्कच

घट (मास)+उत्+कच से—

घटमासोत्कच इति मातरं सोऽभ्यभाषत।
अभवत्तेन नामाऽस्य घटोत्कच इति स्म ह।[2]

घट+उत्+कच से—

घटो ह्यस्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत।
अब्रवीत्तेन नामाऽस्य घटोत्कच इति स्म ह॥[3]

मध्यमपाण्डव भीम और राक्षसी हिडिम्बा के पुत्र का नाम घटोत्कच था। उसके नामनिर्वचन के लिए उपर्युक्त दो पाठ-भेद प्राप्त होते हैं। प्रथम पूना से प्रकाशित आलोचनात्मक संस्करण का उद्धरण है जिसमे 'घट' और 'उत्कच' इन दो शब्दों के मध्य एक मास शब्द की सत्ता स्वीकार की गई है। अर्थ और निर्वचन की दृष्टि से यह व्यर्थ शब्द प्रतीत होता है, क्योंकि मास के प्रचलित अर्थ से यहां कोई संगति नही बैठती, फिर भी सूक्ष्मता से विचार करने पर घट और मास के विशेष अर्थों के आधार पर इसकी संगति बिठाई जा सकती है और सम्भव है यही अर्थ ग्रन्थकार को अभिप्रेत भी हो, किन्तु इस दृष्टि से अभी तक विचार नहीं किया गया है। बीस द्रोण की तौ को 'घट' कहते हैं[4] और मास शब्द $\sqrt{}$मसी (परिमाणे) + घञ्[5] से बनता है, जिसका यौगिकार्थ 'परिमाण' हुआ।[6] वैसे यह 'महीना' के अर्थ में रूढ़ है। अत: जिसके उठे हुए बाल 20 द्रोण की तौल के थे उसे 'घटमासोत्कच' नाम से अभिहित किया गया, जो उसके रूप[7] या आकृति के आधार पर रखा गया नाम है। इसका विग्रह 'घट मास: घटपरिमाणाः उद्गताः कचाः यस्य' किया जा सकता है। यद्यपि उसे अतिरंजित कल्पना माना जा सकता है। किन्तु इतिहासपुराण ग्रन्थों के सन्दर्भ में और विशेषत: दानवों के रूपादि वर्णन के सन्दर्भ मे अत्यन्त स्वाभाविक और सुप्राप्य है। प्रश्न है कि 'घटमासोत्कच' का घटोत्कच कैसे रह गया? वस्तुत: बड़े नाम मुख-सुख के कारण छोटे हो जाया करते हैं। शाक-पार्थिवादि मे पठित पदो मे यही स्थिति है। इसी प्रकार यहां भी अन्तवर्ती 'मास'

---

1. म. पु. 169.1 द्र.–178 14-15
2. महा. 1.143.34
3. महा. (ग) 1.157.38
4. अष्टांग 5.6 28; उत्तरार्द्ध पृ. 254 द्र.–आप्टे 107-I मो. वि. 375-I
5. पा. 3.3.19 अथवा 3.3.121
6. मस्यते परिमीयतेऽनेन।
7. बृ. 1.25

शब्द का लोप हो जाने से 'घटमासोत्कच' घटोत्कच रह गया। इस प्रकार वह मध्यम-पद लोपी समस्त पद है।

एक शंका यह भी की जा सकती है कि (मूल में) इस शब्द का उच्चारण स्वयं बालक ने माता से कैसे किया ? इस प्रकार की परम्परा पुराणों के वर्णनों और राक्षसों मे साधारणतः मिलती है। यहा भी इस श्लोक से पहले 'सद्यो हि गर्भात् राक्षस्यो लभन्ते प्रसवन्ति च' आदि के अनुसार वह बालक उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही वह विकसित हो गया और उसने माता-पिता को प्रणाम किया। इसी समय उसने अपने रूप को देखकर उक्त उच्चारण किया।

द्वितीय उद्धरण मे 'मास' के स्थान पर 'ह्रास्य' (ह्+आस्य) पाठ है और वक्त्री उसकी मां है। मां ने पुत्र के (शिरोगत) स्वरूप को देखकर कहा होगा कि निश्चय ही इस बालक के बाल घड़े की तरह ऊपर उठे हुए हैं—'घट इव उद्गतः कचोऽस्य'।[1] अथवा हाथी के कुम्भ को भी घट कहते हैं।[2] प्रस्तुत शब्द के सन्दर्भ में तद्वत् शिर भी अर्थ लिया जा सकता है, जिस पर उठे हुए बाल थे।

इस प्रकार घटोत्कच से सम्बद्ध निर्वचन महाभारत के एक ही स्थल पर दो पाठ भेदो से प्राप्त होता है। दोनों ही उसके रूप या आकृति को स्पष्ट करते हैं अर्थात् उसके बालों में वैशिष्ट्य था।

17. त्रिशिराः

त्रि+शिरस् से— 'त्रिभिः किरीटैः शुशुभे त्रिशिराः स रथोत्तमः[3]।

'तैर्मन्त्रैः प्रावर्धत त्रिशिराः। एकेनास्येन सर्वलोकेषु द्विजैः

क्रियावद्भिर्यज्ञेषु सुहुतं सोम पपौ,[4] एकेनाप, एकेन सेन्द्रान्देवान्[4]॥

श्रीमद्भागवत और ब्रह्मपुराण आदि में त्रिशिराः नामक अनेक दानवों का उल्लेख मिलता है।[5] सर्वत्र प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः उसके तीन शिरों का उल्लेख है। जो उसके रूप या आकृति को स्पष्ट करता है। रामायण के उद्धरण मे यह रावण का पुत्रविशेष है। युद्ध-भूमि मे उसके तीनों शिरों पर मुकुट शोभायमान हो रहा था।

महाभारत मे त्वाष्ट्र विश्वरूप को त्रिशिराः[6] कहा गया है और उसे एक आख्यान द्वारा स्पष्ट किया गया है। वह देवों के पुरोहित और असुरों के स्वस्रीय थे। उन्होंने देवों के प्रत्यक्ष और असुरो के परोक्ष भाग की व्यवस्था की। असुरो ने उनकी माता से शिकायत की, तो उसने माता के कहने पर मातृपक्षवर्धना स्वीकार

---

1. द्र.-श. क. 2. मो. वि. 375-I आप्टे-197-I
3. वा. रा. युद्ध 69.24 4. महा. 12.329.23
5. भा. पु. 9 10.9, ब्र पु. 3.1.86, 3.7.135; 3.8.56 3.59.19-20 आदि।
6. तु-ऋग्वेद मे त्वष्टापुत्र विश्वरूप त्रिशीर्ष दानव (ऋक् 10.8.9) और तैत्तिरीय सहिता मे असुरों से सम्बद्ध, पर देवों का पुरोहित-तै. सं. 2.5.1.1 अथर्व 9.10.26 मे 'त्रयः केशिनः' का भी उल्लेख हुआ है।

यदि हम केवल 'रावण' शब्द के यौगिकार्थ पर विचार करें और कवियों द्वारा चित्रित उसके व्यवहार को भुला दें, तो उसका अर्थ शब्द करने और कराने वाला अर्थात् परम विद्वान् प्रवक्ता और प्रवाचक किया जा सकता है। नीति की शिक्षा प्राप्त करने के लिए लक्ष्मण को रावण के पास भेजा भी गया था। यह भी प्रसिद्ध है कि वह वेदभाष्यकर्ता[1] शिवमहास्तोत्र-लेखक और अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति था। यद्यपि इसकी पुष्टि में अधिक प्रमाण प्राप्त नहीं होते। डा. सुधीर कुमार गुप्त ने 'रावणभाष्यम्'[2] की भूमिका मे एतन्नामक किसी अन्य बाद के भाष्यकर्ता की कल्पना की है[3]। फिर भी यह प्रश्न उठता है कि फिर इसने 'रावण' नाम क्यों धारण किया ? जबकि यह नाम दानवी व्यवहार के कारण बदनाम हो चुका था। इधर राजतरंगिणी मे रावण द्वारा पूजित शिवलिङ्ग के काश्मीर मे स्थापित किये जाने का उल्लेख है[4]। वहां वैश्रवणाद्रि है और रावणह्रद भी है, जिससे शतद्रु या सतलज निकलती है[5]। काश्मीर में रावण नामक अनेक व्यक्ति (राजा) हुए हैं। एक के पिता का नाम 'इन्द्रजित्'[6] है, जब कि रामायण मे इन्द्रजित् (मेघनाथ) उसका पुत्र है। प्रायः पूर्ववर्ती विख्यात और आदर्श नामों का ही अनुवर्तन किया जाता है। काश्मीर मे विद्वान् और शिवभक्त के रूप मे ही इसे स्वीकार किया जाता है[7]। और रावण के निर्वचन गत अर्थ से इसकी पुष्टि भी होती है। उसके विषय मे दशमुखत्व की कल्पना से दशगुणित विद्वत्ता का भी आभास मिलता है। फिर स्वयं रामायण मे उसे हीन या क्षुद्र नहीं कहा गया है। महात्मा भी कहा गया है। सुन्दर काण्ड में हनुमान् ने उसे अन्तःपुर में दो भुजा वाला देखा था[8]।

इसके अतिरिक्त रामायण में भी यदि हम पूर्वाग्रहनिरपेक्ष और निष्पक्ष दृष्टि डाले, तो अपहरण के अतिरिक्त सीता के प्रति उसका व्यवहार अनुचित न था। यत्र तत्र उसके रूप, धैर्य, शक्ति, सर्वलक्षणयुक्तता, शील और धर्मविग्रहत्व की प्रशंसा की गई है।[9] उसने 'वयं रक्षामः' का नारा देकर रक्षःसंस्कृति का प्रतिपादन किया था : रावण में कृष्ण वर्ण (माषराशि प्रतीकाश) अविनय, अविवेकिता, शक्तिगर्व आदि कुछ दुर्गुण थे, जिनके कारण वह रक्षक से भक्षक बन गया। कवियो की अतिरञ्जना ने

---

1. 'यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिवेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि'—ऋ. भा. भू.-पृ. 408
2. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी-भाग 31 और दैवज्ञ पण्डित सूर्य की भगवद्गीता पर टीका में संकलित 13 मन्त्रो पर आधारित।
3. द्र.-रा. भा.-भूमिका
4. रा. त. 3.44
5. मो. वि. 879-I
6. मो वि. 166-II
7. द्र.-रा.त, भूमिका
8. सर्ग 10
9. द्र.-तु. वा.-पृ. 158, 165, 166

उसे भयावह और हेय राक्षस बना दिया, जबकि यह शब्द स्वयं √रक्ष् से बना है और इनकी उत्पत्ति सम्बन्धी आख्यान[1] में भी इस भाव की ही रक्षा की गई है[2]। आगे चलकर उसका अर्थापकर्ष हुआ है।

इस प्रकार रावण का व्याख्यात निर्वचन धातुमूलक, आख्यान परक है। इसके माध्यम से उसके परम्परागत रूप की ओर ही संकेत किया गया है। यद्यपि उसके यौगिकार्थ और अन्य प्रमाणों से उसका अपर पक्ष भी देखा जा सकता है, जो कवियों की कृपा से तिरोहित हो चुका है।

---

1. वा. रा. उत्तर 4.11.13 आदि। 2. द्र.-राक्षस- 4.23

पञ्चम अध्याय

मानव वर्ग-1 (ऋषि-ऋषिका आदि)

वैदिक खण्ड के तृतीय वर्ग 'मानव' के ऋषि उपवर्ग में ऋषियों से सम्बद्ध अन्य घटकों जैसे उनकी पत्नी, पुत्र, पुत्री, दासी आदि से सम्बद्ध शब्दों का विवेचन किया गया है।

1. अङ्गिराः-अङ्गिरस्

अंङ्गार से— 'अंङ्गारेभ्योऽगिराऽभवत्'[1]।
'अंङ्गारेभ्योऽगिरास्तात'[2]।

पौराणिक साहित्य में अंगिरा को ब्रह्मा के मानस पुत्रों[3] अथवा मनु से उत्पन्न दश प्रजापतियों[4] में अन्यतम माना जाता है। इनकी उत्पत्ति अद्भुत रूप से प्रस्तुत की गई है। महाभारत के अनुसार भगवान् रुद्र ने वारुणि-मूर्ति धारण कर एक यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसमे अनेक देवाङ्गनाएं आई थी। इन्हे देखकर ब्रह्मा का वीर्य स्खलित हो गया, जिसे उन्होने स्वयं स्रुवे में रखकर मन्त्रो के साथ आहुति दे दी, जिससे तैजस, तामस और सात्विक पदार्थों की उत्पत्ति के साथ ही तीन शरीरधारी पुरुष उत्पन्न हुए, उनमें अंङ्गिरा भी थे, जो (अग्नि के) अंगारों से उत्पन्न होने के कारण अंङ्गिरा कहलाए[5]। इन पुत्रों के स्वामित्व के लिए महादेव, अग्नि और ब्रह्मा मे विवाद होने पर देवताओं के द्वारा किये गए निपटारे के अनुसार अंङ्गिराः अग्नि को प्राप्त हुए, अतः इन्हें आग्नेय भी कहा गया है[6]।

इसी प्रकार अङ्गिरा की उत्पत्तिसम्बन्धी उल्लेख अन्य पुराणों मे भी प्राप्त होते हैं। ब्रह्मपुराण के अनुसार वारुणी यज्ञ मे अंगारों मे आहुति देने से[7] और वायु पुराण के अनुसार शुक्र के द्वितीयांश के अंगारों में गिरने पर जहा अंगों के निर्मित होने से[8] अङ्गिराः की उत्पत्ति बतलाई गई है। शब्दकल्पद्रुम मे इन्हें ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न बताया गया है, जिसका आधार भागवतपुराण अथवा ब्रह्मवैवर्तपुराण का

---

1. महा. गीप्रे अनु. 85.105
2. तत्रैव 85.107
3. वि. पु. 1.7.5; म. पु. 3.8
4. मनु 1.35; अङ्गारेष्वङ्गिरा जाताः-म.पु. 195 9
5. पु. इ.-पृ. 24
6. ब्र. पु. 2.36.62, 3.1.40-42, 4.2.33
7. वा. पु. उ. 4.40
8. भा. पु. 4.1.34-35

वह निर्वचन प्रतीत होता है, जिसमें (प्रधान) अंग (मुख) + इर (=तेजस्वी)[1] विभाग करके 'ब्रह्मा' का 'तेजस्वी' बालक" अर्थ किया गया है[2]।

अंगारों से अंगिरा की उत्पत्ति का आधार वेद-मूलक है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] और निरुक्त[4] के निर्वचन अंगार से सम्बद्ध हैं। बृहद्देवता में आख्यानपरक निर्वचन प्रस्तुत किया गया है कि प्रजाकाम प्रजापति के त्रिसांवत्सरिक सत्र में शरीरिणी वाक् को देखकर प्रजापति और वरुण का शुक्र स्वलित हुआ, जिसे वायु ने अग्नि में डाल दिया। वहां (उस प्रक्षेप से उठी) ज्वालाओं के (शान्त होने के पश्चात्) (बचे हुए) अंगारों से अंगिरा की उत्पत्ति हुई।[5] सायण ने भी यत्र तत्र अंगार से सम्बद्ध निर्वचन दिया है[6]।

निरुक्त गत निर्वचन का विग्रहप्रसक्त निर्वचन भी प्रस्तुत किया गया है— 'अंगारा अंगना: (अञ्चना)[7] जो लौकिक दृष्टि से शब्द पर विचार करने के लिए प्रेरित करता है अर्थात् कोयला जहां छू जाता है, वह अपना निशान छोड़ देता है। इसी प्रकार इन ऋषि के विषय में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे ऐसे प्रभावशाली एवं तेजस्वी थे कि सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों पर अपना प्रभाव छोड़ जाते थे।

अंगिरा: का एक अर्थ वैज्ञानिक भी किया जा सकता है कि जो अग्नि-समूह से जीवित कोयला निकालने की कला जानते थे। ऋग्वेद में इस पद का अग्नि के विशेषण के रूप में प्रचुर प्रयोग हुआ है[8]। अत: इन्हें अग्नि और आग्नेयास्त्रों का ज्ञाता और प्रयोक्ता कहा जा सकता है अथवा अंगारों अर्थात् कोयलों से उत्पन्न होने वाले हीरे (Diamond) को सहज अंगिरा: कहा जा सकता है, जिसकी पुष्टि विवेच्यमान अन्य वैदिक निर्वचन से भी होती है, जहां अंग और रस से अंगिरा का निर्वचन किया गया है अर्थात् कोयले रूप अंगों का रसमूल (प्रधान तत्व) होना है। डा. सु. कु गुप्त ने एक स्थल पर लिखा है कि अंगारों में दो तत्त्व प्रमुख हैं 'पृथिवी तत्त्व (कार्बन) और अग्नि तत्त्व। जब पृथिवी तत्त्व में आग्नेय तत्त्व अधिक होता है, तभी वह धधकता हुआ अंगारा और कोयला बनता है और उसी का अतिशय होने पर तथा बहुत अधिक दबाव या भार (-वरुण) होने पर हीरा उत्पन्न होता है[9]।

---

1. यद्यपि अमरकोश मे यह अर्थ नही है-'इरा भू-र्वाक् सुराप्सु स्यात्- (3.3.176) किन्तु यह अर्थ इरंमद-वज्राग्नि, मेघ, ज्योति मे द्रष्टव्य है।
2. प्रधानांगं मुखं धातुस्ततो जातश्च बालक:। इरस्तेजस्विवचनोऽप्यंगिरा: तेन कीर्तित: - ब्र वै ब्र ख. 22.8
3. ऐ. ब्रा 3.34; 13.10.11 4. नि. 3.17
5. बृ. 5.97-99
6. अथर्व 19.14.4; 4.21.3; 3 34.11 आदि।
7. नि. 3.17
8. ऋक् 1.1.6, 31.17, 74.5, 112.18; 4.9 7; 5 8.4, 10 7, 11.6, ... 21.1; 6 2.10; 8.60.2, 75.5, 84 4, 102.17 आदि।
9. गायत्री मन्त्राक्षराणाम् ऋषिच्छन्द आदय:-सम्पादक, सु कु गुप्त (अप्रकाशित)।

वैदिक साहित्य में अङ्ग-रस से भी अङ्गिरस् का मीनिर्वचन प्रस्तुत किया गया है कि वह वरुण के अंगों का रस है[1] और प्राण स्वरूप है, क्योंकि वह शरीर के अंगों का रस है[2] अथवा शरीर के अंग उससे रस प्राप्त करते हैं[3]। डा. फतहसिंह ने इस निर्वचन पर विस्तार से विचार किया है।[4] इन निर्वचनों की झलक महाभारतीय या पुराणगत निर्वचनों में प्राप्त नहीं होती। आख्यानों में यत्र तत्र वरुण का नाम आया है, जिसके अथवा ब्रह्मा के शुक्र को अंगों का रस स्वीकार किया जा सकता है।

उपर्युक्त वैदिक और इतिहास-पुराणगत निर्वचनों में अङ्गिरस् का सम्बन्ध अग्नि, अङ्गार, अङ्गरस आदि तेजस्वी पदार्थों और अग्नि[5], वरुण, बृहस्पति[6], आदित्य[7], उषस्[8] और पितृ[9] आदि तेजस्वी देवों से प्रदर्शित किया गया है अर्थात् अंगिरस् एक तेजस्वी पिण्ड है, जो भूगोलीय और खगोलीय घटकों में व्याप्त हैं। वैसी ही तेजस्विता एतन्नामक ऋषि में भी लक्षित होती है। अत. तेजस्विता गुण में दोनों समान है। अथर्ववेद का सीधा सम्बन्ध इस ऋषि से भी है। इस प्रकार अङ्गिराः प्राण, अंगों का रस (रक्त-मांस-वीर्य आदि) अग्नि और ऋषि आदि का वाचक है।

वैयाकरणों को यद्यपि निरुक्त-पुराण गत आर्षी प्रक्रिया स्वीकार नहीं है, फिर भी वे 'अङ्गारेभ्यः सृतः' विग्रह करते हुए अगि (गतौ)+असि में इकार और रुट् के आगम[10] से इसे सिद्ध करते है। अन्यत्र अङ्गार+सृ (गतौ)+असि से भी इसे व्युत्पन्न किया गया है[11]। शब्दकल्पद्रुम ने 'अङ्गति ब्रह्मणो' मुखान्निःसरति' और प्रक्रियासर्वस्व ने 'अङ्गति जानाति धर्मम्[12]' विग्रह करके√अगि (गतौ) असु इरस् च' व्युत्पत्ति दी है। इसे प्रक्रियासर्वस्व[13] मे अंगार के संदर्भ में निर्दिष्ट दीप्त्यर्थक √अगि के अतिरिक्त चुरादिगणीय√ अंग से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है।

इस प्रकार अंगार या अंगरस से सम्बद्ध वैदिक और पौराणिक निर्वचन आर्षी हैं और लोककृत हैं जैसा कि डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने निरुक्त के निर्वचन के सन्दर्भ में प्रदर्शित किया है।[14] किन्तु ये निर्वचन हेय नहीं माने जाने चाहिए क्योंकि

1. गो. ब्रा. 1.1.7 2. श. ब्रा. 14.4.1 8
3. जै. उप. ब्रा. 2.4.2 8 4. वे. एटी पृ 19-23
5. द्र.–पा. टि. (पृ.140 पा. टि 8)
6. ऋक् 2.23 18 7. ऋक् 7 52 3
8. ऋक् 1.71.2; 4.2.15; 3.1; 6 65.5
9. ऋक् 10.14.6 10. अंगतेरसिरिरुडागमश्च-उ 4.675
11. 'अङ्गारशब्दोपपदे धातुलोपो निपात्यते। उपपदान्तलोपः। उपधे स्वं च (द. उ. वृ.)
12. प्र. उ. 4.243 13. प्र. उ. 3.135 14. इटी.–या पृ. 27

इनमें परम्पराओं और किम्बदन्तियों का प्रतिनिधित्व होता है और उनका भी एक आधार होता है। डा. वर्मा ने[1] इसका मूल दूत (Messenger) अर्थ के द्योतक भारोपीय (angiros) और ग्रीक (angellos) में और डा. फतहसिंह[2] ने लैं.–एँगेलस (angelus) ग्री०–ऐन्जेल (anggel) प्रा. अं.–ऐंगेलैंगिल (engelangil) अं-एंजेल (angel), प्रा. हा. ज. ऐंगिल (angil), प्रा. फा-एंजिल (Angil); गा-एगिलस (aggilus) आदि में खोजने का प्रयास किया है, पर भारतीय साहित्य में उसे अंगार से ही सम्बध्द किया गया है। फिर अग्निरूप अंगार मानव समाज के लिए दूतस्वरूप है और आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति के लिए अग्नि की अनिवार्यता स्वयंसिध्द है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सदृशाक्षर योजना से 'आ' को 'इ' और अ (अस्) को 'आ' करने से अंगार से अंगिरा: शब्द बना माना जा सकता है।[3]

2. अत्रि

1. अत्र से— अत्रैवास्मीति च विभो जातमत्रिं वदन्त्यपि[4]।
2. अरात्रि > अत्रि से — (अ.–रात्रि > अत्रि)
3. अ+त्रि से
4. अरात्+√त्रै से
5. अत्+√त्रै से
6 अद्+त्रिप् से

'अरात्रिरत्रिः सा रात्रिर्या नाधीते त्रिरद्य वै। अरात्रिरत्रिरित्येव नाम मे विद्धि शोभने[5]॥

महर्षि अत्रि ऋग्वेद के प्राचीन ऋषियों में से एक हैं। यह पञ्चम मण्डल के द्रष्टा ऋषि हैं। वहां अंगिरस् आदि ऋषियों के साथ इनका उल्लेख आया है[6], उसी प्रकार पौराणिक साहित्य में भी ब्रह्मा के मानस पुत्रों[7] और मनु से उत्पन्न दश प्रजापतियों[8] में इनका परिगणन अंगिरस् के साथ हुआ है। महाभारत के दो पृथक् सन्दर्भों में आख्यान के द्वारा अत्रि के निर्वचन प्रस्तुत किये गए हैं।

पशुपति अथवा रुद्र अथवा प्रजापति या ब्रह्मा[9] अथवा वरुण[10] के यज्ञ में देवाङ्गनाएं भी आई थी। इन्हें देखकर ब्रह्मा का वीर्यस्खलित हो गया, जिसकी आहुति

---

1. द्र.–इटि. या. पृ. 27 2. वै. एटी.-पृ. 19 3. ऋतम्-पृ. 241
4. महा. गी प्रे. अनु. 85.108 · 5. तत्रैव 93.82 महा. 13.95.25
6. ऋक् 1.139.9
7. मरीच्यत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
   ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः वसिष्ठश्चेति सप्त ते॥ द्र.–वि.पु. 1.7.5
8. मनु. 1.35
9. एक अन्य पौराणिक परम्परा के अनुसार द्र.–वै. एटी.–पृ. 32
10. बृ. 5.97-103

से भृगु, अङ्गिरा और कवि की उत्पत्ति हुई। इसी सन्दर्भ में यह कहा गया है कि (सम्भवतः कुशकण्डिका के निमित्त लाकर रखे हुए कुशों के ढेर से) बालखिल्य और महर्षि अत्रि उत्पन्न हुए। अनुमानतः कुशों में भी वीर्य के जीवाणु पहुंच गए होंगे। उत्पत्तिक्रम में अत्र-अत्र' (यहां ही-यहां-ही, कुशों के ढेर से) यह भी उत्पन्न हुए है और उस शब्द-विशेष के आधार पर उनका नाम 'अत्रि' पड़ गया। नामकरण की इस प्रक्रिया को नामकरण के आधारों में 'वाक्' के अन्तर्गत लिया जा सकता है[1]।

उपर्युक्त आख्यान और निर्वचन का मूल ऋग्वेद के एक मन्त्र[2] के सन्दर्भ में निरुक्त में देखा जा सकता है[3], जहां सृष्टि के आदि मे प्रजापति के वीर्य के अग्नि में हवन करेने से भृगु और अंगिराः उत्पन्न बताए गए हैं। इन दोनो ऋषियों ने कहा कि इसी में तीसरे को पाओगे। इस प्रकार जो तृतीय ऋषि प्राप्त हुआ, उसका नाम उसके वचन के अनुसार 'अत्रि' रखा गया। ऐसा ही उल्लेख वैदिक साहित्य मे अन्यत्र भी किया गया हैं[4]। ऋषियों की संख्या-क्रम मे अत्रि ऋषि का तृतीयत्व महाभारत[5] और पुराणों[6] से पुष्ट है और यह स्वायम्भुव मन्वन्तर के तृतीय प्रजापति भी कहे गए हैं।

स्पष्ट है कि इसी आख्यान का परिवर्द्धित और किंचित् रोचक रूप महाभारत में है, पर महाभारत के प्रस्तुत स्थल में अत्रि की संख्या तृतीय नहीं रह पाई है, अतः निर्वचन में मात्र 'अत्र' को स्वीकार किया गया है। वस्तुतः आख्यान के अनुसार यह निर्वचन अत्र+त्रि (तृतीय) 7 अ+त्रि=अत्रि[7] है, क्योंकि आख्यान मे संख्या पर बल अभीष्ट है, क्रम पर नही। अतः इसमे दोनों शब्दों—अत्र और तृतीय का योग है।

निरुक्त में 'अ' को नञर्थक स्वीकार करते हुए भी एक निर्वचन 'न त्रय.' दिया है।[8] दुग ने इस विवेचन को उक्त आख्यान से जोड़ते हुए वर्णन किया हैं कि अग्नि से पूर्व उत्पन्न ऋषियों ने कहा कि 'न त्रयः' अर्थात् तीन ही नहीं, खोदो, इसी स्थान पर चौथा (वैखानस नामक ऋषि) और हैं इस कथन के अनुसार तृतीय ऋषि

---

1. बृ. 1.25 2. ऋक् 1.45.3
3. 'अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्मादत्रिर्न त्रय' इति–नि. 3.17
4. बृ. 97.103; 'तद्वै तद्देवाः। रेतः (वाचः सकाशात्पतितं गर्भं) चर्मन्वा यस्मिन वा बभ्रुस्तद्ध स्म पृच्छन्त्यत्रैव त्वा इदिति ततोऽत्रिः सम्बभूव–श.ब्रा 1.4.5.13 —यहां अत्रि को वाक् से उत्पन्न बताते हुए भी 'अत्रैव' शब्द का प्रयोग किया गया है।
5. मरीचिरङ्गिराः अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः–महा-चि 1.66.4
6. अहं तृतीय इत्यर्थं(त्रि) स्तस्मादत्रिः स कीर्त्यते–वा. पु. उ. 4.45; ब्र. पु. 2.1.44; 1.1,117, 5.70, 2.9.18
7. तृ+ड्रि, ड्रित्वात् ऋलोपः=त्रिः। 8 नि. 3.17

नाम 'अत्रि' हुआ। ऋषि परिगणन में जहां अत्रि का संख्या-क्रम तृतीय नहीं है, वहां 'अत्रि' का तृतीय नहीं' यह अर्थ भी किया जा सकता है[1]।

महाभारत के विचार्यमाण उद्धरण में सम्भवतः बलाघात के लिए 'अत्रैव' और 'अत्र' दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। वास्तव में यह द्वितीय पद व्यर्थ प्रतीत होता है, अतः उसे अत्रि शब्द का ही इच् प्रत्ययान्त रूप माना जा सकता है—(अत्रि+इच् डित्वात् टिलोप.) डा० फतहसिंह अत्रि के निर्वचन के विवेचन में उसे न+√त्रै>अ+त्र (-भय, दुःख आदि से रहित) अर्थात् शरण' मानते हैं कि आदिम मानव के लिए स्थान विशेष को भयहीन (अ—त्र) करने में समर्थ थी। अतः अत्र का मूलभाव 'अग्नि युक्त घर' रहा होगा[2]। अग्नि के शरण के साथ इस सम्बन्ध के आधार पर ही अत्रि=अग्नि की निरुक्ति√त्रै से की गई प्रतीत होता है।

महाभारत के द्वितीय उदधरण में अत्रि के ऐसे निर्वचनों की ओर संकेत होता है जो आत्मरक्षा के लिए दुर्बोध शैली के माध्यम से प्रस्तुत किये गए हैं। युधिष्ठिर के 'दातृप्रतिग्रहीत्रो वै को विशेषः ?' के उत्तर में भीष्म पितामह ने एक व्यवस्था दी और आख्यान प्रस्तुत किया एक बार अकाल में राजा वृषादर्भि ने कश्यप-अत्रि आदि ऋषियों को, प्रतिग्रह (धनधान्य-दशु आदि) के लिए कहने पर तथा उनके मनाकर देने पर, चालाकी से गूलर आदि फलों के साथ स्वर्ण मुद्राएं देनी चाहीं तो ऋषियों ने उसे भी अस्वीकार कर दिया। फलतः राजा ने बदले की भावना से आहवनीय अग्नि में आभिचारिक मन्त्रों से एक कृत्या (यातुधानी) उत्पन्न की और आदेश दिया कि वह इस ऋषि-समूह को उनके नामों का अर्थ समझकर मार डाले। सरोवर पर जल पीने और मृणाल- भक्षण के लिए आए अत्रि ने अपने नाम का व्याख्यान देते हुए कहा—

'अरात्रि रत्रिः सा रात्रिः या नाधीते त्रिरद्य वै।
अरात्रि रत्रिरित्येव नाम मे विद्धि शोभने॥'

किन्तु यातुधानी उसका अर्थ न समझ सकी। फलतः ऋषि ने अपनी भूख-प्यास शान्त की।

अत्रि द्वारा प्रस्तुत अपने नाम के इस व्याख्यान में निम्न निर्वचनों की सत्ता दृष्टिगत होती है—

1. अ-रात्रि√अत्रि
2. अ-त्रि>अत्रि
3– अरात्+√त्रै>अत्रि
4– [√अद्=अत्]+√त्रै>अत्रि
5– √अद्+त्रिप्>अत्रि

प्रथम निर्वचन का स्पष्टीकरण यह है कि 'या अरात्रिः (दिवसः) सा अत्रेः रात्रिः'— अथ च 'या रात्रिः सा अत्रेः अरात्रिः (दिनस)'—अर्थात् जो सामान्य प्राणी

1. दा.–भा.पृ. 8 13-   2. वै. एपोटी.–पृ. 34

कर ली और तदर्थ तपस्या की। इन्द्र ने अप्सराओं के द्वारा उसकी तपस्या भंग की तो भी उसने मन्त्र-शक्ति के द्वारा त्रिशिरस्त्व (अत त्रिमुखत्व) प्राप्त किया। वह इन मुखों में से एक मुख से सोमपान, दूसरे से अन्नपान और तीसरे से इन्द्रसहित देव-पान किया करता था। इससे चिन्तित इन्द्रादि देव ब्रह्मा के पास पहुंचे, जिनके निर्देशानुसार महर्षि दधीचि की अस्थियों से निर्मित वज्र से विश्वरूप त्रिशिरा का और फिर उसके ही शरीर-मन्थन से त्वष्टृ द्वारा उत्पादित पुत्र का वध किया गया।

उपर्युक्त दोनों स्थलों पर 'त्रीणि शिरांसि मस्तकानि यस्य[1] इस विग्रह के अनुसार त्रिशिरा: के आख्यानपरक अधातुमूलक समस्त निर्वचन प्रस्तुत किये गए हैं। नामगत स्वरूप की सत्ता की अस्वाभाविकता के कारण उसे प्रतीकात्मक रूप मे स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। अतः त्रिशिरा:—तीन व्यक्तियों जैसी शक्ति और बुद्धि से सम्पन्न दानवविशेष रहा होगा। महाभारतीय उद्धरण और आख्यान से इसका स्पष्ट संकेत मिलता है, क्योंकि उसने तपस्या द्वारा त्रिगुणित शक्ति प्राप्त की और उसका पृथकशः प्रयोग किया। दानवो की स्वरूपगत भयङ्करता और उनकी अप्रतिम शक्ति को बताने की यह इतिहास-पुराण ग्रन्थो की अपनी शैली रही है।

18. दशग्रीव

दश+ग्रीवा से—

अथ नामाकरोत्तस्य पितामहसमः पिता।
दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति[2]॥

पुलस्त्य के पुत्र विश्रवस् का पुत्र रावण था, जिसका अपर नाम दशग्रीव था, जो उसकी आकृति को स्पष्ट करता है कि उसकी दश ग्रीवाएं और अतएव दश मुख थे, इसीलिए उसे दशानन या दशवदन आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। कवियों ने दानवो का एक अप्रतिम शक्तिसम्पन्न और भयावह चित्र प्रस्तुत किया है। इसलिए रावण को दशग्रीव कहा गया है। तथा उस पर देव-विजय दिखाकर भक्तों पर सत्प्रभाव डालने के अपने उद्देश्य की पूर्ति सफलता पूर्वक की है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में कवि ने उसके दशग्रीवत्व और आकृतिविशेष (दारुण, बीभत्स, महादंष्ट्र, नीलाञ्जनचय, ताम्रौष्ठ, विंशतिभुज, महास्य तथा दीप्तमूर्धज आदि)[4] का कारण भी प्रस्तुत किया है कि विवाहेच्छा के लिए आई कैकसी से विश्रवा का स्पष्ट कथन था कि प्रदोष के दारुण समय मे दारुण पुत्र की उत्पत्ति होगी। तदनुसार पुत्रोत्पत्ति पर उसका नामकरण उक्त प्रकार से 'दशग्रीव' किया गया।

प्रसिद्धि है कि रावण अप्रतिम विद्वान् और शिवभक्त था। अतः दशग्रीवत्व, चार वेद तथा छः वेदांगों मे पारंगत होने का अथवा दश साधारण ग्रीवाओ के समान बलवत्ता का प्रतीक भी हो सकता है, क्योंकि उसके एक शिर का भी उल्लेख रामा-

---

1. श. क.।
2. वा. रा. युद्ध 65.29
3. वा. रा. उत्तर 9.32-33
4. वा. रा. उत्तर 9.28-29

यण में ही मिलता है[1]। उसके त्रिनेत्रत्व, द्विकर्णत्व, द्विभुजत्व आदि के भी उल्लेख मिलते हैं[2]। सम्भव है पहले दशग्रीव रूपक की भांति प्रयोग में आया हो और बाद में वह प्राणिविशेष का अर्थ देने लगा हो[3]। अथवा कथावाचकों या अन्य कवियों का भी प्रतिफल हो सकता है, जिन्होंने समय-समय पर अपने विचार भी अनुस्यूत कर दिये हैं।

अथर्व वेद में शतशीर्ष 'दशास्य' ब्राह्मण का उल्लेख आता है[4]। इन विशेषणों को भी विद्वत्ता का ही प्रतीक माना जाना चाहिए। फिर 'रावण' शब्द से स्वयं उसकी विद्वत्ता की पुष्टि होती है, जैसा कि आगे इस शब्द के अध्ययन में स्पष्ट किया गया है[5]।

व्याकरण में 'दश ग्रीवा यस्य' इस विग्रह से यह शब्द पुष्ट है। 'ग्रीवा' भी √गृ+वन् से निपातनात् सिद्ध किया गया है[6]। (गीर्यतेऽनया) अर्थात् जो प्राणियों या वस्तुओं का निगरण करती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में दशग्रीव का अर्थ परम्परया दशगुणित भक्षक लिया जाना चाहिए, पर दशगुणित ज्ञानादि को आत्मसात् करने वाला भी अर्थ किया जा सकता है।

19. दानव

दनु[7] से— 'विप्रचित्तिप्रधानांश्च दानवानसृजद् दनुः[7]।'

'दनुस्तु दानवाञ्जज्ञे'[8]

यह शब्द राक्षस के पर्याय के रूप में वैदिक काल से ही प्रयुक्त होता रहा है। यह मातृसत्तात्मक व्यवस्था का प्रतीक भी है, क्योंकि यह नाम माता 'दनु' के नाम के आधार पर रखा गया है और तद्धित में अपत्यार्थ अण्[9] प्रत्यय लगाकर और वृद्धि होकर निष्पन्न होता है। उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में यही स्पष्ट किया गया है। अन्यत्र पुराणादि में भी ऐसे ही उल्लेख प्राप्त होते हैं[10]।

शतपथ ब्राह्मण में दनु या दनायू को अदिति और दिति की बहन बताया गया है, इस प्रकार दानव आदित्य एवं दैत्यों के भाई थे।[11] ऋग्वेद में 'दानु' शब्द

---

1. तत्रैव 5.15.22, 6 40.13, 107.54-57 द्र.–सुन्दर 10.24,25, युद्ध 103.20, 110.10 आदि।
2. भा प्र-पृ 135-137
3. रा. क.–पृ. 123
4. अथर्व 4.6.1 यद्यपि सायण ने तक्षक सर्प को ब्राह्मण मानकर उसके पक्ष में घटित किया है, पर हमारा विचार है वह कोई ब्राह्मण नाम की दशशीर्ष दशास्य वाली ओषधि होगी।
5. द्र.–रावण 4.24
6. शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः उ.–1 152
7. महा.12.200 22
8. हरि. 3.14 60
9. पा. 4.1 92, द्र.–श कः, अ सु.।
10. भा.पु. 5.24.30, अ.पु. 19.11, ब्र.पु. 3.7.255, वा.पु.उ. 7.13–14
11. श.ब्रा. 1.6.2.9.

दानव या असुर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1]। इस प्रकार वैदिक दनु ही सम्भवतः पौराणिक 'दनु' है। यास्कीय निर्वचन[2] √दा (दाने) से असुरों के देवत्व की पुष्टि होती प्रतीत होती है।

उल्लेख्य है कि योरोप की आदिम जातियो की देवमाता 'दानु' महाबलशाली दानव नामक देवताओं की माता थी[3]। यहां दानवो के सन्दर्भ मे 'दनु' और दानु का साम्य देखा जा सकता है तथा असुर और दानव को देवरूप मे स्वीकार करने की स्थिति भी स्पष्ट होती है, जो भारत में राक्षस रूप मे चित्रित और प्रसिद्ध हुए[4]।

प्रस्तुत निर्वचन तद्धितान्त और व्याकरण-पुष्ट है। निरुक्तगत निर्वचन मे निरुक्त-परम्परा का निर्वाह अवश्य है, पर बाद मे यह व्याकरण की व्युत्पत्ति के आधार पर ही प्रचलित हुआ है।

20. दुन्दुभि

दुन्दुभि— 'ननर्द कम्पयन् भूमिं दुन्दुभिर्दुन्दुभिर्यथा[5]।

रामायण में एक दानव की चर्चा है, जिसके नाद से पृथ्वी कांप जाती थी। उसके शब्द को दुन्दुभि (नगाड़े) के शब्द जैसा बता कर साम्यपरक निर्वचन दिया गया है।

दुन्दुभि स्वयं एक ध्वन्यनुकरणमूलक शब्द है, क्योंकि यह 'दुम्-दुम्-भि जैसा शब्द करता है। निरुक्तकार ने इसे शब्दानुकरण शब्द माना है[6] और शब्दार्थक √दुन्दुम् अथवा √दुभि के द्विरुक्त रूप से निष्पन्न भी किया है[7]। तीसरा निर्वचन वस्तुविशेष (ढोल) के निर्माण से सम्बद्ध है—'द्रुमा भिन्न इति वा'। यहां प्रथम पद के दुम् अंश से 'दुन्दु' और द्वितीय से 'भि' ग्रहण करके शब्द को बनाया गया प्रतीत होता है अर्थात् वह टूटे हुए, कटे हुये या फाड़े हुए पेड से बनता है। यह एकाक्षरात्मक निर्वचन है।

व्याकरण की दृष्टि से इस की व्युत्पत्तियां 'दुन्दु इति शब्देन भाति'–दुन्दु + √भा (दीप्तौ) + कि[8]; द्यामुभति-द्या + √उभ (पूरणे) + इ[9]; दुन्दु इति शब्देन उभति– दुन्दु (दुन्द्) + √उभ + इन्[10] आदि दी गई है[11], जो ढोल अर्थ से सम्बद्ध है, जिसके शब्द से दानव विशेष के शब्द का साम्य उपर्युक्त उदाहरण मे प्रदर्शित किया गया है।

---

1. ऋक् 2 12.1
2. दानवं दानकर्माणम्–नि. 10.9
3. ईजिप्शन मिथ एण्ड लीजेण्ड–पृ. 34
4. द्र–असुर 4 13
5. वा.रा.किष्किन्धा 11.26
6. वृ. 1.25
7. दुन्दुभिरिति शब्दानुकरणम्। दुन्दुम्यते र्वा शब्दकर्मणः -नि. 9.12
8. बाहुलकात्।
9. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्–पा. 6.3.109
10. इगुपधात् कित्–उ. 4.559
11. द्र.-श. सु 23-II, 420-I

वैदिक साहित्य[1] मे यह शब्द ढोल अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, किन्तु पुराणों मे यह ढोल और दानव दोनों अर्थों में प्राप्त होता है। वहां दुन्दुभि नाम के कई दानवों का वर्णन मिलता है।[2] जिन-जिन स्थानों से इन दानवों का सम्बन्ध-विशेष हुआ, उन्हें भी दुन्दुभि कहा गया है।

इस प्रकार आलङ्कारिक शैली में दुन्दुभि के निर्वचन का संकेत है। अतः यह ध्वन्यनुकरणमूलक शब्द है और ध्वनिसाम्य के आधार पर संकेतित निर्वचन है।

21. दैत्य

दिति से— 'दितिस्त्वजनयत्पुत्रान् दैत्यास्तात यशस्विनः।
तेषामियं वसुमती पुरासीत् सवनार्णवा॥'[3]
'दितिस्तु सर्वानसुरान् महासत्त्वान्व्यजायत'[4]
'दितिर्दैत्यान् व्यजायत'[5]।

दैत्य शब्द भी दानव की भांति राक्षस के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। यह भी मातृसत्तात्मक व्यवस्था का ही परिचय देता है, जो पहले पितृसत्तात्मक की अपेक्षा अधिक जागरूक थी अथवा यह कहा जा सकता है कि अपत्यद्योतन के सन्दर्भ मे माता का सम्मान अधिक था। 'दैत्य' संज्ञा माता दिति के नाम के आधार पर पड़ी है। तद्धित मे अपत्यार्थक ण्य[6] प्रत्यय लगाकर और वृद्धि करके दैत्य शब्द बनता है। वहां ढक्[7] प्रत्यय से दैतेय शब्द भी बनता है, जो इसके पर्याय के रूप में प्रयोग मे आता है। आप्टे ने दिति+यत् से 'दित्य' शब्द का भी उल्लेख किया है। इन शब्दों का दितिपुत्र अर्थ उपर्युक्त उद्धरणों मे तथा अनेकत्र वर्णित है। अथर्ववेद मे भी दिति के पुत्रों का उल्लेख हुआ है[8]। उद्धरणों मे 'दिति' के निर्वचन की ओर संकेत नही है, पर उसके यास्कीय निर्वचनों से प्रस्तुत शब्द को समझने में सहायता मिल सकती है। कपिष्ठल कठ[9] में अदिति को नञ् पूर्वक क्षयार्थक √दीङ् और अपखण्डनार्थक √दो से निरुक्त करते हुए दिति का निर्वचन इन धातुओं से संकेतित हैं। मैक्डानल और हिल्लेब्रण्ट ने √दा=बांधना से इसे निष्पन्न करना चाहा है। यह धातु पाणिनीय धातुपाठ मे नहीं है। ऋग्वेद के एक मन्त्र[10] मे प्रयुक्त दिति का अर्थ राथ ने 'नश्वर' किया है[11] इन समस्त भावों को दैत्य के सन्दर्भ मे सहज देखा

---

1. ऋक् 1.22 5,46.47.29 अथर्व 5.20 1 तै.ब्रा. 1.3 6 2 श.ब्रा. 5.1.5 6 आदि।
2. यदुवंशीय पुरुष भा. पु. 9.24.20, दनुपुत्र ब्र. पु. 3.6 4 मयरम्भापुत्र ब्र. पु. 3.6.29, जम्भापुत्र-वा. पु. उ. 7.78 आदि
3. वा. रा. (दाक्षि-संस्क) अरण्य 14.15
4. महा. 12.200 28
5. हरि. 3.14 60
6. पा. 4.1.85
7. पा. 4 1.120
8. अथर्व 7.7 1
9. कपि. कठ 6.7
10. ऋक् 5.62 8
11. ब्र.-वै. दे., पृ. 321

जा सकता है। किन्तु असुर, दानव और राक्षस आदि की भांति[1] दैत्य भी मूलत. देव ही थे और सारी पृथिवी पर इनका असुर-साम्राज्य था, जैसा कि रामायणीय उद्धरण में उल्लिखित है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे भी लिखा है—'असुराणां वा इयं पृथिवी आसीत्'। ऐतरेय ब्राह्मण[2] और निरुक्त[3] मे अदिति के व्याख्यान मे दिति का निर्वच √दीप् से संकेतित है। डा. फतहसिंह ने भी इसे √दी (चमकना) धातु से व्युत्पन्न करना चाहा है[4] जो पाणिनीय धातुपाठ मे नही है। सायण ने इसे √दा (दाने) से निष्पन्न करने का संकेत दिया है। दिति शब्द के इन विभिन्न निर्वचनों और भावों का दैत्य शब्द के प्राचीनतम मूल अर्थ से सीधा सम्बन्ध है और ये आर्यकत्व की पुष्टि करते हैं। कालान्तर मे आर्यों मे पारस्परिक विद्वेषवश दो वर्ग हो गए, जिसका उल्लेख 'असुर' शब्द के विवेचन में किया जा चुका है।[5] दैत्य शब्द विदेशों में सदर्थक रहा[6] पर भारत में अपने अन्य पर्यायों (असुर, दानव, राक्षस) की भांति असदर्थक हो गया। इसकी पुष्टि असुरों के पर्याय 'पूर्वदेवा.' से भी होती है।[7]

इस प्रकार 'दैत्य' शब्द तद्धितान्त है, जो सिद्धपद दिति (मातृनाम) से ही सम्बद्ध है।

22. मधु

द्रष्टव्य—4.15

23. राक्षस

√रक्ष् से— रक्षामेति च तत्रान्ये (यक्षाम इति चापरे)।
भुंक्षिता भुंक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत्।
रक्षामेति च यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः[8]॥

वाल्मीकीय रामायण में अगस्त्य ने राम की यक्षराक्षसोत्पत्ति सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करते हुए बतलाया था कि सिसृक्षु ब्रह्मा ने अर्द्ध भाग जल और अर्द्ध भाग पृथ्वी की रचना करने के पश्चात् उत्पन्न भूख-प्यास से पीड़ित जीवों के प्रश्न 'हम क्या करें?' के उत्तर में निर्देश दिया था कि रक्षा करो'। खाने की इच्छा प्रकट करने वाले जीवो[9] के विरोध में जिन्होंने 'रक्षामः' कहकर ब्रह्मा की आज्ञा का पालन किया, वे 'राक्षस' कहलाए।

पुराणों मे भी भक्ष्य व्यक्ति या वस्तु के भेद से रक्षा अर्थ मे 'राक्षस' के आख्यानपरक धातुमूलक निर्वचन प्राप्त होते हैं।[10] इन आख्यानो का मूल शतपथ

1. द्र. 4.13,19,23
2. ऐ. ब्रा. 13.10, 3.34
3. नि. 2.13
4. वै. ए टी. पृ. 41
5. द्र.- 4.13
6. द्र.-तितैंस (Titans=Elder Gods डच (Dutch) दोयच (Deutsch) आदि शब्दों में द्रष्टव्य। दोयच और दैत्य के प्राकृत रूप 'दइच्चो' में स्पष्ट साम्य है।
7. अमर. 1.12
8. वा रा. उत्तर 4.11-13
9. द्र.-'यक्ष' 4 6
10. वि. पु. 1 5.43 भा. पु 3.20 21; वा.पु.उ. 8.98,वा. पु. पू. 9 29, मा.पु. 48.20; ब्र. पु. 3.7.60; लि. पृ. 70.226, 227 आदि।

ब्राह्मण का यह उद्धरण प्रतीत होता है—'देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुर-रक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्वमिति । तद् यदरक्षंस् तस्माद् रक्षांसि'[1]। यहां 'रक्षस्' का निर्वचन √रक्ष (रोकना) से किया गया है[2]–'उन्होंने यज्ञ करने से रोका था'। यह विवेचन उनकी इस प्रवृत्ति का द्योतन करता है, जो अनेकत्र साहित्य से प्राप्त होती है। किन्तु यदि यहां √रक्ष का सामान्य 'रक्षा करना' (क्योंकि उक्त 'रोकना' अर्थ पाणिनीय धातुपाठ मे नही है) तथा √यक्ष का भक्षण अर्थ लें, तो इस उद्धरण में भी रक्षा-प्रवृत्ति का स्वीकरण और भोगप्रवृत्ति (√यक्ष=भक्षण[3]) का निराकरण सहज प्राप्त हो जाता है। अथर्ववेद मे 'रक्षस्' का निर्वचन √रक्ष (रक्षा करना) से किया भी गया है–'(ओषधय:) तास्त्वा वधु प्रजावती पत्ये रक्षन्तु रक्षस:'।[4] डा. फतहसिंह ने उक्त दोनो उद्धरणों के आधार पर दो पृथक् 'रक्षस्' शब्दों की सत्ता बतलाई है,[5] जिनका स्पष्टीकरण डा. भोलानाथ तिवारी ने क्रमशः आद्युदात्त और मध्योदात्त के रूप में किया है।[6]

इसे आधार मानकर यह कहा जा सकता है कि 'रक्षस्' के उपर्युक्त दोनों भाव पहले प्रचलित रहे। रामायणीय निर्वचन, मूलभाव–'रक्षा करना' का द्योतक है, पर इस अर्थ का निर्वाह आगे कथा और व्यवहार मे नही किया जा सका है। यद्यपि 'रक्षस्' के सदर्थपक्षपाती कुछ अवशेष यत्र तत्र मिलते हैं।[7] तथापि रामायण और बाद के समग्र साहित्य मे अपर 'असत्' भाव ही वर्णित है। इसी परम्परा मे अमरकोश की सुधा व्याख्या मे 'रक्षन्त्यन्येभ्यो रक्षांसि' और शब्दकल्पद्रुम में रक्षति अस्मात्' विग्रह करके √रक्ष+असुन्[8] से स्वार्थ में अण् प्रत्यय[9] 'करके राक्षस' शब्द सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार रक्षस् या राक्षस, शब्द मे √रक्ष् धातु है और उसका मूलार्थ 'रक्षक' है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन और पौराणिक सन्दर्भों से स्पष्ट होता है। प्रतीत होता है कि ई.पू. 5वी शताब्दी से, गुप्तकाल मे पुराणों के आधुनिक संस्करणों के निर्माण तक लोक, मे रामायणीय निर्वचन की परम्परा भी चलती रही। कालान्तर मे अज्ञात परिस्थितियो मे यह लुप्त हो गई और वैदिक निर्वचन की परम्परा लब्ध-

---

1. श. ब्रा. 1.1.1.16, तु 2.1.4.15
2. द्र-वै.एटी.पृ. 189 और भा भा. वि. भू.-पृ. 132
3. यह अर्थ पुराणकारों ने किया है, पर पाणिनीय धातुपाठ मे पठित नहीं है।
4. अथर्व 14.2 7
5. वै. एटी.-पृ. 189
6. भा. भा. वि. भू -पृ. 132
7. जैसे निरुक्तगत निर्वचनो मे रक्षण प्रवृत्तिपरक अर्थ, ऐ. ब्रा. 2.7 मे यज्ञ-भाग के अधिकारी, नन्द-मन्त्री का राक्षस नाम, ज्योतिष योगो मे 30वें मुहूर्त का और बृहस्पति चक्र के 60 वर्षों मे से 49 वें वर्ष का नाम, 'राक्षस' नामक ललित काव्य आदि।
8. सर्वधातुभ्य: असुन्—उ. 4.628
9. 'प्रज्ञादिभ्यश्च–पा. 5.4.38

प्रतिष्ठ हो गई। इसे कवियों और लेखकों ने राक्षसों की आकृति, स्वभाव और व्यवहार का आधार लेकर उन्हें अधिक भयावह, अधिक तीव्र और अतिरञ्जनापूर्ण बनाने में अपनी लेखनी का प्रयोग किया।

इस प्रकार 'राक्षस' शब्द का आख्यानपरक और धातुमूलक निर्वचन रामायण मे प्रस्तुत किया गया है, जिसमें उसके मूलार्थ का संकेत है, जब कि शब्द का वर्तमान स्वरूप उससे मेल नही खाता।

24. रावण

√रु+णिच् से—(1) 'शैलाक्रान्तेन यो मुक्तस्त्वया राव. सुदारुण:।
यस्माल्लोकत्रय चैतद्रावित भयमागतम्।
तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना राजन् भविष्यसि।
देवता मानुषा यक्षा ये चान्ये जगतीतले।
एवं त्वामभिधास्यन्ति रावण लोकरावणम्॥[1]

(2) 'रावयामास लोकान् यत् तस्माद्रावण उच्यते।[2]

√द्रु+णिच् से—(3) 'यस्य देवा सगन्धर्वा: पिशाचपतगोरगा:।
विद्रवन्ति भयाद् भीता मृत्योरिव सदा प्रजा:।[3]

(4) 'विद्रवन्ति भयत्रस्ता: सुरा: शक्रपुरोगमा:।[4]

पुलस्त्य कुलोत्पन्न विश्रवा पुत्र लंङ्का का राजा दशग्रीव जब कुबेर को पराजित कर पुष्पक विमान से जा रहा था, तो एक ऊंचे शिखर से उसकी गति रुक गई। क्रोधाविष्ट होकर उसने उसे (शङ्कर के क्रीडास्थल रूप) पर्वत को ही उखाड़ फेंकना चाहा। शङ्कर ने उसे अपने पैर के अंगूठे से दबाया, तो उसकी भुजाएं दल गई और रोने लगा। वह भारी नाद (राव) तीनों लोकों मे व्याप्त हो गया, जैसे तीनों लोक रुला दिये गए हों (रावितम्)। क्रुद्ध शंकर की उसने स्तुति की, जिससे प्रसन्न होकर शङ्कर ने उसका नाम 'रावण' रखा। विमल सूरि ने भी लगभग यही आख्यान एवं निर्वचन दिये हैं, किन्तु वहां शङ्कर के स्थान पर बाली नाम का प्रयोग किया गया है।[5]

इस प्रकार यह निर्वचन ण्यन्त√रु से अभिप्रेत है, जिसमें 'ल्यु (अन) प्रत्यय करके णत्व विधान से 'रावण' शब्द बनता है,[6] जिसका विग्रह है 'रावयति लोकान्' अर्थात् जो लोगों को[7] शत्रुओं को[8] या रिपुओं को[9] रुलाता है। यही निर्वचन रामायण

---

1. वा. रा. उत्तर 16.38-40
2. महा. 3.259.40
3. वा. रा. अरण्य 48.3
4. तत्रैव 48.7
5. प. च. 9.78
6. द्र.-श. क.
7. वा. रा. युद्ध 9.20; 20.22; 64.19, 100.34; 114.101; 129.28, उत्तर 1.18; 34.11 आदि
8. वा. रा. सु. 22.32; 23.1, 8; 50.1; युद्ध 40 8
9. वा रा. यु. 69.17

में अनेकत्र और महाभारत के उपरिलिखित उद्धरण में और पुराणों में[1] भी प्राप्त होता है।

रामायण से उद्धृत उपरिलिखित दो (1 और 3) अंशों में बिना मूल शब्द दिये हुए उसका व्याख्यान रूप निर्वचन किया गया है। यहां 'रावण' को √ द्रु (गतौ) से निष्पन्न करना अभिप्रेत प्रतीत होता है। रामायण के प्रथम उद्धरण में भी 'चैतद् द्रावितं' पाठ को स्वीकार कर √द्रु की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। अर्थात् जिसने तीनों लोको को दौड़ा दिया है, भगा दिया है, और भयभीत कर दिया है अथवा जिससे भयभीत होकर समस्त प्राणी दूर भाग जाते हैं। पूर्व संकेतित व्याकरण-प्रक्रिया के अनुसार मूलत. यह शब्द 'द्रावण' बना। शब्द को स्पष्ट करने के लिए अन्य विग्रह भी किये जा सकते हैं। 'यस्माद् द्रावितं, तस्माद् द्रावण:' अथवा 'द्रावयति (लोकान्) इति द्रावण, द्रावणमस्यास्तीति द्रावण:[2] आदि। द्रावण> रावण अर्थात् मुख-सुख वश आदि व्यञ्जन लोप से 'रावण' बना। यह प्रक्रिया भाषा-विज्ञान सम्मत है।

रावण शब्द के सिद्धि की लिए व्याकरण-सम्मत कुछ अन्य व्युत्पत्तियां भी दी जा सकती है। शब्दन (शब्दकरणशील) के पर्याय के रूप में रावण शब्द अमरकोश में पठित है और इसकी सिद्धि√रु+युच्[3] से होती है[4] अथवा औणादिक युच्[5] प्रत्यय से भी इसकी सिद्धि की जा सकती है। तत्पश्चात् स्वार्थ में अण् विधान से 'रावण' बनता है अर्थात् जो (भयकर) शब्द करने वाला है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि रावण विश्रवा (विश्रवस्) और कैकसी या केशिनी का पुत्र था। विश्रवा की दूसरी पत्नी इडविडा से कुबेर का जन्म हुआ था[6], अर्थात् कुबेर और रावण परस्पर वैमात्रिक भाई थे। एक पर्याय वैश्रवण भी है। कुबेर और रावण के नामो-वैश्रवण और रावण शब्दों की व्युत्पत्ति व्याकरण मे विश्रवस् को निपातन से विश्रवण और रावण आदेश करके अण्[7] प्रत्यय करके की गई है[8] अर्थात् विश्रवस् को विश्रवण और रावण नामो से कभी अभिहित किया जाता था। प्रथम नाम से सम्बद्ध है–वैश्रवण (कुबेर) और द्वितीय नाम से सम्बद्ध है—रावण। सम्भवत: इसीलिये शब्दकल्पद्रुम मे 'रवणस्यापत्यमिति' विग्रह भी दिया गया है।

---

1. वा. पु. उ. 9.44; ब्र.पु. 3.8.48-50 आदि।
2. यथा पापमस्यास्तीति पाप:।
3. चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्-पा. 3.2.148   4. म. सु.-पृ.-362-II
5. सुपूरुयुब्जो युच्-उ. 2.233   6. भा. पु. 4.1.36,37
7. शिवादिभ्योऽण्-पा. 4.1.112
8. शिवादिषु विश्रवसो विश्रवणरावणावादेशौ निपातितौ अण् च। वैश्रवण:। रावण.-म. सु पृ. 28-II; द्र-सि. कौ.-त. बो.-पृ. 593

के लिए सांसारिक सुख आदि रूप दिन है, वहं ज्ञानी-योगी अत्रि के लिए रात है, वह उनके प्रति सुप्त और निरपेक्ष रहता है। इसी प्रकार अन्य प्राणियों के लिए जो रात्रि है—जब वे इन्द्रियों के विषयों मे लिप्त रहकर अज्ञान के कारण अन्धे हो जाते हैं, तो संयमी अत्रि का वह दिन होता हैं और वह वास्तविकता को समझने मे दत्तचित्त तथा परमात्म—तत्त्व में जागरूक रहता हैं[1]। योगी के रूप में अत्रि का उल्लेख यत्र तत्र साहित्य मे प्राप्त भी होता है। तथा कूर्म पुराण में इनकी उत्पत्ति योग-विद्या से बतलाई गई है[2]। निर्वचन परक उक्त भाव का द्योतक अरात्रि ही अत्रि है, जो मध्य-वर्ण-लोप से बना है।

द्वितीय निर्वचन का संकेत 'य: त्रिर्नाधीते' से किया गया है-अ (नञ्)+त्रि अर्थात् जो एक बार (तीन बार में नही) पढ़ने या ध्यान लगाने से सम्पूर्ण अर्थ या ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् मेधावी और विद्वान् हैं। वैदिक साहित्य मे अत्रि को 'वाक्' भी कहा गया है, किन्तु वहा इसे√अद् (भक्षणे) से सम्बद्ध कर ज्ञानादि का भक्षण करने वाला या आत्मसात् करने वाला बताया गया है[3]। महाभारत मे इसी भाव को अपनी शैली मे व्यक्त किया गया प्रतीत होता है। डा० फतह सिंह ने अ+त्रि की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। तदनुसार स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों मे इच्छा ज्ञान-क्रिया अथवा सोम-इन्द्र-अग्नि तत्त्व व्याकृत अवस्था मे रहते हैं, परन्तु विज्ञानमय कोश मे सारी नानात्वमयी सृष्टि समा जाती है या कवलित हो जाती है[4]। क्योंकि वह सबका अत्ता भी है (√अद् से) ब्रह्मवैवर्त-पुराण मे एकाक्षरा परम्परा का अवलम्बन करते हुए (अ = विष्णु)+त्रि (= त्रि-गुणात्मिका प्रकृति) की समन्वित रूप और पुरुष और प्रकृति के भक्ति (शक्ति) की निष्ठा वाला बालक अत्रि कहा गया है[5]। यह निर्वचन सम्प्रदाय विशेष की मान्यता को पुष्टि के लिए प्रवृत्त हुआ हैं और अर्वाक् कालीन परिकल्प को उपस्थित करता है। (अ+त्रि) से सम्बद्ध निर्वचन निरुक्त मे भी प्राप्त होता है, पर यहा भिन्न

---

1. तु.-या निशा सर्व-भूताना तस्यां जागर्ति संयमी।
   यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।गीता 2.69
   द्र०-इस श्लोक पर लेखक की व्याख्या-श्री० द-पृ. 71
2. कू पु 2.24. 10.88
3. वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्ति हि वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति-श. ब्रा. 14.6.2.6; तु-बृ. उप 2 3.4; तै आ. 9.8; अथर्व 4,21.3; श.ब्रा. 14 5 2.2
4. वे. द-पृ. 146
5. ब्र.वै,ब्र.ख. 22.16

व्याख्यान दिया गया है[1]। श्रीहरिशरण ने इस निर्वचन को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है—'अविद्यमानाः त्रयो यस्य 'अर्थात् जिसमें काम, क्रोध और लोभ नहीं है—जो इनसे दूर है—वह अत्रि है[2]।

म. म. मथुराप्रसाद दीक्षित ने इन्हें तापत्रय या दु.खत्रय से रहित बताया है–'अत्रि. दु.खत्रय रहित':[3]।

तृतीय निर्वचन 'अरयः कामादयः सन्ति अस्मिन् इति अरं[4]=पापं, तस्मात् त्रायते' विग्रह करके अरात्+√त्रै से अभिप्रेत प्रतीत होता है–'तस्मादरात्रिः तस्मादत्रिः'[5]।

चतुर्थ निर्वचन 'अत्तीति अत् = मृत्युः, तस्मात् त्रायते' विग्रह करके अत्+√त्रै से अभीप्सित है, जैसा कि आचार्य नीलकण्ठ ने टीका में निर्दिष्ट भी किया है। यहां अत् (= मृत्यु) से बचाने वाला अत्रि कहकर उसमें व्याप्त जीवनी शक्ति का निर्देश किया गया है। वैदिक साहित्य में 'अत्रि' को √त्रै से व्युत्पन्न कर पापों और विपत्तियों आदि से रक्षा करने वाला प्राण कहा गया है[6]। श्री मधुसूदन ओझा ने इन्हें प्राणविध अत्रि का द्रष्टा कहा है[7]।

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणों में √अद् का स्पष्ट संकेत नहीं है, पर इस धातु से अत्रि को निर्मित स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि यहां (आख्यान मे) अत्रि मे अकाल के कारण तीव्र भक्षणेच्छा। तथा उनकी भूख की शान्ति के लिए सरोवर पर जाना और बुद्धि-चातुर्य से भूख शान्त करना आदि संकेतित है। वैदिक साहित्य मे *अग्नि और रक्षस् अर्थ के सन्दर्भ मे[8] अत्रि का अदनशीलत्व सुरक्षित है।* वैयाकरणों ने भी 'अत्ति अग्नेः सहायतया शत्रून् भक्षयति' 'अत्ति पापानि तपसा' और 'फलाद्यत्तीति' विग्रह करके त्रिन् या त्रिप्[9] प्रत्ययो से क्रमशः अत्रिन् और अत्रि रूप सिद्ध किये हैं। मतान्तर से पृषोदरादि[10] से 'द्' लोप करके अत्रि भी बनाया गया है।

वैदिकसाहित्य मे उक्त धातु से निर्मित अत्रि शब्द का उल्लेख अग्नि के विशेषण के रूप में[11] अथवा इस रूप मे भी हुआ है, जिसमे अग्नि का निकट का

---

1. नि. 3.17 2. ऋ०ऋ० 44
3. अ. नि.–पृ 85
4. अरि+अच् (मत्वर्थीया. पा. 5.2.127) इकार लोप, पा. 6.4.148,
5. द्र.–ऋतम् 5 पृ. 241
6. य इदं सर्वं पाप्मनो त्रायत यदीदं किञ्च स यदिदं सर्वं पाप्मनो त्रायत यदिदं किंच तस्मादत्रयस्तमादत्रय इत्याचक्षते–ऐ. ब्रा. 21.219
7. गी वि.भा–पृ. 374-375
8. अग्रिम दो अनुच्छेदों मे क्रमशः द्रष्टव्य।
9. अदेस्त्रिनिश्च–उ. 4.508 चात्त्रिप्। प्र. उ. 4.70.
10. पा. 6.3.109. 11. ऋक् 2.8.5.

सम्बन्ध हो[1]। अश्विनो ने अत्रि को एक गर्त से उठाया था, जहां वह अग्नि से भभक रहा था[2]। यहां उनका अग्निकुण्ड से उत्पत्ति सम्बन्धी आख्यान तुलनीय है। डा. फतहसिंह ने अत्रि का अग्नित्व वैदिक उद्धरणों, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक देवशास्त्र के आधार पर शब्द और तद्गतधातु पर विचार करते हुए पुष्ट किया है[3]।

वैदिक साहित्य मे√अद् (भक्षणे) से निष्पन्न 'अत्रिन्' शब्द भी प्राप्त होता है। अदन-शीलत्व[4] के कारण वहां रक्षस्[5], पाप्मा[6] या शत्रु आदि के अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है। लौकिक साहित्य मे इस अर्थ में इसका प्रयोग नही हुआ प्रतीत होता है और न विवेच्य ग्रन्थो में इसका प्रतिनिधित्व हुआ है।

इस प्रकार 'अत्रि' के अनेकविध निर्वचन प्राप्त होते हैं, जिनसे 'अत्रि' शब्द का स्वरूप-निर्धारण स्पष्ट होता है। वैदिक साहित्य मे यह भक्षणार्थक√अद् से अग्नि या वाक् का वाचक है। √त्रै से रक्षक रूप में प्राण का वाचक, है और अत्र से ऋषि रूप मे वर्णित किया गया है। बाद के साहित्य मे उपर्युक्त में से कथंचित्√अद् √त्रै और 'अत्र' से सम्बद्ध निर्वचनों की रक्षा हुई है, किन्तु प्रस्तुतीकरण भिन्न है। साथ ही अन्य अनेक निर्वचन भी प्रस्तुत किये गए है, चाहे उनका उद्देश्य कुछ भी रहा हो। यह भी स्पष्ट होता है कि वैदिक निर्वचनों मे भी आख्यान का अवलम्बन किया गया है, किन्तु इतिहास पुराण मे उसे अपने ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है। फिर भी वैदिक और पौराणिक इन समस्त निर्वचनों को लोककृत निर्वचन ही कहा जा सकता है। निरुक्त गत निर्वचन के सम्बन्ध में डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने यही माना है[7]। फिर भी इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि लोक-भावना और लोक-परम्परा का वहन तो करते ही हैं। महाभारत के द्वितीय उद्धरण से आत्मरक्षा के लिए प्रयुक्त अस्पष्ट, दुर्बोध भाषा का ज्ञान होता है, जो आज भी अवसरानुकूल देशकालानुसार प्रयोग मे लाई जाती है। अतः यह परोक्षवृत्ति निर्वचन है। पश्चिमीय पार्श्वस्थ देशों मे आतर्, अद्रिस्, इद्रिस् या ईदरीस् आदि नामो में 'अत्रि' को देखा जा सकता है।

---

1. ऋक् 10.39.9.
2. ऋक् 5 78 4; 1.116 8, 1.118 7-द्र. वै दे-पृ. 377.
3. वै. एटी.–पृ. 33.34 4. वै. दे–पृ. 378
5. अत्रिण अदनशीलाः रक्षः पिशाचादयः–सायण (अथर्व 1.16 1, 4.10.2, 6 32 3, 6.55.3) अत्तीति-सायण (ऋक् 2.8 5) 'अत्रिणो वै रक्षांसि'–प. ब्र, 3.2
6. रक्षांसि वै पाप्माऽत्रिण.–ऐ. ब्रा, 2.2. 'पाप्मानोऽत्रिणः–'वै. एटी. पृ. 35
7. इटी. या.–पृ 100

3. अरुन्धती

अरुस् + √धा
अ + √रुध्
अनु + √रुध्

धरान् धरित्रीं वसुधां भर्तुस्तिष्ठाम्यनन्तरम् ।
मनोऽनुरुन्धती भर्तुरिति मां विद्ध्यरुन्धतीम्[1] ।।
'धरां......................................।।[2]

'अत्रि' शब्द के अध्ययन मे प्रदत्त द्वितीय उद्धरण के सन्दर्भ मे अन्य ऋषियो की भांति अरुन्धती ने भी अपना नाम-निर्वचन अस्पष्ट रूप में यातुधानी के सम्मुख उक्त प्रकार से प्रस्तुत किया ।

प्रजापति कर्दम की पुत्री और वसिष्ठ की पत्नी पतिव्रता अरुन्धती के नाम की व्याख्या करने वाले उद्धरण के प्रथम चरण में पर्वत और पृथ्वी एवं आकाश (वसून् देवान् धत्ते–दिवम्) शब्दों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि 'अरु' या अरुस् को स्पष्ट किया गया है । यद्यपि कोश में अरुस् के ये अर्थ प्राप्त नहीं होते, पर विशिष्ट अर्थ देकर निर्वचन करने की परिपाटी इतिहास-पुराण ग्रन्थों में रही है । यहां यद्यपि वसुधा आदि के धारण का अर्थ का उल्लेख स्पष्ट नही है, तथापि वह अभिप्रेत अवश्य प्रतीत होता है जैसा कि गीताप्रेस से प्रकाशित महाभारत में प्रदत्त अर्थ द्योतित करता है । इस अनुवाद के अनुसार अरुन्धती अरु अर्थात् पर्वत, पृथ्वी और द्युलोक को अपनी शक्ति से धारण करती है । आचार्य नीलकण्ठ ने भी 'अरुषः अतिकठिनात् धरादीन् दधातीत्यरुन्धती' विग्रह करके यही भाव लिया है । इस प्रकार अरु+दधती रूप मे द लोप और नुम् का आगम करके 'अरुन्धती' पद बनाया जा सकता है ।

द्वितीय चरण मे अरुन्धती का कहना है कि मै अपने पति वसिष्ठ से दूर नही रहती हूं । पति-पत्नी का सान्निध्य स्वाभाविक है । आकाश में भी अरुन्धती नक्षत्र[3] का उदय वसिष्ठ के पास ही होता है, जिसको न देख पाने वाला गतायु माना जाता है[4] । अथवा पति के प्रति अव्यवहित रूप से (अनन्तरम्) से मन को रोकती हुई या चाहती हुई (रुन्धती)[5] अर्थ करके स्वार्थ में स्वरागम (अकार) से अथवा अन्यत्र मन को न रोकती हुई अर्थ करके नञ्+रुन्धती से भी अरुन्धती पद निर्मित किया जा सकता है ।

तृतीय चरण मे भी पति के मन का अनुरोध करती हुई अर्थ करके 'अनुरुन्धती' पद मे नुकार का वर्णलोप करके अरुन्धती पद बनता है ।

---

1. महा. गी. प्रेस अनु. 93 96 2. महा. 13 95 39
3. तै. आ. 3.9.2 में नक्षत्र के रूप में उल्लेख है ।
4. न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरुन्धतीम् ।
   ध्रुवमाकाशगंगा वा तं वदन्ति गतायुषम् ।।
5. √रुधिर आवरणे । √रुध् कामे ।

अथर्ववेद[1] मे एक लता के सन्दर्भ में वनस्पति नाम के रूप मे 'अरुन्धती' का उल्लेख हुआ है और वहाँ घावो को भरने वाली अर्थ किया गया है[2]। वर्तमान संदर्भ मे भी तपोबल से कष्टों का निवारण करने वाली अर्थ किया जा सकता है।

शब्दकल्पद्रुम में 'न (कमपि) रुन्धती' विग्रह करके नञ् + √रुध + शतृ + ङीप् से अरुन्धती को व्युत्पन्न किया गया है।

4: अहल्या

नञ् + हल > हल्य— हलं नामेह वैरूप्यं हल्यं तत्प्रभवं भवेत्।
यस्मान्न विद्यते हल्यं तेनाहल्येति विश्रुता ॥
अहल्येति मया शक्र ! तस्या नाम प्रवर्तितम् ॥[3]

पुराणों में अहल्यामैत्रेयी मुद्गल-कन्या, महर्षि गौतम की पत्नी और शतानन्द की माता के रूप मे विख्यात है। गौतम की अनुपस्थिति में चन्द्र की सहायता से कुक्कुट रूप इन्द्र द्वारा अहल्या से किये गए व्यभिचार और गौतम द्वारा शापग्रस्त इन्द्र एवं अहल्या का आख्यान यत्किंचिद्भेद के साथ अनेकत्र[4] वर्णित है।

वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड मे पराजय और बन्धन से निराश इन्द्र को कर्म-फल का उपदेश देते हुए ब्रह्मा ने बताया कि जीव-सृष्टि के लिए सुरूपवती अहल्या को मैंने उत्पन्न किया था और उसे, इच्छुक तुम्हें न देकर, गौतम को दिया था और तुमने उसका सतीत्व नष्ट करके पराजय और बन्धन का शाप प्राप्त किया था। इसी स्थल पर जो निर्वचन दिया गया है, उससे उसके सौन्दर्य पर प्रकाश पड़ता है।

यहां 'हल' शब्द को विरूपता का वाचक बतलाया गया है और उससे उत्पन्न को 'हल्य'। हल्य (विरूपता) से रहित जन अहल्य है। अहल्य का स्त्रीलिंग रूप 'अहल्या' है। अतः अहल्या अत्यन्त रूपवती स्त्री का वाचक है—"हले भवं हल्यं, न विद्यते हल्यं यस्यां सा"। यहां 'हल' शब्द का जो अर्थ दिया गया है, वह कोशों मे प्राप्त नहीं होता।

---

1. अथर्व 4.12.1; 5.5.5, 9, 6.59.1,2
2. द्र.-वै. को अथवा वै.इ.
3. वा. रा. उत्तर 30.24-25
4. वि. पु. 4.4; भा. पु. 9.21; पद्म पु. खण्ड 6, अ. 269 बारा बाल. अ.51 कथासरित्सागर 3 17, रघु-11.33-34; विक्रमोर्वशीयम् 2.8 के बाद, रामचरितमानस-बालकाण्ड (सोपान) 242-243 दोहा।

फिर भी √हल् बिलेखने से बने शब्द हल और तज्जन्य हल का अर्थ 'हल की जोतों से युक्त खेत की भांति' अर्थात् झुरियों से युक्त विरूप किया जा सकता है[1]।

अहल्या और तत्सम्बद्ध आख्यान का मूल षड्विंश ब्राह्मण[2] के 'अहल्या या ह मैत्रेय्याः (इन्द्र.) जार आस' और शतपथब्राह्मण[3] के 'अहल्यायै जारः' आदि[4] उल्लेखों मे देखा जा सकता है, किन्तु इनमे कहीं भी गौतमशाप या राम द्वारा किये गए उद्धार का उल्लेख नही है। वस्तुतः यह प्रतीकात्मक वर्णन है, जिसका सुन्दर स्पष्टीकरण कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में किया है[5], जहां सूर्य (= इन्द्र) के दिन (अहन्) मे लीन (विलीन) हो जाने के कारण (अहनि लीयमानतया) रात्रि को अहल्या बताया गया है। सूर्य ही 'जार'[6] है, क्योंकि वह रात्रि का घर्षण करता है[7] और उसे जीर्ण बनाकर अन्तर्हित कर देता है।

डा वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'हल्य'[8] का अर्थ न जोती जाने योग्य भूमि लेते हुए 'अहल्या' का अर्थ ऊसर' किया है और उपर्युक्त वैदिक उद्धरण के लिए लिखा है कि वह वर्षा के स्वामी इन्द्र के लिए उसी प्रकार कहा गया प्रतीत होता है, जिस प्रकार आजकल इन्द्र (मेघ) पर यह दोष लगाया जाता है कि वह ऊपर मे अधिक बरसता है[9] और 'ऊसर बरसे तृण न'ह जामा' उक्ति प्रसिद्ध है।

डा. वेबर ने यूनानी 'अखिल्यूस' से सम्बद्ध आख्यान का साम्य अहल्या के आख्यान से करते हुए अहल्या को प्रकाश और इन्द्र को प्रकाश का प्रेमी बताया था[10] किन्तु डा. ग्रियर्सन ने उक्त कथासाम्य को निराधार सिद्ध किया था[11]।

टी. एस कृष्णमूर्ति[12] के अनुसार वैदिक साहित्य में गौतम और कौशिक दोनो इन्द्र के नाम भी प्रतीत होते है[13] और षड्विंश ब्राह्मण मे सायण ने कौशिक को अहल्या का पति बताया है[14]। इसी ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र ने गौतम का रूप धारण

1. काशिका (4.4.97) के आख्यान में 'हलस्य कर्षः' मे हल्यः का अर्थ एक हल के लिए पर्याप्त जोत की भूमि किया गया है, और इस प्रकार अहल्य (अहल्या) का अर्थ यह किया जा सकता है कि जिसके पास ऐसी भूमि न हो, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में असंगत है।
2. ष. ब्रा. 1.1 2
3. श. ब्रा. 3.3.4.18
4. तु.-जै. ब्रा. 2.78
5. तन्त्रवार्तिक 1.3.7 द्र.-मू. सं. उ -पृ. 138
6. √जॄष वयोहानौ + घञ्
7. द्र.-महा. चि 12 342.23
8. हलेन कृष्यः। नञ् समासः अकृष्टभूमि -इति कोशः।
9. पा. का. भा.—पृ. 200
10. रायल प्रशन एकेडेमी में 10 नवम्बर 1887 में पठित निबन्ध।
11. सन् 1888 में 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में प्रकाशित एक लेख में।
12. दि लीजेण्ड ग्राफ अहल्या थ्रू दि.-एजेज-दि मैसूर ओरिण्यटलिस्ट में प्रकाशित लेख वा. III 1970, पृ. 90
13. श. ब्रा. 3.3.4.18
14. ष ब्रा. 1.1 22

कर देवासुर संग्राम में गुप्तचर का कार्य किया था। इस प्रकार सम्भवतः इस सन्दर्भ ने और उपरिलिखित 'अहल्याजार' पद ने गौतम को अहल्या का पति बना दिया और पौराणिकों ने एक रोचक आख्यान प्रस्तुत कर दिया। बाद में विष्णु के भक्तो ने उनकी महिमा प्रतिपादित करने के लिए वर्तमान स्वरूप दे दिया। इस आख्यान का यह भाव भी लिया जा सकता है कि बिना जोती हुई ऊसर भूमि (अहल्या) को तो इन्द्र (वर्षा) का ही सहारा होता है, उसे उसी की आवश्यकता होती है। वहां गौतम (बैलों) से कार्य नही चल सकता, वे तो हल्या भूमि के लिए होते है।

इस प्रकार अहल्या का रामायणीय निर्वचन प्रत्यक्षवृत्ति है। यह नाम उसके सुन्दर रूप के कारण पड़ा। रूप के आधार पर नाम पड़ने की भी एक प्रथा रही है[1]। अहल्या से सम्बध्द आख्यान वेदमूलक है और उसका वर्तमान रूप कथको एव भक्तों की कृपा का फल है। वैदिक इन्द्र की महत्ता उत्तरोत्तर घटती गई, यह कृष्ण, वृषाकपि, इन्द्रजित्, ककुत्स्थ आदि शब्दो के अध्ययन में देखा जा सकता है[2]। इसी की पुष्टि 'अहल्या' शब्द से भी होती है। वैदिक इन्द्र की अपेक्षा पौराणिक इन्द्र ईर्ष्यालु, भीरु, कामुक और लम्पट तक हो गया है।

5. कश्यप

1. कुल+√प्रविश्+√पा से
2. कु+√वम् से
3. कश्य+√पा से

(1–3) } कुलं कुलं च कुवमः, कुवमः, कश्यपो द्विजः। काश्यः काशनिकाशत्वादेतन्मे नाम धारय[3]।

4. काश्य-(काश+य या यत्) से—

अत्रि शब्द के अध्ययन में प्रदत्त महाभारत के द्वितीय उद्धरण से सम्बद्ध आख्यान के सन्दर्भ[4] मे कश्यप नामक अन्य ऋषि ने भी कृत्या यातुधानी से आत्म-रक्षा के लिए अपने नाम का निर्वचन उक्त रूप से दुर्बोध और अस्पष्ट शैली में किया और मृणाल तथा जल से तृप्त हुए, क्योंकि इससे यातुधानी कुछ नही समझ सकी थी।

गीता-प्रेस से प्रकाशित महाभारत में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार दिया गया है। 'कश्य नाम है शरीर का, जो इसका पालन करता है, उसे 'कश्यप' कहते हैं। मैं प्रत्येक कुल (शरीर) मे अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करके उसकी रक्षा करता हूं, इसीलिए कश्यप हूं। 'कु' अर्थात् पृथ्वी पर 'वम' अर्थात् वर्षा करने वाला सूर्य भी मेरा स्वरूप है, इसीलिए मुझे 'कुवम' भी कहते हैं। मेरे देह का रंग काश के फूल की

---

1. बृ 1.25
2. द्र.-क्रमशः 3.12,3 36, नि. को 59, 6.4
3. महा. गी. प्रे. अनु. 93.86
4. द्र-अत्रि 5.2 महा 13.95.29

भाति उज्ज्वल है। अतः मैं 'काश्य' नाम से भी प्रसिद्ध हूं। यही मेरा नाम है, इसे तुम धारण करो।

यहां महर्षि कश्यप ने अपने नाम को चार प्रकार से प्रस्तुत किया प्रतीत होता है, जिसमे उन्होने अपने को सर्वव्यापी या सर्वरक्षक (ब्रह्म) सूर्य, एतन्नामक ब्राह्मण या मुनि और काश्य (कश्यप) बताया है। ध्येय है कि यहां इस रूप में स्पष्ट करना अभीष्ट नही था, अतः 'कश्यप' से सम्बद्ध भावो का कथन किया गया है। धातु आदि देकर स्पष्ट निर्वचन नहीं किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्टतः आर्थी निर्वचन है।

श्लोक के प्रथम चरण में कुल पूर्वक √शॄ (गतौ) धातु अभिप्रेत प्रतीत होती है कि 'मैं प्रत्येक कुल या शरीर में व्याप्त हूं'। यहां कश्यप का ब्रह्मपरक अर्थ किया गया प्रतीत होता है, जो सर्वव्यापी, सर्वशास्त्र और सर्वरक्षक है। आचार्य नीलकण्ठ ने ऐसा ही भाव प्रकट किया है—'सर्वाणि शरीराणि प्रविश्यान्तर्यामिरूपेण पालयामि जीवरूपेण तद्द्वारा सुखदुःखादिकं भुञ्जे ब्रह्मरूपेण तानि सर्वाणि स्वात्मनि प्रविलाययामीत्यर्थः[1]। स्वामी दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में[2] परमेश्वर या ब्रह्म को कश्यप कहा गया है, क्योंकि उसी ने सभी प्रजाओं को उत्पन्न किया है। श. ब्रा. के अनुसार वह प्रजा काश्यपी कहलाती है[3]। महाभारत[4] और ब्रह्मवैवर्तपुराण[5] में तो कश्यप की पुत्री के रूप में समस्त पृथ्वी को ही काश्यपी' कहा गया है। पौराणिक परम्परा मे भी ये अदिति, दिति आदि दक्ष की 13 या 17 कन्याओं मे विवाह करके सुरासुर और चराचर समस्त जगत् के उत्पादयिता माने जाते हैं। इसीलिए ये कश्यप प्रजापति भी कहे जाते हैं। ये अपनी समस्त प्रजा को देखते रहते हैं। अतः मूल शब्द 'पश्यक' है, जिसका वर्णविपर्यय से कश्यप बना है—'पश्यतीति पश्यः, सर्वज्ञतया सकल जगद्विज्ञानात्ति स पश्यः। पश्य एव पश्यकः। आद्यन्ताक्षर विपर्ययात्सिद्धेः,[6] इसके अतिरिक्त 'कश्यं अज्ञानम् अविद्यां वा पिबति, शोषयति, नाशयति' विग्रह करके (कश्य + √पा (पाने) से) अथवा 'कश्यं विज्ञानघनं पाति रक्षति स्वात्मनि'[7] विग्रह करके (कश्य + √पा (रक्षणे) से) भी ब्रह्मपरक अर्थ किया गया है। श्रुति वचन भी है—'तदेव ब्रह्म वा आत्मा एतस्य पाता हर्ता प्रजाना गोप्ता वावह कश्यपो ह योऽयमज्ञानभोक्ता गान्धर्वि[7]।

---

1. महा. चि. अनु—पृ. 208
2. ऋ. भा-पृ 291, पृ. 371 सवत् 1991 में अजमेर से प्रकाशित।
3. श. ब्रा 7.5 1 5 4 महा. गी. प्रे अनु. 154.7 5. ब्र. वै, प्र. ख. 9.33
6. ऋ एभा पृ 291 कश्यपः पश्यको भवति–तै, आ. 1.8.8 पाणिनीय व्याकरण में 'पश्यक' शब्द नही बनता है। श्री भगवद्दत्त के अनुसार यह प्रतिभाषा का शब्द हो सकता है। 7. विग्रह और उद्धरण के लिए द्र.–हि. वि. वसु।

द्वितीय निर्वचन सूर्यवाची 'कुवम' (कौ पृथिव्यां वमतीति अर्थात् पृथ्वी पर वर्षा करने वाला) शब्द के प्रयोग से संकेतित है। कहा भी है—'आदित्याज्जायते वृष्टिः। यहां कश्यप को सूर्य कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में कश्यप को कूर्म और कूर्म को आदित्य कहा गया है।[1] उन्हे मार्तण्ड[2], मारीच[3] (सूर्य) और सूर्य की उत्पत्ति-स्थान भी कहा गया है[4]।

ध्येय है कि कूर्म का एक पर्याय कच्छप है और एक विचार है कि वैदिक साहित्य में कश्यप का प्रयोग कच्छप के लिए भी हुआ है[5]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने अपने आपको कच्छप के रूप मे परिवर्तित कर लिया था[6] और इस रूप में उन्होंने सब प्राणियों की रचना की थी। दशावतारों मे कच्छपावतार प्रजापति के इसी रूप का विकास प्रतीत होता है[7]।

महर्षि यास्क ने कश्यप पर विचार नहीं किया है, पर कच्छप के जो निर्वचन दिये हैं[8] उनमें 'कच्छ' को शरीर के अर्थ मे लिया है और इधर 'काश्य' या 'कश्य' को भी शरीरवाची बताया गया है[9]। उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने कच्छप शब्द का विकास ही कश्यप से माना है[10]—'कश्यप 7 कश्श्प 7 कच्छप। व्याकरण और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से श का छ से सम्बन्ध है, अतः श्य या श्श का च्छ मे परिवर्तन सम्भाव्य है[11]। वर्तमान सन्दर्भ मे 'कच्छप' के निरुक्तगत निर्वचन को कश्यप के लिए इस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है—'कश्यं पाति, कश्येन पातीति वा कश्येन पिबतीति वा' अर्थात् जो अपने शरीर की रक्षा करता है अथवा जो अपने शरीर से दूसरो की रक्षा करता है अथवा जो अपने शरीर या मुख से सोमरसादि अथवा ज्ञानादि का पान करता है। श्री रामप्रताप त्रिपाठी ने वायुपुराण के एक श्लोक[12] के अनुवाद मे 'कश्य का अर्थ वचन और मन भी किया है।

तृतीय और चतुर्थ निर्वचन का संकेत कश्य और काश्य शब्दो के माध्यम से मिलता है, जिन्हें काश-पुष्प की भांति पलित अथवा चिरंतन तप से दीप्त या

---

1. कश्यपो वै कूर्मः—स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः—श.ब्रा. 7.5.1.5
2. काश्यपो मार्तण्ड इत्यपि उच्यते-ऋतम् पृ 240
3. मारीचः कश्यपो ह्यभूत्—महा. गीप्रे. अनु. 85.107
4. श. 7.27
5. द्र -अथर्व 4.20.7, मै.सं. 3.14.18 वा. सं. 24 37; श.ब्रा. 7.5.1.5. ऐ. ब्रा 2.6
6. श.ब्रा, 7.5.1.5   7. तु.-बै. दे. पृ. 394।
8. कच्छ पाति, कच्छेन पातीति वा, कच्छेन पिबतीति वा—नि. 4.18
9. द्र—मूल उद्धरण। द्र.—ऋतम् पृ. 240—'काश्यानि शरीराणि पाति रक्षति······ ·······। क श 1 7 कश्य + √पा। 10. हि नि.
11. द्र.—बट कृष्ण घोष कृत 'लिंग्विष्टिक इण्ट्रोडक्शन टु संस्कृत—पृ. 74
12. वा.पु.अ. 4.116 का अनुवाद।

उज्ज्वल होने से शरीरवाची कहा गया है। अथवा 'कशामर्हन्तीति कश्या अश्वाः।' इनमें इन्द्रियों को अश्व कहा जाता है। इन्द्रियां कश्य है, तो उनका आश्रयभूत शरीर भी कश्य है। आचार्य नीलकण्ठ ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है–'कश्यानि वा शरीराणि पाति रक्षति पिबति भुंक्ते पाययति शोषयति वेति[1]–काश्य 7 कश्य 7 √पा। अर्थात् उन्होने √पा के रक्षण और पान दोनों अर्थों के आधार पर शरीररक्षक और तपस्या आदि के द्वारा शरीरशोषक दोनों अर्थ किये हैं।

वायुपुराण मे कश्य का अर्थ 'मद्य' किया गया है, जिसकी पुष्टि कोशों से भी होती है[2]। उक्त सन्दर्भ मे मरीचि-पुत्र अरिष्टनेमि का ही अपर नाम कश्यप है। दक्ष ने कन्या के लिए जब सभी प्रजाओं को कुपित किया, तो अरिष्टनेमि ने कश्य (मद्य) का पान किया था। अतः उसका नाम कश्यप हुआ[3]। श्री रामप्रताप त्रिपाठी ने कश्य का अर्थ वचन लेते हुए लिखा है कि कन्या के लिए दक्ष द्वारा तिरस्कृत होने पर कश्यप ने कुपित होकर कठोर वाक्यों का प्रयोग किया था। अतः उसका नाम कश्यप पड़ा, किन्तु दीक्षितार ने मद्यपान विषयक पूर्व अर्थ की ही पुष्टि की है[4]। 'मार्कण्डेय पुराण में भी 'कश्यपानात्तु कश्यपः' निर्वचन दिया गया है। डा० फतहसिंह इस निर्वचन से बिल्कुल सन्तुष्ट नही हैं, क्योंकि यह परम्परा विश्रुत ऋषि के स्वरूप और स्वभाव को स्पष्ट नही करता। अतः वे इस निर्वचन को कच्छपार्थक कश्यप के संदर्भ मे उचित बताना चाहते है कि कच्छप भी अपनी आलसी और सुस्त प्रवृत्ति के कारण एक शराबी की तरह पड़ा रहता है[5]। किन्तु मार्कण्डेय पुराण का उद्धरण कश्छप के सदर्भ मे नही है। अतः यह कल्पना असंगत प्रतीत होती है। इस कारण कश्य या मद्य के अन्य अर्थों को स्वीकार किया जाना उपयुक्त प्रतीत होता है, जैसा कि आगे दिखलाया गया है।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार शब्द कल्पद्रुम मे 'कश्यं सोमरसादिजनितं मद्यं पिबतीति' विग्रह करते हुए 'कश्य+√पा+क' से कश्यप शब्द व्युत्पन्न किया गया है। काशकृत्स्न धातु–पाठ में √कश+यत्' से भी इस शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है[6] और तदनुसार 'कशति दुःखादिक' अर्थ किया जा सकता है। गत्यर्थक अथवा शब्दार्थक √कश् से बना 'कशा' शब्द निघण्टु के आधार पर वाणीवाची[7] है। अतः 'कशायां साधुः' (कशा+य) कश्यः अर्थात् ज्ञान मे निपुण व्यक्ति।

---

1. महा. चि. अनुशासन पर्व पृ. 208 2. 'मदिरा कश्यमद्येऽपि'–इत्यमरः। 'कश्यं त्रिषु कशार्हे स्यात् क्लीब मद्याश्वमध्ययोः–मेदिनी।
2. अपिबत् स तदा कश्यं कश्य मद्यमिहोच्यते""कश्य मद्यं स्मृतं विप्रैः कश्यपानात्, कश्यपः–वा.पु.उ. 4.115–117 तु.–मा.पु. 108.3
4. When दक्ष grew angry on account of his daughter कश्यप drank कश्य hence his name -पु.इ.
5. द्र.–वै. एटी. पृ. 119
6. कशेर्यत् इयुश्च–पृ. 79 7. निघण्टु 1.11

ऐसा जन ही आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने मे समर्थ हो सकता है। अतः उसे कश्यप कहा जा सकता है। जैसा कि श्री हरिशरण मे माना है[1]।

इस प्रकार एक ऋषि-नाम के रूप मे वैदिक काल से ही प्रसिद्ध[2] सप्तर्षियो मे अन्यतम[3] कश्यप शब्द का निर्वचन महाभारत मे एक विशेष प्रसंग मे विशेष शैली में किया गया है: जबकि पुराणगत और व्याकरण गत व्युत्पत्तियां उससे भिन्न हैं, जो मद्यपान को पुष्ट करने के लिए अथवा ऋषियों को दूषित बनाने के लिए की गई भी हो सकती है और इसलिए इन्हें प्रक्षेप माना जा सकता है अथवा 'सुरा' के उदक-रस-अन्न-यश-घृत-औषधि रस आदि अर्थ[4] 'कश्य' में संक्रान्त माने जा सकते हैं। अतः यह एक परोक्षवृत्ति निर्वचन है, जिससे 'कश्यप' के स्वरूप और उनकी विद्वत्ता और शक्तिमत्ता का परिज्ञान होता है।

6. गालव

गल+व (बन्ध) से—

'सोऽभवद् गालवो नाम गलबन्धान्महातपा:'।[5]

महाभारतीय खिल पर्व हरिवंश में गालव मुनि का निर्वचन एक आख्यान के आधार पर किया गया है। त्रय्यारुण ने अपने पुत्र महाबली सत्यव्रत के अत्याचारों और असामाजिक कृत्यों से पीडित होकर उसे श्वपाकों (चाण्डालों) में रहने का आदेश दिया और स्वयं विरक्त होकर वन चला गया। इस अधर्म के कारण इन्द्र ने उस प्रदेश मे बारह वर्ष तक वर्षा न की। फलतः विश्वामित्र (अकाल-पीड़ा के कारण) अपनी पत्नी को न्यास रूप मे रखकर 'सागरानूप' में तपस्या करने चले गए। इधर पत्नी को कुटुम्ब के पालनार्थ अपने (मध्यम) पुत्र को गले में बांधकर सौ गौवो के बदले मे बेचते फिरना पडा। कर्तव्य-भावना से अथवा पिता द्वारा निष्कासन किये जाने पर उन्हें न निवारित करने वाले वसिष्ठ से रुष्ट होने के कारण[6] विश्वामित्र की कृपा प्राप्त करने के लिए सत्यव्रत ने उन माता और पुत्र का

---

1. ऋ.ऋ. पृ. 13
2. ऋक् 9.114.2; अथर्व 1 14.4, 2.13.7, 4.20.7, मै.सं. 4.2.9, वा सं 3.62।
3. ऋक् 4.42 8, 10.130.7, 109.4, श.ब्रा. 14.5.2.6, 2.1 2.4।
4. द्र.–'असुर–4.13
5. महा. हरि. 1.12.24
6. सत्यव्रतस्तु बाल्याच्च भाविनोऽर्थस्य वा बलात्।
   वसिष्ठेऽभ्यधिकं मन्युं धारयामास वै सदा॥
   —हरि. 1.13.5

भरण-पोषण किया[1]। इस बच्चे का नाम गले मे बांधा जाने (गलबन्ध) के कारण 'गालव' हो गया।

उपर्युक्त आख्यान का उल्लेख यत् किंचिद् भेद के साथ पुराणों[2] मे भी मिलता है और सर्वत्र ही गालव का गल+व (बन्ध) से ही निर्वचन किया गया है। इसमे 'गल' को स्वार्थ में 'गाल' बनाकर बन्धन-युक्त अर्थ में मतुबर्थीय 'व' का वर्णागम माना गया प्रतीत होता है। अथवा 'गलबद्ध' में अकार को दीर्घ कर, बकार को वकार कर और दकार धकार के लोप से 'गालव' समझा जा सकता है[3]।

प्रतीत होता है कि 'गल' और 'व' देखकर इस प्रकार का आख्यानपरक निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। अथवा प्रचलित आख्यान को उक्त प्रकार से निर्वचन मे संजोया गया है। ऐसी स्थिति इतिहास-पुराण ग्रन्थों के अधिकांश निर्वचनों मे पाई जाती है।

गालव अतिप्राचीन व्यक्ति हैं और वैदिक साहित्य[4] तथा बाद के साहित्य मे दार्शनिक विद्वान् महर्षि[5] एवं वैयाकरण[6] के रूप में विख्यात हैं, किन्तु कही भी उक्त प्रकार के निर्वचन का संकेत प्राप्त नहीं होता। इसीलिए वैयाकरणों को उक्त आख्यानपरक अर्थ निरुक्ति स्वीकार नहीं है। उन्होने 'गाल्यते नाश्यते ज्ञानमनेन' विग्रह करके 'गल्+णिच्+घ ञ् से तथा 'गालं वेदान्तादिज्ञान-प्रतिपादकशास्त्रं वाति गच्छति जानाति' विग्रह करके '√गाल+वा+क' से इस शब्द को व्युत्पन्न किया है[7]। भानुजि दीक्षित ने श्वेतलोध्र के पर्याय के रूप मे इसे 'गालं नेत्ररसं वायति' विग्रह करके गाल+वै (√ओवै शोषणे)+क' से सिद्ध किया है[8]। वर्तमान सन्दर्भ

1. सत्यव्रतो महाबाहुः भरणं तस्य चाकरोत्।
विश्वामित्रस्य तुष्ट्यर्थं मनुकम्पार्थमेव च ॥
—हरि. 1.12 23

मूल में यह बात स्पष्ट नही है कि सत्यव्रत विश्वामित्र को क्यों प्रसन्न करना चाहते थे। प्रतीत होता है कि उन्होंने वसिष्ठ को बहुत क्रुद्ध कर दिया था, अतः उनके क्रोध के प्रतिकार के लिए, वसिष्ठ की कृपा से जो इष्ट सिद्ध करना चाहते थे, उसके लिए तथा बाद मे त्रिशंकु (सत्यव्रत) [द्र.–6.8] के स्वर्गारोहण के आख्यान मे वर्णित विश्वामित्र के सहयोग को प्राप्त करने के लिए (सत्यव्रत ने) विश्वामित्र के पुत्र और पत्नी का भरण पोषण कर उन्हें सन्तुष्ट और प्रसन्न किया था।
2. वा.पु.उ.–26.90, ब्र पु. 7.109।
3. द्र.-ऋतम्-पृ. 241
4. बृह. उप. 2.5 22, 4.5.28; ऐ. आ. 5.3.2 नि 4 3
5. म. पु. 1 32, 195.22; 196.30; स्क. पु. ब्रु. ख. 3.11, 19 आदि महा उद्योग, अ. 106, 119; भा. पु 8.13.15, 10.84 4, वा. पु. 61 25, 91.100; वि पु. 3.2.17 आदि।
6. पा. 6.3.61, 7.1.74, 7.3.99, 8 4.67
7. श. क.
8. अ. सु

मे भी इस सिद्धि को स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि गालव ने अन्नत पुत्र होने के कारण माता को आनन्दित किया है। उसने सत्यव्रत को प्रसन्न किया, यतः उपकृत को देखकर उपकारी प्रसन्न होता है। किसी समय उसने विश्वामित्र के कष्ट या दु.ख का निवारण किया था, जैसा कि इस उद्धरण से ज्ञात होता है—

'महर्षिः कौशिकस्तात तेन वीरेण मोक्षित.[1]' अतः वह सम्पर्क मे आने वालों को नेत्र-सुख प्रदान करने वाला व्यक्ति था।

ताण्ड्य महाब्राह्मण में एक 'गर' नामक ऋषि का उल्लेख है। उसने जिस साम से इन्द्र को प्रसन्न किया, उसका नाम 'गार' हुआ[2]। ये शब्द √गॄ (निगरणे अथवा शब्दे) से बने हुए हैं। पाणिनीय व्यवस्था के अनुसार 'र' को 'ल' स्वीकार करने से[3] 'गाल' शब्द भी साम या परमज्ञान का वाचक माना जा सकता है, जिसका निगरण करने से या आत्मसात् करने से व्यक्ति ज्ञानवान् बनता है। शब्दकल्पद्रुम के उपरि-प्रदर्शित विग्रह मे 'गाल' को ज्ञानवाची स्वीकार भी किया गया है। इसमे √वा के योग से पूर्व प्रदर्शित वैयाकरण रीति से 'गालव' शब्द बन सकता है।

जैमिनीय ब्राह्मण[4] में गार (ल) साम को गर (विप-विपत्ति-शत्रु-अज्ञान आदि) को विनष्ट करने वाला भी बतलाया गया है। इस स्थिति मे भी 'गाल' (अज्ञान) का वायन (शोषण) (√ओ वै शोषणे) या विनाश करने वाला अर्थ मे भी गालव शब्द बन सकता है।

तात्पर्य यह है कि गालव शब्द अतिप्राचीन है और इसकी व्युत्पत्ति उक्त प्रकारों से अभिप्रेत रही होगी। इतिहास पुराण ग्रन्थो मे अपनी शैली के अनुसार आख्यान को प्रमुखता प्रदान करते हुए सामान्यतः दिखने वाले वर्णों 'गा ल व के ध्वनि-साम्य पर 'गल' 'बन्ध' से सम्बद्ध रोचक आख्यान के द्वारा निर्वचन प्रस्तुत करके पाठकों या श्रोताओं का मनोरंजन करते हुए कथ्य के प्रति रुचि जागृत की गई प्रतीत होती है।

7. गौतम-गोतम

गो+√दमु दमन अधूम अदम गो+अतम	गोदमो दमनोऽधूमोऽदमस्ते समदर्शनात्। विद्धि मां गौतम कृत्ये ! यातुधानि ! निबोध माम्[5]॥

गौतम ऋषि का उपर्युक्त निर्वचन महाभारत मे एक विशेष आख्यान के संदर्भ मे प्रदत्त है, जिसका उल्लेख 'अत्रि' शब्द के निर्वचन मे प्रदत्त द्वितीय उद्धरण के सन्दर्भ मे किया जा चुका है[6]। निर्वचन मे प्रयुक्त दुर्बोध और अस्पष्ट शैली का उद्देश्य

1. महा. हरि 1.12.24 2. ता ब्रा. 9 2.16
3. 'अचि विभाषा'—पा. 8 2.21 इति वा. रस्य लः।
4. तद् तद् गरानगीर्णति अपाघ्नत ् दैव गारस्य गारत्वम्-जै. ब्रा. 83
5. महा. गीप्रे. अनु. 93.90 6. द्र.-अत्रि 5 2

कृत्या यातुधानी को नाम के अर्थ से अपरिचित रखना और अपनी पिपासा-बुभुक्षा शान्त करना था। ऋग्वेद के एक मन्त्र पर सायण ने भी गोतम ऋषि से सम्बद्ध एक आख्यान का उल्लेख किया है, किन्तु वहां पिपासा-पीड़ित गोतम की जल से तृप्ति मरुत् ने कूप स्थापित कर की थी।

यहां महर्षि गोतम ने अपने नाम को पांच प्रकार से प्रस्तुत किया प्रतीत होता है, *जिनका उल्लेख ऊपर उद्धरण के पार्श्व में कर दिया गया है। तदनुसार* 'गां इन्द्रियचयं, भूमि, स्वर्गं, वाचं. पशुविशेषं वा दमयति वशीकरोति'[1] विग्रह करके भूमि, स्वर्ग, वाणी और वृषभादि का दमन करके वश में करने वाले को गोतम या गौतम कहा गया है। ऐसे ऋषि मे संयम, स्वावलम्बन, अध्यात्म, विद्वत्ता और अपूर्व बलशालिता का अनुमान सहज किया जा सकता है। यद्यपि गोतम/गौतम ने कृत्या से अपने इन गुणों को छिपाने के लिए अस्पष्ट पदावली का प्रयोग किया है, तथापि वे अपने मे इन गुणों की सत्ता को प्रस्थापित कर रहे हैं।[2]

वृषभ-दमन सम्बन्धी एक आख्यान वायु पुराण[3] में है, जहां दीर्घतमाः (गौतम) ने यज्ञ के कुशों को खाते हुए एक वृषभ को सींगों से पकड़ लिया था। इनके अपूर्व बल से प्रसन्न वृषभ ने इन्हें गोधर्म सुनाया था। इस प्रकार मूल शब्द 'गोदम' है, जिसका परिवर्तित रूप गोतम या गौतम है–गोदम 7 गोतम। यहां दकार को तकार और ओकार को औकार होकर–'गौतम' शब्द बना है। कोशों में गोतम ऋषि की सन्तान[4] उनका शिष्य[5] और गोतमी की पालित सन्तान के रूप में तद्धितान्त अण् प्रत्यय से भी गौतम शब्द को सिद्ध किया गया है। इसकी पुष्टि देवी पुराण में 'गोतमान्वयजन्मेति गौतमोऽपि स चाक्षयाद्' लेख से होती है[6]।

उक्त उद्धरण मे द्वितीय पद 'दमन' है, अर्थात् जो सभी का दमन करने वाला है। *यह निर्वचन प्रथम निर्वचन के ही अन्तर्भूत है।* इसमें केवल पद के उत्तरभाग 'तम्' का व्याख्यान है। भाव-पूर्ति के लिए 'सब किसी' अर्थ मे 'गो' का अध्याहार अपेक्षित है।

तृतीय पद में उसे अधूम' कहा गया है अर्थात् वह धूमरहित अग्नि के समान तेजस्वी है। नीति के वचन के अनुसार चिर धूमायित व्यक्तित्व की अपेक्षा क्षणिक भी जाज्वल्यमान व्यक्तित्व श्रेयस्कर होता है–'क्षणं प्रज्वलितं श्रेयः न च धूमायित

1. तु-ऋतम् पृ. 241
2. वा. पु. उ. 37.92
3. वा. पु. उ. 37 92
4. गोतमस्य ऋषेर्गोत्रापत्यं+अण्–श.क।
5. गोतमस्यायं शिष्यः। तस्येदं इत्यण्–प्र.सु.।
6. श्री ना. वा. मराठे ने 'सूर्योदय.' 44.2,3 (फरवरी-मार्च) मे प्रकाशित 'गोतमो गौतमो वा' नामक अपने लेख में स्पष्ट किया है कि यद्यपि गोतम और गौतम दोनो शब्द साहित्य में मिलते हैं, तथापि वैदिक साहित्य में (ऋक् 10.85.11 आदि) और अन्यत्र गोतम के उल्लेख से 'गोतम' ही अधिक उपयुक्त है।

विरम्'। यहां भी सम्भवत: 'तम' अंश का ही व्याख्यान है और 'वाणी' आदि अर्थों के द्योतक 'गो' का पूर्वपद के रूप मे अध्याहार अभीष्ट है।

चतुर्थ पद 'अदम' द्वितीय पद 'दमन' का पूरक अथवा उसका स्पष्टीकरण है। अर्थात् सभी में समान दृष्टि रखने के कारण अथवा टीकाकार नीलकण्ठ के अनुसार ब्रह्म के दर्शन के कारण[1] तुम्हारे (यातुधानी के) या अन्य किसी के द्वारा भी जिसका दमन नहीं हो सकता।

पंचम पद गौतम को 'गोऽतम' मानकर इसे गो (वाणी, भूमि आदि)+तम (√तमु कांक्षायाम्) से वाणी आदि की कामना करने वाला अर्थ में निष्पन्न किया गया प्रतीत होता है। तृतीय पद अधूम की भांति ऋषि की तेजस्विता का द्योतक भी समझा जा सकता है, अर्थात् जो अपने शरीर की कान्ति या प्रताप (गो) से समस्त (अज्ञानादि) अन्धकार (तमस्) को दूर कर देने वाला (गो+तमस् 7 अतमस्) है। कोशों मे गो शब्द के वज्र, हीरा, नक्षत्र, किरण चन्द्र और सूर्य आदि ज्योतिष्मान् या कान्तियुक्त पदार्थ अर्थ हैं[2]। वायुपुराण मे ऋषि शरद्वान् के, अन्धे और वृद्ध हो जाने के शाप से ग्रस्त दीर्घतमा: के शाप रूप अन्धकार (तमस्) का मोचन गो (वृषभ) ने दीर्घतमा: की शक्ति और गोधर्मानुसार आचरण से प्रसन्न होकर किया था,[3] अत: यह 'गौतम' कहलाया[4]। ऐसा ही उल्लेख मत्स्य पुराण[5] और ब्रह्म पुराण[6] आदि मे भी प्राप्त होता है। इस प्रकार जन्मत अन्धे दीर्घतमा: ऋषि उतथ्य पुत्र या उशिज पुत्र मामतेय ही गौतम है, जिनका इस रूप मे उल्लेख ऋग्वेद मे भी हुआ है[7]।

'सूर्योदय' मे प्रकाशित श्री भा. वा. मराठे के एक लेख[8], मे उपरिलिखित *महाभारतीय उद्धरण का पाठभेद दिया गया है, जो पूना से प्रकाशित आलोचनात्मक* संस्करण की पादटिप्पणी मे दिया गया है—

गोतमोऽहमतो धूमोदयस्ते समदर्शनात्।
गोभिस्तमो मम ध्वस्तं जातमात्रस्य देहत:॥

यहां प्रथम पंक्ति में अन्य शब्दों की व्याख्या पूर्ववत् ज्ञातव्य है, किन्तु 'धूमोदय' शब्द ध्येय है। गोतम ऋषि यातुधानी से कहते हैं कि मै तुम्हारा 'धूमोदय' हूं अर्थात् तुम्हारे विनाश के लिए उल्का के सदृश उदय हुआ हूं। उल्का का उदय अपशकुन और विनाशकारी माना जाता है। धूम के अन्य अर्थ कुहरा, धुन्ध अथवा मेघ (प्रलयंकारी) आदि लेने से भी अर्थ मे कोई विप्रतिपत्ति नहीं आती। द्वितीय पंक्ति में एक आख्यान की ओर संकेत है, जिसमें गायों के द्वारा दीर्घतमा: के शापरूप अन्धकार को दूर किये जाने का वर्णन है। इस आख्यान का सन्दर्भ वायुपुराण और *मत्स्यपुराण की शब्दावली में पिछले अनुच्छेद मे दिया जा चुका है।*

---

1. समस्य ब्रह्मणो दर्शनात् 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' इति भगवद्वचनात्–महा. चि. अनु पृ. 208
2. द्र.–आप्टे पृ. 102-I, II
3. 'तस्मात्त्व दमो दीर्घं निस्तुदाम्यद्य पश्य वै'–वा. पु. उ. 37.90
4. 'गवा दीर्घतमा सोऽथ गौतम: समपद्यत'–वा. पु. उ. 37.92
   'गोऽस्माहृते तमसि वै गौतमस्तु ततोऽभवत'–म. पु. 48.84,
5. म. पु. 48.80-84
6. ब्र. पु. 3.74 94, 4.4.63
7. ऋक् 1.85.11; 112.11, 147 3 158.6,
8. 'गौतमो गोतमो वा'–सूर्योदय 44.2, 3

टीकाकार नीलकण्ठ ने यौगिकार्थ प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि माता के शरीर से (देहतः) उत्पन्न हुए सूर्यसदृश मेरी (गौतम की) किरणों (गोभि.) से तम या अन्धकार ध्वस्त हो गया था। अतः 'गावः अतमः तमोविरोधिनो यस्य सः'— इस विग्रह के द्वारा वह गौतम है और वह वह्निवत् दुःस्पर्श है।[1]

पूना के आलोचनात्मक संस्करण में 'गोदमो दमको ऽधूमो दमो दुर्दर्शनश्च ते'—पाठभेद मिलता है। इसके अन्य पदों का व्याख्यान पूर्ववत् है। वर्चस्व और तेजस्विता के कारण ऋषि को दुर्दर्शन भी कहा गया है।

श्री मराठे ने अपने उक्त लेख में देवीपुराण का निर्वचन परक श्लोक उद्धृत किया है, जो एक नया निर्वचन प्रस्तुत करता है—

'गौर्वाक् तयैव तमयन् परान् गौतम उच्यते।'

अर्थात् दूसरों को अपनी वाणी से अभिकांक्षित करने वाला (तमयन्√तमु-कांक्षायाम् णिजन्त और शत्रन्त रूप) गौतम है। इससे ऋषि की विद्वत्ता, उत्तम वाणी और उसके सद्व्यवहार का पता चलता है। यह निर्वचन महाभारतीय निर्वचन की भांति अस्पष्ट नहीं है। इसका संकेत अन्य पुराणों में या कोश-ग्रन्थों में नहीं है, फिर भी उत्तम और ग्राह्य है।

8. च्यवन

√च्युङ् से— '(अग्नेरथवचः श्रुत्वा तद्रक्षः प्रजहार ताम्।
ब्रह्मन् वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ॥)
ततः स गर्भो निवसन्कुक्षौ भृगुकुलोद्वह।
रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत्'[2] ॥

भृगु पुत्र च्यवन के नाम-निर्वचन सम्बन्धी शौनक की जिज्ञासा को शान्त करते हुए सौति ने कहा कि गर्भवती पुलोमा के पास भृगु की अनुपस्थिति में एक राक्षस आया, जिसने प्रथमतः पुलोमा का वरण किया था। अग्निशाला में अग्नि से इस विषय में व्यवस्था पूछे जाने पर अग्नि ने कहा कि भृगु ने इसे वेद-मन्त्रों से विधिवत् ग्रहण किया है, अतः उन्हीं की पत्नी है। इस पर क्रुद्ध राक्षस ने शूकर रूप से पुलोमा का हरण किया और भागा, फलतः गर्भ कुक्षि से बाहर गिर पड़ा, जिसे देखकर राक्षस भस्म हो गया। कुक्षि से च्युत होने के कारण नाम 'च्यवन' हुआ। पद्मपुराण में राक्षस को देखकर ही भृगुपत्नी का गर्भ स्खलित हो गया और यज्ञ में भाग लेने आए तपस्वियों ने उसे च्यवन नाम दिया—'च्यवनाच्च्यवनं प्राहु'[3]। अन्यत्र[4] उल्लेख है कि माता के हरण की इच्छा से आए राक्षस को गर्भ से निकलकर पुत्र ने मार डाला। नाम पड़ने का कारण यहां गर्भ-च्युति ही है। वायुपुराण[5] में गर्भच्युति का कारण कठोर कर्म बताया गया है। फलतः आठवें मास पुत्र उत्पन्न हुआ। परम्परया

1. महा. चि. अनु. पृ. 208
2. महा. 1.61.2
3. प. पु.—पा. ख. 14.45
4. द्र.-का. प्र. अभिधान कोश
5. वा. पु. उ. 4.89

आठवें मास का पुत्र भाग्यशाली होता है, जिसकी पुष्टि च्यवन के ऋषित्व और व्यक्तित्व से होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी सन्दर्भों में 'च्यवन' को √च्युङ (गतौ)+ल्यु(अन) सेसिद्ध माना गया है। निरुक्त में च्यवन का निर्वचन इसी धातु के णिजन्त प्रयोग च्यावय से किया गया है। उन्हें स्तोमों को गिराने वाला या मुंह से स्तोमों को निकालने वाला कहा गया है[1] इस प्रकार इतिहास-पुराण मे जहा √च्युङ् का प्रयोग उनके जन्म के सम्बन्ध मे प्रयुक्त है, वहा निरुक्त मे उसका प्रयोग उनके ऋषित्व—द्रष्टत्व को पुष्ट करने मे किया गया है। यहां पर यास्क ने ऋग्वेद का एक उद्धरण[2] देते हुए यह उल्लेख किया है कि वेद मे च्यवान' रूप भी मिलता है, जो 'च्यवन' का मूल रूप प्रतीत होता है। ऋग्वेद मे इस ऋषि का उल्लेख जरा-ग्रस्त रूप मे अश्विनो से यौवन प्राप्त करने के सन्दर्भ मे हुआ है[3] किन्तु जहां ऋषि का सन्दर्भ नहीं है, वहा 'च्यवन' का प्रयोग विशेषण रूप मे अपने धात्वर्थ मे हुआ है।[4] ब्राह्मण ग्रन्थो मे 'च्यवन' का उल्लेख शर्यात-कन्या सुकन्या से विवाह[5] और उसके द्वारा अश्विनो से उन्हें युवा बनाने[6] या अश्विनो द्वारा साम से उन्हें युवा करने[7] आदि के सन्दर्भ मे हुआ है, जिसके उपबृंहित[8] आख्यान रोचक रूप मे पुराणो मे प्रस्तुत किये गए हैं।[9]

√च्युङ् से ही निर्मित 'च्यावन' शब्द भी वैदिक साहित्य में मिलता है, जो साम-नाम[10] अथवा उससे प्रसन्न प्रजापति[11] के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार प्रस्तुत शब्द की मूल धातु का प्रयोग,विवेच्य ग्रन्थ में और पुराणो में अति सामान्य अर्थ में च्यवन के जन्म सम्बन्धी आख्यान के माध्यम से किया गया है। इससे पूर्व वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग वैशिष्ट्य प्रदान करता है चाहे वह 'सामन्' के सन्दर्भ में हो अथवा ऋषि विशेष के सन्दर्भ मे।

9. जमदग्नि

जगत+अग्नि से— जाजमद्यजजानेऽहं जिजाहो ह जिजायिषि।
जमदग्निरिति ख्यातस्ततो मां विद्धि शोभने।।[12]

भृगुवशीय जमदग्नि ने एक बार यातुधानी से बचने और फलतः अपनी बुभुक्षा और पिपासा शान्त करने के लिए उपरिलिखित प्रकार से प्रकार अस्पष्ट

---

1. च्यवयिता स्तोमानाम्—नि 4.19 2. ऋक् 10.39.4
3. द्र.-ऋक् 1.116.10; 117.13; 118.6; 5.74.5 7.68.6; 71.5 आदि
4. 'विश्वा च्यावना कृतानि'—ऋक् 2.12.4
5. श. ब्रा. 4.1.5.1 6. श. ब्रा. 4.1.5.11 7. ता. ब्रा. 14 6 10
8. अन्य सन्दर्भो के लिए द्र.-जै. ब्रा. 3.121–128 ऐ. ब्रा. 8.21.4; पं. ब्रा. 13.5 12; 19.3.6 आदि।
9. भा. पु 9.3.2-26; ब्र. पु. 2.32.98; 3.8.21-36 आदि।
10. ता. ब्रा. 13.5.1 11. तत्रैव 13.5.12; तु–19.3.6
12. महा. गी. प्रे अनु. 93 94

ग्रौर दुर्बोध शैली में निर्वचन प्रस्तुत किया। सम्बद्ध ग्राख्यान 'ग्रत्रि' शब्द के विवेचन में द्रष्टव्य है[1]। इस निर्वचन को जैसे उस समय यातुधानी नही समझ सकी थी, वैसे ही यह निर्वचन ग्राज भी उतना ही ग्रस्पष्ट है। गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत में इस पद्य के पूर्वार्द्ध के पर्याप्त ग्रंश की उपेक्षा कर उत्तरार्द्ध का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—'ग्रर्थात् जगत् (सम्भवत: जमत्) ग्रर्थात् देवताग्रो की आहवनीय ग्रग्नि से उत्पन्न हुग्रा हू, इसलिए तुम मुझे जमदग्नि नाम से विख्यात समझो'। यहा भी पूर्वार्द्ध का ग्रर्थ अस्पष्ट है।

यास्क[2] ने इसे दो समानार्थक शब्दो (प्रजमिताग्नि-प्रज्वलिताग्नि) से स्पष्ट करना चाहा है और सम्भवत: उन्हें √जमु (अदने) अभिप्रेत हैं, पर ग्राचार्य दुर्ग ने उसका ग्रर्थ प्रभूताग्नि करके ग्रौर ग्रस्पष्टता ला दी है, क्योंकि यह ग्रर्थ उक्त धातु से सम्बद्ध नही हैं। तात्पर्य यह है कि यास्क ग्रौर उनके टीकाकार दोनो के लिए यह शब्द दुर्बोध है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा[3] ने भी इसे ग्रस्पष्ट ग्रौर दुर्बोध वर्ग मे ही रखा है। उपरिलिखित उद्धरण के प्रथम चरण में विद्यमान पदों का व्याख्यान अपेक्षित है। 'भूयोभूय ग्रतिशयेन वा जमन्ति ग्रर्थात् यज्ञ दिपु पुन: पुन: हवींषि भक्षयन्ति इति जाजमन्तो देवा:। इज्यन्ते देवा ग्रस्मिन्निति यजो यज्ञोऽग्नि:[4], टीकाकार नीलकण्ठ द्वारा प्रदत्त इस विग्रह के ग्रनुसार 'जाजमद्यज' पद बनता है। यहा 'यज' मे विसर्ग या ग्रनुस्वार का अभाव एक ग्रपाणिनीय प्रयोग माना जा सकता है। ग्रथवा 'जाजमद्यजजाने' को एक पद मानकर 'जाजमद्यजानां देवाग्नीना जान ग्राविर्भाव:-यह विग्रह किया जा सकता हैं। ग्रर्थात् देवता ग्रौर ग्रग्नि के ग्राविर्भाव मे मैं उत्पन्न हुग्रा हूं (जिजायिपि[5]=जातोऽस्मि)। ग्रत: मुझे इस संसार में पहचान लो (जिजाहि[6]=जानीहि)।

नीलकण्ठ की उक्त 'भारतभावदीप' टीका में एक ग्रन्य पाठ दिया गया है—

'जाजमद्यजजा नाम मृजा माऽऽह जिजायिपि'[7]। अर्थात् देवाग्नियों के लिए उत्पन्न सम्पत्तिया नश्वर (मृजा:) हैं ग्रौर उन्हें मैंने जीत लिया है (जिजायिपि= जितवानस्मि)। ग्रत: मैं जितलोक हूं ग्रौर तुम (यातुधानी) मुझे जीत नहीं सकती हो।

उपरिलिखित दोनों पाठों मे प्रथम पद 'जाजमद्यज' मे आदि पद (जा) के लोप से ग्रौर द्वितीय पद (यज) के पर्याय ग्रग्नि को उत्तरपद मानकर (जाजमत्‌-7

---

1. ग्रत्रि 5.2
2. नि. 7.24
3. एटी. या. पृ. 132
4. महा. चि. ग्रनु.-पृ. 209
5. जने र्लयंड्न्तात्सनि लुङात्मनेपद उत्तमपुरुषैकवचनं ग्रार्षोऽड्भावश्च।
6. ज्ञा धातोर्यङ लुकि जादेशे मध्यमैकवचनम्।
7. 'जाजमद्यजेभ्यो देवाग्निभ्यो जाता: संपदो जाजमद्यजजा' ताश्च कृतकत्वात् नाम निश्चितं मृजा: मार्ज्यन्ते इति मृजा नश्वरा' इति मा माह उक्तवान् वेद:। ग्रतोऽह ता: जिजायिपि जितवानस्मि। ग्रस्मिन् पक्षे अभ्यासतद्विकाराभावाद्यार्षम्। जितलोकोऽहं त्वया जेतुमशक्य इति भाव—महा. चि. ग्रनु. पृ. 209

जमत् 7 + यज = अग्नि) 'जमदग्नि' पद बनता है अर्थात् जिसमे देवता और अग्नि दोनों की सत्ता है—'जाजमन्तोऽग्निश्चास्मिन् सन्तीति जमदग्निमान्–मतुब्लोप:'। नीलकण्ठ के मत में यह 'अघर्षणीय' भाव का द्योतक है[1] अथवा इसे कर्मधारयसमास जन्य रूप भी माना जा सकता है–'जमत् चासौ अग्निश्च जमदग्नि:'। अर्थात् देवरूप अग्नि। अतः अग्नि और देवो के समान तेजस्वी, ज्ञानवान् जन जगदग्नि है।

इसी प्रकार 'जाजमद्यज' पद मे 'जाजमद्' को यज (अग्नि) का विशेषण मानकर अग्निरूप से भक्षण करने वाली अग्नि से सम्पन्न अर्थात् प्रदीप्त जठराग्नि वाला अथवा हुतभक्षणशील प्रज्वलित यज्ञाग्नि वाला जन 'जमदग्नि' है। इसका यास्कीय निर्वचन[2] भी इसी भाव का द्योतन करता हुआ प्रतीत होता है। निरुक्त के अन्य पाठभेद में प्रयमिताग्नय.[3] के द्वारा 'यमदग्नि' पद निरुक्त किया गया है। यहा √यम् (परिवेषणे) धातु स्वीकार करने से उक्त कथन में कोई विप्रतिपत्ति नही आती और √यम (उपरमे) से संयमित अग्नि वाला कहकर सुसंगत अर्थ किया जा सकता है। 'यमदग्नि' से 'जमदग्नि' पद बनाने के लिए पृषोदरादि[4] के समान 'य' को 'ज' आदेश स्वीकार करना होगा, जैसा कि शब्द 'कल्पद्रुम' मे संकेतित है। वायु पुराण[5] मे भी 'यमनात्' और जमनात् का निर्वचन किया गया है। वहा इन्हे वैष्णवाग्नि का 'यमन' या जमन' (भक्षण) करने वाला कहा गया है[6]।

वादिराज कृत लक्षालंकार नामक टीका[7] में 'जाजगत् पद को ज + आज + √मथ् से निष्पन्न करके 'अग्नि' पद का अध्याहार और आदि पद 'जा' का लोप करके 'जमदग्नि' पद बनाया गया है–'ज स्वगृहे जातं दधि, समन्ताज्जातं अरणीरूपं दारु च मथ्नातीति'। अग्निमुद्दिश्य जं गृहे जातं जं अरण्ये जातं वा मथ्नातीति'।

यहां 'जिजाहि' और 'जिजायिषि' के स्थान पर 'जिहानि' और 'जिजायिषे' पाठ मिलते है। लक्षालंकार के मत में ये दोनो पाठभेद 'जमदग्नि' के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। इनकी दृष्टि मे उसने 'जमदग्नि' की दो व्युत्पत्तियां दी हैं :—

(I) अग्नेर्यजनाय जिहानि दिने दिने जातं पापं प्राणायामादिना त्यजामि। अत्रापि जं पापपुरुषं मथ्नातीति जमदग्नि: (ज + √मथ् 7 मत् + अग्नि)।

(II) तथाग्नेर्यजनाय इह लोके 'जिजायिषे' जनितुमिच्छामि। अनेनाप्यग्निमुद्दिश्य जं जन्म मत् (√मन से) + अग्नि।

श्री रघुनाथ शर्मा ने (मुझे लिखे एक पत्र मे) 'विनाश करने की इच्छा वाली' अर्थ में 'जिजायिषि' को √जै (क्षये) से सिद्ध कर 'यातुधानि' का विशेषण और सम्बो

---

1. महा. चि. अनुशासन पर्व–पृ 209
2. नि. 7.24
3. द्र.–वै. एटी. पृ. 132,
4. पा. 6.3.109
5. वा. पु. उ. 29.83
6. द्र.–पु. इ.
7. महा. 13.95; पृ. 500 पर पा. टि.,

घन पद माना है—√जै–क्षये, जायनं जायः घञ् । जाय इवाचरति जायति । जायितु मिच्छति जिजायिषति·····जिजायिषति इति जिजायिषः यातुधानः ।·····जिजायिषस्य प्राणिनां क्षय वाञ्छतः स्त्री जिजायिषी । तत्सम्बोधनम् हे जिजायिषि·······अपने जो अन्य पदों की व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे जमदग्नि अपने पिता (ऋचीक) के यहां उत्पन्न हुए थे—मात्र यह भाव प्रकट होता है । यद्यपि दुर्बोधता लाने के लिए कोई भी भाव लाया जा सकता है, किन्तु वर्तमान सन्दर्भ मे यह अर्थ विशेष सौन्दर्याधायक नही प्रतीत होता । व्याकरण की दृष्टि से संगति बिठाने का शर्मा जी का प्रयास अवश्य स्तुत्य है ।[1]

शतपथ ब्राह्मण के एक सन्दर्भ में 'जमदग्नि' शब्द का पर्याय 'जमदग्नि' प्रतीत होता है । वहां चक्षुरूप बतलाते हुए इन्हें जगत् का द्रष्टा (देखने वाला-विचार करने वाला) कहा गया है—'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषि. यदनेन जगत् पश्यति । अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः ।[2] 'डा. फ्तहसिंह के मत मे 'जगदग्नि' का वर्णादेश से 'जमदग्नि' हुआ है,[3] किन्तु ब्राह्मणकार इस व्याख्या में (जगत् को 'जमत्' का और 'पश्यति' और 'मनुते' को 'अग्नि' का पर्याय मान रहा प्रतीत होता है । ये दोनो लोक और वेद मे कोषो मे इस रूप मे प्राप्त नहीं होते. तथापि जगत् में सर्वत्र भक्षण की प्रवृत्ति पाई जाने के कारण 'जगत्' को 'जमत्' (√जमु से) का और √अञ्ज् (व्यक्त करना) से निष्पन्न होने के कारण 'अग्नि' को 'पश्यति' का वाचक माना जा सकता है । निघण्टु में √जम् को ज्वलनार्थक माना है । जगत् भी अप्रकेत सलिल से अभिव्यक्त होता है । यह भाव भी अभिप्रेत रहा हो सकता है । भक्षण और ज्वलन मे गति का भी प्रामुख्य है । जगत् में भी गति प्रधान है ।

दयानन्द सरस्वती ने 'प्रज्वलिताग्निर्नयनम्'[4] कहकर निरुक्त और शतपथ ब्राह्मण के अर्थों को मिला दिया है । मन्त्र-प्रसंग से इतर स्थानों पर इसका यह भाव लिया जा सकता है कि जिनकी आंखों से आग बरस रही है । इससे एक ओर उनके ज्ञान और शक्ति की तीव्रता का आभास होता है और दूसरी ओर उनका क्रोधी स्वभाव भी प्रकट होता है. जिसे एक पौराणिक गाथा मे स्पष्टतः देखा जा सकता है[5] । अथवा इन्हें नेत्र विज्ञान का आविष्कारक माना जा सकता है । एक बार जल-क्रीडारत गन्धर्वों को देखकर जमदग्नि की पत्नी रेणुका अपवित्र विचारो से दूषित हो गई । यह देखकर जमदग्नि ने क्रुद्ध होकर उसके शिरश्छेदन की आज्ञा दी, जिसका पालन परशुराम ने किया और बाद में प्रसन्न पिता से वर के रूप मे मातृ-जीवन को पुनः प्राप्त कर लिया था[6] ।

---

1. श. ब्रा. 8.1.2.3; तु. 13.2.2.14
2. श. ब्रा. 8.1 2.3; तु. 13.2.2.14 3. द्र.-वै. एटी पृ. 132
4. यजु: 13.56 पर दयानन्द भाष्य 5. ऋ. ऋ पृ. 31
6. आप्टे. पृ. 216-III; वा. पु. उ. अ. 29, भा. पु. 9.15-16

इस प्रकार उपरिलिखित निर्वचनों और व्युत्पत्तियों से प्रकट होता है कि यह शब्द निर्वचन की दृष्टि से प्रारम्भ से ही दुर्बोध और भिन्न-भिन्न मतों का आधार रहा है। वैदिक निर्वचनों की अपेक्षा महाभारत में अधिक दुर्बोधता है और उसे स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने अपनी बुद्धि का कौशल दिखाकर संगति बिठाने का प्रयास किया है। समस्त व्याख्यानों में महर्षि का तेजोमय और ज्ञानमय स्वरूप प्रकट होता है।

10. पंचशिख

पंच+शिखा से— 'पंचस्रोतसि निष्णातः पंचरात्रविशारदः।
पंचज्ञ. पंचकृत् पंचगुणः पंचशिखः स्मृतः[1] ॥

महाभारतीय शान्ति पर्व में आसुरि मुनि के शिष्य पंचशिख मुनि का उल्लेख आया है, जो कपिल मतावलम्बी (सांख्यानुयायी) मुनियों के साथ आए थे। इनके नाम-निर्वचन को व्याकरण के अनुसार 'पंच शिखा यस्य अथवा पंचाः विस्तीर्णाः शिखाः (केशराशि) यस्य[2] विग्रह करके व्युत्पन्न किया जा सकता है। सामान्यतः यह आकृतिपरक नाम प्रतीत होता है कि जिसके शिर में पांच शिखाएं थीं अथवा केशों का आधिक्य था। ब्रह्मवैवर्तपुराण में यही निर्वचन दिया भी गया है कि जिसके तपस्तेजोद्भूत अग्निशिखा रूप पांच शिखाएं थीं[3]। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में केश रखने की तो प्रथा थी ही, एकाधिक शिखाएं रखने की भी रीति रही होगी[4]। शिखाओं के धारण एवं प्रमाण आदि पर धार्मिक ग्रन्थों में विचार किया गया है और उसे अग्नि सदृश पवित्र माना जाता है। वर्तमान सन्दर्भ में पंच शिखाएं पंचाग्नि सेवा की प्रतीक भी मानी जा सकती है। इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण का यह वाक्य ध्यातव्य है—'होत्रा. पंच चूडा.'[5]।

महाभारत के उपरिलिखित उद्धरण में प्रतीकात्मकता को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। तदनुसार यह मुनि पांच स्रोतों या इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) के व्यापार में कुशल थे, पंचरात्र आगम के विशेषज्ञ थे। पंच (कोशों[6] प्राणों, महाभूतों, महायज्ञों

---

1. महा. गी. प्रे. शान्ति 218/11 (महा. पा. टि. 12.211.10)
2. श. क., में यह विग्रह 'लिंह' के अर्थ में किया गया है।
3. ब्र. वै., ब्र. खं. 22.17
4. 'आसुरि शब्द असुर से सम्बद्ध है। डा. वा. श. अग्रवाल ने असुर को 'पर्श्वादिगण में पठित होने से आयुधजीवी संघ कहा है। अ दिम जातियां (गाडिया लुहार आदि) में अब भी एकाधिक चोटी रखने की प्रथा दृष्टिगत होती है। प्राचीन काल में ऐसे सम्प्रदायों में विद्वत्समाज भी हो सकता है। और ऐसी प्रथाएं उनमें प्रचलित मानी जा सकती हैं। रामायण में 'त्रिजटा' नामक एक राक्षसी का उल्लेख है।
5. श. ब्रा. 8.6.1.11
6. अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द–द्र–तै. उप. भृगुवल्ली।

और होत्रो[1] ग्रादि) के ज्ञाता थे, पंचोपासना के जानकार और सम्पादक थे तथा पांच प्रकार के गुणों (शम, दम उपरति, तितिक्षा और समाधान) से युक्त थे। आचार्य नीलकण्ठ की टीका से प्रतीत होता है कि उनके मत में ब्रह्म उपर्युक्त पंच कोशो से भिन्न और सर्वोपरि है। यह मुनि उस ब्रह्म के परिज्ञाता भी थे[2]।

शान्तिपर्व के उपर्युक्त सन्दर्भ में इनका उल्लेख सांख्यशास्त्रियों के सन्दर्भ में हुआ है और वहा इन्हें 'कापिलेय' भी कहा गया है। ईश्वर कृष्ण कृत सांख्यकारिका मे भी इन्हें सांख्याचार्य आसुरि का शिष्य बताया गया है[3]। सांख्यशास्त्र मे पांच संख्या का अपना महत्त्व है। उसमें प्रतिपादित पच्चीस तत्वों में पंच ज्ञानेन्द्रिय[4] पंच कर्मेन्द्रिय5, पच महाभूत[6], पंच तन्मात्राए[7] तथा अन्य पांच-प्रधानप्रकृति, मन, अहंकार, महत्तत्व और पुरुष–ये तत्त्व परिगणित होते हैं। सम्भव है पंचशिख नाम में इन सबका प्रतीकत्व निहित हो। ऐसी अवस्था में इन ऋषि का मूल नाम अन्य भी रहा हो सकता है। मुनियो और सन्यासियों में मूल नाम त्यागकर अपर नाम रखने की प्रथा आज भी जीवित है।

इस प्रकार 'पंचशिख नाम प्रतीकात्मक शैली पर रखा गया प्रतीत होता है। इससे तत्कालीन एक विशेष प्रथा का भी आभास होता है।

11 भरद्वाज

√भृ+द्वि+√जनी से– भरे सुतान् भरे शिष्यान् भरे देवान् भरे द्विजान्।
भरे भार्यां भरे द्वाजं भरद्वाजोऽस्मि शोभने[8]॥

भरद्वाज नामक ऋषि अति प्राचीन हैं[9] जो ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के द्रष्टा और बाद मे सप्तर्षियो में परिगणित हैं। महाभारत अनुशासन पर्व में कतिपय मुनियो और यातुधानी का आख्यान आया है, जिसका उल्लेख ('अत्रि' शब्द के विवेचन मे प्रदत्त द्वितीय उद्धरण के सन्दर्भ में दिया जा चुका है[10]। भरद्वाज भी उन मुनियों में थे और अपनी पिपासा एवं बुभुक्षा शान्त करने जब पद्मिनी (सरोवर) पर पहुंचे,

---

1. श.ब्रा. 8.6.1.11
2. तु.–'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः पंचभ्योऽतिरिच्यमानत्वात् शिखेवेति पंचशिखं पुच्छ ब्रह्म तज्ज्ञत्वान्मुनिरपि पंचशिखः-महा. चि. आचार्य नीलकण्ठ टीका-पृ. 402
3. सा. का. 70
4. चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् और श्रोत्र।
5. वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ।
6. पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश।
7. शब्द तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा।
8. महा. गी. प्रे. अनु. 93.88; तु. महा. 13.95.31
9. अथर्व 2.12.2, 4.29.5, मै.सं. 2.7.19, वा.सं. 13.55, ऐ.ब्रा. 6.18, ऐ.आ. 1.2.2; पं. ब्रा. 15.3.7
10. द्र.–'अत्रि' 5.2

तो अपने नाम का उक्त प्रकार से अस्पष्ट निर्वचन प्रस्तुत किया, ताकि यातुधानी उससे अपरिचित रहे।

यहां पूर्वपद में √भृ (भरणे, धारणपोषणयोः) धातु को स्वीकार करते हुए मुनि ने अपने कर्तव्य और अपनी शक्तिमत्ता का परिचय दिया है। पिता अपने पुत्र और गुरु अपने शिष्य का भरणपोषण करता है, किन्तु यह मुनि, जो असुत (अपुत्र, उदासीन, दीन और अदीन आदि-नीलकण्ठ)[1] और अशिष्य (शासन करने के अयोग्य राक्षस और शत्रु आदि–नीलकण्ठ)[1] हैं अर्थात् जो अनाथ, अज्ञातसुतशिष्यादि हैं, उनका भी भरण-पोषण करने वाले हैं। श्लोक के प्रथम चरण में मुनि का यह कथन उस विश्वास का पोषक है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि अज्ञात गोत्र-नाम वाले जन भरद्वाज-सन्तान कहलाएंगे। फलतः संकरसन्तानो को भी एक मान्य गोत्र-नाम प्राप्त हो गया। उल्लेख्य है भरद्वाज स्वय भी संकर-सन्तान थे, जैसा कि आगे प्रदत्त पौराणिक आख्यान से ज्ञात होता है।

पूना के आलोचनात्मक संस्करण[2] में श्लोक के प्रथम चरण में अवग्रह नही है और पादटिप्पणी मे 'प्रेष्यान्' 'पोष्यान्' 'पौत्रान्' 'भृत्यान्' आदि पाठ-भेद दिये गए हैं, अतः भरद्वाज को सुत, शिष्य, प्रेष्य, पोष्य, पौत्र और भृत्य आदि का भरण करने वाला भी माना जाना चाहिऐ।

श्लोक के द्वितीय चरण में भी शब्द के पूर्वपद का ही व्याख्यान है। तदनुसार यह मुनि देवताओं और ब्राह्मणों का भी भरण करते हैं अर्थात् इन्हें यज्ञ-यागादि से प्रसन्न रखते हैं। यहां 'भरद्वाज' के वैदिक निर्वचन की ओर संकेत प्रतीत होता है। जहां उसे √भृ+वाज (=अन्न) से अग्निपरक बताया गया है[3]। भरण करने के कारण ही वैदिक साहित्य मे भरत[4] और भरद्वाज दोनों को अग्नि कहा गया है, आध्यात्मिक कल्पना मे भरद्वाज को मन का प्रतिनिधि माना गया है। तात्पर्य यह है कि वाज=अन्न अथवा मन को धारण करने वाला जन 'भरद्वाज' होता है[5]।

इसी प्रकार तृतीय चरण मे भार्या का और संकर सन्तान का भरण करने वाला कहा गया है। भरद्वाज का सुत, शिष्य, द्विज, भार्या का भरण करने वाला कहकर उसे शत्रन्त√भृ और 'वाज' से निरुक्त किया गया है। अतः यह वैदिक निर्वचन का ही स्वीकरण है। वहां 'वाज' का अर्थ प्रजा भी किया गया है[6] और इस उद्धरण मे प्रजा का स्पष्टीकरण सुत, शिष्य आदि उपर्युक्त शब्दों में

---

1. महा.चि. अनु. पृ. 208   2. महा. 13.95.31
3. एष एव बिभ्रद् वाजः प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्ति। यद्बिभर्ति तस्माद् भरद्वाजस्तस्माद् भरद्वाज इत्याचक्षते-ऐ.ब्रा, 2.19 'भरणाद् भारद्वाजः—नि. 3.17
4. एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति–श.ब्रा. 1 5.1.8
5. मनो वै भरद्वाज ऋषिदेवः वाजो यो वै मनो बिभर्ति सो इदं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः—श.ब्रा. 8.1.1.9
6. द्र.–पा.टि. 3.

किया गया प्रतीत होता है। अग्रिम कथन 'भरे द्वाजं 'मे' विभर्तीति भरः' तथा 'द्वाभ्या जातः द्वाजः' इन दो पृथक् पदो को भी स्वीकार किया गया हो सकता है, किन्तु यहां द्वाज का स्पष्टीकरण या निर्वचन नही किया गया है। अन्य पुराणों मे इस (द्वाज) से सम्बन्द्ध आख्यान प्राप्त होता है कि जब बृहस्पति अपने भाई उतथ्य की पत्नी ममता से मैथुन के लिए उद्यत हुए, तो गर्भस्थ शिशु के द्वारा मना किये जाने पर उन्होने उसे अन्धत्व का शाप दिया, जिससे वह 'दीर्घतमा' हुआ[1]। उस (गर्भस्थ शिशु) के द्वारा माता का योनिद्वार पैरो से आवृत कर दिये जाने पर बृहस्पति का वीर्य उसके पैरो के बीच से अन्दर जाकर शिशुरुप मे बाहर आया। माता ने बृहस्पति से कहा कि अब इस द्वाज (जारज) का पालन करो। बृहस्पति ने भी ममता से यही कहा। इस विवाद के कारण ही विष्णुपुराण के मत में भरद्वाज का 'भरद्वाज' नाम पडा—

मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाज बृहस्पते।
यातो यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम्[2] ॥

अन्ततः इस भरद्वाज-पुत्र को मरुतों ने पाला और भरत को दे दिया, जो सन्तानार्थ मरुत्सोम यज्ञ कर रहे थे। यद्यपि पुराणकार ने स्पष्ट नही लिखा है, तथापि इस वर्णन से सकेत मिलता है कि भरद्वाज का निर्वचन भर (भ्रियते मरुद्भिरिति) और 'द्वाज' (द्वाभ्यां जायते इति) शब्दों से 'भरश्चासौ द्वाजश्च' विग्रह करके भी किया गया हो सकता है।

यह उपरिलिखित आख्यान और उसमे निर्दिष्ट निर्वचन यत्किंचित् परिवर्तन के साथ वायु और मत्स्य पुराणो मे भी प्राप्त होता है[3]।

उल्लेख्य है कि 'द्वाज' का अर्थ कुछ टीकाकारों ने माता-पिता की सन्तान किया है, पर अधिकतर ने इसका अर्थ उतथ्य और बृहस्पति की सन्तान किया है। टीकाकार नीलकण्ठ ने 'माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः'[4]—इस स्मृति-वचन के अनुसार सभी के एकजत्व पर यह व्यवस्था दी है कि योनि और संस्कार से उत्पन्न 'द्विज' कहलाता है, किन्तु द्वाज उसे कहते है, जो उत्पन्न किसी दूसरे से होता है और संस्कारों द्वारा स्वपुत्रवत् अपनाया किसी दूसरे से जाता है[5]।

'द्वाज' शब्द द्वाभ्या जायते' विग्रह से $\sqrt{}$जनी+ड से पृषोदरादित्वात्[6] बनता है। भरद्वाज ने अपने नाम के निर्वचन में द्वाजों के भरण-पोषण की घोषणा करके एक सामाजिक व्यवस्था का पालन किया प्रतीत होता है। 'भरे द्वाज' के स्थान पर 'भरे गाश्च' पाठभेद[7] से गो शब्द के इन्द्रिय, भूमि,-स्वर्ग, वाक्, पशु-विशेष आदि

1. महा. 1.98.15½ तु. महा. 12.328.48 2. वि.पु. 4.19.8
1. वा. पु. उ. 37.146, म. पु. 49.26 2. महा. चि. 1.74.10
3. महा. चि. अनु. पृ. 208 4. पा. 6.3 109
5. द्र.-महा. 13.95 31 पा. टि.

अर्थ स्वीकार करते हुए एतत् सम्बद्ध अर्थ भी महर्षि के पक्ष में स्वीकार किये जा सकते हैं। 'मनो वै भरद्वाजः' इस उक्ति में अन्न और मन का पूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है।

ध्येय है कि ऋग्वेद में भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि हैं[1] और पुराणों में वे उतथ्य-पुत्र तथा मामतेय के रूप में कहे गए हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक और पौराणिक परम्पराएं भिन्न हैं। इस आख्यान में दोनों को मिलाने का अनतिसफल और जुगुप्साजनक प्रयास किया गया प्रतीत होता है। फलतः अन्न, ज्ञान और शक्ति (वाज)[2] का भरण करने वाला (भरत) अर्थात् शारीरिक और आत्मिक दृष्टि से सम्पन्न ऋषि[3] द्वाज (=उतथ्यपत्नी और बृहस्पति, दो से उत्पन्न) घोषित कर दिये गए। परिणामतः पुराणों तक आते-आते इस शब्द के निर्वचन में भी पर्याप्त अन्तर आ गया था—

(√भृ जन्य) भरत्+वाज (अन्न, प्रजा) 7 भरद्वाज 7 भरत्+वाज (सुत, द्वाज आदि) भर—द्वाज 7 भर—द्वि+√जन।

12. भृगु

√भ्रस्ज से— 'भृगित्येव भृगुः पूर्वम्[4]।
'सह ज्वालाभि उत्पन्नो भृगुस्तस्माद् भृगुः स्मृत.[5]।।'

इतिहासपुराण ग्रन्थों मे महर्षि भृगु को ब्रह्मा के मानस पुत्रों[6] और मनु से उत्पन्न दश प्रजापतियों[7] मे माना जाता है। यह मुनि जमदग्नि का अपर नाम भी है[8]। महाभारत मे इनकी उत्पत्ति वरुण के यज्ञ से बताई गई है[9]। इस यज्ञ मे आई देवांगनाओं को देखकर ब्रह्मा का वीर्य स्खलित हो गया, जिसे उन्होंने स्रुवे मे रखकर मन्त्रों से आहुति दे दी। उस अग्नि से तीन शरीरधारी पुरुष उत्पन्न हुए, उनमे से प्रथम 'भृगु' थे, जो अग्नि की ज्वालाओं के साथ उत्पन्न हुए। ऐसा ही आख्यान यत्किंचिद् भेद के साथ अन्य पुराणों में भी प्राप्त होता है[10]।

उपरिलिखित प्रथम उद्धरण में 'भृगु' का निर्वचन 'भृग्' से किया गया है, जो एक ध्वन्यनुकरणमूलक शब्द है[11] और उसे प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं में 'भक्' या 'भभक्' के रूप में सुना जा सकता है। अर्थात् आहुति के बाद जो 'भक्' या 'भभक्' का शब्द हुआ, तो 'भृगु' उत्पन्न हुए। द्वितीय उद्धरण में इसी का व्याख्यान स्पष्ट शब्दों में किया गया है। निरुक्त[12] में भी इनकी उत्पत्ति अग्नि शिखाओं से

---

1. ऋक् 6.1.14, 16-30, 37-43, 53-74; आ. गृ. 3.4.2, शां. गृ. 4.10
2. √वज् (गतौ)+घञ्।
3. द्र.-ऋ.ऋ. 90
4. महा. गी.प्रे. अनु. 85.105
5. तत्रैव 86.106
6. द्र.-अंगिरा:5.1 पा.टि. 3
7. मनु 1.35
8. 'भृगुः सानौ जमदग्निप्रपातयोः—इति हैमः।
9. महा. 1.5.7
10. द्र-म.पु. अ. 195; वा.पु. उ.-अ. 4
11. द्र.-आप्टे-411-II
12. नि. 3.17

ही बताई गई है, पर वहां 'मृज्यमान' शब्द के द्वारा √भ्रस्ज (पाके) का भी संकेत किया गया है। यों 'भृग्' भी इसी धातु से बना शब्द है। इसलिए लौकिक साहित्य मे इनकी उत्पत्ति अग्नि से भी बताई गई-'इदमूचुर्महारमानमनलप्रभवं भृगुम्'[1]। ऋग्वेद में भी भृगु के अग्नि से निकट सम्बन्ध के वर्णन मिलते हैं[2]।

उक्त आख्यान से सम्बन्द्ध कुछ सन्दर्भ वैदिक साहित्य मे भी प्राप्त होते हैं, जिन्हे इसका मूल माना जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति के रेतस् (तेज) की प्रथम दीप्ति से आदित्य और द्वितीय से भृगु उद्भूत हुए[3] और वरुण द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण ये दोनों वारुणि कहलाए। पंचविंश ब्राह्मण मे सोम का सवन करने वाले वरुण का भर्ग मेधा गिरा; तो तृतीय भृगु हुआ[4]। गोपथ ब्राह्मण में 'आपः' के रेतस् से सम्बद्ध करते हुए निर्वचन में √भ्रस्ज स्वीकार की गई है[5]। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे लिखा है कि सोम का सवन करने वाले इन्द्र के मेधापतित वीर्य से तृतीय भृगु हुए-'इन्द्रस्य सुपुवाणस्य मेधा इन्द्रियं वीर्य परापतत्। भृगुस्तृतीयमभवत्'।

उल्लेख्य है कि इन स्थलों मे भृगु की उत्पत्ति किसी देवताविशेष के रेतस्, वीर्य या तेजस् से बतायी गयी है, जबकि अन्यत्र इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के मनस्[7] या हृदय[8] से तथा स्रष्टा की त्वचा से[9] भी बताई गई है। इसी प्रकार यह भी द्रष्टव्य है कि यहां भृगु-उत्पत्ति की संख्या द्वितीय या तृतीय है, जबकि महाभारतीय आख्यान मे यह संख्या प्रथम है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भृगु शब्द में मूलधातु √भ्रस्ज (पाके) स्वीकार की गई है[10]। शब्दकल्पद्रुम मे भी इसी धातु से दो व्युत्पत्तियां दी गई हैं-(I)'तपसा भृज्यते पंचतत्वादिभि-र्वा' विग्रह करके क प्रत्यय, सम्प्रसारण और सलोप करने से।[11] (II) अथवा 'भृज्जतीत्ति 'भृक् तया सहोत्पन्नः' विग्रह करके क्विप् और 'उ' प्रत्यय, सम्प्रसारण और सलोप से। साधन के मार्ग पर चलता हुआ

1. द्र–मू. सं. उ.-भाग पृ. 500
2. द्र–वै.दे, पृ. 362; वै.एटी, पृ. 179: तु.-ऋक् 10.46.2.9, 2.4.2,
3. तस्य (प्रजापतेः)..................यद् द्वितीयमासीत् तद् भृगुरभवत्–ऐ.ब्रा. 3.34
4. पं ब्रा. 18.9.1
5. *ताभ्यः, (अद्भ्यः)...............यद्रेत आसीत् तदभृज्यत् यदभृज्यत तस्माद् भृगुः* समभवत् तद् भृगोर्भृगुत्वम्–गो ब्रा. 1.1.3
6. तै. ब्रा. 1.8.2.5
7. द्र.–'अंगिरा'-पा. टि. 3.
8. महा 1.66.41; द्र.–मू. संउ.–भाग 1 पृ. 499
9. भृगुस् त्वचि–भा. पु. 3.12.23
10. टीकाकार नीलकण्ठ ने भृज्जतीति विग्रह करके 'पावयति' (=पवित्र करता है) अर्थ किया है। पाक से भी अपूत और अनिष्ट आदि के जल जाने से पावनत्व आता है। ऋषि भी सम्पर्क मे आने वालों को पवित्र कर देता है।
11. उ. 1.28, पा. 7.3.53

तपस्या अथवा पंचतत्वों के द्वारा अपना परिपाक करने वाला ही भृगु है[1]। मैक्डानल ने इसे √भ्राज (दीप्तौ) से निष्पन्न कर प्रकाशमान अर्थ किया है[2]। इनकी धातु-कल्पना की पुष्टि इससे होती प्रतीत होती है कि ब्रह्मवैवर्तपुराण मे भृगु नाम का कारण अतितेजस्विता बताया गया है[3]। डा. हरमैन वेटर ने अपने एक लेख[4] में भारतीय, जर्मनी, लैटिन और ग्रीक धातुओं से तुलना करते हुए भृगु का सम्बन्ध भारोपीय Bhlg.=to shine से जोड़ा है। डा० रामचन्द्र जैन[5] ने इसे आस्ट्रिक शब्द 'भरु' का परिवर्तित रूप बताकर विदेशी शब्द सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होने √भृज्ज (परिपाके) और (तैक्ष्ण्ये) का भी उल्लेख किया है, पर ये धातुएं पाणिनीय धातुपाठ मे नही है। इस सम्बन्ध मे √भृजी (भर्जने) धातु का उल्लेख किया जा सकता है, जिसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण मे अग्नि के साथ किया गया है।[6]

डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने भृगु के निरुक्तगत निर्वचन को लोककृत वर्ग में रखा है[7]। लगभग उसी प्रकार का निर्वचन महाभारत का है, जो एक आख्यान पर आधारित है। मूल धातु और आख्यान के अनुसार भृगु का सम्बन्ध अग्नि और अन्य प्रकाशमय पदार्थों[8] से स्वीकार करते हुए ऋषि के सन्दर्भ मे यह भाव लिया गया हो सकता है कि जिसने जितेन्द्रियत्व और आत्मसयम से समस्त लौकिक एवं भौतिक आवश्यकताओं को जला दिया था और आध्यात्मिक गुणों का विकास करके स्वयं परिपक्व हो गया था।[9]

13. वसिष्ठ

1- वसु से— 'वसिष्ठोऽस्मि वरिष्ठोऽस्मि वसे वासगृहेष्वपि।
2. उरु से—
3. √वस् से— वसिष्ठत्वाच्च वासाच्च वसिष्ठ इति विद्धि माम्।[12]
4. √वश् से— 'इन्द्रियाणां वशकरो वसिष्ठ इति चोच्यते।।[13]

ऋषि वसिष्ठ ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के द्रष्टा कहे जाते हैं। सप्तर्षियों में भी एतन्नामक ऋषि हैं। पीछे 'अत्रि' शब्द के विवेचन मे प्रदत्त द्वितीय उद्धरण से सम्बद्ध आख्यान के सन्दर्भ मे इन्होने उक्त प्रकार से अपना नाम निर्वचन प्रस्तुत किया ताकि वह (यातुधानी) उससे अपरिचित रहे।[10]

---

1. तु-ऋ. ऋ. 170 2. वै. दे.-पृ. 364
3. ब्र. वै., ब्र. खं. 22.9
4. 'हू वेयर भृगुज़'-अनल्स आफ भण्डारकर ओरिण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट-वाल्यूम 18
5. ए. ऐ. भा.-पृ. 201 6. अग्निर्भ्रजशच्छन्दः-श. ब्रा. 8.5.2.3
7. एटी. या., पृ.-103 8. वायुरापश्चन्द्रमा एते भृगवः-गो.ब्रा. 1.2.8
9. तु.-ए.ऐ. भा. पृ.-202 10. उ. 1.10

शब्द सर्व वाची है। देव शब्द को यदि व्यापक अर्थ में लें, तो देवता, देवयोनि और मनुष्य जाति भी उसमे परिगणित की जा सकती है। आचार्य नीलकण्ठ का भी यही अभिप्रेत है—'विश्व शब्देन आधिदैवं ब्रह्माण्डस्था देवा उच्यन्ते। अध्यात्मं च पिण्डया-नीन्द्रियाणि तान्युभयानि मित्रभूतानि यस्य स विश्वामित्रः।'

उल्लेख्य है कि यहां 'विश्वेदेवाः' एक पद मानकर देवगण विशेष अर्थ भी किया जा सकता है। ये वैदिक देवगण हैं, जो यज्ञ मे सभी देवो के प्रतिनिधि रूप मे आमन्त्रित किये जाते हैं[1]। अतः निष्कर्षतः उक्त व्याख्यान ही ग्राह्य है।

द्वितीय चरण मे '(विश्वासां सर्वासां) गवां मित्र' कहा गया है। यहां अनेकार्थक गो शब्द ध्यान देने योग्य है। इसके पशु अर्थ से देवेतर जगत् किरण, नक्षत्र, आकाश, चन्द्र आदि अर्थों से ज्योतिष्पुञ्ज का और भूमि अर्थ से पृथ्वी अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड का मित्रत्व तथा वाक् चक्षु और इन्द्रिय अर्थ से जितेन्द्रियत्व द्योतित है।

महाभारत के इन निर्वचनों मे विश्व के दो अर्थ माने है— 1. विश्वेदेवाः 2. गावः। 'गो' शब्द का सामान्य अर्थ 'गाय' ग्रहण करने से उस पौराणिक आख्यान का भी संकेत मिलता है, जिसके अनुसार महर्षि वसिष्ठ की गाय को देखकर विश्वामित्र ने उसे ले जाने का प्रयास किया और ब्रह्मत्व के आगे पराजित हुए। फिर घोर तपस्या से ब्रह्मर्षि बने। इस प्रकार गाय के प्रतीक से उन्होने तप, शक्ति, जितेन्द्रियत्व, कामक्रोधादि शत्रुओ पर विजय एवं सर्वमित्रत्व का अर्जन किया था।

ध्येय है कि ऋषि के सन्दर्भ में 'विश्वामित्र' पद में मित्र ही ग्राह्य है, अमित्र नहीं। पाणिनीय तन्त्र में ऋषि अर्थ मे ही विश्व शब्द को दीर्घ होता है, अन्यथा माणवकादि अर्थों में 'विश्वमित्र' पद की सिद्धि होती है[2]।

इस प्रकार आख्यानविशेष के सन्दर्भ मे विश्वामित्र के इस महाभारतीय निर्वचन को अस्पष्ट और दुर्बोध बताया गया है, किन्तु यह अन्य ऐसे ऋषिशब्दो[3] की भाति अधिक अस्पष्ट नही है। इसका निर्वचन वैदिकी परम्परा मे ही किया गया है और व्याकरण की दृष्टि से भी पुष्ट है।

15. व्यास

वि+√अस् से— 'विव्यास वेदान् यस्माच्च तस्माद् व्यास इति स्मृतः[4]'
'यो कस्य वेदांश्चतुरः..........लोके व्यासत्वमापेदे'[5]।

भारतीय वाङ्मय के बहुमूल्य ग्रन्थ वेद, महाभारत, पुराण, उपपुराण, ब्रह्म सूत्र आदि के रचयिता महर्षि व्यास के एकत्व या अनेकत्व और समय के अन्तराल के विषय से सम्बद्ध अनेक प्रश्न विद्वानो के मस्तिष्क मे उद्भूत होते रहे हैं। इनके

1. द्र-वै. दे.-पृ. 339 तु.-कौ. ब्रा. 4.14,5.2; गो. ब्रा. 2.1.20
2. मित्रे चर्षौ–वार्तिक 6.3.130, इति विश्वस्य दीर्घः। 'ऋषौ किम्-विश्वमित्रो माणवकः'—सि. कौ. पृ. 563
3. द्र.-5.2, 9; 11 आदि।
4. महा. 1.57.73
5. महा. 1.99.14

वर्ण, माता, पिता, जन्मस्थल आदि से सम्बद्ध 'कृष्ण' 'सत्यवतीसुत' 'पाराशर' और द्वैपायन आदि नाम इनके जीवन पर प्रकाश डालते हैं। किन्तु इनका साहित्यिक नाम वेदव्यास सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ, जो उनके शिष्यों-प्रशिष्यों से होता हुआ अब भी जीवित है और आज आसेतुहिमाचल हर कथावाचक व्यास है।

महाभारत के उपरिलिखित दोनों स्थल वेदव्यास नाम का निर्वचन प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक युग में चतुष्पाद धर्म के एक चरण के कम होते और मनुष्यों की आयु और शक्ति के उत्तरोत्तर क्षीण होते देखकर ब्राह्मणों पर कृपा की भावना से इन विद्वान् मुनि ने चारो वेदो का विव्यसन किया था, अतः 'व्यास' कहलाए। द्वितीय उद्धरण मे भी इसी कथन को और स्पष्टता दी गई है। इसमे वेदो की संख्या का परिगणन किया गया है और वि उपसर्ग पूर्वक√असु (क्षेपणे) धातु का पूर्वकालिक प्रयोग करके शब्द को भाववाचक सज्ञा के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, जो ब्राह्मणकालिक निर्वचन-परम्परा का द्योतक है।

महर्षि से सम्बद्ध वेद-विव्यसन का उल्लेख साहित्य मे अनेकश[1] प्राप्त होता है। भागवत पुराण में वेदव्यास द्वारा चारों संहिताओं के निर्माण और उन्हें पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को पढाने तथा पचम वेद इतिहास-पुराण को रचने का उल्लेख किया गया है[2]। इन स्थलों में यद्यपि स्पष्ट निर्वचन नही है, पर 'व्यस्यन्'[3] 'व्यस्य'[4] 'व्यस्ता'[5] आदि पद प्राप्त होते हैं।

यद्यपि उपरिलिखित निर्वचन वेद चतुष्टय के सन्दर्भ में प्राप्त होता है, किन्तु इन्होंने एक पुराण-संहिता का भी अट्ठारह पुराणो के रूप में विव्यसन किया था[6], ऐसा पुराणो मे वर्णित है।

व्याकरण-प्रक्रिया के अनुसार वि+√असु (=क्षेपणे)+घञ् से 'व्यास' शब्द बनता है। शब्दकल्पद्रुम मे 'व्यास्यति वेदान्' विग्रह करके वि+आ+अस् +अच् से भी इसे व्युत्पन्न किया गया है।

इस प्रकार 'व्यास' (महर्षि) के निर्वचन से यह ज्ञात होता है कि यह एक साहित्यिक नाम है, जो महर्षि की सारस्वत-साधना का प्रतीक है।

16. सनत्कुमार

सनत्+कुमार से— 'यथोत्पन्नस्तथैवाहं कुमार इति विद्धि माम्।
तस्मात्सनत्कुमारेति नामैतन्मे प्रतिष्ठितम्[7]॥

(विवेचन आगे 'सनातन' शब्द मे देखें)

17. सनातन

स+नाद से— 'नादेन तेन महता सनातन इति स्मृतः'[8]॥

---

1. म. पु. 180 64 'विस्तीर्यैतन् महज्ज्ञानमृषि; संक्षिप्य चाब्रवीत्। इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्-श. क. से उद्धृत, भा पु. 12.6 49-53
2. भा. पु. 1.4.16-25
3. तत्रैव 1.4.23
4. तत्रैव 12.6 55
5. तत्रैव 12.6 36
6. म. पु. 53.4,9,10
7. हरि. 1.17.17
8. महा. 12.202.26

सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन ये ब्रह्मन् के चार पुत्र माने जाते हैं। इनमे से दो का निर्वचन महाभारत में पृथक् स्थलो पर भिन्न शैली में उपरिलिखित प्रकार से दिये गए हैं। सनत्कुमार के निर्वचन में उत्तर पद को ज्यों का त्यों स्वीकार कर प्रथम पद का व्याख्यान किया गया है कि जो जैसा उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार बना रहा। अर्थात् जिस प्रकार उत्पन्न कुमार (बालक) राग-द्वेषादि से शून्य होता है, उसी प्रकार यह सदा वीतराग, विमत्सर, वीतद्वेष, यतिधर्मा रहे। परम्परया यह नित्य कुमार माने जाते हैं। वायुपुराण[1] और लिंग पुराण[2] मे भी उक्त शब्दावली मे ही निर्वचन प्राप्त होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे इन्हे पंचवर्षीय चूडादिसंस्कार-वेद-सन्ध्या-विहीन और नग्न चित्रित किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद्[3] आदि मे प्रयुक्त यह शब्द सदाकुमार अर्थ मे ही व्याख्यात है। सनत् शब्द नित्य या निरन्तर वाची है[4]। इसी अर्थ मे सनात् शब्द भी है, अतः 'सनात्कुमार' भी मिलता है। शब्दकल्पद्रुम और अमरकोश की सुधा-व्याख्या में 'सनत्' शब्द का ब्रह्मपर्यायत्व भी उल्लिखित है। अतः 'सनतो ब्रह्मणः कुमार' विग्रह से इसका अर्थ ब्रह्मा का पुत्र भी किया गया है। अमरकोश मे इन्हें विधाता का पुत्र बतलाया गया है[5]।

इस प्रकार सनत्कुमार का निर्वचन प्रत्यक्षवृत्ति है, किन्तु 'सनातन' का निर्वचन परोक्षवृत्ति पर आधारित है। योग की भाषा मे इन्हें महान् नाद से युक्त बतलाकर इन्हे पद्मनाभ, महायोगी, भूताचार्य और भूतराट् कहा गया है। गीता प्रेस से प्रकाशित महाभारत की टीका मे 'नादनेन सहित. सनादन.। दकारस्थाने तकारः छन्दस.' लिखा गया है[6]। यहा दकार का तकार मे परिवर्तन छन्दस् माना गया है, जो भाषाविज्ञान के अनुसार वर्णादेश से भी सम्भव है।

यहा ऋषि के सन्दर्भ में विशेष निर्वचन किया गया प्रतीत होता है, अन्यथा 'सना' शब्द स्वयं नित्य वाची है[7] जिसे √षण (संभक्तौ) अथवा √षणु (दाने) से सम्बद्ध माना जा सकता है। व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार सना शब्द मे ट्यु या ट्युल् प्रत्यय और तुक् का आगम करके इसे सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु सम्बद्ध सूत्र[8] मे यह शब्द पठित नहीं है। इस रूप मे सनातन शब्द का अर्थ भी सनत्कुमार की भाति 'सदा रहने वाले ऋषि' किया जा सकता है। कोशो मे इसका अर्थ 'सदाभवः' किया भी गया है और यौगिकार्थ मे इसका प्रयोग साहित्य मे बराबर मिलता है, जैसे 'एष धर्मः सनातन.'। इसी अर्थ के सन्दर्भ मे शिव और ब्रह्मन् के लिए 'सनातन' तथा लक्ष्मी, दुर्गा और सरस्वती के लिए सनातनी शब्द का प्रयोग होता है[9]। देवशास्त्रीय ऋषि के रूप में भी इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य मे प्राप्त होता है।[10]

---

1. वा. पु पू. 9.101
2. लि. पु. 70.73½, 94½
3. छा. उप. 7.1.1; 26.2
4. अ. सु, पृ. 448
5. 'सनत्कुमारो वैधात्रः' इत्यमरः।
6. महा. गी. प्रे, शान्ति 209.27—पा. टि.
7. 'सना नित्ये'—इत्यमरः।
8. पा. 4.4.23
9. द्र.—आप्टे, पृ. 581–III
10. तै सं. 4.3.3.1; बृह. उप. 4.5.22,28

षष्ठ अध्याय

मानव वर्ग-2 (राजा-आयुध आदि)

वैदिक खण्ड के मानव वर्ग के द्वितीय उपवर्ग में राजनामों के अतिरिक्त क्षत्रिय राजवंश, आयुध, युद्ध आदि से सम्बद्ध शब्दों का विवेचन किया गया है।

1. अभिमन्यु

अभि–मन्यु से— अनीश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् ।
अभिमन्युरिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम्[1] ॥

अर्जुन और सुभद्रा के पुत्र चक्रव्यूह-भेदक अप्रतिम वीर अभिमन्यु का निर्वचन महाभारत में उनके जन्मोल्लेख के साथ दिया गया है। पूर्वपद में नञ् युक्त √ञिभी (भये) अभिप्रेत है। और उत्तरपद में क्रोधवाची मन्यु के साथ मतुप् प्रत्यय का उल्लेख करके शब्द को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् जो बालक निर्भय है और क्रोधवान् है। निर्भयता और शत्रुओं के प्रति क्रोध एक वीर के लिए आवश्यक गुण हैं। आचार्य नीलकण्ठ ने इसीलिए इसका अर्थ 'अतिशूर' किया है। पाठभेद[2] के अनुसार ह्रस्वान्त 'अभि' भी है, जिसे आचार्य नीलकण्ठ ने 'आर्ष' प्रयोग बताया है, अतः अर्थ में और मूल धातु-स्वीकरण में कोई अन्तर नहीं है।

वैयाकरणों को उक्त आर्थी निर्वचन स्वीकार नहीं है। अतः उन्होंने पूर्वपद को उपसर्ग के रूप में और उत्तरपद को धातुज शब्द के रूप में स्वीकार किया है। शब्दकल्पद्रुम ने 'अभिमन्यते युद्धार्थं' विग्रह करके इसे अभि+मन्+युच् से व्युत्पन्न किया है और निपातन से 'यु' के स्थानीय 'अन' के अभाव को माना है। श्री भानुजि-दीक्षित ने √मन् (ज्ञाने) से औणादिक 'यु' प्रत्यय किया है।[3] पर विधायक सूत्र पंचपादी और दशपादी उणादि पाठों में नहीं प्राप्त होता है। वहां प्राप्त सूत्र से इसमें 'युच्' प्रत्यय किया गया है[4]। अनाभाव के लिए श्री नागेश भट्ट ने विशेष टिप्पणी भी दी है[5]। श्री भानुजि दीक्षित ने एक अन्य उणादि सूत्र[6] के आधार पर इसे निपातन से भी सिद्ध किया है। अन्य आचार्यों ने भी इन दोनों पदों को इसी रूप में स्वीकार करके विभिन्न विग्रह देकर शब्द को अधिक स्पष्ट करना चाहा है, यथा–

---

1. महा. 1.213.60
2. महा. चि. 1.221.67
3. उ. 3.20
4. उ. 3.300
5. 'युवोरनाकौ' (पा. 7.1.1) इत्यनादेशस्तु न, तत्र यु वु इति उकारोच्चारणादेव ग्रहणात्–सि. कौ. पृ. 499
6. मृगय्वादि–उ. 1.37

'अभिमतः प्राप्तः युद्धसमये मन्युः क्रोधो यस्य' 'अभिलक्ष्यीकृत्य प्रतियोद्धारमिति शेषः मन्युः क्रोधो यस्य' 'अभि अतिशयः मन्युः शोको यस्मात्' आदि।

इस प्रकार नैरुक्तिक परम्परा में किये गये इस आर्षी निर्वचन से सम्बद्ध पात्र का व्यक्तित्व स्पष्ट होता है। उसका अप्रतिम वीरत्व सामने आ जाता है।

2 अर्जुन

अर्जुन (=शुक्ल)— 'पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभः समः।
करोमि कर्म शुक्लञ्च तेन मामर्जुनं विदुः[1]॥

अप्रतिम वीर पंचपाण्डवों में अन्यतम अर्जुन का नामकरण वर्ण और कर्म के आधार पर रखा गया है। वह वर्ण से गौर है और कर्म से भी शुक्ल है अर्थात् वह काले कर्म या दुष्कर्म नहीं करता है। अर्जुन के कर्मों पर दृष्टिपात करने से उनका *कर्मविदातत्व स्पष्ट भी होता है। इन कर्मों में सर्वविनाशकारी संहार से बचाने के* लिए अश्वत्थामा द्वारा प्रचालित ब्रह्मास्त्र को समेटना, श्री कृष्ण के आदेश पर मस्तक छिन्न करने के लिए विवश होना[2], कृष्ण के अश्वमेध यज्ञ-काल में एक ब्राह्मण द्वारा बच्चे की अकाल-मृत्यु की शिकायत पर अनेक उपायों द्वारा अकाल मृत्यु से उसकी सुरक्षा[3], विराट् नरेश को पराजय से बचाना, खाण्डव वन में इन्द्र को पराजित करना, तपस्या और शौर्य से किरातवेशधारी शिव को प्रसन्न कर पाशुपतास्त्र प्राप्त करना, निवातकवचों का वध, समुद्र में डूब जाने वाली द्वारका के निवासियों की सुरक्षा[4] आदि कनेक कर्मों आदि का उल्लेख किया जा सकता है। ऐसे ही कर्मो गुणों और विभिन्न विजयों के कारण उन्हें 'धनंजय'[5] और 'विजय'[6] नामों से भी अभिहित किया जाता है।

टीकाकार नीलकण्ठ ने अर्जुन के शुक्लत्व की पुष्टि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से करते हुए लिखा है–'√ऋज (गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु)+उनन्[7] प्रत्यये भवति। वर्णो दीप्तिः समः ऋजुः दीप्तिमत्वात् समत्वात् शुद्धकर्मकरत्वाच्च।' अमरकोशीय सुधा व्याख्या और शब्दकल्पद्रुम को इसमें √अर्ज (अर्जने) अभिप्रेत है। तदनुसार 'अर्जयति यशः धनं वा' विग्रह किया जा सकता है। यहां √अर्ज (प्रतियत्ने) पर भी विचार किया जा सकता है. जो प्रतिपक्षियों से लोहा लेने और उन्हें विनष्ट करने से सम्बद्ध शौर्य गुण को प्रकट करता है।

कोशों[8] में यह शब्द श्वेत अर्थ में भी पठित है। यह शब्द ऋग्वेद[9] में फाल्गुनी

---

1. महा. 4.39.18 2. भा. पु. 1.7
3. भा. पु. 10.89.22-64 4. वि. पु 5.38
5. कुबेरभण्डार और उत्तर कुरु आदि जनपदों को जीतकर धन लाना–धनं जयतीति धनंजयः। द्र–महा. 4.39.11
6. विजयते इति विजयः। द्र–महा. 4.29.12
7. अर्जेर्णिलुक् च–उ. 3.338
8. द्र.–अमरकोश, शब्दार्णवः मेदिनी आदि। 9. ऋक् 10.85.13

के लिए नक्षत्र रूप में और अथर्ववेद में वृक्ष, श्वेत और रजत के अर्थ में आया है[1]। वृक्ष के सन्दर्भ मे भी उसके छोटे और श्वेत पुष्पों से श्वेतिमा ही प्रकट होती है। श्वेतार्थक तोखारी भाषा का 'अर्कि,' (arki) ग्रीक का अरगोस (argros) अथवा 'अरगुरोस' (aguros) शब्द तथा रसायन शास्त्र में चांदी के लिए प्रयुक्त, अर्जेन्टुम् (argentum) शब्द द्रष्टव्य है, जिनसे विवेच्य शब्द का साम्य झलकता है।

इस प्रकार अर्जुन शब्द के महाभारतीय निर्वचन मे परम्परागत श्वेत अर्थ को स्वीकार किया गया है, किन्तु वैयाकरणों ने अपनी परिपाटी के अनुसार धातु-प्रत्यय के द्वारा व्युत्पन्न कर सगति बिठाने का प्रयास किया है।

3. इक्ष्वाकु

(इ) √क्षु से— 'क्षुवतस्तु मनोस्तात इक्ष्वाकुरभवत् सुत'[2]॥
'यन्मनुरक्षौत्तत इक्ष्वाकुः'[3]॥

वैवस्वत मनु के दश पुत्रों में (ब्र.पु. नव) से एक को छींक मे उत्पन्न बताया गया है, जैसा कि उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में √टुक्षु (शब्दे) के शतृ प्रत्ययान्त और तिङन्त रूपों से स्पष्ट होता है। आचार्य नीलकण्ठ ने 'क्षुवत: क्षुतं कुर्वतः' लिखकर इसे स्पष्ट किया है। अन्य पुराणों[4] में भी भिन्न शब्दावली मे ऐसा ही वर्णन है। विष्णु पुराण[5] में इसे क्तवतु प्रत्यय से (क्षुतवतः) निरुक्त किया गया है।

उपर्युक्त निर्वचनों से विवेच्य पद मे धातु-निर्देश अवश्य प्राप्त होता है, पर 'इ' और 'आकु' के विषय में ग्रन्थकार मौन है। इनका आगम मानकर निपातन से ही शब्द को सिद्ध माना जा सकता है। वैयाकरणों ने इसकी व्युत्पत्ति अपने ढंग से दी है। 'इक्षुम् (इच्छाम्)[6] आकरोति' विग्रह करके 'इक्षु+आङ्+√कृ+डु' से अथवा 'इक्ष (इक्षु) इति शब्दमकति' विग्रह से √अक (गतौ)+बाहुलक उण् से इक्ष्वाकु शब्द बनता है[7]। यद्यपि यह शब्द अतिप्राचीन है और ऋग्वेद[8] तथा अथर्ववेद[9] में राजा या उसका वंशज अर्थ मे तथा बौधायन श्रौतसूत्र[10] में देश या स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है, पर उपर्युक्त अथवा अन्य किसी निर्वचन का संकेत वहां प्राप्त नहीं होता।

4. ककुत्स्थ

ककुत्+√स्था से— 'इन्द्रस्य वृषरूपस्य ककुत्स्थोऽजयतासुरान्।
पूर्वं देवासुरे युद्धे ककुत्स्थस्तेन हि स्मृत.[11]॥

हरिवंश में उपलब्ध सन्दर्भ के अनुसार राजा शशाद के पुत्र ने आडीवक

---

1. अथर्व 2.8.3; 5.28.9
2. हरि. 1.11.12
3. तत्रैव 1.9.38 ऋतम्. पृ. 238 से उद्धृत।
4. भा.पु. 9.6.4; ब्र.पु. 7.44
5. वि.पु 4.2.11
6. श.कौ.-210-I
7. द्र.-श.क., अ.सु.।
8. ऋक् 10.60.4
9. अथर्व 14.39.9
10. बौ.श्रौ. 2.5.5
11. हरि. 1.11;.20

नामक युद्ध मे वृषभ रूपधारी इन्द्र के वृषभ बनने पर उसके ककुद पर बैठकर असुरों पर विजय प्राप्त की थी। अतः 'ककुदि तिष्ठति' विग्रह से 'ककुत्+√स्था कः' रूप शब्द सिद्ध होता है। अतः यह प्रत्यक्षवृत्ति निर्वचन है।

त्रेतायुग मे देवासुरसंग्राम विष्णु के परामर्श मे पुरञ्जय (शशाद पुत्र) से सहायता की प्रार्थना, वृषभ रूप धारी इन्द्र की पीठ पर चढ़कर युद्ध करने की शर्त आदि मे सम्बद्ध कथानक और भिन्न शब्दावली में उक्त प्रकार के निर्वचन कुछ पुराणो[1] मे भी प्राप्त होते हैं।

इस राजा का मूल नाम क्या था, यह निश्चय रूप से नही कहा जा सकता। पुरञ्जय भावी अभीप्सा की पूर्त्यर्थ रखा हुआ नाम भी हो सकता है और कर्मज-नाम भी हो सकता है, जो उसकी विभिन्न विजयो का द्योतक रहा होगा। एक अन्य नाम 'इन्द्रवाह' भी था, जो उक्त घटना से ही सम्बद्ध कर्मज नाम है।

उपरिलिखित हरिवंशीय या पौराणिक निर्वचनो में पूर्वपद 'ककुत्' को स्पष्ट नहीं किया गया है, किन्तु शब्द कल्पद्रुम मे 'कं सुखं कावयति गृहस्थस्य औन्नत्यं प्रापयति' विग्रह से 'क+√कु+णिच्' मे पृषोदरादि मानकर ह्रस्व और तुगागम से ककुत् को तथा 'सुखं उत्कर्षं वा कौति प्रकाशयति (धातूनामनेकार्थत्वात्) क+√कु +क्विप्+तुक् से और पृषोदरादि मानकर त को द करने से अथवा 'कस्य सुखस्य शरीरस्य वा कुं भूमि मूलं आकरमिति यावद् ददातीति' विग्रह से 'ककु+√दा+ कः' से 'ककुद' को सिद्ध किया गया है। अमरकोश की सुधा व्याख्या मे भी 'कं सुखं कौति' विग्रह करके 'क+√कु (शब्दे)+क्विप्+तुक्' से पृषोदरादि मानकर व्युत्पन्न किया गया हैं। इस प्रकार ककुत् या ककुद् को सुख-समृद्धि-उन्नति प्राप्त कराने वाला बताया गया है। अतः इसके श्रेष्ठ, राजचिह्न और वृषाग (पुंगव की पीठ पर का उठा हुआ भाग) अर्थ किये गए है[2]। वृषांग अर्थ भी श्रेष्ठत्व का ही द्योतक है। गृहस्थ के लिए ककुद्वान् वृषभ का पालन सुख-समृद्धिदायक माना गया है[3]। वैदिक कोश के अनुसार ककुद का प्रारम्भिक अर्थ ऊंची चोटी था। त्रिककुद पर्वत का उल्लेख मिलता है[4]। फिर अलङ्कारिक रूप मे श्रेष्ठ अर्थ मे[5] और वृषाग के अर्थ मे[6] भी सहिताओं में उल्लेख मिलता है। वहां इन्द्र के लिए 'ककुद्मान्' पद का प्रयोग भी माना गया है[7]।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि 'ककुत्स्थ' का वास्तविक अर्थ उच्चस्थ, मूर्धन्य या शीर्षस्थ है। जैसे शीर्षस्थ का अभिधार्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लिया जाता है। उसी प्रकार विवेच्य शब्द का भी लाक्षणिक अर्थ लेकर मूलतः

1. भा.पु. 9.6.14–19; वि.पु. 4.2.32; वा पु. उ 26.25; दे भा॰ 7.9.27
2. ककुच्च ककुदं श्रेष्ठे वृषांसे (वृषाङ्के) राजलक्ष्मणि' इति विश्वः।
3. द्र.-श. क. 'ककुत्' 4. वे. को.-पृ. 80 पा. 5.4.147
5. ऋक् 8.44.16, अथर्व 6.86.3; 3.4.2, 7.76.3 आदि।
6. ऋक् 10.8.2; 10.102.7 आदि।
7. ऋक् 10.102.7

'राजाओं में श्रेष्ठ' अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, जैसा कि महाकवि कालिदास ने माना है—

'ईक्ष्वाकुवंश्य: ककुदं नृपाणा
ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्'[1]।

इसी प्रकार कोश मे प्रदत्त अर्थ के अनुसार इसका अर्थ रामचिह्न से युक्त किया जा सकता है। उल्लेख्य है कि ककुद् भी वृषभ का चिह्नविशेष ही होता है।

इस शब्द से सम्बद्ध आख्यान और निर्वचन के द्वारा वैदिक काल के बाद इन्द्र की घटती महिमा का संकेत मिलता है[2]। अथवा इससे देवत्व पर मानवत्व की श्रेष्ठता को सिद्ध किया गया है, जिसकी घोषणा महाभारत मे अनेकश. की गई है-

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।'[3]

5. कुश

कुश— 'यस्तयो: पूर्वजो जात: स कुशैर्मन्त्रसत्कृतै: !
निर्मार्जनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत्[4] ॥

राम-कथा-परम्परा में रामचन्द्र के दो पुत्रों का उल्लेख आता है-कुश और लव। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार राम द्वारा परित्यक्ता सीता के इन पुत्रो का जन्म वाल्मीकि-आश्रम मे हुआ था। इनका नामकरण भी महर्षि ने ही किया था। ज्येष्ठ पुत्र का मार्जन उन्होंने मन्त्रपूत कुशमुष्टि से किया था, अत: 'कुश' नाम स वह विख्यात हुए। कुश एक मांगलिक घास विशेष है और वन-आश्रम मे सुलभ है। यहां उसे ही नामकरण का आधार बना दिया गया है। नामकरण के आधारों मे 'मंगल' का उल्लेख किया गया है[5], किन्तु यहां मगल-कामना का सकेत न कर मांगलिक वस्तु से सम्बद्ध कर्म से सम्बध्द कर दिया गया है। भीमसेन से जैसे 'भीम' अवशिष्ट रह जाता है, वैसे कुशमार्जित से 'कुश' नाम पड़ा होगा।

कुछ अन्य रामायणों मे लव को ज्येष्ठ पुत्र बताया गया है और कहा गया है कि सीता द्वारा उसके मूल स्थान से हटा लिये जाने से, किसी हिंसक पशु द्वारा हरण की आशका से, वाल्मीकि ने कुशों से अन्य शिशु की रचना कर दी तथा उसका नाम 'कुश' रख दिया[6]।

यह निर्वचन स्पष्टत: आर्षी है और लोककृत माना जा सकता है, किन्तु बाद में वैयाकरणों ने जो शाब्दी व्युत्पत्तियां दी हैं. वे वर्तमान सन्दर्भ में बहुत उपयुक्त नही प्रतीत होती (यथा√कुश (आलिंगने) से तथा 'कुं पापं श्यति नाशयति' अथवा 'कौ भूमौ शेते राजते शोभते' अथवा 'कु कुस्मिते कर्मणि शेते अवतिष्ठते'

---

1. रघु. 6.71
2. द्र.-अध्याय 9,
3. महा. चि. 12.299.20
4. वा. रा. उत्तर 66.7
5. बृ. 1.25
6. द्र.-रा. क., पृ. 708

अथवा 'कुश्यंति जलम्' आदि विग्रह करके 'कु+√शो+ड, कु√शो+क' से इसे व्युत्पन्न किया गया है[1]।

कुश के नामकरण में कविकल्पना का पुट दिया गया है। स्वयं रामायण में इन्हें कुशलपूर्वक उत्पन्न होने के कारण यह नाम दिया गया बताया गया है। विमलसूरि ने 'कुश' को 'मदनाङ्कुश' नाम देकर यह बताना चाहा है कि वह कामदेव के समान सुन्दर है[2]।

उल्लेख्य है कि कुश और लव के सम्मिलित रूप से मिलता-जुलता शब्द 'कुशीलव' है। इसके पूर्ण विवेचन और विद्यमान भाषावैज्ञानिक तथ्य के लिए 'लव' शब्द का अध्ययन द्रष्टव्य है[3]।

6. क्षत्रिय

क्षत 7 √क्षद्+√त्रै से— 'क्षतात्त्च नस्त्रायतीति स तस्मात् क्षत्रिय: स्मृत:[4]॥
'ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् तत: क्षत्रिय उच्यते'[5]॥
'क्षतान्नंस्त्रास्यते सर्वानित्येवं क्षत्रियोऽभवत्'[6]॥

महाभारत, पुराण[7] और बाद के साहित्य[8] मे भी 'क्षत्रिय' शब्द का निर्वचन प्राप्त होता है, जो पूर्वपद मे 'क्षत' शब्द को स्वीकार कर √त्रै से निर्मित त्राण से अथवा तिङन्त विग्रह से स्पष्ट किया गया है। जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों में देखा जा सकता है। सामान्यत: दूसरों को नष्ट होने से बचाने वाला अथवा ब्राह्मणों को सभी प्रकार के कष्टों से त्राण दिलाने वाला क्षत्रिय कहा जाता है। यह निर्वचन-गत अर्थ उसके पारिभाषिक अर्थ को ही स्पष्ट करता है, जिसे चातुर्वर्ण्य-चर्चा मे अनेकत्र[9] बताया गया है और रक्षा का भार क्षत्रियों को ही दिया गया है[10]।

तृतीय उद्धरण मे√त्रस् का उल्लेख है, जिसे 'त्रायते' का पाठ-भेद माना जा सकता है।

वैदिक साहित्य मे क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य शब्द प्राप्त होते हैं। इनमें से प्रथम दो शब्दों की मूल धातु एक है। क्षत्र शब्द वीर्य या पराक्रम[11] और असत्[12] अर्थ में तथा क्षत्रिय शब्द राष्ट्रशास्ता के अर्थ मे[13] और बाद मे ये दोनों एक

---

1. द्र.-श.क., अ सु. आदि।
2. प. च. 97.9
3. द्रष्टव्य-6.18
4. महा. 12.29.130
5. महा. 12.59.128
6. महा. म. द्रोण 69.2
7. वा. पु. 38.155; मा. पु 122.24; लि. पु. पू. 39.49
8. रघु. 2.53 प.च. 3.115
9. वि. पु. 6.7.3; भा. पु 7.11.22, 11.17.17; महा. चि. शान्ति 189.5 मनु. 1.89
10. द्र.-रघु. 2.43 ब्र. पु. 2.7.154, 161.166
11. ऋक् 1.157.2 तु.-श.ब्रा. 2.1.2.18, 1.1.1.2, ऐ. ब्रा. 8.2, 3.4
12. 'ब्रह्मासत् क्षत्रमुच्यते' अथर्व 10.2.23
13. ऋक् 4.42.1

सामाजिक समूह जाति या वर्ग के अर्थ मे[1] प्रयुक्त होते रहे हैं। अवेस्ता मे क्षत्र का तद्भव रूप 'क्शत्र' प्राप्त होता है। श्री सरकार ने क्षत्रिय शब्द का साम्य चिनाव नदी के पास रहने वाली सैथोई (यूनानी) एक वीर जाति से दिखलाया है और उसे क्षत्रिय का मूल बताने का प्रयास किया है[2]।

क्षत्रिय शब्द में मूल धातु √क्षद् है, जिसे भानुजिदीक्षित ने संवरणार्थक श्रौर सौत्र माना है[3]। क्योंकि यह धातुपाठों श्रौर निघण्टु मे प्राप्त नहीं है। वैदिक साहित्य मे यह धातु दानार्थक[4] तथा हिंसार्थक[5] भी प्रतीत होती है। श्री शिव नारायण शास्त्री ने भी इन दोनों श्रर्थों का संकेत किया है[6]। राथ श्रौर ह्विटने ने इसका श्रर्थ बांटना भी किया है। क्षत्रिय शब्द का उत्तरार्द्ध लौकिक संस्कृत में प्रत्यय है। ऋग्वेद के एक स्थल पर 'क्षत्रमाशतुः' कहकर[7] इस शब्द के प्रत्यय का व्याख्यान √श्रश् के प्रयोग से किया है। शतपथ ब्राह्मण में क्षत्र को प्राणवाची बताते हुए √क्षणु (हिंसायाम्) से सम्बद्ध किया गया है।

'क्षत्र'[8] शब्द की व्युत्पत्ति के लिए √क्षद्+ष्ट्रन्[9], क्षत+त्रै (पृषोदरादिवत्)[10], √क्षि (निवासे) +√त्रै[11], √क्षदि+त्र[12], √क्षर (संचलने), √क्षि अथवा √क्षीप् (हिंसायाम्) से निपातन से[13] सिद्ध करते हुए दी गई है। क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ मे शब्दकल्पद्रुम में √क्षद् के रक्षण श्रौर संवृत्ति श्रादि श्रर्थ भी किये गए हैं। 'क्षदति जनान्' श्रथवा 'क्षतात् त्रायते' विग्रह करते हुए 'मनीषा' की भांति श्रथवा क्षत में श्रकार-लोप से द्वितकार युक्त 'क्षत्त्र' शब्द स्वीकार किया है। घ (इय) प्रत्यय[14] को स्वार्थ या अपत्यार्थ में माना है।

क्षत्रिय शब्द मे उक्त सभी धातुश्रों का भाव सन्निहित प्रतीत होता है, क्योंकि इसके संवरण, दान, व्यापन श्रौर हिंसा इन सभी श्रर्थों मे रक्षा का भाव निहित है। इसके संवरण श्रर्थ से भी श्रर्थ विकास द्वारा रक्षा, शौर्य, विजय श्रादि श्रर्थ प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वैदिक श्रौर पौराणिक निर्वचनों मे दृष्टि स्पष्टतः देखी जा सकती है।

---

1. श्रथर्व 6.76.3.4, वा सं. 30.5; ऐ.ब्रा. 7.24; श. ब्रा. 1.3,2.15
2. 'स्टडीज इन दि ज्याग्राफी श्राफ ऐन्शेण्ट एण्ड मेडिकल इण्डिया'-पृ. 23-25
3. श्र.सु ।
4. ऋक् 1.25.17, 116.16, 117.8; 10.79.7, श्रथर्व 10.6.5, 16.42.5
5. ऋक् 1.130.4, 10.106.7 श्रादि।
6. भा.भा.वि. मू.-पृ. 130-131 पा. टि ।
7. ऋक् 8.25.8; 7.66.11.
8. तु.-शब्दानुशासन–6.1.93
9. सर्वधातुभ्यःष्ट्रन-उ. 4.598
10. पा. 6.3,109
11. मो. वि. पृ. 325,457
12. प्र. उ. 4.177
13. क्षरतेः क्षीयतेर्वा क्षत्रमिति निपात्यते–सि.को. पा. 6.3 75 'क्षीयतेरिति पाठे क्षीप्.......क्षियतेरिति पाठे √क्षि निवासगत्योः तुदादिः-ल श-द्र.-सि को. पृ 456'
14. क्षत्राद् घः-पा. 4.1.138

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि क्षत्रिय शब्द अति प्राचीन है, जो वेदों से लेकर अब तक प्रचलित है। इसके निर्वचन में अनेक धातुओं की कल्पना की गई है, सर्वाधिक मान्य √क्षद् है, पर वह पाणिनीय धातुपाठ मे पठित नही है।

7. गान्दिनी

गो + √दा से— 'श्वफल्क. काशिराजस्य सुतां भार्यामविन्दत।
गान्दिनी नाम तस्याश्च सदा गा: प्रददौ पिता[1] ॥
गान्दिनी नाम सा गास्तु ददौ विप्रेषु नित्यश:[2] ॥
गान्दी तस्याथ गान्दीत्वं सदा गा: प्रददौ हि सा[3] ॥

काशिराज की पुत्री का नाम गान्दिनी या गान्दी था, जिसका विवाह श्वफल्क के साथ हुआ था। कन्या के नाम के सम्बन्ध मे हरिवंश तथा अन्य पुराणो[4] मे एक आख्यान प्रस्तुत किया गया है कि वह माता के गर्भ से बाहर इस शर्त पर आई कि नित्य एक गाय ब्राह्मणों को दान मे दी जाय। फलस्वरूप पिता नित्य एक गाय का दान करते थे। अन्य पाठ–भेदो के अनुसार वह स्वयं गायों का दान करती थी। अत: उसे गान्दिनी अथवा गान्दी कहते थे। कहीं-कहीं गान्धी और गान्धिनी नाम भी मिलते हैं,[5] जो प्रदत्त निर्वचन अथवा व्याकरण के अनुसार भी उपयुक्त नही प्रतीत होते। अन्य पुराणो मे, आख्यान में सुस्पष्टता और रोचकता लाने के लिए यथावसर परिवर्तन किये गए हैं[6], किन्तु निर्वचन का स्वरूप लगभग एकसा है, अर्थात् 'गा दापयति ददातीति वा' विग्रह के द्वारा इसे गो + √दा (दाने) से निरुक्त किया गया है।

उक्त निर्वचन–जन्य पद व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'गोदा' बनता है। अत: गान्दिनी मे पृषोदरादि से 'गो' को 'गाम्' आदेश तथा टाप् के स्थान पर ङीप् हुए हैं। गान्दिनी शब्द का गंगा अर्थ लेते हुए कोश मे 'गां पशु जीवजातं दायति शोधयति' विग्रह करके गो + √दैप् (शोधने) + णिनि + ङीप् का विधान करते हुए उसे पृषोदरवत् सिद्ध माना भी गया है।

इस प्रकार एक कन्या के नाम के रूप में 'गान्दिनी' शब्द का आख्यानपरक निर्वचन हरिवंश में दिया गया है, जो सीधे व्याकरण की प्रक्रिया से पुष्ट नही होता। आर्थी निर्वचन स्वीकार करते हुए तदनुसार आख्यान का संघटन करके नाम की अन्वर्थता सिद्ध की गई है।

---

1. हरि. 1.38.50
2. श्री पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य सम्पादित हरिवंश के अनुसार पाठभेद।
3. श्री मैया शास्त्री गुर्जर सम्पादित हरिवंश के अनुसार पाठभेद।
4. वि. पु. 4.13.117-124, म. पु. 34.105, 108
5. द्र. ऋग्नम् पृ. 239, डा. सत्यव्रत ने यहां महाभारत का स्थल-निर्देश नहीं किया है। किसी स्थल पर गान्धिनी का भी उल्लेख दृष्टिगोचर हुआ था, परन्तु उसका सन्दर्भ अंकित करने से रह गया। 6. भा. पु. 10.57.32

8 त्रिशंकु

त्रि+शंकु से— पितुश्चापरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च ।
अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः ।।
एवं त्रीण्यस्य शंकूनि तानि दृष्ट्वा महातपाः ।
त्रिशंकुरिति होवाच त्रिशंकुरिति स स्मृतः[1] ।।

त्रि (√त्रै) से— शंकु(√क्रुश का वर्णविपर्यय)—
एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशंकुरपतत्पुनः ।
विक्रोशमानस्त्राहीति विश्वामित्रं तपोधनम्[2] ।।

अय्यारुण-पुत्र सत्यव्रत ने किसी पुरवासी की कन्या का अपहरण कर लिया था। इस अधर्म-शंकु के कारण पिता अय्यारुण ने इसे नगर से निष्कासित कर दिया। सत्यव्रत ने गुरु वसिष्ठ की सहायता से इस अपराध का प्रायश्चित्त करके अपराध-मुक्त होने की कामना की, परन्तु उन्होने कोई सहायता न की। वसिष्ठ का 'उपांशु'[3] था कि परस्त्रीहारी नही है, परकन्यापहारी है, अतः द्वादशवार्षिकी दीक्षा की समाप्ति पर इसे अभिषिक्त करूंगा। किन्तु इस 'उपांशु' को न समझ सकने के कारण द्वेषवश वसिष्ठ की शिष्यता को छोड़कर सत्यव्रत विश्वामित्र के पास चला गया और उनके कुटुम्ब का पालन करने लगा[4]। वह आश्रम के निकट मांस बांध दिया करता था। एक दिन मांस की व्यवस्था न होने पर वसिष्ठ की कामधेनु को ही मार दिया। उस मांस को उसने स्वयं भी खाया और विश्वामित्र के पुत्रों को भी खिलाया। इस पर क्रुद्ध वसिष्ठ ने–(1) पिता की असन्तुष्टि[5] (2) गुरु की कामधेनु की हत्या और (3) अप्रोक्षित या असंस्कृत मांस का भक्षण—इन तीन पापों के आधार पर उसे शाप देते हुए उसका 'त्रिशंकु' नाम रख दिया। यह कर्मज नाम उसे आजीवन अपने कुकृत्यों का स्मरण दिलाता रहा होगा तथा भक्तों को सुमार्ग पर उन्मुख करता रहा होगा। 'त्रिशंकु' का यह आख्यान यत्किंचिद् विभेद के साथ अन्य पुराणों मे भी मिलता है[6]।

वाल्मीकीय रामायण में उपलब्ध त्रिशंकु का यह आख्यान[7] किंचिद् भिन्न है। तदनुसार त्रिशंकु कोई इक्ष्वाकु-वंशीय राजा था। उसने सशरीर स्वर्ग जाने की अपनी इच्छा वसिष्ठ के सामने व्यक्त की, पर वसिष्ठ ने इसे असम्भव बताया। वसिष्ठ के

---

1. हरि. 1 13.18 2. वा. रा. 1.60.18
3. परेषामविदितनियमः-नीलकण्ठ।
4. सम्बद्ध आख्यान के लिए 'गालव' 5.6 भी देखे।
5. ब्र. पु.-अ. 8 के अनुसार पिता असन्तुष्टि का कारण पाणिग्रहण-संस्कार के अवसर पर सप्तम पद की निष्ठा न करना था।
6. वा. पु. उ. 26.108-109; ब्र. पु. 8.18.19; वि. पु. 4.3.21; भा. पु. 9.7.5–7
7. वा. रा. 1.57-60

पुत्रों ने भी पिता की उपेक्षा करके यह कार्य सम्पन्न करने में असमर्थता प्रकट की और उसे उन्होंने चाण्डालत्व के शाप से ग्रस्त कर दिया। अब वह राजा विश्वामित्र के पास पहुंचा, जिन्होंने योग-बल से सब कुछ जानकर उसकी इच्छा-पूर्ति की प्रतिज्ञा कर ली। एतदर्थ प्रारब्ध यज्ञ में अध्वर्यु विश्वामित्र के क्षत्रिय होने और यजमान, त्रिशंकु के चाण्डाल होने के कारण देवता उस यज्ञ में यज्ञ-भाग ग्रहण करने नहीं आए। तो क्रुद्ध विश्वामित्र ने उसे सशरीर स्वर्ग-लोक भेज दिया। वहां इन्द्र के मना करने पर वह रक्षा के लिए चिल्लाता हुआ (विक्रोशमानस्त्राहीति) अर्वाक्शिरस् रूप में भूमि की ओर गिरने लगा। तब विश्वामित्र ने 'तिष्ठ तिष्ठ' कहकर उसे वहीं रोक दिया और एक नए स्वर्ग का निर्माण करने लगे। अनर्थ की आशंका से देवताओं ने सन्धि कर ली, पर त्रिशंकु वहीं लटका रह गया।

प्रस्तुत आख्यान में हरिवंश की भांति तीन पापों की बात नहीं आई है, प्रत्युत उसे सत्यवादी और जितेन्द्रिय बताया गया है[1]। यद्यपि मूल में प्रारम्भ से ही इसका नाम 'त्रिशंकु' मिलता है, पर निश्चय ही इसका कोई अन्य मूलनाम भी रहा होगा। उपरिदत्त रामायणीय उद्धरण की शब्दावली में इसके नामकरण का आधार 'शंकु' प्रतीत होता है, क्योंकि इन्द्र के मना करने पर यह रक्षा के लिए चिल्लाने लगा था। यहां √त्रै से 'त्रि' और √क्रुश (आह्वाने रोदने च) का वर्ण विपर्यय होने पर 'श' को सानुनासिकत्व, 'क्रु' में रलोप एवं उत्त्वविधान से 'शंकु' बना प्रतीत होता है। उपरिलिखित रामायणीय आख्यान से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि विश्वामित्र के तपोबल से 'त्रिशंकु' स्वर्ग में पहुंच गया था। इन्द्र की हुंकार से नीचे की ओर चला, तो विश्वामित्र ने पुनः उसे वहीं रोक दिया अर्थात् यदि स्वर्ग-मार्ग के चार भाग माने जाएं, तो यह कहा जा सकता है कि पहले तो वह चार भाग चढ़ा, फिर एक भाग नीचे आया और तृतीय भाग तक रुक गया। इस प्रकार स्वर्ग-मार्ग या आकाश में तीन माप तक 3/4 भाग तक चढ़ जाने और वहीं स्थिर हो जाने के कारण इस राजा का नाम 'त्रिशंकु पड़ गया। शंकु शब्द के माप से सम्बद्ध दो अर्थ मोनियर विलियम्स के कोश में दिये गए हैं[2]। शंकु एक नापने वाला डंडा होता था अर्थात् वह तीन डंडे (शंकु) की माप तक चढ़कर स्थिर हो गया था।

श्री रणजीत शर्मा ने लीक से हटकर त्रिशंकु को तीन शंकुवाला यान अथवा त्रिकोणात्मक यान बताया है, जिसे विश्वामित्र की सहायता से भेजा गया था[3]। यह आधुनिक कल्पना पौराणिक आख्यान से भिन्न है। इस प्रकार ऐतिहासिक और पौराणिक नामों का विलोपीकरण अपेक्षित नहीं है, फिर भारत में ही नहीं हित्ती

1. वा. रा. 1.57.10
2. मेजर आफ 12 फिंगर्स; ए मेजरिंग राड-मो.वि. पृ. 104,7-II उल्लेख्य है कि *गांवों में आज भी ऐसे वाक्य बोले जाते हैं कि मैं दो या तीन बांस सूर्य चढ़ आने पर चला था।*
3. शा. व्यु. भा. अ. पृ. 73

भाषा मे भी यह शब्द विद्यमान है, जिसका रूप 'ट्रिस-अंकी' (Tris-anki) है। सम्भव है त्रिशंकु शब्द भारत से हित्ती भाषा मे पहुंचा हो। डा. सुधीर कुमार गुप्त की मान्यता है कि हित्ती का उपलब्ध रूप संस्कृत से अर्वाचीनतर है[1]। अतः त्रिशंकु की यह सक्रान्ति असम्भव नही। हित्ती मे यह नाम रामायणीय त्रिशंकु का ही संक्रान्त हुआ होगा, हरिवंशीय त्रिशंकु का नही।

इस प्रकार 'त्रीणि शंकूनि व्यतिक्रमाणि यस्य' विग्रह करके दोनों पदों को (त्रि-शंकु) सिद्ध मानकर निर्वचन प्रस्तुत किया गया है, तथापि त्रि पद संख्या वाची है और 'शंकु' के √शंकि (शंकायाम्) उणादि प्रकरण मे कु प्रत्यय करके निपातन से सिद्ध किया गया है[2]। यहां आख्यानपरता और निर्वचन के माध्यम से पाप-निवृत्ति एवं सत्प्रवृत्ति का विशदीकरण किया गया प्रतीत होता है।

9. दण्ड

√दण्ड से— 'नाम तस्य च दण्डेति पिता चक्रेऽल्पमेधसः।
अवश्यं दण्डपतनं शरीरेऽस्य भविष्यति[3] ॥

√दमु से— 'यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि[4]।

√दण्ड से— 'दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्ड विदुर्बुधाः[4] ॥

विवेच्य दोनों वीरकाव्यों में 'दण्ड' शब्द का निर्वचन प्राप्त होता है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दण्ड-प्रयोग के गुण तथा अवगुणों को बताते हुए इस सम्बन्ध मे सचेत रहने का उपदेश दिया और अपने वंश के विस्तार तथा प्रजा-रक्षा की आज्ञा दी। एतदनुसार जीवन-यापन करते हुए उन्होने 100 पुत्र प्राप्त किये। किन्तु उनमे कनिष्ठ मूर्ख और विद्याहीन था। स्वभाव और कर्म के आधार पर उन्होने उस बालक का नाम 'दण्ड' रख दिया, क्योंकि वह जानते थे कि एक दिन यह अवश्य दण्ड का अधिकारी होगा। हुआ भी यही। वह महान् अत्याचारी हुआ तथा प्रजा को पीड़ित करने लगा। यहां तक कि एक बार उसने अपने गुरु शुक्राचार्य की पुत्री अरजा से बलात्कार किया और सर्वनाश के दण्ड का भागी बना[5]।

यहां दण्ड का निर्वचन √दण्ड (दण्ड निपातने) से अभिप्रेत है, क्योंकि द्वितीय पंक्ति मे धात्वर्थ का संकेत किया गया है। पिता (इक्ष्वाकु) अपने पिता (मनु) के दण्ड सम्बन्धी उपदेश के प्रति इतना सजग और सचेष्ट रहा कि मार्गभ्रष्ट होने के लक्षण देखने पर ही पुत्र का नाम 'दण्ड' रख दिया। यह नामकरण के आधारो मे 'कर्म' के अन्तर्गत आता है[6]। नाम की पुष्टि भावी कर्मों से हो भी गई।

---

1. सुधीर कुमार गुप्त—वैदिक भाषा का विकास, गुरुकुलपत्रिका, अगस्त-अक्टूबर 1967, पृ. 192-63
2. उरु— शंकु-पीयु-नीव-लगु—उ. 1,36
3. वा. रा. उत्तर 79 15
4. महा. 12.15.8
5. वा. रा. उत्तर अ. 80-81
6. बृ. 1.27

प्रतीत होता है कि वह आख्यान दण्ड व्यवस्था के प्रतीक रूप मे संघटित किया गया है, जिससे वह पता चलता है कि कुमार्गी और मूर्ख दण्ड के भागी होते हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व मे अर्जुन द्वारा दण्ड की प्रशंसा के सन्दर्भ में जो निर्वचन दिया गया है, उसमें $\sqrt{}$दमु (उपशमे) और $\sqrt{}$दण्ड धातुओं का संकेत दिया गया है। अर्थात् धृष्ट और उद्दण्डों का दमन करने के कारण एवं अशिष्टों या असभ्यो को दण्ड देने के कारण 'दण्ड' कहा जाता है। किन्तु कभी-कभी जो अदण्डनीय हैं, उन्हे भी किन्हीं कारणों से दण्ड प्राप्त होता है, अत: अग्नि-पुराणगत निर्वचन में इसका भी उल्लेख कर दिया गया है[1]।

महर्षि यास्क ने तद्धित और समासो की रूप-रचना की प्रक्रिया में[2] दण्ड शब्द का निर्वचन$\sqrt{}$दद् ($\angle\sqrt{}$दा) से दिया है और उसका अर्थ धारण करना या पकड़ना दिया है[3]। यह अर्थ पाणिनीय धातुपाठ में प्राप्त नही है। सम्भवत: उस समय भी इस अर्थ में विप्रतिपत्ति रही होगी, इसीलिए उसे लौकिक उदाहरण द्वारा पुष्ट किया गया है—'अक्रूरो ददते मणिम्'। यों ऋग्वेद में इस अर्थ में इसका प्रयोग प्राप्त होता है[4]। स्कन्द स्वामी तथा महेश्वर ने $\sqrt{}$दद् के वापस करना, रोक रखना अर्थ दिए हैं।

उल्लेख्य है कि 'दण्ड' शब्द के दो अर्थ हैं–डण्डा और उससे विकसित अर्थ सजा[5]। वैदिक साहित्य में यह शब्द अपने मूल अर्थ मे मिलता है[6]। कहीं–कहीं इसका द्वितीय अर्थ भी देखा जा सकता है[7]। निरुक्तगत निर्वचनों में इन दोनो अर्थों की प्रतीति होती है।

डा. एम. ए. मेहन्दले ने 'दण्ड' सम्बन्धी अपने एक लेख में[8] उक्त यास्कीय निर्वचन पर विचार करते हुए अनेक तर्क देकर यह निष्कर्ष निकाला है कि यहा वस्तुत: दण्ड का अर्थ 'अपराधी को दण्ड देने के लिए बद्ध होना है', जो दण्ड के विकसित अर्थ के लिए उपयुक्त है।

यास्क ने दण्ड का द्वितीय निर्वचन आचार्य औपमन्यव के मत के रूप में उद्धृत किया है, जिसके अनुसार उसे$\sqrt{}$दम से निरुक्त माना गया है।[9] दुर्ग की एतत्सम्बद्ध

1. अ. पु. 226 16
2. 'अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् नि. 2.2.10
3. नि. 2.2
4. ऋक् 1.41.9; 7.33,11
5. बोहेमियन भाषा में भी ट्रेस्ट (Trest) सजा का विकास डण्डा अर्थ से ही हुआ है-हि. परि -पृ. 230
6. ऋक् 7.33.6, अथर्व 5.5.4, 10 4 92, ऐ. ब्रा. 2.35, श ब्रा. 3.2.1.32
7. पा. गृ. 3.15, पं ब्रा. 17.1.9; द्र–वै इ. भाग I पृ. 427
8. द्र –हिन्दी अनुशीलन-डा. धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक।
9. दमनादित्यौपमन्यव:-नि. 2.2.11

व्याख्या महाभारतीय निर्वचन से मिलती जुलती है[1]। जहां मूलार्थ और विकसितार्थ दोनों लिये जा सकते हैं। 'दण्ड' का रामायणीय निर्वचन एक राजा के नाम के रूप में होने पर भी यह दण्ड के विकसित अर्थ की ओर संकेत कर रहा है।

महाभारतीय निर्वचन में तो 'दमन' के बाद की प्रक्रिया 'दण्ड' का भी उल्लेख किया है और √दण्ड से भी निर्वचन स्वीकार किया है। वैयाकरणों ने भी दण्ड शब्द की व्युत्पत्ति में दोनों धातुओं को स्वीकार करते हुए इसे √दमु+ड[2] से तथा दण्ड +अच्[3] अथवा घञ्[4] से सिद्ध किया है। मोनियर-विलियम्स ने इस शब्द के सन्दर्भ में √द धातु का भी उल्लेख किया है[5]।

इस प्रकार दण्ड शब्द वैदिक काल से ही प्रचलित है, क्योंकि सामाजिक सुव्यवस्था के लिए दण्ड-भय आवश्यक है। यह अपने सामान्य अर्थ से विकसित अर्थ की ओर बढ़ता गया है। अर्थगत क्रमिक विकास इस प्रकार समझा जा सकता है—दण्ड >दण्डधारण 7 दमन 7 दण्डन। परिणामतः बाद में इसका प्रयोग लाक्षणिक अर्थ मे भी होने लगा जैसा कि शब्दकल्पद्रुम मे उद्धृत श्लोक मे हुआ है—

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥

15 देवरात

देव+√रा से— 'देवैर्दत्तः स वै यस्माद् देवरातस्ततोऽभवत्[6]॥

राजा हरिश्चन्द्र या हरिदश्व के यज्ञ मे ऋचीक पुत्र शुनःशेप को यज्ञ-पशु बनाकर लाया गया था, किन्तु विश्वामित्र ने उसे हिंसा से बचा लिया, तो देवताओ ने प्रसन्न होकर उसे विश्वामित्र को ही दे दिया। देवों के द्वारा प्रदत्त होने के कारण उसका नाम 'देवरात' हुआ। यहां पूर्व पद 'देव' को मूलतः स्वीकार किया गया है और दानार्थक √रा के पर्याय धातुरूप से विग्रह करके समस्त निर्वचन प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत मे ही एक अन्य स्थल[7] पर कथानक मात्र दिया गया है, जिससे निर्वचन का संकेत मिलता है, पर स्पष्टतः निर्वचन नहीं है। देवरात से सम्बद्ध कथा और नाम निर्वचन अन्य पुराणो मे भी मिलते है। वायुपुराण[8] और विष्णु पुराण[9] आदि मे 'रात' का पर्याय 'दत्त ही प्रयुक्त है, किन्तु भागवत पुराण[10] मे 'रात' का

---

1. तेन हि अदान्तो दम्यते राजभिः। तेनादान्तान् दमयेदित्युक्तम् नि. दु-पृ. 107
2. ञमन्ताड्ड-उ. 1.111 'बाहुलकात् 'चुट्' इति नेत्संज्ञा'—सि. कौ, बा. म. पृ 473
3. पचाद्यच्-पा. 3.1.134 अथवा अर्श आदिभ्योऽच्-पा. 5.2.127
4. भावे घञ्-द्र.– श. क.
5. मो वि. पृ. 466 II
6. हरि. 1 27 56
7. महा. श्री. प्रे. अनु 3.7
8. वा. पु. उ. 29.91
9. वि. पु 4.7.37
10. भा. पु. 9.16 32

प्रयोग करते हुए स्पष्ट निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। वहां शुनःशेप को अजीगर्त का पुत्र बताया गया है।

देवरात से सम्बद्ध उक्त आख्यान और निर्वचन अतिप्राचीन है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] और शांखायन श्रौतसूत्र[2] में ऐसा ही निर्वचन प्राप्त होता है। जहां उसे वैश्वामित्र भी कहा गया है। शब्दकल्पद्रुम मे 'रात' का अर्थ रक्षित किया गया है। यह अर्थ भी वर्तमान सन्दर्भ मे किया जा सकता है, क्योंकि उसके बचाने मे देवताओं का भी योगदान था। किन्तु निर्वचनो मे प्रदत्त पर्याय से $\sqrt{}$रा (दाने) अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

11. धृष्टद्युम्न

धृष्ट+द्युम्न— 'धृष्टत्वादतिधृष्णुत्वाद्धर्माद् द्युत्सम्भवादपि।
धष्टद्युम्नः कुमारोऽयं द्रुपदस्य भवत्विति[3]।।
'धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नात् द्युतिसम्भवादपि[4] ।।
'धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नाद्युत्सम्भवादपि[5]' ।।

महाभारतीय आख्यान से अनुसार द्रुपद और द्रोण मित्र थे। द्रुपद ने राज्य मिलने पर एक बार द्रोण का अपमान कर दिया था। द्रोणाचार्य ने कौरवों और पाण्डवो को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा प्रदान की। पूर्व अपमान का बदला लेने के लिए उन्होने गुरुदक्षिणा मे अर्जुन से द्रुपद को पकड मंगाया और फिर उसे उसका आधा राज्य दे दिया। राजा द्रुपद ने भी प्रतिशोध की भावना से याज तथा अनुयाज नामक ब्रह्मर्षियों से सन्तानार्थ यज्ञ करवाया, जिससे एक पुत्र और एक पुत्री (द्रोपदी) उत्पन्न हुए। याज ने उपरिलिखित निर्वचन देते हुए पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न रखा, जो नामकरण के आधारों में 'उत्सवन' के अन्तर्गत आता है[6] और बालक की प्रकृति या स्वभाव को द्योतित करता है। पाठभेदगत द्युम्नादि अर्थात् कवच-कुण्डलादि सम्पन्नता (आचार्य नीलकण्ठ के अनुसार) के कारण भी यह नाम रखा गया होगा।

प्रदत्त उदधरण के प्रथम दो पदो से बालक में प्रागल्भ्य, शक्ति-शालिता और साहस का द्योतन होता है। 'धृष्ट' और 'धृष्णु' दोनों पद $\angle$ञिधृषा (प्रागल्भ्ये) से क्रमशः क्त[7] और क्नु[8] से व्युत्पन्न होते हैं। किन्तु दोनो शब्दों के साथ-साथ प्रयोग से लेखक का कुछ अभीष्ट अवश्य रहा होगा। वस्तुत 'धृष्ट' के अर्थ साहसी अविनीत, अक्खड़ आदि होते हैं। 'धृष्णु' शब्द के भी ये ही अर्थ होते हैं, पर उसमें सहनशीलता और प्रभावशालिता का भाव निहित होने के कारण धृष्णुता आत्मीयो के लिए बुरी

1 ऐ ब्रा 7.17
2. तु.-शा. श्रौ. सू. 15.27
3. पाठभेद महा. 1.155.49
4. महा ग. 1.169.53
5. महा 7चि. 1.167 53
6 वृ. 1.25
7. क्तक्तवतू निष्ठा–पा. 1.1.26 अथवा नपुंसके भावे क्तः–पा. 3.3.114
8. त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः–पा. 3.2.140

नहीं होती, जब कि धृष्टता स्वजन या परजन सभी को अखरनी है। यहां 'धृष्ट-द्युम्न' में दोनों भाव अभिप्रेत प्रतीत होते हैं।

तृतीय पद स्पष्ट नहीं है। धर्म अशुद्ध प्रतीत होता है। दर्म[1] पाठ मानने से और उसका शाब्दिक अर्थ ग्रन्थन या बन्धन लेने से संगति बिठाई जा सकती है। अर्थात् वह इस कला में भी निपुण था। पाठभेदों में इसके स्थान पर 'द्युम्न' मिलता है इसे 'द्युम्न' का वाचक माना जा सकता है। उसके लिए एक नूतन धातु√घृभ् या धर्म या√दर्म की कल्पना करनी पड़ेगी। अथवा यहां भी 'द्युम्नात्' पाठ की कल्पना की जा सकती है।

चतुर्थ पद में बालक को द्युत्=प्रकाश या अग्नि से उत्पन्न बताया गया है, जो विशेष यज्ञ से उसकी उत्पत्ति की ओर संकेत करता है। अन्यत्र उसे साक्षात् 'अग्निसमद्युतिः' कहा है। साथ ही उसकी उत्पत्ति यज्ञ-कर्म में अग्नि से बताई गई है[2]। इस पद से 'धृष्टद्युम्न' के उत्तर पद का व्याख्यान किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि 'दिवं मनति√ म्ना (अभ्यासे)+कः[3] से व्युत्पन्न द्युम्न शब्द आभा[4] धन और बल का वाचक है[5]। धन तथा बल की सम्पन्नता से भी प्रकाश की कल्पना की जा सकती है। यदि ऐसा माना जाए, तो द्युम्नाद् 'द्युत्सभवात्' पाठ अन्य दोनों संस्करणों में द्वितीय पद के रूप में 'अत्यमर्षित्वात्' प्रयुक्त हुआ है, जो शब्द के प्रथम पद का व्याख्यान मात्र है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए आचार्य नीलकण्ठ ने उसे शत्रु के उत्कर्ष का असहिष्णु बताया है[6]। दिल्ली संस्करण में प्रयुक्त चतुर्थ पद 'द्युतिसम्भवात् पूर्व व्याख्यात चतुर्थ पद का स्पष्ट विशदीकरण है, पर साथ ही अक्षराधिक्य से छन्दोभंग हो गया है[7]। चित्र शाला प्रेस, पूना के संस्करण में 'द्युम्नाद्युत्संभवादपि' लिखकर इसका समाधान किया गया प्रतीत होता है अर्थात् द्युम्नादि (आभा, धन, बल, साथ में उत्पन्न कवच कुण्डलादि और शस्त्रास्त्र शौर्योत्साहादि) की उत्कर्षता से उत्पत्ति से (उत्सम्भवात्) उसे द्युम्न (धृष्टद्युम्न) नाम दिया गया है[8]। आचार्य नीलकण्ठ का यह स्पष्टीकरण ग्राह्य है। 'द्युम्नाद् युत्सम्भवात्' इस प्रकार पदच्छेद करके युत्√यु+क्विप्+तुक् और (√युध्+क्विप्) शब्द पर भी विचार किया जा सकता है। इन व्युत्पत्तियों से 'मिश्रणामिश्रण करने वाला' और 'योधा' भाव प्राप्त होंगे। अथवा 'द्युम्नाद् द्युत्सम्भवात्' पाठ माना जाय, तो फिर एक 'द्' का लोप हो गया होगा। 'द्युत्' √द्यु से क्विबन्त रूप होने से द्युति का बोधक है।

इस प्रकार धृष्टद्युम्न का यह समस्त पद (नाम) उसके स्वभाव और जन्मादि

1. √दृभी ग्रन्थे+घञ्-पा. 3 3.19 2. महा. 1.63 8
3 पा. 3 2 3, द्र-घ मु।
4 द्र.-मो वि., आप्टे
5. द्युम्नं वित्ते बलेऽपि च'-इति हेमचन्द्रः, मेदिनी च।
6. महा. वि. 1.167.53 पृ. 280.
7. द्र.-ग्र. शा. पृ. 16 8. महा. वि., पृ 280

का द्योतन करता है। जिस बालक का जन्म ही प्रतिशोध लेने की भावना से हुआ हो, उसके लिए तदनुरूप नाम रखना उपयुक्त है। फिर उसने अपने कार्यों से अपने नाम की सार्थकता भी प्रकट की है। जैसे उसने एक वीर योद्धा के रूप में पाण्डवों की ओर से युद्ध किया। सेनापति भी रहा। द्रोण द्वारा द्रुपद के मार दिये जाने पर इसने उन्हें मारने की प्रतिज्ञा की और 16वें दिन प्रातः अनुचित ढंग से द्रोण का शिर काट लिया था।

12. परिक्षित्

परि+√क्षि से—

'संज्ञां दित्वा चैनमुवाच। परिक्षीणे कुले जातो भवत्वयं अपरीक्षे परिक्षिन्नामेति[1] ॥

'परिक्षीणेषु कुरुषु पुत्रस्तव भविष्यति।
एतदस्य परिक्षित्वं गर्भस्थस्य भविष्यति'[2]।

'परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमाभिमन्युजः।
परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्यब्रवीत्तदा[3] ॥

महाभारत-युद्ध की यह पराकाष्ठा थी, जब अश्वत्थामा ने सर्वविनाशकारी ब्रह्मशिरः नामक ब्रह्मास्त्र छोड़ने की प्रतिज्ञा की। यह अस्त्र आधुनिक 'ऐटम बम' और 'हाइड्रोजन बम' की भांति इतना भयंकर था कि भावी पीढ़ी का भी संहार करने में समर्थ था। यह जानकर महर्षि व्यास और कृष्ण ने उसे समझाने का प्रयास किया। किन्तु अश्वत्थामा के न मानने पर यद्यपि कृष्ण ने उस अस्त्र के प्रभाव को नष्ट प्राय कर दिया, फिर भी उसका प्रयोग किये जाने पर श्रीकृष्ण ने विराट्-पुत्री उत्तरा के गर्भ की, अस्त्र-जन्य अल्पावशिष्ट प्रभाव से, रक्षा का भार स्वयं लिया। क्योंकि उत्तरा का पुत्र अस्त्र के प्रभाव के कारण मृतवत् उत्पन्न हुआ था। अतः श्रीकृष्ण ने सूतिकागृह में जाकर उत्तरा को आश्वासन दिया और आज्ञा से कुन्ती को उसे छः मास तक अपने पास रखने का आदेश दिया। अवधि के बाद उसे श्रीकृष्ण की कृपा से जीवन प्राप्त हुआ। इससे तत्कालीन विज्ञान और आयुर्विज्ञान की समृद्धि पर प्रकाश पड़ता है कि भयंकर अस्त्रों का निर्माण होता था और उनसे रक्षा के उपाय भी खोज लिये गए थे।

उपर्युक्त उद्धरणों में कुल अथवा कौरव-कुल के क्षीण हो जाने पर अभिमन्यु के इस पुत्र के उत्पन्न होने के कारण उसका यह नामकरण किया गया है। तदनुसार यह शब्द परि+√क्षि (क्षये—)+क्विप् से व्युत्पन्न माना गया है। शब्दकल्पद्रुम में प्रदत्त विग्रह में इसके अपर अर्थ (हिंसायाम्) का भी प्रतिनिधित्व किया गया है—'परि सर्वतोभावेन क्षीयते हन्यते दुरितं येन'।

यह शब्द वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार

1. महा. 1.90.92
2. तत्रैव 10.16.3
3. तत्रैव 14.69.10

प्रथर्ववेद[1] में यह एक कुरुवंशी राजा के रूप में आया है। ऐतरेय ब्राह्मण[2] में अग्नि को 'परीक्षित्' कहा गया है, किन्तु यहां √क्षि (निवासगत्योः) धातु स्वीकार करते हुए उसे मनुष्यों के बीच में रहने वाला बताया गया है। इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण[3] मे संवत्सर को परिक्षित् कहा गया है, क्योंकि संवत्सर के चारो प्रोर प्रजा निवास करती है—'परितः क्षियन्ते प्रजा यस्य'।

इससे यह स्पष्ट होता है कि इस शब्द के वैदिक निर्वचनों में धातु का एक प्रर्थ स्वीकार किया गया, जबकि पुराण-काल मे दूसरा प्रचलित प्रर्थ। महाभारत और बाद के साहित्य में परिक्षित् एक राजा था प्रोर उसका भी निर्वचन उपरिलिखित की भांति किया जा सकता है, क्योंकि राजा के चारो प्रोर भी प्रजा निवास करती है, उसकी रक्षा का भार जो राजा पर होता है। सम्भवतः √क्षि के निवासगत्यात्मक प्रर्थ का प्रचलन नही रहा होगा, प्रतः उक्त प्रकार से प्राख्यानपरक निर्वचन प्रस्तुत किया गया होगा।

वैदिक साहित्य प्रोर महाभारत में 'परिक्षित्' रूप प्राप्त होता है, किन्तु पुराणो में 'परीक्षित्' रूप भी मिलता है, जो बाद मे प्रधिक प्रचलित हुप्रा। प्राप्टे ने अपने कोश में प्रथम का नहीं, द्वितीय शब्द का ही उल्लेख किया है[4]। 'परीक्षित्' की व्युत्पत्ति भी पूर्ववत् स्वीकार की जानी चाहिए, क्योंकि स्वरागम से यह सम्भाव्य है। शब्दकल्पद्रुम में 'उपसर्गस्य दीर्घत्वं क्विप्—घञादौ क्वचिद् भवेत्' वचन उद्धृत करके शास्त्रीय व्यवस्था दी गई है।

श्रीमद्भागवत मे उक्त कथानक में किंचित् परिवर्धन करके एक नया निर्वचन प्रस्तुत किया गया है कि बालक उत्पन्न होते ही सोचने लगा कि गर्भ में जिस प्रंगुष्ठमात्र, मुकुटधारी और पीताम्बरधारी भगवान् के दर्शन किये थे, वह कौन था प्रोर प्रब कहां गया ? प्रतः वह उसी परम-पुरुष का ध्यान करता हुआ प्रत्येक मनुष्य की परीक्षा करता था कि यह वही तो नहीं है।[5] इस प्रकार यहां पुराणकार ने इस शब्द को परि+ईक्ष (दर्शने)+क्विप् से निरुक्त करके दीर्घ ईकार की समस्या ही नही प्राने दी है। हरिवंश[6] मे 'पारीक्षित' का उल्लेख प्राया है, जहां प्रपत्यार्थ प्रथवा स्वार्थ प्रण् का प्राश्रय लिया गया होगा। इसी प्रत्यय के प्राधार पर शतपथ ब्राह्मण में 'पारिक्षित' शब्द प्राया है[7]।

13. बीभत्सु

√बध्+सन् से— न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमानः कथञ्चन।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुतः[8]॥

---

1. प्रथर्व 20.127.7-10
2. ऐ. ब्रा. 6.32
3. गो.ब्रा. 2.6.12
4. आप्टे—पृ. 324-III
5. भा.पु. 1.12.31
6. हरि. 2.128.40
7. श. ब्रा. 13.5.4.3; द्र.-श्रौ सू. 16.9.7
8. महा. 4.39.16

विशिष्ट देवों और व्यक्तियों के पर्याय-नामों को देखकर यह स्पष्ट होता है कि इनके गुणों और कर्मों के कारण नामो मे अनेकता आई है। यह अनेकता रुचिग्रस्त कथा-वाचकों के द्वारा पर्याप्त विकसित हुई है। महाभारत के विराट् पर्व मे अर्जुन के अनेक नामो की चर्चा आई है और वहां प्रत्येक नाम का निर्वचन देकर महाभारतकार ने उनकी नाना-वैशिष्ट्य-जनित अन्वर्थता या यथार्थता प्रदर्शित की है।

अर्जुन के पर्याय बीभत्सु का निर्वचन उक्त प्रकार से दिया गया है कि बीभत्स (घृणित और गर्हित) कर्म न करने के कारण यह नाम प्रसिद्ध हुआ। यहां 'बीभत्सं नास्तीति' विग्रह से 'उ' प्रत्यय[1] करके 'अबीभत्सु' शब्द अभिप्रेत प्रतीत होता है। फिर प्रयोग मे घिस जाने से अकार (नञ्) लोप के द्वारा 'बीभत्सु' शब्द प्रचलित हुआ।

'बीभत्स' शब्द व्याकरण-प्रक्रिया के अनुसार√बध (बन्धने) धातु, चित्त-विकार अर्थ मे नित्य सन्नन्त[2] होकर घञ् प्रत्यय[3] से अथवा 'बीभत्सास्त्यत्र'[4] विग्रह करके अच् प्रत्यय[5] से बनता है। अथवा पचाद्यच्[6], घञ्[7] या घ[8] प्रत्ययों से भी बन सकता है। कोशो[9] में अन्य अर्थों के साथ इसे अर्जुन का पर्याय भी माना गया है। किन्तु महाभारत मे अर्जुन के इस नाम को 'उ' प्रत्ययान्त 'बीभत्सु' माना गया है।

महाभारतीय निर्वचन मे 'बीभत्स' का सामान्य प्रचलित अर्थ लिया गया है, इसीलिए साथ में 'नञ्' की कल्पना करनी पड़ी है। अन्यथा (युद्ध मे शत्रुओं को) न्यायत: बांध लेने की इच्छा वाला अर्थात् उन पर विजय प्राप्त करने की इच्छा वाला (√बध+सन्+अच्+उ) सहज अर्थ किया जा सकता है और मूलत: यही अर्थ रहा भी होगा। अर्जुन के पक्ष मे यह उपयुक्त भी प्रतीत होता है, क्योंकि उनके अन्य पर्याय धनञ्जय, विजय, किरीटी, सव्यसाची, जिष्णु आदि विजयेच्छा और विजय कर्म को स्पष्टत: द्योतित करते हैं।

इस प्रकार अर्जुन के पर्याय बीभत्सु का निर्वचन 'बीभत्स' के प्रचलित अर्थ से किया गया है, जबकि इसका मूल धातु से प्राप्त अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

14. भरत—(दुष्यन्त-पुत्र)

√भृ से—

'भस्त्रा माता पितु: पुत्रो येन जात: स एव स:।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्था: शकुन्तलाम्॥
तस्माद् भरस्व दुष्यन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप।
अभूतिरेषा कस्त्यज्याज्जीवञ्जीवन्तमात्मजम्।
शाकुन्तलं महात्मानं दौष्यन्तिं भर पौरव॥

1. पा. 3.2.168
2. पा. 3.1.5,6
3. पा. 3.3.18
4. पा. 3.3.102
5. पा. 5.2.127
6. पा. 3 1.134
7. पा. 3.3.19
8. पा. 3 3.118
9. 'बीभत्सो नार्जुने क्रूरघृणात्मविकृते त्रिषु'।
'बीभत्सो विकृते पार्थे क्रूरे पापघृणात्मनो.'।

भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि ।
तस्माद् भरत्वयं नाम्ना भरतो नाम मे सुत.[1] ॥
'दुष्यन्तं प्रति राजानं वागुवाचाशरीरिणी ।
माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव स. ॥
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मामवंस्थाः शकुन्तलाम्[2] ।

भरत—(अग्नि)

√भृ से— 'गुरुभिर्नियमै' जातो भरतो नाम पावकः ।
अग्निः पुष्टिमतिर्नाम तुष्टः पुष्टिं प्रयच्छति ।
भरत्वेष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते[3] ॥

भारतीय साहित्य मे 'भरत' नामक अनेक व्यक्तियो का उल्लेख मिलता है[4] । महाभारत और हरिवंश के उपरिलिखित दो उद्धरणो मे दौष्यन्ति भरत का निर्वचन दिया गया है । दोनो ही सन्दर्भो मे राजा दुष्यन्त द्वारा प्रत्याख्यान कर दिये जाने पर और जब निराश होकर शकुन्तला चल देती हैं, तो आकाशवाणी या अमूर्त वाणी द्वारा पिता के दायित्व को बतलाया गया है और पुत्र-पालन (भरण) का अनेकशः आदेश दिया गया है । अर्थात् वहां सर्वत्र √भृ (भरणे) धातु अभिप्रेत है, जिसमें अतच्[5] प्रत्यय लगने से वह शब्द बनता है । भरत से सम्बद्ध उक्त व्याख्यान और निर्वचन पुराणों[6] में भी प्राप्त होता है और सर्वत्र उपरिलिखित प्रथम उद्धरण का प्रथम श्लोक इसी प्रकार उद्धृत किया गया है।

मत्स्य पुराण[7] और वायुपुराण[7] मे मनु को भी भरत कहा गया है । वहा भी निर्वचन √भृ से ही किया गया है ।

इसी प्रकार अग्निवाचक भरत का भी निर्वचन उपरिलिखित द्वितीय उद्धरण में अग्नि को 'पुष्टिमति' बताते हुए उसे प्रजा का भरण करने वाला कहा गया है । यह निर्वचन वैदिकी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, जहां प्रजापति[8] और अग्नि[9] को 'भरत' कहा गया है । वहां भी मूल धातु √भृ ही अपनाई गई है । अर्थात्

---

1. महा. 1.69 29-33   2. हरि. 1.32.12
3. महा. 3 211.1   4. उ. 3.390
5. प्रथम मन्वन्तर के एक विष्णुभक्त राजा, वैदिक भरत योद्धा तथा राजा जिनके आधार पर मानवकुल चला, जड भरत, दाशरथि भरत, दौष्यन्ति भरत, नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि, भरत नामक अग्नि आदि ।
6. वि. पु. 4.19.10-14; भा. पु. 9.20.17-21; म.पु 49.28-32; वा. पु.उ. 37.130
7. म. पु. 114.5,   8. वा. पु. पू. 45.75, 76
8. प्रजापतिर्वै भरतः स हीदं सर्वं बिभर्ति-श. ब्रा. 6 8.1.14
9. एषः (अग्निः) उ व ऽइमा प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति-श. ब्रा. 1.5.1.8 'अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति—कौ. ब्रा. 3.2

जो सभी का भरण-पोषण करता है अथवा जो प्राण होकर प्राणियों में जीवन-धारण करता है। वह देवताओ के लिए हवि ले जाता है। यही अग्नि के निर्वचन मे अभिप्रेत है[1]। पुराणों में 'भरत' नामक–ब्रह्मोदनाग्नि का उल्लेख हुआ है[2]। मोनियर विलियम ने 'भ्रियतेऽग्निः' के द्वारा इस अर्थ की ओर भी संकेत दिया है कि जिसे मनुष्य संभाल कर रखते थे[3]। उल्लेख्य है कि प्राचीन काल में निरन्तर उसे यज्ञार्थ प्रज्वलित रखा जाता था और लोग संभाल करते हुए उसे जीवित रखते थे।

डा. फतहसिंह ने अपने ग्रन्थ में कुछ वैदिक सन्दर्भ दिये हैं,[4] जहां जाति-नाम के रूप मे भरत का उल्लेख हुआ है। अष्टाध्यायी मे भी प्राच्य भरत उल्लिखित है[5]। इसके अतिरिक्त वहां यौधेयादिगण मे यह पठित है,[6] जिसे डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने आयुधजीवी संघ माना है। निरुक्त[7] मे संग्राम-नाम के रूप मे 'भर' का निर्वचन√भृ से दिया गया है। अतः भरत का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही सर्वत्र अभिप्रेत है।

इस प्रकार भरत शब्द संहिता और समस्त वैदिक साहित्य मे प्राप्त होता है। वहा √भृञ् और √डुभृञ्–जिन्हें क्रमशः भ्वादि और जुहोत्यादिगण में परिगणित किया गया है–दोनो को स्वीकार किया गया; जबकि महाभारत मे मात्र +भृञ् को। यह निश्चय है कि यह अति प्राचीन शब्द है, जो व्यक्ति नाम, जाति-नाम, आदि के रूप में सुप्राप्य है। भारतवर्ष मे देश का नाम भी किसी भरत से ही जोड़ा जाता है। एतत्सम्बद्ध व्यक्ति विशेष पर विद्वानो में मतभेद है। फिर भी शब्द की मूल धातु पर वैदिक काल से अद्यावधि मतैक्य है।

15. महाभारत

महत्+भार से— एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलयाधृतम्।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा[8]।
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारत मुच्यते ॥
चत्वार एकतो वेदा भारतं चैकमेकतः।
समागतैः सुरर्षिभिस्तुलारोपितं पुरा ॥
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं ततोऽधिकम्।
महत्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥

---

1. द्र.-'अग्नि 3.2
2. म. पु. अ. 48; वा. पु. पू. 29.7; ब्र. पु 2.12.8; द्र.-मो. वि. 747-II
3. मो. वि. 747-II,
4. वै. एटी. पृ. 177 (भरत-3)
5. पा. 4.2.113
6. पा. 5.3.117, 4.1.178
7. नि. 4.25
8. महा. चि. 1.1.271-272

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते[1] ॥
'भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते'[2] ।
'भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते'[3] ।
'भाति सर्वेषु वेदेषु रतिः सर्वेषु जन्तुषु ।
तरणं सर्वपापानां ततो भारतमुच्यते'[4] ॥

भारतीय वीरकाव्य 'महाभारत' विश्वसाहित्य का अमूल्य रत्न है । समीक्षकों ने इसे 'विश्वकोश' भी कहा है, क्योंकि यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' । यह नाम इसकी प्रधान घटना कौरवों और पाण्डवों में 18 दिन तक चलने वाले महायुद्ध 'महाभारत' के नाम के आधार पर है ।[5] कौरव और पाण्डव दोनों ही भरतवंशी होने के कारण भरत या 'भारत' कहलाते हैं[6] । प्राचीनकाल में योद्धाओं के नाम से युद्ध के नाम भी पड जाते थे[7] । अतः इनसे सम्बद्ध संग्राम का नाम 'भारत' और असामान्य एवं महान् होने के कारण 'महाभारत' कहलाया ।

ऋग्वेद में संग्राम के लिए 'भर' शब्द आया है[8], जिसका निर्वचन महर्षि यास्क ने 'भरतेर्वा हरते र्वा'[9] दिया है । आचार्य दुर्ग ने 'भ्रियन्ते तस्मिन् योद्धारः' 'ह्रियन्ते हि तस्मिन् जीवितानि वसूनि च[10]' लिखकर उसे स्पष्ट किया है । इस प्रकार 'भर एव भारः' । 'महान्तं भारं तनोतीति' विग्रह करके भी महाभारत को महायुद्ध-वाची सिद्ध किया जा सकता है । इस अर्थ मे यह शब्द स्वयं ग्रन्थ मे प्रयुक्त भी हुआ है, जैसे महाभारताख्यानम्'[11] का अर्थ डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'भरतों के संग्राम की कहानी' किया है[12] ।

किन्तु महाभारत मे तथा अन्यत्र सुप्राप्य यह निर्वचन ग्रन्थपरक है, जैसा कि प्रथम उद्धरण में देखा जा सकता है । यहां ग्रन्थ की महत्ता, गौरव, विशालता तथा भारयुक्तता का कथन किया गया है । इस निर्वचन मे अतिसामान्य दृष्टि परिलक्षित होती है, क्योंकि यहां 'महा' और 'भार' शब्दों के सामान्य अर्थों को ग्रहण किया गया है तथा 'त' पर कोई विचार नहीं किया गया है । अत इसे स्वार्थ या मतुबर्थ में माना गया प्रतीत होता है । इस निर्वचन को, मनोरञ्जन मे, शब्दसाम्य के कारण

---

1. महा. 1.1.208-209
2. महा. 1.56.31
3. महा. गी. प्रे. स्वर्गा. 5.45, महा. 18.5.36-पा. टि. ।
4. भा.सा. 62
5. महा. चि. 1.62.53
6. 'वीरा भारतसत्तमाः' भा.सा. 56
7. पा. 4.2.56
8. ऋक् 4.38 5
9. नि. 4.24
10. नि.दु. 4.24-पृ. 328
11. महा. चि. 1.62.39 तु.-महा. अश्वमेध 81.8
12. भा. सावित्री-पृ.15

प्रस्तुत किया गया, प्रक्षिप्त और लोककृत मानकर उपेक्षित किया जा सकता है, किन्तु विचार करने पर इस निर्वचन की सार्थकता और उपयोगिता सुव्यक्त हो जाती है।

प्रस्तुत निर्वचन से 'महाभारत' शब्द से सम्बद्ध विभिन्न पक्षों और लोकरुचि का ज्ञान प्राप्त होता है।

इस निर्वचन से महाभारत ग्रन्थ के विशाल आकार और तौल मे भारी होने का संकेत मिलता है, जो अपने तीन संस्करणों–जय, भारत और महाभारत–के रूप में पाठको के सम्मुख आया है। एक विचार के अनुसार इसमे समय-समय पर वेदव्यास के शिष्यो, प्रशिष्यो, व्यासों और कथावाचकों के द्वारा परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे हैं और कलेवर प्रक्षेपों के कारण बढ़ता रहा है। वस्तुतः वर्तमान रूप में यह विशाल और भारी अवश्य है। इस प्रकार यह निर्वचन स्तुतिपरक भी है और विषयपरक भी। अर्थात् इसमे ग्रन्थ की महत्ता प्रदर्शित की गई है और विश्वकोशत्व भी सिद्ध किया गया है।

प्रथम निर्वचन में प्रदत्त शब्दावली से भी इसकी पुष्टि होती है। वहां देवों के द्वारा तुला के एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर महाभारत रखने पर ज्ञात हुआ कि महाभारत का पलड़ा भारी है। अर्थात् यह वेद-चतुष्टयी से भी महत्त्वपूर्ण और भार में भी उससे अधिक है।

डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार भार और महाभार तौल की इकाइयां थीं, जो क्रमशः लगभग ढ़ाई मन और 25 मन की थी। कोशो[1] मे भार शब्द इस अर्थ में मिलता है, जो लगभग 3 मन 13 सेर 5 छटाक और 20 माशा के तौल की इकाई थी। यदि इस अर्थ मे यहां 'भार' शब्द को ग्रहण किया जाय, तो 'महान्तं भारं तनोति'[2] यह विग्रह करके वर्तमान महाभारत को उपर्युक्त तौल वाला माना जा सकता है।

उपरिलिखित द्वितीय उद्धरणगत निर्वचन वर्ण्य विषय की ओर सकेत करता है, अर्थात् जिस ग्रन्थ मे भरतों (कौरवों और पाण्डवों) के जन्म जीवन-चर्या आदि का वर्णन किया गया है, वही 'महाभारत' है।

तृतीय उद्धरण में उपरि व्याख्यात दोनो निर्वचन एक साथ पठित हैं।

चतुर्थ उद्धरण मे 'भारत' (महाभारत) का निर्वचन एकाक्षरा परम्परा में दिया गया है। यह समस्त वेद, वाङ्मय और ज्ञान मे शोभित है (√भा 7 भा), सभी प्राणियों मे इसकी रति है (√रम् 7 रति=र) अर्थात् समस्त प्राणी इसके (इस

---

1. आप्टे-पृ.403-I; 'ते पोड़शाक्षः कर्षोऽस्त्री पलं कर्षचतुष्टयम्। तुला स्त्रियां पलशतं भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः'–अमर. 2.9.86,87। महाभारत में उल्लेख है कि कृष्ण ने सुभद्रा के विवाह में दश मनुष्यभार सोना दिया था–महा. चि. 1.221.52
2. द्र.-श.क.

उपजीव्य ग्रन्थ के) आख्यानों, उपाख्यानों, नीतिपरक निर्देशों आदि से लाभान्वित होते हैं, क्योंकि यह सभी पापों से उद्धार करने वाला है (√तृ 7तरण=त)। यहां इसको भा, रम् और तृ से भा, र और त लेकर निष्पन्न माना गया है। इसी परम्परा मे संगीत शास्त्र मे या नट अर्थ से सम्बद्ध 'भरत' के तीनो वर्णों का सम्बन्ध भाव, राग और ताल से भी जोड़ा गया है।

इस प्रकार उपरि प्रदत्त निर्वचनो के द्वारा अमूल्य ग्रन्थ की आकृति, प्रकृति तथा साहित्यिक और धार्मिक महत्ता पर प्रकाश डाला गया है, जिससे वेदव्यास-प्रोक्त इस थाती के प्रति सहज आकर्षण उत्पन्न होता है।

16. मित्र

√ञिमिदा आदि से—

मित्रं मिदेर्नन्दतेः प्रीयतेर्वा
सत्रायतेर्मानद मोदतेर्वा।
ब्रवीति तच्चामुतविप्रपूर्वा
तच्चापि सर्वं मम दुर्योधनेऽस्ति[1] ॥

सेनापति कर्ण ने सारथि शल्य से अपने स्वामी दुर्योधन के प्रति मित्रभाव प्रकट करते हुए 'मित्र' शब्द का उक्त प्रकार से निर्वचन दिया है। शब्द को स्पष्ट करने के लिए और उसमें विद्यमान भावो की विशदता के लिए यहां अनेक धातुओं का परिगणन यास्कीय पद्धति पर किया गया है, वहां 'अर्थनित्यः परीक्षेत' का सिद्धान्त मुख्य है[2]।

टीकाकारों ने यहां मुख्य धातु√ञिमिदा (स्नेहने) मानी है और अन्य √टुनदि (समृद्धौ), √प्रीङ् (प्रीतौ), √त्रैङ् (पालने) और √मुद् (हर्षे)—धातुओं को उसका स्पष्टीकरण बताया है, अर्थात् स्नेहन का अर्थ स्नेह करना, आनन्द देना, प्रेम करना, रक्षा करना और प्रमुदित बनाना होता है।

महाभारत के एक अन्य संस्करण के अनुपद उद्धृत पाठभेद मे एक धातु अधिक पठित है। अतः उसका 'मान करना' भाव भी इस स्नेहन शब्द मे सन्निहित मानना अनुचित न होगा[3]।

'मित्रं मिन्देर्नन्दतेः प्रीयतेर्वा
सन्त्रायतेर्मिनुते मोदतेर्वा[4] ॥

उपरिलिखित दोनों उद्धरणों मे मूलधातु के रूप मे क्रमशः √ञिमिदा और √मिदि का उल्लेख हुआ है, जो एकार्थक हैं (स्नेहने)। इनसे उणादि प्रत्यय

1. महा. 8.29.23
2. नि. 2.1; द्र.-डा. सु कु. गुप्त द्वारा लिखित लेख 'यास्कीय निर्वचन', 'अप्रीसिएशन आफ यास्क' 'निरुक्त की वेदभाष्यपद्धति' आदि
3. शब्दकल्पद्रुम मे इस धातु को स्वीकार किया गया है।
4. महा.ग. कर्ण 42.31

क्त्र[1] से यह शब्द बनता है। आचार्य मुकुट ने इसमें ष्ट्रन् प्रत्यय[2] स्वीकार किया है। यह निर्वचन व्याकरण प्रक्रियानुसारी है।

इतिहासपुराण ग्रन्थों की आर्षी निर्वचनों की प्रक्रिया के अनुसार उक्त उद्धरण मे इस शब्द में दो मूल धातुएं संकेतित मानी जा सकती हैं √ञिमिदा या √मिदि और √त्रैङ्। निरुक्त मे इस शब्द के पुंलिंग रूप का निर्वचन सूर्य के सन्दर्भ मे ऐसा ही दिया गया है, किन्तु प्रथम मूल धातु √मी का उल्लेख हुआ है—'मित्रः प्रमीतेस्त्रायते'[3]। अर्थात् जो (वर्षा करके) मृत्यु से रक्षा करता है। वहा √ञिमिदा का भी उल्लेख किया गया है, अर्थात् जो सबको जल से स्निग्ध या चिकना कर देता है। निरुक्त मे धातु का उल्लेख करके स्पष्टीकरण करने की भी प्रक्रिया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'सम्मिन्वानो द्रवतीति वा'[4] अर्थात् जो गीला करता हुआ चलता है। यहां प्रमीति से 'मि' और त्रायते से 'त्र' लेकर अथवा √मि (मि) और द्रु (त्र-वर्णादेश और वर्णलोप से) अथवा √मिद से मित्र शब्द की निरुक्ति दी गई है।

महाभारत का निर्वचन इसी परम्परा मे किया गया प्रतीत होता है। इसमे दो मूल धातुएं स्वीकार की गई हैं। स्पष्टीकरण का प्रकार महाभारतकार का अपना ही है, जिसके अनुसार मित्र मे स्नेह, आनन्द, प्रेम, रक्षण या पालन, मोद, मान आदि भाव सन्निहित हैं। इसके अन्य पर्यायवाची शब्दो की अपेक्षा इसमें वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। यद्यपि निरुक्तगत निर्वचन सूर्य के सम्बन्ध में हैं, पर सखावाची 'मित्र' शब्द मे उस विवेचन को स्वीकार किया जा सकता है[5]।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस शब्द का विग्रह परमेश्वर-नाम के सन्दर्भ में दिया है—'मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः[6]। इस भाव को भी सखावाची मित्र के लिए समझा जा सकता है।

अहिर्बुध्न्य संहिता मे 'मित्र' का निर्वचन √मदी (हर्षे) से भी दिया गया है[5]। महाभारतीय निर्वचन मे इस धातु का उल्लेख नहीं है, किन्तु इसकी समानार्थक √मुद का उल्लेख करके इस भाव का समावेश अवश्य कर लिया गया है।

---

1. अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः–उ. 4.603
2. सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्–उ. 4.598
3. नि. 10.21 4. नि. 10.21
5. साम्बपुराणगत निम्न निर्वचन में उक्त दोनों धातुओं का स्पष्ट उल्लेख किया गया है— 'स्नेहेन सर्वभूतानि यस्मात्त्रायति भास्करः।
 ञिमिदा स्नेहने धातुस्तस्मान्मित्रस्स उच्यते॥ साम्ब पु.8.29
 पारसियों में मित्र के लिए तद्भव शब्द मित्र का प्रयोग होता है और मित्र की पूजा के स्थान को 'मिथ्रिवन' कहते हैं। रोम मे भी मित्र-पूजा का उल्लेख मिलता है, जिसके लिए प्रयुक्त शब्द मित्रियाका (Mittriaca) (लै.)मित्रार्चा(सं.) का अपभ्रंश प्रतीत होता है
6. द.स. प्रथम समुल्लास—पृ. 9 5. नित्यं माद्यन्ति मित्राणि– अहि.पू. 21.24

महाभारत के उक्त सन्दर्भ मे 'मित्र' और 'शत्रु'[1] दोनों शब्दों के निर्वचन दिये गए हैं। जैसा पहले दिखाया जा चुका है, 'शत्रु' शब्द के अनेक धातुओं से निर्वचन किये गए है; जबकि मित्र के विचार्यमाण निर्वचन मे मूलधातुएं निर्दिष्ट हैं और स्पष्टीकरण मे अन्य धातुओं का भी उल्लेख किया गया है।

17. राजा

√रञ्ज से — 'पृथुं वैन्य प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन्।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत[2] ॥
'रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते'[3] ॥

√राज् से — 'पित्राऽपरञ्जितास्तस्य प्रजास्तेनानुरञ्जिताः।
अनुरागात्ततस्तस्य (पृथो.) नाम राजेत्यजायत[4] ॥
'यस्मिन् धर्मो विराजेत त राजान प्रचक्षते'[5] ॥

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित सन्दर्भों, आख्यानों और निर्वचनों से ज्ञात होता है। कि प्राचीन भारत में एक सुदृढ़ राजनीतिक स्थिति थी और विचारकों ने इस सम्बन्ध मे स्वस्थ एवं व्यावहारिक विचार रखे थे। शासनाध्यक्ष 'राजा' भले ही परम्परया सिंहासनाधिरूढ़ होता था, पर वह निरंकुश नहीं होता था। प्रजा का रञ्जन करना और उसे समृद्धिशाली बनाकर प्रसन्न करना राजा का प्रमुख कर्तव्य था[6]। फलतः वह देवतुल्य माना जाता था[7]।

राजा पृथु के आख्यान के सन्दर्भ से उपरिलिखित उद्धरणों के रूप में महाभारत मे तथा कतिपय पुराणों[8] में प्राप्त निर्वचन यही द्योतित करते हैं। बाद के साहित्य[9] मे भी 'राजा' के निर्वचन मे यही परम्परा परिलक्षित होती है, अर्थात् उसे रञ्ज (रागे) से सम्बद्ध किया गया है-'अनुरज्यन्तेऽस्मिन् प्रजा इति'।

---

1. द्र.–6 21
2. महा. 12.29.131, महा. ग. द्रोण 69.3
3. महा. 12 59.127
4. हरि. 1.5.30 5. महा. 12.91.12
6. मदालसा का कथन है– वत्स राज्याभिषिक्तेन प्रजारञ्जनमादित.।
कर्तव्यमविरोधेन स्वधर्मञ्च महीभृता ॥
7. 'प्रजापति'–श. ब्रा. 5.15.14; अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि। देवताओं का उसके शरीर मे प्रवेश की प्रार्थना–ऐ. ब्रा. 8.2.6, महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'–मनु. 7.8
8. वि. पु. 1.13.48; 93; म. पु. 18.16, ब्र. पु. 2.29.63, 64, वा. पु. उ. 1.132
9. राजा प्रकृतिरञ्जनात्-रघु 4 11; राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्ण.–रघु. 6.21 'अर्थवान् मे खलु राजशब्दः-शा. 5.14 के बाद ऋषियों द्वारा राजा की प्रशंसा में।

प्रदत्त प्रथम तीन उद्धरणों मे 'रञ्जन' या 'अनुराग' से राजा का निर्वचन दिया गया है। अथर्ववेद मे 'राजन्य' शब्द के निर्वचन में रञ्ज् का ही उल्लेख हुआ है[1]। वैदिक साहित्य मे कतिपय स्थलों[2] को देखकर प्रतीत होता है कि उस समय राजा को प्रजा का भक्षक भी कहा जाता था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्रजा का अपरञ्जक था, वस्तुत प्रजा द्वारा उसका कर आदि से पोषण होता था। इसके अतिरिक्त प्रजारक्षण भी राजा का प्रधान कर्म था[3], जो प्रजारञ्जन का ही एक रूप है, क्योंकि प्रजा या चातुर्वर्ण्य की सुरक्षा मे ही और सुख शान्ति से ही उसका वास्तविक रञ्जन हो सकता है। स्मृतियों और कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा के गुणों का और उसकी दिनचर्या आदि का वर्णन किया गया है[4], उसे पढ़कर भी यही स्पष्ट होता है कि वह प्रजारञ्जन में ही दत्तचित्त रहता था।

चतुर्थ उद्धरण मे राज् (दीप्तौ) का उल्लेख हुआ है, अर्थात् जिसमें धर्म या कर्तव्य-भावना प्रकाशित है अथवा विद्यमान है, वह राजा कहलाता है। निरुक्तगत निर्वचन[5] और व्याकरण-व्युत्पत्ति[6] में भी इसी धातु को स्वीकार किया गया है, क्योंकि राजा देदीप्यमान, प्रकाशमान और प्रतापवान् होता है। परन्तु डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने इस निर्वचन को ध्वनि की दृष्टि से स्वीकार्य, पर, अर्थ की दृष्टि से अस्वीकार्य वर्गों मे रखा है। उन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि इस शब्द के निरुक्तगत अर्थ की संगति, अन्य भाषाओं में प्राप्त इसमे मिलते-जुलते शब्दों से नहीं होती। अन्य भाषाओं मे इसके अर्थ आदेश या आज्ञा, राजा और नेता आदि है[7]। अतः प्रतीत होता है कि 'राजन्' शब्द वस्तुतः किसी शासनार्थक√'राज् से बना होगा, जो अब धातुपाठों मे उपलब्ध नहीं है। निघण्टु मे यह धातु ऐश्वर्यार्थ में पठित है[8]। अतः शासनार्थक√'राज्' धातु की सत्ता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता और इस धातु से विदेशों में प्राप्त अर्थों से संगति भी बिठाई जा सकती है। फिर भी डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने डा. राजवाडे के मत के अनुसार[9] इस धातु की सत्ता का अनुमान माना है। पं. शिवनारायण शास्त्री ने ऋग्वेद के एक स्थल पर[10] शासनार्थक√ईश से सम्बद्ध 'ईशे' के प्रयोग से और अथर्ववेद के एक स्थल[11] पर 'अधिराज' के प्रयोग से प्रकारान्तर से इस धातु की

---

1. सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत-अथर्व 15.8.1
2. ऋक् 1.65.4 अथर्व 4.22.7; ऐ ब्रा. 7.29 आदि।
3. द्र.–ऋक् 3 43.5 गोपां जनस्य। वि. पु. 6.7.3
4. द्र.–भा. सं. पृ. 184-186
5. 'राजा राजतेः' नि. 2.3
6. राजति+कनिन् (उ. को. 1.156) 'अ. सु.। राजते शोभते इति। कनिन्-श. क.।
7. एटी. भा. पृ. 57 भारोपीय Reg या Rego=निर्देश करना, लै. Rex=राजा अवे. Raster=नेता, Raz=नेतृत्व करना, आयरिश Ri और गैलिक Rix =राजा
8. निघण्टु 2.21.4
9. द्र.–राजवाडे-निरुक्त–309
10. ऋक् 6.19.10
11. अथर्व 6.98,1

सत्ता की पुष्टि करनी चाही है। भले ही सायण ने वहां भी दीप्त्यर्थक √राज् को ही स्वीकार किया हो।

वस्तुतः यह सारी स्थिति शब्द को विदेशी आदर्शों के आलोक मे देखने के कारण उत्पन्न हुई है। भारतीय परम्परा मे आदेश देना राजा का प्रमुख भाव या कर्तव्य नहीं है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है यहा वह एक आदर्श और प्रकाशमान देवता था। वह अपने देश में एक शोभा का घटक था। (राजते शोभते इति)[1]। अतः दर्शनीय था, उपास्य था और अनुकरणीय था। आज की भारतीय शासन-पद्धति मे राष्ट्रपति की भांति वह सर्वोच्चसत्ता सम्पन्न होते हुए भी प्रायः मन्त्रिमण्डल अर्थात् प्रजा पर निर्भर होता था। यह व्यवस्था उसे निरंकुश न हो पाने अथवा अपरञ्जक या प्रजापीडक न बन पाने में सहायक रही है और भविष्य मे भी रहेगी।

इस स्थिति से विचार करने पर 'राजन्' के उपर्युक्त अर्थों और [illegible] निर्वचन उपयुक्त प्रतीत होते हैं, जिन्होने भारतीय चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व किया है।

इस प्रकार 'राजा' शब्द के निर्वचन में दो स्पष्ट धाराएं [illegible] हैं। वेद मे भाष्यकारो ने राज् (दीप्तौ) स्वीकार की है तथा [illegible] ने तथाकथित √राज् आज्ञार्थक को भी खोजने का [illegible] है। [illegible] व्याकरण में इसे √राज् से ही सम्बद्ध किया गया है, [illegible] में इसे √रञ्ज् धातु से निरुक्त कर आर्थी निर्वचन [illegible] है।

18. लव

लव—

उपर्युक्त उद्धरण में 'लव' का अर्थ पांच क्षण लेकर[1] यह अर्थ भी किया जा सकता है कि इस पुत्र का जन्म अग्रज से पांच क्षणों के बाद हुआ था। प्रायः युग्म बालकों मे परस्पर जन्म के समय का अन्तराल इतना ही होता है। इस आधार पर नामकरण मानने पर 'लव' के उक्त अर्थों का आरोपण करने की आवश्यकता नही रहेगी और व्युत्पत्तिजन्य भाव शरीरविज्ञान से पुष्ट भी होगा। किन्तु प्रायः देखा यह जाता है कि निर्वचनो में कवि-कल्पना को प्रश्रय दिया जाता है जो शब्द-विशेष से सम्बद्ध शब्दो या उसके अनेकार्थों मे आन्दोलित रहती है। परम्परागत नामो और निर्वचनों को नए बदले रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास जैन साहित्य में यत्र-तत्र दृष्टिगत होता है। आचार्य विमलसूरि[2] ने लव को 'अनङ्गलवण' शब्द से सम्बद्ध करके उन्हे काम के समान सुन्दर बनाना चाहा है।

प्रसङ्गतः उल्लेख्य है कि कुश[3] और लव के सम्मिलित रूप से मिलता-जुलता बन्दिविशेष या नटवाची शब्द 'कुशीलव' है, जिसे इन शब्दों से कुछ विद्वानों ने सम्बद्ध करना चाहा है। यद्यपि भानुजि दीक्षित ने इस शब्द का विग्रह 'कुत्सितं शीलमस्त्येषाम्' अथवा 'कुशीलं वान्ति' किया है, किन्तु आर्षी-निर्वचन-परम्परा की दृष्टि मे 'कुशीलव' तथा कुश-लव'–इन दोनो में ध्वनि-साम्य स्पष्ट दृष्टिगत होता है। अतः कुशीलव को पृषोदरादिवत् सिद्ध माना जाना चाहिए।[4] रामायण के अनुसार श्रीरामचन्द्र के राजसूय यज्ञ में, महर्षि वाल्मीकि अपने शिष्यों के साथ आए थे, और कुश-लव के परिचय मे उनको अपना शिष्य बताने और वीणा पर प्रतिदिन रामायण के 20 सर्गो का गान करने का निर्देश दिया था।[5] यह कार्य कुशीलवों के लिए करणीय होता है। अतः सम्भव है कि कुशीलवो का कार्य करने के कारण सीतापुत्रो के नाम कुश और लव रख दिये गए हों। कुछ विद्वानों ने तो वाल्मीकि को लोक-नाटककार, कुशलव आदि को प्रचारकर्ता तथा राम को सीता-त्याग जैसे नृशंस कृत्यो से सुपथ पर लाने के उद्देश्य वाला बताने का साहस भी किया है। इस दृष्टि से भवभूतिकृत 'उत्तररामचरित' का सप्तम अंक तथा उसका भरतवाक्य भी द्रष्टव्य है। श्रीधरस्वामी ने मराठी मे लिखित अपनी रामायण मे प्रत्येक अध्याय के अन्त मे लिखा है कि उन्होंने यह कथा आदि कवि और आद्य-लोकनाटककार वाल्मीकि के रामायण नाटक के आधार पर लिखा है। सम्भव है कोई रामपरक नाट्यात्मक कृति वाल्मीकि की रही भी हो। इस सबसे यह अनुमान लगता है कि 'कुशलव' और और कुशीलव शब्दो मे कुछ न कुछ साम्य अवश्य है।

---

1. द्र.-पा. टि. 3; पृ. 203 'लवः क्षणास्तु पञ्चैव'-वा. पु. उ. 38/214
2. प. च. 97.9
3. द्र.–6.5 4. पा. 6.3.109
5. वा.रा.उ. 93.13,14

19. वसुषेण-

वसु--(√वस्)+सेन (=√षिञ्) से—

'नामधेयञ्च चक्राते तस्य बालस्य तावुभौ।
वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति[1]॥

'वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुण्डलम्।
नामास्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातय.[2]॥

भारतीय साहित्य मे दुर्वासा एक क्रोधी ब्राह्मण के रूप मे प्रसिद्ध है। आख्यानों में प्राय: वे शाप देते हुए ही चित्रित किये गए हैं, किन्तु कुछ ऐसे भाग्यशाली घटक भी हैं, जिन्हें इस महापुरुष से वरदान प्राप्त हुए हैं। कुन्ती उन्ही मे से एक है। उसने अतिथि रूप में आए दुर्वासा को अपनी असीम सेवा से प्रसन्न करके एक मन्त्र प्राप्त किया, जिससे वह किसी भी देवता का आह्वान कर सकती थी। परीक्षा के लिए उसने सूर्य का आवाहन किया और उसे एक कर्ण नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। उसने भयभीत होकर उसे जल मे छोड़ दिया। सूत-नन्दन और उसकी पत्नी राधा ने उसे प्राप्त करके पाला। वह बालक कवच-कुण्डलादि-सहित उत्पन्न हुआ था, अतः उन्होने उसका नाम 'वसुषेण' रख दिया, जैसा कि प्रथम उद्धरण में स्पष्ट उल्लेख हुआ है। लगभग यही भाव द्वितीय उद्धरण मे भी है, किन्तु यहां नाम रखने वाले ब्राह्मण हैं। नामकरण के आधारों मे यह 'उपवसन' के अन्तर्गत आता है[3]।

'वसु' शब्द जल, सार, नमक ओषधिमूल, धन और सुवर्ण आदि का वाचक है। उद्धरण से यह भी प्रतीत होता है कि यह शब्द कवचकुण्डलादि का भी वाचक है अथवा कवचकुण्डलादि को धन या द्रव्य माना गया है। टीकाकार नीलकण्ठ ने लिखा है—'वसुना कुण्डलकवचादिद्रव्येण बद्ध इति वसुषेण.'[4]। वसु के उपर्युक्त अर्थों के सन्दर्भ मे कोषो मे दी गई व्युत्पत्ति इस अर्थ के लिए उपयुक्त प्रतीत होती हैं—'वस्त आच्छादयति येन तद् वसु' अर्थात् वह वस्तु, जो (शरीरादि) को ढकती है—√वस् (आच्छादने) +उ[5]।

वसुषेण शब्द का उत्तर पद यहां अपने रूढार्थ (सेना) मे प्रयुक्त होकर बहुत उपयुक्त अर्थ देता नही प्रतीत होता। यौगिकार्थ में उसका बन्धन अर्थ ग्रहण करना उचित हैं, जिसका संकेत नीलकण्ठ की व्याख्या मे स्पष्टतः मिलता है। साथ ही 'सिनोति बध्नाति (शरीरम्)' विग्रह करके 'कवच' अर्थ भी किया जा सकता है। तब दोनो पद कवचकुण्डलादि के वाचक बनेंगे और उद्धरण का औचित्य भी सिद्ध हो सकेगा, अन्यथा उत्तरपद उपेक्षित मानना होगा।

---

1. महा. 1.104.15
2. महा. 3.293.12
3. बृ. 1.25
4. महा. चि. 1.111.24-पृ 200
5. उ. को. 1.10

उल्लेख्य है कि यद्यपि 'सेना' को 'एतीति इनः। इनेन स्वामिना सह वर्तते सेना' इस विग्रह से भी व्युत्पन्न किया गया है, किन्तु वहां भी 'सिनोति बध्नाति शत्रूनिति' विग्रह अधिक संगत प्रतीत होता है[1]—√षिञ् (बन्धने)+नित्[2] अथवा नक्[3]।

इस प्रकार 'वसुषेण' शब्द के निर्वचन में यौगिकार्थ से पुष्ट दोनों पद एक ही अर्थ के वाचक बनकर आख्यान और व्यक्तिविशेष की सार्थकता को सिद्ध करते हैं। यह इस निर्वचन का वैशिष्ट्य है।

20. विकुक्षि

वि+कुक्षि से— 'तेषां विकुक्षिर्ज्येष्ठस्तु विकुक्षित्वात्'[3]

द्रष्टव्य-'शशाद', 6.23

21. शत्रु

शद्लृ आदि से— शत्रुः शदेः शासतेः शायतेर्वा
श्रृणातेर्वा श्वयतेर्वापि सर्गे[4]।
उपसर्गाद् बहुधा सूदतेश्च
प्रायेण सर्वं त्वयि तच्च मह्यम्[5]॥

दुर्योधन के सेनापति कर्ण को, सारथि के रूप में कुशल शल्य को, स्वीकार करना पड़ा, जिसकी प्रबल भावना पाण्डवों के पक्ष में थी। वार्तालाप के सन्दर्भ मे कर्ण 'शत्रु' शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करता है, जिसमे अनेक धातुओं की कल्पना यह सिद्ध करने का प्रयास करती है कि 'शत्रु' में इन धातुओं के अर्थों से सम्बद्ध भाव होते हैं और उस (कर्ण) के सन्दर्भ मे शल्य में ये सब भाव घटित होते हैं।

यहां उद्देश्य की पूर्ति के लिए निरुक्तगत यास्कीय पद्धति का अवलम्बन किया गया है। 'अर्थनित्यः परीक्षेत' का सिद्धान्त प्रबल है और एतदर्थ अनेक उपायों का संकेत हैं, किन्तु निर्वचन न किये जाने का निषेध किया गया है[6]। धातुओं में भी न्यूनाधिक परिवर्तन होते रहे हैं। अतः यद्यपि धातुपाठों में ऐसा करने का प्रयास किया है, तथापि उनकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। फिर आद्यन्तोपधालोप, विपर्यय, आदेश, आगम, विकार आदि की सत्ता निरुक्त और भाषा-विज्ञान सम्मत है तथा व्याकरण को भी इन्हें *यदा-कदा विवशतः* स्वीकार करना पड़ता है। अतः प्रस्तुत शब्द के लिए पठित धातुओं के स्वराक्षरों में प्रतीत होने वाली विप्रतिपत्तियों की उपेक्षा की जा सकती है।

---

1. द्र.-अ. सू.।
2. उ. को. 3.10
3. उ. को. 3.2
4. हरि. 1.11.13
5. महा. 8.29.24
6. द्र.-निरुक्त-2.1 मे निर्वचन के सिद्धान्त।

'शत्रु' शब्द की सृष्टि में प्रथम धातु√शद्लृ (शातने) स्वीकार की गई है, जिसका अर्थ काटना, छेदना, चीरना, मारना और पीड़ा पहुंचाना होता है और ये सभी कार्य पिण्ड या ब्रह्माण्ड के सभी शत्रु करते हैं। द्वितीय धातु है√शासु (अनुशिष्टौ) अर्थात् जिसमे शासन करने की, बलात् दूसरो पर (मित्रों या निर्बलों पर) अधिकार करने की प्रबल इच्छा (√शासु इच्छायाम्) भी रहती है। तृतीय धातु है √शं (पाके) अर्थात् जो दूसरो को पकाता है, छकाता है और पीड़ा पहुंचाता है। चतुर्थ धातु है√शॄ हिंसायाम् अर्थात् जो हिंसा मे विश्वास रखता है। पंचम धातु √टुओश्वि (वृद्धौ) है अर्थात् जो सदा दूसरो की अपेक्षा शीघ्र बढने का प्रयास करता है, भले ही इसके लिए अन्यो को पीछे छोड़ना पड़े, निर्बल करना पड़े और कुचलना पड़े। यह शारीरिक या सामान्य शत्रुओ के विषय में सहज देखा जा सकता है। षष्ठ धातु√षूद (क्षरणे, क्षाणने) को हिंसार्थक बताया गया है अर्थात् जो विनाश करता है और जिसकी प्रकृति हिंसा मे है।

महाभारत के एक अन्य संस्करण[1] मे उपर्युक्त उद्धरण के प्रथम दो चरणो मे पाठ-भेद प्राप्त होता है—

'शत्रुः शदेः शासतेर्वा श्यतेर्वा
शृणातेर्वा श्वसतेः सीदतेर्वा।'

यहां प्रथम दो धातुएं तथा चतुर्थ धातु पूर्ववत् हैं। तृतीय धातु√शो (तनूकरणे) है अर्थात् जो सम्पर्क मे आने पर घिसकर पतला बनाने, अर्थात् क्षीण या विनाश करने का तथा क्रुद्ध या उत्तेजित करने का प्रयास करता है। पञ्चम धातु √श्वस् (प्राणने) है अर्थात् जो पीड़ा पहुंचाने या विनाश करने के लिए ही श्वास लेता है या जीवित है। षष्ठ धातु√षद्लृ—सीद (विशरणगत्यवसादनेषु) है अर्थात् जो विनाश, आक्रमण आदि मे प्रवृत्त रहता है।

वैदिक साहित्य[2] मे यह शब्द वैरी के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता रहा है। निरुक्त[3] मे इसे√शद् 7 शातय के अतिरिक्त√शमु(उपशमे) 7 शमय् से भी निरुक्त किया गया है अर्थात् जो दूसरों को शान्त कराने वाला होता है। यह अर्थ शत्रु-पक्ष मे बहुत संगत नही प्रतीत होता है। हां, चिरशान्ति (मृत्यु) प्रदान करने वाला कहा जा सकता है, इसीलिए सम्भवतः निरुक्त टीकाकार आचार्य दुर्ग ने 'शमयिता' का अर्थ 'हन्ता' किया है[4]। यद्यपि√शमु धातु इस अर्थ में पाणिनीय धातुपाठ में प्राप्त नही है किन्तु

1. महाभारत–श्रीगंगाप्रसाद सम्पादित, दिल्ली से प्रकाशित।
2. ऋक् 1.33.13; 4.28.4; अथर्व 4.3.1 आदि।
3. नि. 2.16
4. तत्रैव-दुर्गाचार्यकृत टीका।

शमितृ[1] शमन्[2] आदि पदो मे यह अर्थ सुव्यक्त है।

'शत्रु' शब्द के सन्दर्भ मे धातु विषयक मतभेद की भांति प्रत्ययगत मतभेद भी द्रष्टव्य है। शब्दकल्पद्रुम, अमरकोश सुधा व्याख्या आदि में औणादिक क्रुन्[3] प्रत्यय का उल्लेख है। सुधा व्याख्या में णिलुक् के लिए भी विधान है[4] किन्तु यह सूत्र सिद्धान्त कौमुदी मे प्राप्त नही है। वहां प्रज्ञादि गण में शत्रु का पाठ होने से ह्रस्वत्व स्वीकार किया गया है[5]। भानुजि दीक्षित ने आचार्य मुकुट के मत का उल्लेख किया है, तदनुसार 'रु' प्रत्यय और ह्रस्व करने से शत्रु शब्द निपातन से बनता है[6]। आचार्य सायण ने 'तृशदिभ्या त्रुन्' सूत्र का उल्लेख करके त्रुन् प्रत्यय से इसकी सिद्धि की है[7]।

इस प्रकार शत्रु शब्द का निर्वचन महाभारत मे यास्कीय पद्धति पर अनेक धातुओं को देकर किया गया है और अर्थ की प्रधानता स्वीकार की गई है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत शब्द के सन्दर्भ में यद्यपि दश धातुओं की कल्पना की गई है तथापि वैयाकरणों ने केवल एक मूल धातु ही स्वीकार की है। और वही धातु शत्रु के अन्य पर्याय 'शतेर' मे भी स्वीकार की गई है, जिसे उणादि प्रकरण में √शद्लृ+एरच् से सिद्ध किया गया है[8]।

22. शन्तनु–शान्तनु

शान्त+तनु से— 'शान्तोऽसीति मयोक्तस्त्वं यच्चासि ततुतां गतः।
सुतनुर्यशसा लोके शान्तनुस्त्वं भविष्यसि[9] ॥

शम्+तनु से— 'यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते।
पुनर्युवा च भवति तस्मात्तं शन्तनुं विदुः[10] ॥

शान्त+(सू) नु से— 'शान्तस्य जज्ञे सन्तानस्तस्मादासीत्स शन्तनुः[11] ॥

महाभारत और हरिवंश के तीन पृथक् सन्दर्भों मे राजा शा (श)न्तनु का निर्वचन प्राप्त होता है। प्रथम उद्धरण राजा शान्तनु के पूर्वजन्म की घटना पर आश्रित है। हरिवंश में प्रदत्त आख्यान के अनुसार समुद्र तट पर कश्यप के साथ खड़े ब्रह्मा को देखकर समुद्र बढ़ने लगा और उन्हें भिगो दिया। ब्रह्मा ने उसे शान्त हो

---

1. एक ऋत्विक्, जो यज्ञार्थ पशुवध करता है।
2. देखो संशको को, जहा अवसान, समाप्ति, नाश, बलि के लिए पशुहनन आदि अर्थ दिये गए हैं।
3. रुशातिभ्यां क्रुन् उ. 4.543
4. 'बहुलमन्यत्रापि' इति णिलुक् 2.8.9
5. प्रज्ञादिभ्यश्च–पा. 5.4.38, इत्यत्र पाठाद् ह्रस्वत्वम्।
6. जन्वादिभ्यश्च–उ. 4.542; एते रुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते-सि. को बा. म.
7. मा. धा. वृ. 1.584
8. शदेस्त च–उ.–1.60
9. हरि. 1.53.26
10. 1.9.0.48
11. महा. 1.92.18

जाने के लिए कहा। उनके कहने पर वह शान्त हो गया और तनुता को प्राप्त हुआ। अतः ब्रह्म' की वाणी के प्रभाव से समुद्र ही राजा शान्तनु के रूप में उत्पन्न हुआ।

यहां 'शान्त' और 'तनु' शब्दों को सिद्ध पद के रूप में स्वीकार कर मूल शब्द 'शान्ततनु' बताया गया है, जो बोलने में शीघ्रता लाने के कारण समध्वनि 'त' का लोप हो जाने से 'शान्तनु' हो गया प्रतीत होता है। भाषा-विज्ञान में यह मध्य व्यंजन-लोप का उदाहरण है[1]।

उपरि प्रदत्त द्वितीय उद्धरण मे स्पष्ट निर्वचन नही है, फिर भी शब्द का व्याख्यान किया गया है। वहां 'शन्तनु' को राजा प्रतीप का पुत्र और देवादि का अनुज बताया गया है। इसमे एक विशेष गुण था कि वह जिसे भी अपने हाथों से स्पर्श करता था, वह वृद्ध या रोगी भी युवा और स्वस्थ हो जाता था[2]। इस कर्म से उसे बड़ी शान्ति मिलती थी[3]। अतः उसका नाम 'शन्तनु' प्रसिद्ध हुआ।

प्रथम निर्वचन की भांति यहां भी शान्ति का भाव निहित है, पर उसे प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया गया है। यहां 'शन्तनु' शब्द को शान्ति के वाचक अव्यय 'शम्' और शरीरवाची 'तनु' से निष्पन्न किया गया प्रतीत होता है।

तृतीय उद्धरण में राजा प्रतीप द्वारा वृद्धावस्था मे पुत्रप्राप्ति का सन्दर्भ है। यहां राजा के विशेषण के रूप मे 'शान्त' शब्द और उसके बाद सन्तान' शब्द का उल्लेख किया गया है, जिसका एक पर्याय 'सूनु' भी होता है[4]। यहां मूल शब्द 'शांत 'सूनु' अभिप्रेत प्रतीत होता है, जिसके पूर्वपद का उल्लेख शब्दशः किया गया है और उत्तरपद का पर्याय दे दिया गया है। यहां भी मध्यवर्ण-लोप से 'शान्तनु' को निरुक्त माना जा सकता है।

'शन्तनु' शब्द प्राचीन है। ऋग्वेद मे इसका उल्लेख है,[5] किन्तु वहां निर्वचन नही प्राप्त होता है। निरुक्त मे भी यह शब्द आया है[6]। वहां इन्हें कौरव्य कहा गया है और आख्यान भी दिया गया है, जो पौराणिक आख्यान की ओर संकेत करता है। अग्रज देवादि राज्य न ग्रहण करके तपस्यार्थ चला गया। राज्य का भार शन्तनु ने वहन किया, किन्तु इस अनियमितता के कारण 12 वर्ष तक वहां वर्षा न हुई। फिर उसकी तपस्या और यज्ञ से वर्षा हुई, सभी को शान्ति मिली। 'शन्तनु' नाम का वहां यही निर्वचन अभिप्रेत प्रतीत होता है (शं मगलात्मकं तनुर्यस्य) यहां 'तनु' √तन् से निष्पन्न है। अत 'तनु' को 'कर्म' वाची भी माना जा सकता है, किन्तु यहां यास्क ने स्पष्ट निर्वचन नही दिया है। ऐसा मानने पर इस निर्वचन की एवं पौराणिक निर्वचनों की एकरूपता सिद्ध हो जाती है।

---

1. द्र.–भा. वि. सि. पृ. 186, 190
2. तु.–वा.पु. उ. 37.234
3. द्र –भा. पु. 9.22.13–14 ll वि. पु. 4.20.13; म. पु. 50.43.44
4. अमरकोश 2.6.27 5. ऋक् 10.98 6. नि. 2.10

23. शशाद

शश+√अद् से— 'श्राद्धकर्मणि चोद्दिष्टे अकृते श्राद्धकर्मणि ।
भक्षयित्वा शशं तात शशादो मृगयां गतः[1] ॥

व्यक्तियों के नामकरण के विभिन्न आधार होते है । कभी-कभी एक ही व्यक्ति के विभिन्न आधारों पर विभिन्न नाम पड़ जाते हैं। राजा इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र के उपरिलिखित दो नाम प्राप्त होते हैं। इनमे प्रथम नाम आकृतिपरक और द्वितीय कर्मपरक है ।

राजा इक्ष्वाकु के सौ पुत्रों[2] मे ज्येष्ठ पुत्र का 'विकुक्षि' नाम इसलिए रखा गया, क्योंकि उसकी कुक्षियां विपुल थी'—विपुले कुक्षी यस्य' । टीकाकार नीलकण्ठ ने भी यही अर्थ लिया है। किन्तु इसका विग्रह 'विगते कुक्षी यस्य' भी किया जा सकता है, अर्थात् जो कुक्षिहीन था । शरीर-विज्ञान की दृष्टि से यह उचित नही है, पर यह आलंकारिक कथन है अर्थात् वह इतना स्वस्थ किंवा स्थूल था कि उसकी कुक्षियां दृष्टिगत न होती थी। यह भाव शब्द के दोनों विग्रहों से स्पष्ट होता है। इस प्रकार इस नाम से उसकी आकृति या रूप पर प्रकाश पड़ता है।

द्वितीय नाम 'शशाद' आख्यानपरक है । राजा इक्ष्वाकु ने अष्टका या इष्टका श्राद्ध के लिए अपने पुत्र विकुक्षि को श्राद्ध के निमित्त मृग-मांस लाने के लिए कहा। देवी भागवत पुराण के अनुसार उसने वन मे अनेक पशुओं को मारा । भूख से व्याकुल होने पर उसने एक शश (खरगोश) को मारकर खा लिया। अतः उसका नाम 'शशाद' पड़ गया[3] । हरिवंश के मत मे यह नामकरण वसिष्ठ ने किया, क्योंकि उन्होने जान लिया था कि राजपुत्र ने श्राद्धकर्म की समाप्ति से पूर्व शश-भक्षण कर लिया है । यह आख्यान अन्य पुराणों[4] मे भी प्राप्त होता है ।

हरिवंशीय निर्वचन मे पूर्वपद का उल्लेख किया गया है, किन्तु उत्तरपद के लिए समानार्थक धातु देकर व्याख्यान किया गया है। तदनुसार 'शशमत्तीति' विग्रह करके√अद् (भक्षणे)+अच्–व्युत्पत्ति अभिप्रेत है। विष्णुपुराण[5] गत सन्दर्भ मे आख्यान स्पष्ट है, किन्तु 'शशाद' का उल्लेख विना निर्वचन दिये किया गया है। आख्यान के माध्यम से निर्वचन अभीष्ट अवश्य है ।[6] यही स्थिति भागवतपुराण की है[6] । किन्तु देवी भागवत पुराण में 'शशञ्चाददसौ वने'[7] लिखकर शश+√अद् (लङ् लकार) का स्पष्ट उल्लेख किया गया है । इस प्रकार कर्म के आधार पर प्रदत्त यह नाम उसे स्वयं को तथा अन्य जनों को उसके द्वारा कृत अपराध का स्मरण दिलाता है और सुमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। राजा का वास्तविक नाम इनसे अतिरिक्त भी हो सकता है ।

---

1. हरि. 1.11.17 2. हरि 1.11.12 3. दे. भा. 7.9 8
4. वि. पु. 4.2.12, वा. पु. उ. 26.9-20, म. पु. 12.26
5. 'ततश्चासौ विकुक्षिर्गुरुणैवमुक्तश्शशाद-संज्ञामवाप पित्रा च परित्यक्त-वि.पु.4.2.18
6. भा. पु. 9.6.11 7. दे. भा पु. 7.9 8

24 सम्राट्—(द्र.-राजा)[1]

सम्+√राज्+(क्विप्) से—

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः ।
न च साम्राज्यमासास्ते सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्[2] ॥

राजा शब्द के विवेचन मे स्पष्ट किया जा चुका है कि राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजारंजन था । राजा शब्द के मूल मे परम्परया√रञ्ज और√राज् को स्वीकार किया गया है । साथ ही शासनार्थक√राज् की कल्पना भी की गई है । 'सम्राट्' शब्द भी सम् उपसर्ग पूर्वक उक्त धातुओ से निर्मित माना जा सकता है । व्याकरण मे क्विप् प्रत्यय का विधान करके इस शब्द की सिद्धि की गई है[3] । महाभारतीय उद्धरण मे राजा पद मे निहित समस्त भावों को वैशिष्ट्य के साथ द्योतन करने के लिए√राज् से पूर्व सम् उपसर्ग का प्रयोग माना गया है । यहा इन दोनो शब्दों (राजा और सम्राट्) का अन्तर निर्वचन के आधार पर बताया गया प्रतीत होता है । 'प्रियंकर' या प्रजानुरञ्जक दोनो हैं, पर सम्राट् शब्द का क्षेत्र व्यापक है । विचार्यमाण उद्धरण में सम् उपसर्ग के स्पष्टीकरण के लिए 'कृत्स्नभाक्' शब्द का प्रयोग किया गया है । अर्थात् वह सम्पूर्ण प्रदेश पर शासन करने वाला होता है । वायुपुराण मे 'भारत' की परिभाषा के साथ-साथ नवद्वीपो की चर्चा भी आई है । नवम द्वीप को हिमालयस्थ गंगाप्रभव से कन्याकुमारी तक बताया है, उसी का शासन करने वाला सम्राट् कहलाता है[4] । ऐसा ही उल्लेख मत्स्य पुराण मे भी हुआ है[5] साहित्य मे इस पद का प्रयोग प्रायः हरिश्चन्द्र कार्तवीर्य आदि[6] उन शासको के लिये हुआ है, जिन्होंने चक्रवर्तित्व प्राप्त कर लिया था । वायुपुराण मे विराट् पुरुष को[7] और चक्रवर्ती राजा को[8] सम्राट् कहा गया है । वैदिक साहित्य मे भी इस शब्द का प्रयोग राजा की अपेक्षा अधिक शक्ति-सम्पन्न बड़े शासक के लिए हुआ है[9] । शतपथ ब्राह्मण मे वाजपेय यज्ञ के द्वारा ऐसा राजत्व अर्जित करने वाला 'सम्राट्' कहा गया है[10] । चक्रवर्ती सम्राटों के द्वारा अश्वमेध और राजसूय यज्ञ भी सम्पन्न किये गए हैं । इसे 'चतुरुदधिश्यामसीमापरित्री' का शासक या 'सार्वभौम', 'द्वादश-राजमण्डलेश्वर' आदि पदो से भी अलंकृत किया गया है[11] ।

इस प्रकार वीरकाव्यो मे ऐसे स्थल भी प्राप्त होते हैं, जहां राजा, सम्राट्

---

1. द्र.-6.17
2. महा. 2.14.2
3. सम्यक् राजते (राजति)-सम्+राज्+क्विप् । द्र.-श.क.; अ. सू. ।
4. वा. पु. पू. 45.86
5. म. पु. 114.15 वायुपुराण और मत्स्यपुराणगत उद्धरणो मे भी 'कृत्स्न' शब्द का प्रयोग किया गया है ।
6. अ. पु. 3.16.23
7. वा. पु. पू. 10.15
8. वा. पु. उ. 32.23
9. ऋक् 3.55.7; वा. सं 5.32 आदि ।
10. श. ब्रा. 5.1.1.13
11. द्र.-श.क. ।

जैसे पर्यायवाची शब्दों में निर्वचन की दृष्टि से अन्तर स्पष्ट किया गया है। उसकी पुष्टि प्रयोगों से भी होती है। प्रस्तुत उद्धरण इसी कोटि में आता है।

25. सात्वत

सत्व+त (√तनु) 7 सात्वत से—

'यतः सत्त्वं न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते।
सत्त्वतः सात्वतस्तस्मात्................'[1] ॥
'सत्त्वान्न च्युतपूर्वोऽहं सत्त्वं वै विद्धि मत्कृतम्।
जन्मनीहाभवत् सत्त्वं पौर्विकं मे धनञ्जय ॥
निराशीः कर्मसंयुक्तं सात्वतं मां प्रकल्पय।
सत्त्वतज्ञानदृष्टोऽहं सात्वतः सात्वतां पतिः'[2] ॥
'सात्वतात् सात्वताः स्मृताः'[3] ॥

संस्कृत-साहित्य में कृष्ण, विष्णु, बलदेव और यादवों के लिए[4] प्रयुक्त सात्वत शब्द का निर्वचन महाभारत के उक्त उद्धरणों में प्राप्त होता है। यह शब्द 'सत्त्व' से सम्बद्ध है। व्याकरण के अनुसार स्वार्थ में अण् प्रत्यय करके 'सात्त्व' तथा √तनु (विस्तारे) में 'ड' प्रत्यय कर '(सात्व) त' शब्द बनते हैं। जिसमें सत्त्वगुण का प्राधान्य है—आधिक्य है, वह सात्वत है। उपरिलिखित प्रथम दो उद्धरणों में इसे सुस्पष्ट शब्दावली में व्यक्त किया गया है। पद्मपुराण में विष्णु को और उनके दास्य और सख्य भाव के आराधक तथा आत्मसमर्पण में दृढ़ भक्त को भी सात्वत कहा गया है[5]।

किन्तु इन उद्धरणों में व्याकरण की उक्त प्रक्रिया को नहीं स्वीकार किया गया है। आर्थी निर्वचन-परम्परा में यहां पूर्वपद-'सत्त्व' को सिद्ध मानकर 'त' का व्याख्यान च्यवन (पतन), विहीन या विनाश आदि का अभाव किया है। दोनों के मेल से बने 'सत्त्वत' पद से अण् के विधान से 'सात्वत' पद बनाया गया है। द्वितीय उद्धरण के प्रथम श्लोक मे भी भिन्न शब्दावली मे यही बताया गया है। द्वितीय श्लोक मे 'सात्वत' पद को पारिभाषिक शब्दावली मे स्पष्ट किया गया है।

तृतीय उद्धरण से सम्बद्ध हरिवंश गत यदुवंश के वर्णन में राजा सत्त्वत को 'सत्त्ववृत्ति' तथा 'गुणोपेत' कहकर[6] उसके पक्षधरों को 'सात्वत' बतलाया गया है। यह तद्धित 'सात्वत' गोत्रापत्यार्थक अण् प्रत्यय से सिद्ध होता है। विष्णु पुराण[7] और

---

1. महा. 5.68.7
2. महा. 12.330.12,13
3. हरि. 2.38.38.
4. द्र.-श. क.
5. प. पु. (उ.) अ. 99 (श. क. से उद्धृत) । लेख्य है कि सात्विक भाव से विष्णु के उपासक सात्वत कहलाते थे और वैष्णव सम्प्रदाय में यह सर्वश्रेष्ठ सम्प्रदाय माना जाता था।
6. हरि. 2.38.37
7. वि.पु. 4.12.44

कुर्म पुराण[1] मे भी यही निर्वचन दिया गया है। कूर्म पुराण के अनुसार यदुवंशीय राजा सत्वत ने इस धर्म की यथेष्ट उन्नति की थी। उसने सात्वत धर्म का उपदेश नारद से ग्रहण किया था।

वायुपुराण मे सात्वत को सत्त्वगुण से युक्त और 'सत्त्व' का पुत्र बतलाया गया है—

'सत्त्वात् सत्त्वगुणोपेतः सात्वतः कीर्तिवर्धनः'[2]

किन्तु यहां 'त'का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। हां, 'उपेतः' शब्द के कथन से वहां 'युत' का अध्याहार किया जा सकता है अथवा उपर्युक्त√तनु धातु भी स्वीकार की जा सकती है। पुत्रत्व का द्योतन पौराणिक शैली में पंचमी विभक्ति से किया गया है।

इस प्रकार 'सात्वत' पद को सत्त्व√तनु से, सत्वत से और सत्त्व से सम्बद्ध किया गया है।

---

1. कू.पु, पू. 24,31-36 2. वा.पु. उ. 33.47

सप्तम अध्याय

मानव वर्ग-3 (विविध)

वैदिक खण्ड के अन्तर्गत मानव वर्ग के तृतीय उपवर्ग में परिवार, वंश, जाति, समाज, शरीर, जगत्, पुरुषार्थ, व्रतादि और ज्ञानवाचक विविध शब्दों का भी ग्रहण किया गया है।

1. अतिथि

अ+स्थिति से— 'अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते'।[1]
'ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते'।[2]

भारतीय संस्कृति में 'अतिथि' को पूज्य माना जाता है। इस शब्द का निर्वचन विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्राप्त होता है। लोक-विश्वास तथा प्रचलित धारणा के अनुसार 'न तिथिर्यस्य' विग्रह करके यह भाव प्रकट किया जाता है कि जिसका दिन, समय आदि निश्चित नहीं होता, जो सहसा आ जाता है, वह अतिथि है। उपरिलिखित द्वितीय उद्धरण में यही भाव प्रकट किया गया है कि वह अज्ञात होता है, जबकि अभ्यागत ज्ञात और परिचित होता है—'अभ्यागतो ज्ञातपूर्वः'।[2]

प्रथम उद्धरण में यद्यपि प्रकारान्तर से यही भाव प्रकट किया गया है, किन्तु प्रयुक्त शब्दावली से उसके निर्वचन पर भी प्रकाश पड़ता है, जिसमें पूर्वपद 'अ' का व्याख्यान 'अनित्य' से करके मूल शब्द 'अस्थिति' बताया गया प्रतीत होता है। यहां वर्ण-विपर्यय और आदि व्यंजन-लोप से 'अतिथि' पद सिद्ध माना जा सकता है।

शब्दकल्पद्रुम में 'अतिथि' की व्याख्या में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें उक्त भाव और शब्दावली का परिरक्षण है—

यस्य न ज्ञायते नाम न च गोत्रं न च स्थितिः।
अकस्माद् गृहमायाति सोऽतिथिः प्रोच्यते बुधैः॥

---

1. महा. गी.प्रे.अनु. 97.19; तु.-मनु. 3.102; मा.पु. 29.31
2. महा. आश्व. अपे. 1.नं.4.956

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने स्थिति शब्द का अभिधार्थ लेते हुए मनुस्मृति के उद्धरण[1] के आधार पर गृह में एक रात्रि मात्र रुकने वाले को (या पूरे दिन न रुकने वाले को) अतिथि कहा है और यह विग्रह भी दिया है—'अनित्यावस्थानान्न विद्यते द्वितीया तिथिरस्येत्यतिथिरुच्यते'।[2] किन्तु महाभारतीय उद्धरण के गीता-प्रेस के अनुवाद में स्वगृह-अस्थिति की चर्चा की गई है अर्थात् जो नित्य अपने घर मे स्थित नहीं रहता, घूमता रहता है। यह भाव निरुक्त मे प्रदत्त निर्वचन से पुष्ट होता है—'अतिथिरभ्यतितो गृहात् भवति[3], अर्थात् जो इधर-उधर घरों में पहुंचता रहता है। यहां √अत (सातत्यगमने) धातु को मूल माना गया है, किन्तु उत्तरपद (थि) के विषय मे यास्क मौन है। एकाक्षर कोशो में 'थ' का अर्थ पर्वतादि, 'थि' का गोदा-यमुना अर्थात् नदी और 'थी' का भू, समुद्र आदि अर्थ दिये हैं[4], जो अतिथि के सततगमन और भ्रमण की पुष्टि कर सकते हैं।

निरुक्त मे एक अन्य निर्वचन भी दिया गया है, जिसमे 'तिथि' शब्द का आश्रय लेने के कारण निश्चितता प्रकट होती है, पर कहां और किन तिथियों में जाता है, यह अनिश्चितता तो रहती ही है। निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

'अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा परगृहाणीति वा'[5]।

यहां भी उक्त भाव का ही द्योतन किया गया है, पर निर्वचन- प्रकार भिन्न है। यहां √इ+तिथि से जो निर्वचन प्रस्तुत किया है, वह अर्थ की दृष्टि से भले ही संगत हो कि जो (पौर्णमासी आदि निश्चित) तिथियों मे दूसरे के परिवारों मे या घरों मे जाता है, पर √इ का अ' मे परिवर्तन चिन्त्य है। इसीलिए सम्भवतः डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने इसे निरर्थक और विवेक-शून्य बतलाया है[6]। इसे √इ के पूर्व रूप √अय् का अवशेष भी माना जा सकता है[7]।

व्याकरण मे इसे √अत्+इथिन् से व्युत्पन्न किया गया है[8]–'अतति सातत्येन गच्छति न तिष्ठति'[9]। अतिथि का अर्थ 'आत्मा' करके 'अतति सन्ततं गच्छति' विग्रह भी किया जाता है। ऋग्वेद में अग्नि[10] को और कठोपनिषद् में वैश्वानर[11] को अतिथि कहा गया है। वहां भी इसी अर्थ से संगति बैठती है। वायुपुराण मे कुश के धर्मात्मा पुत्र का अन्वर्थ नाम अतिथि प्राप्त होता है, क्योंकि वह अतिथि-प्रिय था[12]।

---

1. एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
   अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते—मनु. 3.102
2. मनु. 3.102 पर टीका।
3. नि. 4.5
4. ए.को. पृ. 221
5. नि. 4.5
6. एटी. या पृ 118
7. द्र.-एटी. या, पृ. 155
8. उ.को. 4.2
9. द्र.-श.क.
10. ऋक् 8.74.1
11. कठ. 1.1.7
12. वा.पु उ. 24 तु.—भा.पु. 9.12.1; म.पु. 12 52 वि.पु. 4.4.105

इस प्रकार अतिथि शब्द के सन्दर्भ में दो पृथक् धाराएं दृष्टिगत होती हैं—'निरुक्त और व्याकरण मे √अत् या √इ से तथा' इतिहासपुराण ग्रन्थों मे और लोकविश्वास मे बहुव्रीहि समास करते हुए अ+तिथि से।

2. अम्बा

अम् (अंग)+बा (वर्धन) से—

'अंगानां वर्धनादम्बा'[1]।

महाभारत में यत्र-तत्र पारिवारिक शब्दों के भी निर्वचन प्राप्त होते हैं। परिवार में सर्वोच्च स्थान मां का होता है[2]। मां शब्द 'अम्बा' या 'माता' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। भाषावैज्ञानिको ने इन शब्दों को ध्वन्यनुकरणात्मक माना है, क्योंकि बच्चा सबसे पहले अम्मां, मां, अप्पा (मम्मी, पापा) जैसे पवर्गीय या स्वरपूर्व पवर्गीय शब्दों का उच्चारण सरलतया करता है। इतिहासपुराणकार इस दृष्टि से प्रायः निर्वचन न देकर लोक-भावना आदि से प्रेरित हुए हैं।

वेद मे मां के लिए 'अम्बा'[3] या इससे मिलते-जुलते शब्दों अम्बिका, अम्बालिका[4], अम्बायवी, अम्बया[5] का प्रचुर प्रयोग हुआ है। कोशकारों ने इसे स्नेहपूर्वक जाने, व्यवहार करने और बोलने के अर्थ मे √अबि (गतौ) तथा √अबि (शब्दे) से सिद्ध किया है[6]।

महाभारतीय निर्वचन इस परम्परा से भिन्न है। न वहां व्याकरण की दृष्टि है और न भाषा-विज्ञान की। वह निरुक्त-परम्परा मे आर्थी निर्वचन है, किन्तु उसका मूल पूर्ववर्ती साहित्य मे उपलब्ध नही होता। महाभारत का यह निर्वचन घनीभूत श्रेणी का है, क्योंकि यहां (बच्चो के) अंगों का सम्बर्द्धन या पोषण करने के कारण माता को 'अम्बा कहा गया है। शब्द का अर्द्धांश 'अंग' का और उत्तरांश 'वर्धन' का प्रतिनिधित्व करता है। इस दृष्टि से यह लोककृत निर्वचन की कोटि मे आता है। इस निर्वचन मे कवि ने माता के मुख्य कर्तव्य शिशुपालन की ओर संकेत किया है। किन्तु यदि मूलतः √अबि को भी स्वीकार कर लिया जाय, तो भी यह पद बच्चों के प्रति माता के स्नेह-भाव को द्योतित करेगा—'अम्ब्यते शब्द्यते। स्नेहेन उपगम्यते यया सा।'

ब्रह्मवैवर्तपुराण में लोककृत निर्वचन का एक अन्य उदाहरण है। वहां 'अम्बा' को 'पूजिता' और 'वन्दिता' कहा गया है और पुष्टि मे मूल (अम्ब्) धातु को पूजनार्थक बतलाया गया है[7]। यह धातु पाणिनीय धातुपाठ मे इस अर्थ मे प्राप्त

---

1. महा. 12.258.30
2. तु.-महा. शान्ति 266.31; मनु. 2.145
3. अथर्व 1.4.1
4. वा.सं. 23.18
5. कौ.उप. 1.3
6. श.क.; अ.सु. 1.7 14
7. अम्बेति मातृवचनो वन्दने पूजने तथा।
   पूजिता बन्दिता माता जगतां तेन सम्बिका ।। ब्र.वै.-प्र.खं. 57.20

नहीं होती है। अन्य लुप्त धातुपाठों में इसकी सत्ता रही भी हो सकती है। यहां भी धातु के प्रचलित अर्थ को स्वीकार करके पूज्यत्व या बन्द्यत्व का भाव लाया जा सकता है।

3. कन्या

√कन् + (यक् + टाप्) से—

'सर्वान् कामयते यस्मात् कनेर्धातोश्च भामिनि।
तस्मात्कन्येह सुश्रोणि स्वतन्त्रा वरवर्णिनि[1]॥
'कमेर्धातोः'[2]

महाभारत के एक विशेष सन्दर्भ में 'कन्या' शब्द का निर्वचन दिया गया है। पिता की आज्ञा से कुन्ती महाक्रोधी दुर्वासा की सेवा मे दत्तचित्त हो गई और उन्हें प्रसन्न करके उससे प्राप्त मन्त्र की परीक्षा के लिए सूर्य का आवाहन किया। शीलभंग से भयभीत कुन्ती ने जब अपने ऊपर माता-पिता और गुरुजनों का अधिकार बतलाया, तो सूर्य ने उक्त प्रकार से 'कन्या' शब्द का निर्वचन प्रस्तुत किया और उसे अपना वर खोजने के लिए सबकी स्वयं कामना करने वाली और स्वतन्त्र बताया। यहां यह शब्द √कनी (दीप्तिकान्तिगतिषु) और एक अन्य पाठ-भेद मे √कमु (कान्तौ) से निष्पन्न बताया गया है। इससे कन्या के युवति और स्वयम्वर्या होने का प्रमाण उपस्थित होता है। वैदिक काल में भी कन्या अपने पिता के घर में विकसित होती थी, जहा उसे गाव के युवकों के साथ मुक्त संसर्ग की स्वतन्त्रता थी[3]। वहा प्रेमी पर विजय प्राप्त करने की कामना आदि के संकेत प्राप्त होते हैं[4]। इससे गान्धर्व विवाह की प्राचीनता सिद्ध होती है।

यास्क द्वारा प्रदत्त निर्वचनों से भी उक्त कथनो की पुष्टि होती है-(I) कन्या कमनीया भवति (II) क्वेयं नेतव्येति वा (III) कमनेनानीयत इति वा (IV) कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः[5]। प्रथम निर्वचन √कमु (कान्तौ) से अभिप्रेत है, क्योंकि वह (लड़के की अपेक्षा) कमनीया—सुन्दरी होती है। अथवा कान्ति का अर्थ इच्छा भी होता है। अतः वह कमनीय=एषणीय अर्थात् उसके अभीष्ट वर के लिए वांछनीय होती है। यही भाव √कन् धातु के सन्दर्भ मे चतुर्थ निर्वचन में व्यक्त किया गया है।

---

1. महा. 3.291.13 2. पाठभेद महा. (ग) वन. 306.13
3. वै.इ. भाग 2 पृ. 537
4. द्र.-ऋक् 1.115.2, 117.18, 9.32.5 आदि। वैदिक संस्कृति मे कन्या (चाहने वाली) या उसके सम्बन्धी ही वर के लिए प्रार्थना करते हैं। तु.-यजु: 11.70-72, मनु. 9.88, 91 अथर्व 11.5.18, श्री विल्सन ने भी लिखा है–'The Hindus always send their lady to seek her lover.'
5. नि. 4.15

महाभारत का निर्वचन इसी परम्परा में किया गया प्रतीत होता है। डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने निरुक्त के सन्दर्भ में इस निर्वचन को ध्वनि की दृष्टि से स्वस्थ पर अर्थ विज्ञान की दृष्टि से अस्वीकार्य माना है[1]। उपर्युक्त निर्वचन की दृष्टि में डा. वर्मा के द्वितीय पक्ष से सहमत होना सम्भव नहीं है[2]।

निरुक्तगत द्वितीय निर्वचन कन्याओं के विषय में विद्यमान इस सामान्य समस्या का प्रतिफलन प्रतीत होता है, जो आजकल पिता या संरक्षक के मस्तिष्क में सतत जागरूक रहती है कि इसे कहां पहुंचाना चाहिए या कहां विवाह करना चाहिए—'क्व+√णीञ् से। महाभारतीय निर्वचन और तद्द्योत्य प्रथा की दृष्टि से इस काल में माता-पिता की समस्या यह होती होगी कि यह किसको चाहेगी, वरण करेगी और तदनुसार उसे कहां पहुंचाना पड़ेगा—किससे विवाह करना होगा। इसी भाव को प्रकारान्तर से निरुक्त में अन्यत्र 'दुहिता' को 'दुहिता' कहकर व्यक्त किया है[2]।

निरुक्त में ही प्राप्त तृतीय निर्वचन कन्या की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करता है अर्थात् वह चाहने वाले वर[3] के द्वारा लाई जाती है—कमन+√णीञ् से। यही भाव 'वधू' शब्द में भी निहित है—'वहति (वरो याम्) उह्यते (वरेण) वा'[4] 'उह्यते पितृगेहात् पतिगृहम्'[5]।

महाभारत से कन्या के स्वयम्वर्या होने की पुष्टि होती है। अन्य पुराणों में भी ऐसे सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ विष्णु पुराण के अनुसार मान्धाता ने अपनी कन्याओं को पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी थी[6]।

इस प्रकार कन्या के महाभारतीय निर्वचन में धातु का स्पष्ट निर्देश किया गया है, साथ ही निर्वचन के माध्यम से तत्कालीन स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है, जिसका विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में यथा स्थान द्रष्टव्य है[7]। यद्यपि मूल में प्रत्ययादि का संकेत नहीं है, पर औणादिक यक्[8] और स्त्री प्रत्यय टाप् से यह कन्या शब्द सिद्ध होता है।

4. कुलपति

कुल+√पत् (+णिच्) से—

कुलानि पातयत्येष सप्त सप्त च राघव[9]॥

---

1. एटी. या. पृ. 55
2. नि. 3.41; विशेष द्रष्टव्य 'शब्द संस्कृति' डा. शिवसागर त्रिपाठी, पृ. 79('भाषा' जून 1966)
3. क्योंकि कन्या द्वारा चयन करने पर ही वर की 'वर' ... है। अतः महाभारतीय निर्वचन की संस्कृति से एकवाक्यता है
4. अ.सु. ... वाचस्पत्यम् .
6. वि.पु. 4.13.44 ... नवम
8. अघ्न्यादयश्च-उ.को. 4.113 ... उत्तर।

वाल्मीकीय रामायण में 'कुलपति' शब्द का आर्षी निर्वचन एक आख्यान के माध्यम से 'कुलानि पातयति' विग्रह करते हुए दिया गया है। राजा रामचन्द्र की सभा में एक कुत्ता फरियाद लेकर आया कि एक ब्राह्मण ने उसके शिर को अकारण फोड़ दिया है। राम ने अपराधी सर्वार्थसिद्ध नामक ब्राह्मण को बुलाया, जिसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। दण्ड-व्यवस्था कुत्ते से ही पूछी गई, तो उसने उसे कौलञ्जर (कालञ्जर) प्रदेश का कुलपति (मठाधीश) बनाने का परामर्श दिया, जिसे मान लिया गया। सभासदों को बड़ी हैरानी थी कि यह तो दण्ड न होकर पुरस्कार है। इस रहस्य को स्वयं कुत्ते ने ही स्पष्ट किया कि वह भी उसी स्थान पर पूर्वजन्म में कुलपति था और अत्यन्त धार्मिक तथा दानमय जीवन व्यतीत करता था, फिर भी यह योनि प्राप्त हुई। फिर यह तो क्रोधी, निष्ठुर और अधर्मरत है। वहां रहकर यह मातृकुल की सात-सात पीढ़ियों को नरक में डालेगा। उसका सन्देश था कि कैसी भी विपत्ति क्यों न आ जाय, परन्तु 'कुलपति' न बनना चाहिए—'तस्मात्सर्वास्ववस्थासु कौलपत्यं न कारयेत्'[1] कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे पदों पर रहकर व्यक्ति धनापहरण, उत्कोच, धन-दुरुपयोग, गर्व, मदान्धता आदि दोषों से बच नहीं पाता है। वह अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो देता है और नरकगामी होता है।

उपरिलिखित उद्धरण में 'कुल' को सिद्ध पद मानकर√पत्+णिच् से जो निर्वचन दिया गया है, वह व्याकरणपुष्ट नहीं है। किन्तु यह आर्षी निर्वचन-परम्परा में किया गया है, जैसे कुत्सित और अप्रिय बोलने पर 'कुलपति' का 'कुत्सिता लपतिर्यस्य' विग्रह कर दिया जाय। विशेष परिस्थितियों मे किये गये ये लोककृत निर्वचन लोक-भावनाओं को व्यक्त करते हैं और सम्बद्ध व्यक्ति को सुमार्ग पर लाने का कर्त्तव्य भी निभा सकते है।

कुल के स्वामी के लिए 'कुलपा'[2] कुलवृद्ध[3] वृद्ध[4] और कुलपति शब्द प्राप्त होते हैं, जो उत्तरोत्तर विकसित हुए प्रतीत होते हैं। 'कुलानि पाति' या कुलस्य पतिः' अर्थात् जो कुलों की रक्षा करता है या जो कुल का स्वामी है—विग्रहों के कारण 'कुलपति' का अर्थविकास भाव-सादृश्य वश शैक्षणिक संस्थान, गुरुकुल का छात्रवर्ग के पालक के रूप में हुआ—

मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात् ।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः[5] ॥

---

1. तत्रैव 2.46
2. ऋक् 10.179.2; श.ब्रा 1.2.2.2, बृह. उप. 1.5.32।
3. महा. शान्ति 108.27 4. पा. 1.2.65
5. श.क. से उद्धृत

दशसहस्र ब्रह्मचारियों का पालन-पोषण और अध्यापन करने वाला कुलपति कहलाता था। यह अत्यन्त प्रतिष्ठित और श्रद्धेय पद था और आधुनिक युग तक इसकी गरिमा बनी रही। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में √कुल (संस्त्याने, संस्याने, बन्धुषु च) से निर्मित (छात्र) 'कुल' का आदर्श स्वरूप रहे, तभी कुलपति की सार्थकता और सफलता है, अन्यथा रामायणीय निर्वचन और सन्देश[1] अत्यन्त व्यावहारिक प्रतीत होता है।

5. जाया

√जनी+यक्+(टाप्) से—

> 'भार्या पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
> जायाया इति जायात्वं पुराणाः कवयो विदु.[2] ॥
>
> 'आत्मा हि जायते तस्या तस्माज्जाया भवत्युत'[3]
> 'आत्मा हि जायते तस्य तेन जाया विदुर्बुधाः'[4]

संस्कृत-वाङ्मय में समस्त पर्यायवाची शब्दों का अपना पृथक् महत्त्व होता है। पत्नी के अनेक पर्यायों[5] में एक है 'जाया' जो अपने जायात्व अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की क्षमता के कारण समाज मे विशेष प्रतिष्ठा का पात्र है। इस गुण से विहीन नारी मे स्वयकर्तृक ग्लानि और समाजकर्तृक हेयता सहज देखी जा सकती है।

जब राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर दिया, तो उसने उसे समझाने का और पूर्वघटित घटनाओं का स्मरण दिलाने का बहुत प्रयत्न किया। इसी सन्दर्भ मे अपनी बात की पुष्टि मे उसने 'जाया' का उक्त निर्वचन प्रस्तुत किया कि पति ही भार्या (पत्नी) में प्रविष्ट होकर पुनः उत्पन्न होता है और यही जाया का जायात्व है। श्रुति वचन भी है–'आत्मा वै जायते पुत्रः' और पुत्र का एक पर्याय है-आत्मज। आंग्ल-भाषा में भी उक्ति है-child is the father of man। नारी के लिए लारेन्स द्वारा की गई प्रवेश द्वार की कल्पना भी यही द्योतित करती है-"She is the door of our ingoing and outgoing'

यही निर्वचन महाभारत में उपरिलिखित सन्दर्भो मे प्राप्त होता है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण[6], मनुस्मृति[7] कोशग्रन्थ[8] आदि मे भी प्रकारान्तर से यही भाव व्यक्त किया गया है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश मे 'जाया' शब्द का सार्थक

---

1. वा.रा. उत्तर 2.45, 46।
2. महा. 1.68.36
3. महा. 3.13.62
4. महा. (ग) विराट् 31.41
5. पत्नी, भार्या, दारा, पाणिगृहीती, सहधर्मिणी आदि।
6. श. ब्रा. 5.2 1.10
7. मनु. 9.8
8. श. क., श. सु.।

प्रयोग किया है[1] कि सुदक्षिणा वन्ध्या न थी, अपितु पुत्रोत्पत्ति में समर्थ थी। इसका संकेत करते हुए मल्लिनाथ ने 'जाया' शब्द के विश्लेषण में श्रुति-वचन उद्धृत किया है, जो उक्त भाव को ही व्यक्त करता है—

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते।।
तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः[2] ।।

इस प्रकार जाया शब्द मे मूल धातु √जनी (प्रादुर्भावे) स्वीकार की गई है। उणादि यक् प्रत्यय[3] और आत्व[4] से यह शब्द सिद्ध होता है। तदनुसार जाया में जायात्व गुण प्रधान है।

7. निषाद

नि + √षद्लृ से— 'निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः।
तस्मान्निषादा सम्भूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः[5] ।।
'तमत्रिर्विह्वलं दृष्ट्वा निषीदेत्यब्रवीत्तदा।
निषादवंशकर्ताऽसौ बभूव वदतां वर ।।[6]

निषाद शब्द जातिविशेष, चाण्डाल, धीवर, स्वरभेद और कल्पभेद के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। इस शब्द का आख्यानपरक निर्वचन महाभारत और हरिवंश में उक्त प्रकार से प्राप्त होता है। प्रजापति कर्दम पुत्र अनग अथवा अंग और मृत्यु-पुत्री सुनीथा के पुत्र वेन राजा की, जो अधर्मी और अत्याचारी हो गया था, दक्षिण जंघा या भुजा का मन्थन ऋषियों ने किया, तो नाटे कद का एक काला पुरुष उत्पन्न हुआ। क्या करने की उसकी जिज्ञासा को शान्त करते हुए ऋषियों ने अथवा महर्षि अत्रि ने उससे बैठने के लिए कहा—'निषीद'। इसी बैठने के आदेश रूप उच्चारण के कारण उसका नाम 'निषाद' पड गया[7]। नामकरण की यह प्रक्रिया नामकरण के आधारों में 'वाक्' के अन्तर्गत आती है[8]।

यह जन्म विषयक आख्यान अन्य पुराणों में भी यत्किंचिद् भेद के साथ उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत[9] और विष्णु[10] मे जंघा का मन्थन और वायु

1. रघु 2.1
2. तत्रैव-संजीवनी टीका।
3. जनेर्यक्-उ.को. 4.112
4. ये विभाषा-पा. 6.4.43
5. महा. 12.59.102
6. हरि. 1.5.19
7. ब्रह्माण्ड और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में 'निषध' का प्रयोग हुआ है, जो भ्रमवश किया गया प्रतीत होता है।
8. बृ. 1.25
9. भा. पु. 4.14 45
10. वि. पु. 1.13.35

पुराण[1] में वाम भुजा का मन्थन हुआ है। वायुपुराण में ही इसे निषाद वंश का कर्ता बताया गया है, जिसमें धीवर, तुम्बुर, तुवर, रवस आदि विन्ध्य की अन्य जातियां हुईं।

वायु पुराण के एक अन्य स्थल पर कल्प परिगणन में 20 वें 'निषाद-कल्प' का उल्लेख किया गया है[2]। प्रजापति ने स्वयम्भू संजात निषाद को देखकर सृष्टि-कर्म से हाथ रोक लिया, तो वह तपस्या मे रत हो गया। तपः कृश और ऊपर दोनों हाथ उठाए हुए उससे ब्रह्मा ने कहा कि 'निषीद' अर्थात् 'बैठ जाओ'। अतः निषाद या निषादवान् हो गया।

अमरकोश की सुधा व्याख्या मे निषीदति मनोऽस्मिन्[3] विग्रह करते हुए 'निषाद' शब्द को √षद्लृ (विशरणगत्यवसादनेषु) से घञ् प्रत्यय[4] और षत्व विधान[5] से व्युत्पन्न माना गया है। जातिविशेष के द्योतक 'निषाद' शब्द के लिए वहां अन्य विग्रह किया गया है–'निषीदति पापमस्मिन्[6] अर्थात् जिसमें पाप-कर्म निवास करते हैं।

निषाद को पापकर्म से सम्बद्ध करने की बात अतिप्राचीन है। निरुक्त में औपमन्यव ने 'पंचजनाः' की व्याख्या मे निषाद को चतुर्वर्ण से अतिरिक्त पंचम बताते हुए 'निषदनो भवति, निषण्णमस्मिन् पापकमिति[7] यह निर्वचन दिया है।

स्मृतियों में इसकी उत्पत्ति अवैध सन्तान के रूप में बताई गई है[8]। पाप-कर्म या अवैधत्व की बात परम्परया चली आई प्रतीत होती है। उसके रूपवर्णन में भी इस बात का ध्यान रखा गया मालूम होता है[9]।

डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने निरुक्त में इसे लोककृत निर्वचन माना है[10]। उसी प्रकार महाभारतीय निर्वचन भी लोककृत ही है, किन्तु इन दोनों ही निर्वचनों से निषादों के प्रति प्रचलित लोकभावनाओं का पता चलता है। शब्दकल्पद्रुम में पाप-कर्म से सम्बद्ध विग्रह के अतिरिक्त धातुगत अर्थ की सीमा मे भी एक विग्रह दिया गया है—'निषद्यते ग्रामशेषसीमायां' अर्थात् जो जाति ग्राम के बाहर सीमा मे रहती है। वेबर के अनुसार निषाद लोग आदिवासी थे और बसाए गए थे[11]। डा. राजवाडे

---

1. वा. पु. उ. 1.123
2. वा. पु. पू. 21.42
3. अ. सु.-पृ. 71-II
4. हलश्च–पा. 3.3 121
5. सदिरप्रतेः–पा. 8.3.66
6. अ. सु. पृ. 344-II
7. नि. 3.8
8. मनु. 10.8, या. स्मृ. 1.93 गौ. ध. 4.14. ना. स्मृ. 5.108 आदि।
9. महा. शान्ति 59.95-97; 'काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः। ह्रस्वपात् निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः, भा. पु. 4.14.14
10. एटी. या. पृ. 103
11. वे. इ. पृ. 513

ने घात्वर्थ के आधार पर 'निषाद' का मूलार्थ सारथि और उसके वर्तमान अर्थ को बाद मे विकसित हुआ बताया है[1]।

7. पति

√पाल (=√पा) से— 'पालनाद्धि पतिस्त्वं मे'[2]
'पालनाच्च पतिः स्मृतः'[3]

महाभारत में एक आख्यान के माध्यम से 'पति' का निर्वचन दिया गया है। उच्छवृत्तिधारी ब्राह्मण के यहां दुर्भिक्ष के कारण भूख से व्याकुल परिवार के सामने सेर भर यव के सत्तू थे, तभी एक भूखे अतिथि का आगमन हुआ, तो सभी प्रसन्न हुए और स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू और स्वय ने क्रमशः अपने अपने भाग को देने की उत्सुकता प्रदर्शित की। स्त्री ने अपने दान सम्बन्धी अधिकार की पुष्टि उक्त निर्वचन से की है कि पालन-धर्म के कारण पति कहलाता है[4]। महाभारत के एक अन्य स्थल पर लिखा है कि यदि पति में यह धर्म नही है, तो वह पति कहलाने का अधिकारी नही है[5]। इस प्रकार पति वह है, जो पत्नी और अपनी सन्तान आदि का पालन करता है। यहां पत्नी के कहने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि उसके पालन के लिए आवश्यक है कि पति उसकी उचित बात का समादर करे।

यहां पति शब्द के लिए √पाल (पालने) का उल्लेख किया गया है, जो √पा (रक्षणे) का पर्याय रूप है। व्याकरण में इस शब्द को √पा+डति से सिद्ध किया गया है[6]। इसी प्रकार का निर्देश कोशो मे दिया गया है[7]। निरुक्त में दोनों धातुओ का स्पष्ट उल्लेख किया गया है[8], किन्तु यहां भी √पाल को व्याख्यान ही माना जाना चाहिए, क्योकि √पाल् से 'पति' की सीधे सगति नही बैठती है।

डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने इस पारिवारिक शब्द की तुलना भारोपीय Potis (=master) और लेटिन Patis (=Capable) से की है[9]।

इस प्रकार प्रदत्त निर्वचन यह स्पष्ट करता है कि इतिहासपुराण में अनेक निर्वचन पर्याय रूप धातु से निर्दिष्ट है, जो आर्षी निर्वचन-परम्परा मे स्वीकार्य है। यो तो परम्परया पति का धर्म पालन है, पर आजकल अनेक पत्नियां अपने पतियों का भरण-पोषण करती हैं। ध्येय है कि पत्नी मे भी मूलधातु √पा ही है।

8. पत्नी

√पा (√रक्ष्) से— 'भर्तव्या रक्षणीया च पत्नी हि पतिना सदा।'[10]

---

1. नि. रा. पृ. 448 2. महा. 14.93.26
3. महा. ग. आदि सम्भव 104.30 4 तु.-प्र. वै. प्र. ख. 42.24
5. गुणस्यास्य निवृत्तौ तु..........न पति. पतिः—महा. 12.258.35
6. पातेर्डति.–उ. को 4.58 7. पाति रक्षति पालयतीति-श. क.।
8. पातार वा पालयितारं वा-नि. 10 11-12
9. इटी. या. पृ. 89 10. महा. 3.67.13

'पति' शब्द के विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि पति और पत्नी दोनों शब्द √पा से सिद्ध होते हैं ? उपरिलिखित महाभारतीय निर्वचन में √पा का द्योतन √रक्ष् से किया गया है, जब कि 'पति में √पा का द्योतन √पाल् से किया गया है[1]। पर्याय देकर निर्वचन करना भी निर्वचन की एक शैली रही है।

पति और पत्नी दोनों शब्दों में धातुगत एकता के कारण यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार पति के ऊपर स्त्री (पत्नी) सन्तान और परिवार आदि की रक्षा का भार है उसी प्रकार पत्नी पर भी पति और समस्त परिवार की रक्षा का भार है और वह यह कार्य घर की आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ़ करके करती है।

वस्तुतः 'पत्नी' शब्द बड़ा पवित्र है। यह संज्ञा उसे इसलिए भी मिली है कि वह यज्ञ मे पति के साथ विधिपूर्वक संयुक्त होकर धार्मिक कृत्य करती है। व्याकरण मे 'पति+न+ङीप्' से यह शब्द इसी आधार पर बनता है[2]। 'पत्युर्यज्ञे संयोगो यस्येति'। कोई भी धार्मिक या सामाजिक कृत्य बिना पत्नी की सहमति के न किये जाने की व्यवस्था है। शतपथ ब्राह्मण[3] मे पत्नी को पति की अर्द्धांगिनी और बृहदाण्यक उपनिषद्[4] में पति की पूर्णता प्रदान करने वाली कहा गया है। इसलिए उसे गृह की मूल[5] या स्वयं गृह भी कहा गया है[6] 'न गृह गृहमित्याहु: गृहिणी गृहमुच्यते'[7]।

इस महाभारतीय निर्वचन मे मूलधातु का सीधे निर्देश नहीं है, अपितु उसका पर्याय देकर जो निमित्तद्योतक व्याख्यान किया गया है, वह पत्नी की स्थिति और पति के मूल कर्तव्य की ओर निर्देश करता है।

9. पिता

√पा (=√पाल्) से— मृत्यानां भरणात्सम्यक् प्रजानां परिपालनात्।
अर्यादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गत:[8]॥

वनवास को प्राप्त रामचन्द्र को वापस अयोध्या लाने के लिए चित्रकूट गए भरत से वार्तालाप के मध्य अपने पिता की मृत्यु का समाचार प्राप्त कर राम ने उक्त श्लोक कहा, जिसमे 'पिता' शब्द का निर्वचन भी किया गया है। व्याकरण-दृष्ट्या यह शब्द √पा (रक्षणे) से तृच् प्रत्यय होकर निपातन से सिद्ध होता है[9]। यद्यपि आचार्य सुभूति ने तृन् और इत्व विधायक सूत्र[10] का उल्लेख करके निपात की स्थिति को टालना चाहा है, पर उपलब्ध उणादि प्रकरण मे वह प्राप्य नही है[11]।

---

1. द्र- महा. 14.93.26; द्र.- 7.7
2. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे-पा. 4.1.33; तु.-श. ब्रा. 1.9.2.14
3. श. ब्रा. 5.2.1.10 4. बृह. उप. 1.4.17
5. पत्नीमूलं गृहं पुंसाम्। 6. जायेदस्तम्-ऋक् 3.53.4
7. सुभाषितम्। 'धिग्गृह गृहिणीशून्यम्।
8. वा. रा. अयो 105.33
9. पाति रक्षतीति। नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ-उ. को. 2.97 धातोराकारस्येत्वम् निपातनात्।
10. पित्रादयः 10. द्र.-अ. सु. पृ.-212

उपरिलिखित उद्धरण में मूल धातु का उल्लेख नही किया गया है, किन्तु उसका व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है, अर्थात् जो अधीनस्थ घटकों का भरण-पोषण और सन्तानादि का पालन-पोषण करता है। इसके लिए उसे अर्थ-सचय भी करना पड़ता है। इसीलिए रामचन्द्र को उनके प्रमुख तीन कर्तव्यों का स्मरण हो आया। मूल धातु√पा मे ये समस्त भाव सरलतया सन्निहित माने जा सकते है। महाकवि कालिदास ने भी अर्थादान के स्थान पर विनयाधान का भाव जोडते हुए भिन्न शब्दावली में उक्त निर्वचन प्रस्तुत किया है[1]।

महर्षि यास्क ने√पा और√पाल दो धातुओं का उल्लेख किया है[2]। वस्तुत: वहां भी द्वितीय धातु प्रथम का व्याख्यान ही है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में पालन के अपर पर्याय रक्षण का उल्लेख हुआ है—'रक्षणाच्च पिता नृणाम्[3]'। योगवासिष्ठ मे प्रदत्त निर्वचन 'पालनात् पावन: पिता' के विषय मे डा. सत्यव्रत ने अपने एक लेख मे लिखा है कि संज्ञाओं के निर्वचन कभी-कभी अपनी प्रचलित परम्परा को छोड़कर नई धातु (√पाल्) ? कर दिये जाते हैं[4]। वस्तुत आर्थी निर्वचनो मे यह शैली परम्परया मान्य है, जैसा कि निरुक्त और इतिहासपुराणगत निर्वचनो से सुस्पष्ट होता है। धातु के अर्थों के वाचक पदों से निर्वचन देने की प्रणाली वैदिक काल से ही प्रचलित है। मूल धातु का उल्लेख कभी किया जाता है और कभी पर्यायगत अर्थों का संकेत कर दिया जाता है।

स्वामी दयानन्द ने 'पिता' का ब्रह्म परक अर्थ करते हुए मूल धातु√पा को स्वीकार किया है—'य: पाति सर्वान् स पिता'[5]। अर्थात् जैसे पिता अपनी सन्तानों का पालन करता है उसी प्रकार परमेश्वर सब जीवों का पालन करता है।

सेण्ट पीटर्स वर्ग कोश में 'पा' 'मा' आदि वर्णों को अनुकरणमूलक मानकर इन्ही से 'पितृ' 'मातृ' आदि शब्दों का विकास माना गया है। डा. भोलानाथ तिवारी ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है कि पिता शब्द काल्पनिक व्युत्पत्ति पर आधारित है[6]। वस्तुत: यह 'नर्सरी' शब्द है और अनुकरण मूलक है। बच्चे प्रारम्भ मे ओष्ठ्य ध्वनियुक्त 'पा' 'मा' का उच्चारण करते हैं और संयोगवश लोग निकटतम सम्बन्धियों के रूप में पिता, माता, तात और दादा आदि मान लेते हैं। वस्तुत: यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि इससे मिलते-जुलते शब्द अन्य भाषाओ में भी प्राप्त

1. 'प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि'–रघु: 1.24
2. पिता पाता पालयिता वा.-नि. 4.21
3. ब्र. वै. पु. गणपति खण्ड–अ. 44
4. द्र.–'पापुलर ईटीमालोजीज इन दी योगवासिष्ठ'–दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्कृत विभाग पत्रिका 1972
5. स प्र. प्रथम समुल्लास, पृ. 15
6. द्र.-शब्दों का अध्ययन, पृ. 208

'पति' शब्द के विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि पति और पत्नी दोनों शब्द√पा से सिद्ध होते हैं ? उपरिलिखित महाभारतीय निर्वचन में√पा का द्योतन √रक्ष् से किया गया है, जब कि 'पति में√पा का द्योतन√पाल् से किया गया है[1]। पर्याय देकर निर्वचन करना भी निर्वचन की एक शैली रही है।

पति और पत्नी दोनो शब्दो में धातुगत एकता के कारण यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार पति के ऊपर स्त्री (पत्नी) सन्तान और परिवार आदि की रक्षा का भार है उसी प्रकार पत्नी पर भी पति और समस्त परिवार की रक्षा का भार है और वह यह कार्य घर की आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ़ करके करती है।

वस्तुतः 'पत्नी' शब्द बड़ा पवित्र है। यह संज्ञा उसे इसलिए भी मिली है कि वह यज्ञ में पति के साथ विधिपूर्वक संयुक्त होकर धार्मिक कृत्य करती है। व्याकरण मे 'पति+न+ङीप्' से यह शब्द इसी आधार पर बनता है[2]। 'पत्युर्यज्ञे संयोगो यस्येति'। कोई भी धार्मिक या सामाजिक कृत्य बिना पत्नी की सहमति के न किये जाने की व्यवस्था है। शतपथ ब्राह्मण[3] मे पत्नी को पति की अर्द्धांगिनी और बृहदारण्यक उपनिषद्[4] मे पति की पूर्णता प्रदान करने वाली कहा गया है। इसलिए उसे गृह की मूल[5] या स्वय गृह भी कहा गया है[6] 'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते'[7]।

इस महाभारतीय निर्वचन में मूलधातु का सीधे निर्देश नहीं है, अपितु उसका पर्याय देकर जो निमित्तद्योतक व्याख्यान किया गया है, वह पत्नी की स्थिति और पति के मूल कर्तव्य की ओर निर्देश करता है।

9. पिता

√पा (=√पाल्) से— मृत्यानां भरणात्सम्यक् प्रजानां परिपालनात्।
अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः[8] ॥

वनवास को प्राप्त रामचन्द्र को वापस अयोध्या लाने के लिए चित्रकूट गए भरत से वार्तालाप के मध्य अपने पिता की मृत्यु का समाचार प्राप्त कर राम ने उक्त श्लोक कहा, जिसमे 'पिता' शब्द का निर्वचन भी किया गया है। व्याकरणदृष्ट्या यह शब्द√पा (रक्षणे) से तृच् प्रत्यय होकर निपातन से सिद्ध होता है[9]। यद्यपि आचार्य सुभूति ने तृच् और इत्व विधायक सूत्र[10] का उल्लेख करके निपात की स्थिति को टालना चाहा है, पर उपलब्ध उणादि प्रकरण मे वह प्राप्य नहीं है[11]।

---

1. द्र- महा. 14.93.26; द्र.– 7.7
2. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे-पा. 4.1.33; तु.–श. ब्रा. 1.9.2.14
3. श. ब्रा. 5.2.1.10   4. बृह. उप. 1.4.17
5. पत्नीमूलं गृहं पुंसाम्।   6. जायेदस्तम्–ऋक् 3.53.4
7. सुभाषितम्। 'धिग्गृहं गृहिणीशून्यम्।
8. वा. रा. अयो 105.33
9. पाति रक्षतीति। नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ–उ. को. 2.97 धातोराकारस्येत्वम् निपातनात्।
10. पित्रादयः   10. द्र.–अ. सु. पृ.-212

उपरिलिखित उद्धरण में मूल धातु का उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु उसका व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है, अर्थात् जो अधीनस्थ घटकों का भरण-पोषण और सन्तानादि का पालन-पोषण करता है। इसके लिए उसे अर्थ संचय भी करना पड़ता है। इसीलिए रामचन्द्र को उनके प्रमुख तीन कर्त्तव्यों का स्मरण हो आया। मूल धातु √पा में ये समस्त भाव सरलतया सन्निहित माने जा सकते हैं। महाकवि कालिदास ने भी अर्थादान के स्थान पर विनयाधान का भाव जोड़ते हुए भिन्न शब्दावली में उक्त निर्वचन प्रस्तुत किया है[1]।

महर्षि यास्क ने √पा और √पाल दो धातुओं का उल्लेख किया है[2]। वस्तुतः यहां भी द्वितीय धातु प्रथम का व्याख्यान ही है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में पालन के अपर पर्याय रक्षण का उल्लेख हुआ है—'रक्षणाच्च पिता नृणाम्[3]'। योगवासिष्ठ में प्रदत्त निर्वचन 'पालनात् पावनः पिता' के विषय में डा. सत्यव्रत ने अपने एक लेख में लिखा है कि संज्ञाओं के निर्वचन कभी-कभी अपनी प्रचलित परम्परा को छोड़कर नई धातु (√पाल्) । कर दिये जाते हैं[4]। वस्तुत आर्षी निर्वचनों में यह शैली परम्परया मान्य है, जैसा कि निरुक्त और इतिहासपुराणगत निर्वचनों से सुस्पष्ट होता है। धातु के अर्थों के वाचक पदों से निर्वचन देने की प्रणाली वैदिक काल से ही प्रचलित है। मूल धातु का उल्लेख कभी किया जाता है और कभी पर्यायगत अर्थों का संकेत कर दिया जाता है।

स्वामी दयानन्द ने 'पिता' का ब्रह्म परक अर्थ करते हुए मूल धातु √पा को स्वीकार किया है—'यः पाति सर्वान् स पिता'[5]। अर्थात् जैसे पिता अपनी सन्तानों का पालन करता है उसी प्रकार परमेश्वर सब जीवों का पालन करता है।

सेण्ट पीटर्स वर्ग कोश में 'पा' 'मा' आदि वर्णों को अनुकरणमूलक मानकर इन्हीं से 'पितृ' 'मातृ' आदि शब्दों का विकास माना गया है। डा. भोलानाथ तिवारी ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है कि पिता शब्द काल्पनिक व्युत्पत्ति पर आधारित है[6]। वस्तुतः यह 'नर्सरी' शब्द है और अनुकरण मूलक है। बच्चे प्रारम्भ में ओष्ठ्य ध्वनियुक्त 'पा' 'मा' का उच्चारण करते हैं और संयोगवश लोग निकटतम सम्बन्धियों के रूप में पिता, माता, तात और दादा आदि मान लेते हैं। वस्तुतः यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि इससे मिलते-जुलते शब्द अन्य भाषाओं में भी प्राप्त

---

1. 'प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि'–रघु: 1.24
2. पिता पाता पालयिता वा.-नि. 4.21
3. ब्र वै. पु. गणपति खण्ड-अ. 44
4. द्र.–'पापुलर ईटीमालोजीज इन दी योगवासिष्ठ'–दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्कृत विभाग पत्रिका 1972
5. स प्र. प्रथम समुल्लास, पृ. 15
6. द्र.-शब्दों का अध्ययन, पृ. 208

होते हैं जैसे पीटर-peter(भारोपीय), पेटर-pater (ग्री. लै.), फादर-father (अं.), वेटर-vater (ज.), फाडर-fader (गा.)आदि।

10. पुत्र

पुत् + √त्रै से— 'पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा[1] ॥
'त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन्'[2]।
'पुन्नाम्नो नरकात्पुत्रस्त्रातीति पितरं मुने'[3]।
'पुन्नाम्नो नरकात्त्राणात्तनयः पुत्र उच्यते'[4]।
'अपत्यमस्मि ते पुत्र(पुत्त)स्त्राणात्पुत्रो हि विश्रुतः[5]।
'त्रातः स पुरुषव्याघ्र पुन्नाम्नो नरकात्तदा'[6]
'पुन्नाम्नो नरकात् पुत्रो यस्मात्त्राता पितॄंस्तदा।
तस्माद् ब्रुवन्ति पुत्रेति पुत्रधर्मविदो जनाः[7] ॥
'नरक पुदिति ख्यातं दुःखं च नरकं विदुः।
पुदस्त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च[8] ॥'
'पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः[9] ॥

(पुत्)+√तॄ— 'इह वा तारयेद् दुर्गादुत वा प्रेत्य तारयेत्।
सर्वथा तारयेत् पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः[10] ॥
'पितॄनृणात् तारयति पुत्र इत्यनुशुश्रुम'[11]

अपत्यवाची पुत्र शब्द अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक काल[12] से बराबर प्रयोग में आ रहा है, परन्तु निर्वचन की दृष्टि से यह शब्द विवादास्पद है। धर्म-प्राण भारत में परम्परया यह माना जाता है कि मनुष्य को अपने कृत्यों का फल भोगना पड़ता है। सत्कर्मों के लिए स्वर्ग और असत्कर्मों या पापों के लिए नरक की कल्पना अनेक संस्कृतियों में प्राप्त होती है। भारतीय साहित्य में भी विभिन्न पापकर्मों के लिए चतुर्दश नरकों में विश्वास है।

प्रस्तुत शब्द अपुत्रक जीवों के लिए कल्पित नरकविशेष के वाचक 'पुत्' शब्द और उससे रक्षा करने के भाव के द्योतक √त्रैङ् (पालने) से निष्पन्न होता है (पुतः नरक विशेषात् त्रायते), जैसा कि उपरिलिखित प्रथम नौ उद्धरणों में प्रदत्त निर्वचनों

---

1. महा. चि. 1.74.39
3. महा. 1.220.14
5. महा. 14.93.37
7. तत्रैव 2.23.20
9. वा. रा. अयो. 107.12
11. महा. 14 93.71

से स्पष्ट होता है। इनमे प्रायः दोनों पदों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। द्वितीय और पंचम उद्धरणों में पुत् पद का उल्लेख नही हुआ है। पंचम मे 'पुत्र' शब्द की आवृत्ति से प्रथम 'पुत्र' व्यर्थ प्रतीत होता है। वहां पुत्तः पाठ की सम्भावना है, जिसकी संगति पूर्ववत् बैठ जाती है अथवा यहां दो पर्याय देकर यह कहा गया है—कि मैं अपत्य भी हूं और पुत्र भी हूं। अर्थात् मैं वह हूं जिससे पितरों का पतन नही हो सकता (न पतन्ति पितरोऽनेन) और मैं सर्वतः त्राण करने वाला हूं।

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण,[1] निरुक्त,[2] अग्निपुराण,[3] वायुपुराण,[4] लिंगपुराण,[5] मनुस्मृति[6] और व्यासस्मृति[7] आदि मे[8] भी उक्त परम्परा मे निर्वचन प्राप्त होते हैं। जिनके आधार पर 'पुत्र' शब्द की शुद्ध वर्तनी 'पुत्त्र' होनी चाहिए[9]।

उपरिलिखित निर्वचनों मे 'पुम्' शब्द भी निकलता-सा प्रतीत होता है। अत. विष्णु पुराण के अनुवाद मे[10], लिंग पुराण के मूल मे[11] और गोपथब्राह्मणगत निर्वचन[12] के आधार पर डा. फतहसिंह के मत में 'पुम्' का उल्लेख भ्रमवश किया गया प्रतीत होता है। हरिवंश मे 'पुत्' को नरकवाची कहा गया है[12]। दुर्गासप्तशती की शान्तनवी टीका में भी उल्लिखित है—'पुत् अव्यय नरकवाचि। पितरं पुत् नरकात् त्रायते पुत्रः[13]'। व्याकरण मे भी यह पुत् शब्द √पृ+डुति से पृषोदरादित्वात् बनता है। डित्वात् टिलोप करके और प्रत्यय मे 'उत्' शेष रखकर सरलतया सिद्ध किया जा सकता है[14]।

'पुत्र' शब्द का निर्वचन √पा (रक्षणे) से भी किया गया है—'पितॄन्पातीति' निरुक्त[15] का प्रथम निर्वचन भी यही है—'पुरु त्रायते' (पुरु+त्रैङ्) अर्थात् जो पिता की बहुत रक्षा करता है।

'पुनाति पित्रादीन् पूयते वा' विग्रह करते हुए[16] √पूञ्+क्त्र से भी पुत्र शब्द निष्पन्न किया गया है[17]। अर्थात जो पितृपितामह आदि पूर्वजों को भी अपने

---

1. गो. ब्रा. 1.1.2
2. नि. 2.11
3. द्र.-श क मे प्रदत्त उद्धरण।
4. वा. पु उ 1.129
5. लि. पु. पू. 5.31; 89.13
6. मनु. 9.138
7. व्यासस्मृति 4.43
8. अनेकत्र साहित्य मे। यशस्तिलकचम्पू (द्र.-गद्य कौमुदी-पृ. 25)
9. वर्तनी की दृष्टि से पुत्र और पुत्त्र दोनों शुद्ध हैं, क्योंकि 'क' प्रत्यय के कित् होने से √त्रै के ऐकार और पुत् के 'त्' का द्विपद लोप हो जाता है-श व्यु. भा.अ. पृ. 97
10. वि. पु. 1.13.42 गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित।
11. पुमिति नरकस्याख्या दुःखं च नरकं विदुः।
    पुंसस्त्राणान्वितं पुत्रं तथाभूतं प्रसूयते॥-लि. पु. पू 89.13
12. महा. हरि. 3.73.30
13. मा. पु.-पृ. 292
14. द्र.-श. व्यु. भा. अ. पृ.-90
15. नि. 2.11
16. श. क., अ. सु. 2 6 27
17. पुत्रो ह्रस्वश्च-उ.को. 4.166

जन्म ग्रौर सुकर्मों से पवित्र कर देता है। निरुक्त में 'निपरणाद्वा[1] लिखकर√पॄ (पालनपूरणयो:) का संकेत किया है ग्रर्थात् जो पितरों को पिण्डदान और तर्पणादि से पालन-पूरण करता है ग्रौर उन्हें ऋणमुक्त करता है। परम्परया यह माना जाता है कि मानव जन्म के साथ प्राप्त चार ऋणों[2] में से पितृ ऋण से मुक्ति पुत्र उत्पन्न करने ग्रौर उसे सुयोग्य तथा सुनागरिक बनाकर होती है, जैसा कि उपरिलिखित दशम उद्धरण मे संकेतित ग्रौर एकादश में उल्लिखित है। यहां इसे √तॄ (प्लवनतरणयो:) के द्वारा स्पष्ट किया गया है। जो लोग इसकी व्युत्पत्ति √पुष् (पुष्टौ) से बताते हैं, उनका भाव यह है कि जो स्वयं परिवार तथा समाज को कर्त्तव्यपालन तथा वीरतापूर्ण कृत्यों से पुष्ट करता है। पुत्र की इन्हीं अर्हताग्रों ग्रौर गुणों के कारण पुत्र-प्राप्ति की कामना की जाती रही है[3]। पुत्रकामेष्टि ग्रौर पुंसवन संस्कार मे यही भाव है[4]।

मोनियर विलियम्स ने इस शब्द की व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध माना है। डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने इसे लोकनिरुक्ति वर्ग मे रखा है। डा. भोलानाथ तिवारी ने इसे एक सुन्दर कल्पना माना है। उल्लेख्य हैं कि पुत्र शब्द की यात्रा पाश्चात्य देशों तक हुई हैं क्योंकि वहां यह भारोपीय-put, pu = young; लैटिन Putus = boy से तुलनीय हैं।

इस प्रकार यहां उसकी नैरुक्तिक, महाभारतीय, रामायणीय, पौराणिक ग्रौर व्याकरण सम्बन्धी निष्पत्ति पर विचार किया गया है। यह शब्द दो धातुग्रों का ग्रवशेष भी हो सकता है, क्योंकि उनके भाव इसमे सन्निहित हैं। नरक की कल्पना भी साभिप्राय है।

11. पुरुष

(पुर+√शी) से—'नवद्वारं पुरं पुण्यं............

व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात् पुरुष उच्यते[5]।

देहेऽस्मिन् पुरुषः पर',[6]

पर+(वि)√सह् से— 'परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते'[7]

√पॄ+√षद्लृ से— 'पूरणात्सदनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषोत्तम:[8]।

'पुरुष' शब्द का प्रयोग सामान्यत: मनुष्य के लिए होता है, परन्तु यह परमात्मा का पर्याय भी है। ब्राह्मण ग्रन्थों और बाद के साहित्य मे प्राण, वायु,

---

1. नि 2.11
2. स जायमान एव देवेभ्य: ऋषिभ्य: पितृभ्यो मनुष्येभ्य:-श.ब्रा. 1.7.2.1 तु.- ऋणैश्चतुर्भि: संयुक्त-जायन्ते मानवा भुवि। पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मत: ॥
3. ऋक् 10.183.1, ग्रथर्व 6.21.3; 11.1.1, तै. सं. 6.5.6.1; 7.1.8.1; तै. ब्रा. 1.2.21 ग्रादि; ऋग्वेद का 10.47 सम्पूर्ण सूक्त।
4. 'पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्-शौनक। मन्त्र-'पुमांसं पुत्रं जनयतं पुमाननुजायताम् भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयश्च यान्-'
5. महा. 12.203.35
6. महा. (भीष्मपर्व-गीता 13.22)
7. महा. उद्योग 131.35; पूना संस्करण में प्रथम पद 'पुरं' है।
8. महा. 5.68.10

ब्रह्म, अमृत, पशुओं के अधिपति आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। यह सर्वत्र अपने यौगिकार्थ से एक अलौकिक सत्ता का द्योतन करता है।

निर्वचन की दृष्टि से यह शब्द बड़ा विवादास्पद रहा है। एक अध्ययन के अनुसार वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य में इसके ग्यारह, आगमग्रन्थ अहिर्बुध्न्य संहिता मे आठ और पुराणों मे कतिपय अन्य निर्वचन प्राप्त होते है, जिनका क्रमशः और विस्तृत विवेचन एक अन्य लेख में किया जा चुका है[1]।

इन निर्वचनों मे सर्वाधिक प्राप्त निर्वचन पुर + √शीङ् से सम्बद्ध है और जो वैदिक साहित्य[2], पौराणिक साहित्य[3], आगम ग्रन्थ[4] तथा अन्य अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। यही निर्वचन उपरिलिखित महाभारतीय प्रथम उद्धरण मे निर्दिष्ट है, जहां पुरुष को 'नवद्वार पुर' मे सोने वाला (स्थित) बताया गया है। शब्द के स्पष्टीकरण के लिए इन पदो की व्याख्या अपेक्षित है।

पुर शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद मे हुआ है,[5] जहा उसे पालनार्थक √पृ से व्युत्पन्न माना गया है। पुर का अर्थ किला भी होता है, जिसमे रक्षा का भाव निहित है। अथर्ववेद में शरीर (पूः) केवल पूयविण्मूत्र गोलकमात्र नही है, अपितु वह 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'[6] साक्षात् ब्रह्मपुरी है। उसमे स्वर्ग को देने वाला हिरण्यमय कोश ज्योति से पूर्ण ढका हुआ है। उस तीन अरों वाले हिरण्यमय कोश मे यक्ष (ब्रह्म) का निवास है।

जैमिनीय उपनिषद् मे शरीर को दैवी परिषद् या दैवी सभा कहकर उसमे अग्नि, चन्द्र, आदित्य और वायु आदि देवताओं का वास बताया है[7]। इस प्रकार उस ब्रह्मपुरी या देवपुरी मे आत्मा (जीवात्मा-पुरुष) का निवास है। भागवत पुराण[8] के अनुसार हरि ने मनुष्य, तिर्यक्, ऋषि, देव आदि के शरीर रूपी पुरो को रचा है। इन पुरों में रहने वाला (सोने वाला) 'पुरुष' और उनका नेतृत्व करने वाला नर' है।[9]

1. 'पुरुष का पौरुष' डा. शिवसागर त्रिपाठी-राजस्थान यूनीवर्सिटी स्टडीज 5 पृ. 113-125
2. बृह. उप. 25.18, प्र. उप. 5.5
3. लि पु. पृ, 28.5; 88 46, 88, 70.103; वा. पु पृ. 4 41, 5.40, 14.15. 59.76 (उ)-40.116 भा. पु. 7.14.37, म पु. 145.78; स वै शरीरी'—कु. पु. पू. 4.38
4. अहि. सं. 53.62; 59.31,33
5. पुरसंज्ञे शरीरेऽस्मिन् शयनात् पुरुषो हरिः। शकारस्य षकारोऽयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते॥ शंकर विजय अ. 13-श.क. से उद्धृत।
6. ऋक् 7.16.10
7. अथर्व 10.2.31-32—अष्टचक्र और नवद्वार के स्पष्टीकरण के लिए द्र. 'पुरुष का पौरुष' डा. शिवसागर त्रिपाठी रा. यू. स्ट. 5 पृ 119-120।
8. जै. उप. 2.11.12-13
9. भा. पु. 7.14.37

पुर का अर्थ लोक भी होता है। अतः शतपथ ब्राह्मण[1] में पुरुष का अर्थ वायु और प्राण किया गया है अर्थात् उसे लोकसम्मित माना गया है। आयुर्वेदीय चरकसंहिता मे लिखा है—'एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः यावन्तो हि लोके भावविशेषा तावन्त पुरुषे यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति।'[2] यही तात्पर्य इस उक्ति का भी है— यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'।

भागवत पुराण[3] में कहा गया है कि अपने रचे हुए पंचभूतो द्वारा ब्रह्माण्ड रूपी इस पुर की रचना करके जब भगवान् आदिदेव नारायण ने अपने अंशभूत जीव रूप से उसमे प्रवेश किया, तो उसका पुरुष नाम पड़ा और इसी पुरुष ने शरीररूपी पुर मे निवास किया, तो मनुष्य भी पुरुष कहलाया।

उपरिलिखित द्वितीय उद्धरण मे यद्यपि स्पष्ट निर्वचन नही है, पर वहां उपरिव्याख्यात निर्वचन ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। अर्थात् वहां पुर $+\sqrt{}$शी, पुर $+\sqrt{}$विश, पुर$+\sqrt{}$वस् के भाव निहित हैं। कूर्म पुराण[5] मे पुरुष या ब्राह्मण को शरीरी कहा है, जिसका भी तात्पर्य यही है कि वह शरीर मे निवास करता है।

तृतीय निर्वचन केवल महाभारत मे ही प्राप्त होता है, जहां सिन्धुराज से

---

1. श. ब्रा. 13 6 21 (वै. एटी. पृ.-100 से उद्धृत)
2. शारीर 4.13, तदनुसार लोको की भांति पुरुष भी छः धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश तथा अव्यक्त ब्रह्म) का समुदाय है। पुरुष की मूर्ति अर्थात् शरीर पृथिवी है। शरीर का गीलापन जल है। *प्राण (श्वास-प्रश्वास) वायु है।* शरीर की गर्मी तेज या अग्नि है। रोम-रोम के छिद्र आकाश हैं। अन्तरात्मा ब्रह्म है। जिस प्रकार लोक मे ब्रह्म की विभूति नजर आती है, उसी प्रकार पुरुष मे अन्तरात्मा को विभूति है। उत्पत्ति की शक्ति को विभूति कहते हैं। जैसे लोक मे ब्रह्म की विभूति प्रजापति है वैसे ही पुरुष में अन्तरात्मा की विभूति मन है। लोक मे जो इन्द्र है, पुरुष मे वह अहकार है। जैसे लोक मे सूर्य है, वैसे ही पुरुष मे आदान है। अर्थात् जैसे सूर्य लोक के रस को ग्रहण करता है, वैसे ही पुरुष में रसों को ग्रहण करने की शक्ति है। लोक मे जो रुद्र हैं, पुरुष मे वह रोष है। लोक मे जो (सोम) चन्द्रमा है, पुरुष मे वही प्रसाद (प्रसन्नता) है। लोक में जो वसु है, पुरुष मे वह सुख है। लोक मे जो अश्विनीकुमार है, पुरुष के शरीर मे वह कान्ति है। लोक में जो मरुत्-गण है, पुरुष मे वे उत्साह हैं। लोक मे जो विश्वदेव हैं, पुरुष मे वे सब इन्द्रियां और इन्द्रियों के विषय हैं। लोक मे जो ज्योति है, पुरुष में वह ज्ञान है। जैसे लोक में सृष्टि का प्रारंभ है, वैसे ही पुरुष का प्रारभ गर्भाधान है। जो सतयुग है, वह बालकपन है। जो त्रेता युग है वह यौवन है। जो द्वापर है, वह वृद्धावस्था है। जो कलियुग है, वह रोगी होना है। जैसे युगों का अन्त होता है, वैसे ही पुरुष की मृत्यु होती है। इसी प्रकार लोक और पुरुष के अन्य अवयव भेदो में अनुमान से समानता का बोध करना चाहिये। तात्पर्य यह कि लोक में जितने भी पदार्थ, देवता, काल आदि हैं, उतने ही पुरुष में भी हैं।
3. भा. पु. 11.4.3
4. $\sqrt{}$दिह उपचये से
5. कु. पु. पु. 4.38

पराजित और युद्ध भूमि से लौटे अपने पुत्र को (व्यञ्जना से उसे कायर या नपुंसक कहने के लिए) फटकारती हुई विदुला 'पुरुष' का वीरतापरक निर्वचन प्रस्तुत करती है कि जो शत्रु को (या पाठभेद में शत्रुदुर्ग को) सहन नहीं करता है—उसका वीरतापूर्वक मुकाबला करता है, वही पुरुष है। इसी आशय को अन्यत्र इस प्रकार प्रकट किया गया है—

यस्तु शत्रोर्वशस्थस्य शक्तोऽ(प्य)कुरुते दयाम्।
हस्तप्राप्तस्य वीरस्य तं चैव पुरुषं विदु.[1] ॥

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल[2] पर पुरुष को पूर्व+$\sqrt{}$उष् (दाहे) से व्युत्पन्न किया गया है। वहां भी शक्तिसम्पन्नता की बात अन्तर्निहित है। बल, तेज, शुक्र, वीर्य आदि अर्थों[3] का द्योतक 'पौरुष' शब्द का अर्थ विकास भी पुरुष के उपर्युक्त पुरुषत्व या उसकी शक्ति भाव से हुआ है। आगे चलकर पुरुष का पौरुष शब्द का व्यवहार ऊंचाई या गहराई नापने के लिए होने लगा[4]। इस अर्थ मे 'पुरसा' शब्द उत्तरप्रदेशीय ग्रामीण भाषा मे अब भी प्रयुक्त होता है।

चतुर्थ निर्वचन में $\sqrt{}$पृ॰ और$\sqrt{}$षद्लृ धातुए स्वीकार की गई हैं और पुरुष को सृष्टि का पूर्ण करने वाला तथा विनाश करने वाला कहा गया है। पुरुष सूक्त[5] की व्याख्या मे पुरुष को धारक और शासन शक्तियो से युक्त कहा गया है। संहिता मे पुरुष को पुरुषोत्तम शब्द से भी अभिहित किया गया है, जो विष्णु का रूढ नाम भी है–'हरिर्यैकः पुरुषोत्तमः स्मृत.[6]।

उल्लेख्य है कि विचार्यमाण निर्वचनों के आलोक में व्याकरण की दृष्टि से 'पुरुष' शब्द सिद्ध नहीं होता। प्रथम निर्वचन की दृष्टि से यह 'पुरिशय' बनता है, जिसका प्रयोग वैदिक साहित्य में विशेषण पद के रूप मे प्राप्त होता है[7]। परन्तु बाद मे यह शब्द लुप्त हो गया प्रतीत होता है। अन्य निर्वचनों से पुरुष का कोई वैयाकरणिक रूप प्रयुक्त हुआ प्रतीत नहीं होता है। अतः अन्य व्याख्या के अभाव में उणादि में 'पुरुष' शब्द को पुर से कुषन् प्रत्यय[8] लगाकर सिद्ध किया गया है, क्योकि यह रूढ शब्द बराबर प्रयोग मे आ रहा था।

इस प्रकार महाभारत मे 'पुरुष' शब्द का परम्परा प्राप्त निर्वचन भी प्राप्त

---

1. महा. 12.220.23
2. श. ब्रा. 14 4.2.1
3. द्र.-मोनियर विलियम्स, आप्टे और मेदिनी कोश आदि।
4. श. ब्रा. 1.2.5.34; पा. 4.1.24; 5.2.38.
   'ऊर्ध्वकरपुरुषप्राप्यपृष्ठभागम्-(कादम्बरी-इन्द्रायुध वर्णन)
   'दुष्टपिशाचीवानेक पुरुषोच्छ्राया' (शुकनासोपदेशः)
   'द्वि पुरुषोच्छ्रित प्राकारम्–(दशकुमारचरित-विश्रुत चरित्र)
5. ऋक् 10 90.12 पर वेला मे टिप्पणी 4 (III) देखें।
6. रघु 3.48
7. द्र - पृष्ठ 229, पा. टि. 2, आप्टे पृ. 342-I
8. पुरत्यग्रं गच्छतीति। 'पुर कुषन्' उ. को 4.75

होता है। तृतीय निर्वचन महाभारत की अपनी देन है, क्योंकि उसकी सत्ता पूर्व में नही प्राप्त होती। चतुर्थ निर्वचन गत धातुओं को वैदिक और आगम-साहित्य-गत निर्वचनो मे भी देखा जा सकता है[1]। इन सभी निर्वचनों मे आर्षी दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है, जिससे पुरुष के भाव, गौरव और शक्ति का स्पष्ट आभास होता है।

12. ब्राह्मण

ब्रह्म से— 'यः सोमस्तद् ब्रह्म यद् ब्रह्म ते ब्राह्मणाः'[2]
'ये स्थिताः ब्राह्मचर्येषु ब्रह्मणास्ते दिविस्थताः'[3]
ब्रह्मचर्याद् ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वं विधीयते'[4]

महाभारतीय शान्तिपर्व के एक सन्दर्भ मे 'ब्राह्मण' की उत्पत्ति बतलाई गई है कि ब्रह्मा ने प्रजा-सृष्टि की कामना से नेत्रों से अग्नि और सोम उत्पन्न किये थे। सोम ब्राह्मण हुए और अग्नि क्षत्रिय। उपरिलिखित उद्धरण में सोम को ब्रह्म और ब्रह्म को ब्राह्मण कहकर ब्रह्म (सोम)[5] से ब्राह्मण का निर्वचन दिया गया है। अर्थात् ब्राह्मण मे सोमतत्त्व और ब्रह्म तत्त्व का प्राधान्य बतलाया गया है।

सोम शब्द अनेकार्थक है,[6] किन्तु प्रायः इसके दो अत्यन्त प्रचलित अर्थ लिये जाते हैं—सोमलता या उससे प्राप्त होने वाला सोमरस और चन्द्रमा। सोम रस अर्थ से चन्द्र अर्थ को भी विकसित माना जा सकता है, क्योंकि चन्द्र मे भी अमृत रूपी रस रहता है। शतपथ ब्राह्मण मे सोम को चन्द्र और चन्द्र को ब्राह्मणों का राजा कहा है[7]। जैमिनीय उपनिषद् में चन्द्र, रस, अमृत और ब्रह्म की एकरूपता भी बताई गई है[8]। शंकराचार्य ने ब्रम्ह को सोम (स=सहित+उमा=ब्रह्मविद्या) कहा है। डा. फतहसिंह ने ब्रह्मज्योति के प्रतीक 'उ' तथा लक्ष्मीवाची 'मा' से अथवा रसानुभूति के वाचक 'उम्' से सम्बद्ध उमा को आद्याशक्ति या ब्रह्मशक्ति स्वीकार करके उसकी सत्ता सोम में मानी है और सोम को परमात्मा का वाचक बतलाया है[9]। उन्होने अन्यत्र सोम को वाक् और ब्रह्मशक्ति का वाचक तथा शतपथ ब्राम्हण के एक उद्-

1. द्र. 'पुरुष का पौरुष'—डा. शिवसागर त्रिपाठी-रा. यू स्ट. 5-पृ. 113-118
2. महा. 12.329.5 (3) 3. तत्रैव 1.45 39
4. हरि. 1.45.37
5. सोम या चन्द्र की उत्पत्ति अत्रि के नेत्रों से भी बताई गई है—ऋक्षेशः स्यादत्रिनेत्रप्रसूतः-हलायुधः। द्र.-रघु. 2·75; श. क । हाग ने इसी निर्वचन को लेते हुए 'ब्रह्म' का अर्थ 'प्रार्थना' किया है। इस अर्थ का संकेत आप्टे ने भी दिया है। आप्टे-394-III
6. स्वर्ग, चन्द्र, कुबेर, यम, वायु, अमृत, जल, काजी, वानर, पर्वत, तीर्थनाम, अष्ट-वसु मे एक आदि।
7. श ब्रा. 12.1.1.2
8. अथ यद् ब्रह्म तदमृतम्-जै. उप. 1.25.10; तु -गो. उप. 3.4
9. द्र -वै. द.-पृ 23

उद्धरण के द्वारा उसे 'स्वा' और 'मा' से सम्बद्ध कहा है[1]। अहिर्बुध्न्य संहिता मे आत्मा को ही सोम कहा गया है[2]।

इसी प्रकार ब्रह्म शब्द पुल्लिंग मे विधाता का वाचक है और 'बृंहति वर्धयति प्रजा:' विग्रह से √वृहि् (वृद्धौ) से उणादि मे मनिन् प्रत्यय से निष्पन्न होता है[3]। नपुंसक लिंग मे इसका अर्थ वेद, तत्त्व और परब्रह्म (आद्या शक्ति) होता है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न अथवा वेद-तत्त्व तपस्या आदि से सम्बद्ध ब्राह्मण कहलाए। इसीलिए वैदिक साहित्य मे ब्रह्म और ब्राह्मण की एकरूपता बताई गई है— 'ब्रह्म वै ब्राह्मण:'[4]। व्याकरण में 'ब्रह्मणोऽपत्यम्[5] ब्रह्माधीते वेद वा'[6] ब्रह्म जानाति'[7] आदि विग्रहो से अण् प्रत्यय के द्वारा ब्राह्मण शब्द सिद्ध किया गया है[8]।

द्वितीय और तृतीय उद्धरण में पारिभाषित शब्दावली मे ब्राह्मण के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य बताया गया है। वस्तुत: ब्रह्म की प्राप्ति बिना ब्रह्मचर्य के नही हो सकती। इसी प्रकार अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन सभी ब्राह्मण विहित कर्मों के लिए किंवा पूर्ण व्यक्तित्व के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। अत; ब्रह्मचर्य मे स्थित को ही 'ब्राह्मण' कहा गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि ऋषि को जन्मना वर्ण-धर्म अपेक्षित न था।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण मे सोम और ब्रह्म के समस्त गुणों अर्थात् शैत्य, शुक्लत्व (अवदातकर्मत्व) आल्हादकत्व, स्फूर्ति, विद्वत्ता, ब्रह्मशक्ति-सम्पन्नता और ब्रह्मचर्य आदि की अपेक्षा होती है।

इस प्रकार महाभारत मे प्रदत्त निर्वचन तद्धित प्रत्यय परक है, जिसके द्वारा ब्राह्मण में 'ब्रह्म' की सत्ता प्रमुख मानी गई है और जिससे ब्राह्मण की कर्मपरता पर बल दिया गया है।

13. भर्त्ता

√भृ–से– 'भार्याया भरणाद् भर्ता'[9]
'भर्तासि भरणान्मम'[10]
'भरणाद्धि स्त्रियो भर्ता..............।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता[11]॥

---

1. श. ब्रा. 3.9.4.22 2 अहि. उ. 57 32
3. बृहेर्नोच्च–उ. को. 4.147
4. तै. ब्रा. 3.9.14.2; श ब्रा. 13.1.5.3; तु–श. ब्रा. 5.1.5.2; 'ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यद् ब्राह्मण:–श. ब्रा. 13.1.4.2
5. अन्–पा. 6.4.167 इति टिलोपो न।
6. तदधीते तद्वेद–पा. 4.2.59 7. शेषे–पा. 4.2.92
8. द्र.–अ. सु. 2.7 4
9. महा. ग. सम्भव 104.30 10. महा. 14.93 26
11. महा. 12.258.35

पति-पत्नी की भांति उनके पर्याय रूप भर्ता-भार्या युगल शब्दों का प्रयोग होता है। प्रथम युगल का विचार ऊपर किया जा चुका है[1]। भर्ता(पति) भार्या(पत्नी) का भरण-पोषण करने वाला होता है। यह√डुभृञ् (धारण-पोषणयोः) अथवा √भृञ् (भरणे) से निर्मित है[2]। इसका प्रयोग वैदिक साहित्य में[3] पति, वाहक, पोषक और प्रतिपालक अर्थों मे हुआ है, किन्तु इन स्थलों पर भी पति अर्थ लगाया जा सकता है। डेलब्रुक का विचार है कि माता के लिए प्रयुक्त भर्त्री[4] के आधार पर यहां पिता अर्थ भी लगाया जा सकता है। ये अनुमान शब्द मे विद्यमान मूलधातु के कारण किये गए है, किन्तु अब यह पति के अर्थ मे ही रूढ हो गया है।

उपरिलिखित उद्धरणों में भर्ता शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है। प्रथम उद्धरण दीर्घतमा की पत्नी प्रद्वेषी का कथन है, जो अन्धपति का भरण-पोषण करने से थक चुकी थी, फिर भी पति उस पर अपना अधिकार जता रहा था। अतः उसने निर्वचन के द्वारा उसके अधिकार को अनुचित सिद्ध किया।

इस प्रकार इस शब्द के निर्वचन से यह स्पष्ट है कि भर्ता (पति) का मुख्य कर्तव्य भार्या (पत्नी) का भरण-पोषण करना है।

14. भार्या

√भृ-से- 'भर्तव्या (रक्षणीया च पत्नी) हि पतिना सदा'[5]

'भर्तव्यत्वेन भार्या च'[6]

उपरिलिखित महाभारतीय प्रथम उद्धरण मे 'पत्नी' और 'भार्या' के निर्वचन संकेतित है। 'पत्नी' का विवेचन ऊपर किया जा चुका है[7]। उसके अपर पर्याय 'भार्या' का स्पष्ट निर्वचन किया गया है, किन्तु शब्द का मूल पाठ में उल्लेख नहीं है। द्वितीय उद्धरण मे स्थिति सुस्पष्ट है। यहां कर्तृत्वेन 'पति' शब्द को स्वीकार किया गया है, जब कि रक्षा-भाव के कारण पति-पत्नी और भरण-पोषण के भाव के कारण भर्ता-भार्या के शब्द-युग्म प्रचलित है। प्रतीत होता है कि रक्षण-पालन में भरण-पोषण का भाव भी परम्परया सन्निहित माना गया है। इसीलिए प्रथम उद्धरण में पृथक् से भर्ता या भार्या का उल्लेख नही हुआ है। इसी प्रकार अथर्ववेद मे पति ने प्रतिज्ञा की है 'ममेयमस्तु पोष्या'[8] महर्षि मनु ने भी 'भर्ता रक्षति यौवने' ही लिखा है।[9]

---

1. द्र.-7.7.8
2. बिभर्ति पुष्णाति पालयति धारयति वा। √भृञ्+तृच्।
3. ऋक् 5.58 7 अथर्व 11.7.15. 18.2.30; श. ब्रा. 2.3.47
4. अथर्व 5.5.2; तै. ब्रा. 3.1.1.4
5. महा. 3.67.13
6. महा. 12.258.49
7. द्र.-7.8
8. मनु. 9.3.
9. अथर्व 14.1.52

भर्ता या पति के द्वारा भरण-पोषण किये जाने के कारण √डुभृञ् (धारणपोषणयोः) अथवा √भृ या √भृ (भरणादौ) से ण्यत्[1] और टाप् प्रत्ययों से यह शब्द बनता है। पाणिनि ने अपने एक सूत्र में क्यप् प्रत्यय का भी विधान किया है[2] किन्तु नियमतः[3] वह √भृञ से ही सम्भव है √डुभृञ् से नहीं। फिर उक्त सूत्र से 'भृत्या' शब्द बनता है, 'भार्या' नहीं।

इस शब्द के निर्वचन के माध्यम से पतियों के लिए प्रदत्त उद्बोधन-स्वर ध्यातव्य है।

15. मनुष्य

√मनु—मनु से — 'मनुर्मनुष्याञ्जनयन्'[4]

मनुज या मानव का पर्यायवाची शब्द मनुष्य है, जिसे महर्षि मनु की सन्तान माना जाता है–'मनोरपत्यम्'[1]। व्याकरण में यह शब्द षुक् प्रत्यय से बनता है।[5] वाल्मीकीय रामायण में मानव या मनुष्य नाम पड़ने का विस्तृत इतिहास देते हुए उक्त निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार ब्रह्मा की मानसी सृष्टि में षोडश प्रजापतियों[6] में अन्यतम कश्यप थे। दक्ष की 60 कन्याओं में से आठ[7] का विवाह इनसे हुआ था। उनमें से मनु नामक पत्नी से मनुष्य उत्पन्न हुए। व्याकरण में मनु के पुल्लिग रूप को उणादि प्रकरण में 'उ' प्रत्यय से[8] और उसके स्त्रीलिंग रूप को स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में 'औ' और 'ऐ' के विकल्प में[9] सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में दो धाराएं स्पष्ट हैं। प्रथम पौराणिकी कल्पना के अनुसार ब्रह्मा के 14 मनुओं में प्रथम स्वायम्भुव मनु से शतरूपा नामक पत्नी से मनुष्य की उत्पत्ति हुई। बृहदारण्यक उपनिषद में यद्यपि किसी का नाम परिगणन नहीं हुआ है, पर इसमें इन आख्यानों का पूर्व रूप देखा जा सकता है।[10] हरिवंश में[11] मनुष्यों को वैवस्वत मनु[12] की सन्तान बताया गया है।

---

1. ऋहलोर्ण्यत्-पा. 3.1.124
2. संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ् भृञिणः-पा. 3.3.99
3. तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य-प शे. 83-पृ 213 (पा. 4.2 9 पर)
4. वा. रा. अरण्य 14.29 5. मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च-पा. 4.1.61
6. कर्दम, विक्रीत, शेष, संश्रय, स्थाणु, मरीचि, अत्रि, क्रतु, पुलस्त्य, अंगिराः प्रचेता, पुलह, दक्ष, विवस्वान्, अरिष्टनेमि और कश्यप।
7. दिति, अदिति, दनु, कालिका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला।
8. शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च-उ. को 1.10
9. मनोरौ वा–पा. 4.1.38
10. स वै नैव रेमे..................स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत, ततः पतिश्च पत्नी चाभूता....... ततो मनुष्या अजायन्त-बृह. उप. 1.4.3
11. हरि 1.9
12. वेद में केवल वैवस्वत और सावर्णि मनु का उल्लेख है, जबकि पुराणों में 14 मनु हैं। सम्भवतः यह अभिवृद्धि 14 लोकों के कारण हुई होगी।

उधर पुरुषसूक्त[1], मनुस्मृति[2], विष्णुपुराण[3] आदि में सृष्ट्युत्पत्ति के सन्दर्भ मे चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति विराट् पुरुष के मुख, बाहु, उरु और चरणों से बतलाई गई है, किन्तु यह उत्पत्ति आलंकारिक है, जैसा कि व्याख्याकारों ने स्वीकार भी किया है ।

रामायणीय और पौराणिक आख्यानों मे परस्पर कोई भी विरोध नही है । पौराणिक आख्यान पितृसत्ता-प्रणाली का द्योतक हैं और रामायणीय आख्यान मातृसत्तात्मक व्यवस्था की ओर संकेत करता है ।

मानवी सृष्टि के प्रादुर्भाव के लिए प्रत्येक जाति के धर्मग्रन्थों मे पुराकथाएं हैं । यह प्रादुर्भाव किसी आदिम दम्पति से हुआ । यह युगल ईसाई मत मे 'ऐडम-ईव' और इस्लाम मे 'आदम-हौवा' है । भारतीय परम्परा मे मनु का उल्लेख ऋषि[4], राजा,[5] प्रजापति[6], आदिपुरुष[7], वैवस्वत मनु और मनुष्यों के पिता[8] आदि के रूप मे अनेकधा हुआ है । अत: पौराणिक आख्यान का विवरण भारतीय विचार माना जा सकता है ।

इस प्रकार पौराणिक निर्वचनो मे इस शब्द के मूल में मनु (पुरुष या स्त्री) को प्रधानता दी गई है । यास्क ने 'मनुष्य' के चार निर्वचन दिये है—'मत्वा कार्याणि सीव्यन्ति । मनस्यमानेन सृष्टा: । ·········मनो: अपत्यं मनुषो वा[9] ।' इनमे अन्तिम दो को पूर्व की भांति मनु से सम्बद्ध किया गया है । यास्क के मतानुसार मनन-शक्ति की विशेषता के कारण मनुष्य मनुष्य है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रदत्त निर्वचन से भी इसी बात की पुष्टि होती है--'पितृन् सृष्ट्वा मनस्यत् तदनु मनुष्यानसृजत तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्'[10] । रामायणीय निर्वचन के 'मनु' और 'मनुष्य' शब्दो मे √मन् (ज्ञाने, अवबोधने) धातु है[11] । अत: अप्रत्यक्षत: यही मत वहां भी अभिप्रेत है ।

16. मित्र–द्रष्टव्य–6.16

17. यवन

√यु से— योनिदेशाच्च यवना:[12]

---

1. यजु: 31.11
2. मनु. 10.45
3. वि. पु. 1.6 3-6
4. ऋक् 8.27.31
5. श.ब्रा. 16.4.3 I
6. श.ब्रा. 6.6 1.19
7. ऋक् 1.80.16
8. ऋक् 8.63.1; 1.80.16 पर निरुक्त-'मनुश्च पिता मानवानाम्'; 'सर्वासा प्रजानां पितृभूतो मनुश्च'–सायण ।
9. नि. 3.7
10. तै ब्रा॰ 2.3 8.3
11. वैदिक साहित्य मे भी यही धातु अभिप्रेत है—'यन्मनुष्या अमन्महि'–ऋक् 10.35 8; 'ये विद्वांसस्ते मनव.' श. ब्रा. 8.6 3.18. विदेशी भाषाओं मे भी इससे मिलते-जुलते शब्द प्राप्त होते हैं और वहां भी विचारणा-शक्ति का प्राधान्य है–भारो. men=to think, गा. manna, ज. mann, अं. man आदि ।
12. वा.रा. बाल. 55.3

'यवन' शब्द जातिविशेष के लिए प्रयुक्त होता है[1]। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे रामायण में एक विशेष आख्यान प्रस्तुत किया गया है कि वसिष्ठ की गौ कामधेनु को बलात् लेने हेतु तत्पर विश्वामित्र को पराजित करने के लिए कामधेनु ने अपने 'हुंमा' शब्द से अनेक पल्लव, काम्बोज, शक आदि को उत्पन्न किया। उस कामधेनु के योनिप्रदेश से यवन उत्पन्न हुए।

यूनानी इतिहास मे यवनों की उत्पत्ति के आख्यान का उपरिलिखित आख्यान से किंचित् साम्य देखा जा सकता है। यूनानी आख्यान मे हेरा (Hera) के मन्दिर में यो (Jo) नाम की एक पुरोहित-कन्या का प्रणय ज्युस (Zeus) नामक युवक से हो गया। कुछ दिन बाद वह गौ-रूप धारण कर पृथ्वी के नाना देशों मे घूमने लगी। सागर के किनारे 'योनीय' देश मे बहुत दिनो तक उसने भ्रमण किया। अतः उसका नाम उस स्थान में निवास के कारण 'योन' हुआ। इस योन से ही योनीय या यूनानियो की उत्पत्ति हुई[2]।

रामायण में 'यवन' पद की दो बार सत्ता मानी गई है। दोनों ही स्थलो पर यह प्रक्षिप्त प्रमाणित हो चुका है[3]। सम्भव है यूनानी आख्यान को दृष्टि में रखकर रामायणीय आख्यान की प्रवृत्ति हुई हो, किन्तु भारतीय विद्वानो ने रामायण पर यूनानियों के प्रभाव से सम्बद्ध प्रो. वेबर के मत का खण्डन किया है। वैसे भी भारत में गो को बहुत पवित्र माना गया है। पृथिवी, वाक् और इन्द्रियो को 'गौ' कहा जाता है। इस दृष्टि मे उक्त आख्यान में रूपकांश को हटाकर भी देखा जा सकता है अर्थात् गौ=पृथ्वी के योनिदेश=यवनदेश से यवनों की उत्पत्ति हुई।

महाभारत[4] तथा मत्स्य[5] आदि पुराणो में राजा ययाति के पुत्रों से कतिपय जातियों की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। वे यवन तुर्वसु के वंशज हैं–'तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः[6]। सम्भवतः इनका निवासस्थान ही यवन देश हुआ अथवा यवन देश से सम्बद्ध होने के कारण इनका नाम यवन हुआ हो सकता है।

व्याकरण में √यु (मिश्रणामिश्रणयोः) से उणादि मे युच् प्रत्यय लगाकर यह शब्द बनता है[7], अर्थात् जो मिश्रण या अमिश्रण करता है–'यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा'। उल्लेख्य है कि उपरिलिखित रामायणीय निर्वचन मे प्रयुक्त योनि शब्द भी

---

1. यह शब्द केवल यूनानी के ही लिए नहीं, प्रत्येक विदेशी के लिए भी प्रयुक्त होता है।
2. कुछ लोगो के मत मे योन (Jon) युथास का पुत्र था, जिससे यूनानियों की उत्पत्ति हुई—हि वि. (वसु)
3. द्र.–सं.सा सु इ.-पृ 35
4. महा. 1.85.84
5. म पु. 34.30
6. महा. 1.85.84
7. युयुरुवृञ्गो युच्–उ. को. 2.75

√यु से ही नित् प्रत्यय लगकर बनता है[1]—'यौति संयोजयति पृथक् करोति वा'। कतिपय अन्य व्युत्पत्तियां भी प्राप्त होती हैं, किन्तु वे दुराग्रहपूर्ण प्रतीत होती हैं[2]।

18. वृषल

(वृष)=धर्म+√ली से— 'यस्मिन्विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः'[3]

वृष+लय(√ली) से— वृषो हि धर्मो विज्ञेयस्तस्य यः कुरुते लयम्।
वृषलं तं विदुर्देवा निकृष्टं श्वपचादपि[4]।

वृष+अलम् से— 'वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥[5]

'वृषल' शब्द का प्रयोग कोशों में शूद्र के अर्थ में हुआ है,[6] किन्तु उपरिलिखित निर्वचनों से यह सिद्ध होता है कि जो अधार्मिक है और विकर्म करता है, वह 'वृषल' है। महाभारत ने अन्यत्र भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया है—

यस्य वेदश्रुतिर्नष्टा कर्षकश्चापि यो द्विजः।
विकर्मसेवी कौन्तेय स वै वृषल उच्यते ॥[7]

उपरिप्रदत्त प्रथम महाभारतीय निर्वचन में वृषल को धर्मवाची वृष और √लीङ् (श्लेषणे) से मिलकर बना बताया गया है। यहां वृष का शब्दश: उल्लेख नहीं किया गया है, अपितु उसके स्थान पर उसके पर्याय धर्म का प्रयोग किया गया है।

द्वितीय उद्धरण में भी निर्वचन का प्रकार प्रथम के समान है। यहां क्रिया का प्रयोग न करके तज्जन्य कृदन्त पद 'लय' का प्रयोग किया गया है और वृषल को चाण्डाल से भी निकृष्ट बताया गया है। इन दोनों निर्वचनों में √ली से 'ड' प्रत्यय अभिप्रेत रहा होगा।

तृतीय उद्धरण में 'अलं' अव्यय के द्वारा उक्त भाव को ही व्यक्त किया गया है। अर्थात् वृष धर्म है और जो धर्म के विषय में 'अलं' (बस) कर देता है—उसका अन्त या लोप कर देता है, उसे देवता 'वृषल' कहते हैं। अत: धर्म को अपनाना चाहिए। यहां 'वृष' और 'अलं' पदों के मेल से शकन्ध्वादि से पररूप होकर[8] निपातन से पुंलिंग हुआ प्रतीत होता है। अथवा तत्करोति अर्थ में 'अ' प्रत्यय हुआ हो सकता है।

---

1. वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्—उ. को 4.52
2. यथा√यु=दूर रखना से=जिसे दूर रखा जाय। √यु=मिश्रित करना से=मिश्रित जाति। यव=तेज, तेज घोड़ा=जो तेज हो या तेज घोड़े से जाय आदि। द्र.-'संस्कृत भाषा में यूनानी शब्द'—'संस्कृति' पत्रिका 33.1
3. महा. 12.91.12
4. महा. आश्व/अपे. 1.4.3237-38; तु.-वा. पु. उ. 16.27-29
5. महा. 12.91.13; तु. मनु. 8.16
6. महा.-आश्व. अपे. 1.4.3235-36
7. अमर. 2.10 1
8. शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् (द्र.-ल. को. 1.1.64 पर वार्तिक)।

निरुक्तकार यास्क ने इस शब्द के दो निर्वचन दिये है—'वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा'[1]। यद्यपि यहां सीताराम शास्त्री ने शब्द का असदर्थ ही व्यक्त किया हैं। पर वृष का धर्म अर्थ लेकर सदर्थ भी प्रस्तुत किया जा सकता हैं। प्रतीत होता है कि 'वृषल' शब्द के बुरे (पापी)[2] और अच्छे (धर्मात्मा)[3] दोनों अर्थ रहे होंगे[4], जैसा कि उक्त निरुक्तगत स्थल में 'ब्राह्मणवद् वृषलवत्' पदों से भी अनुमित होता है। इस दशा में इस पद को 'वृषं धर्मं लाति आदत्ते' (वृष+क)[5] से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है।

प्रतीत होता हैं कि महाभारतकार और उसके पश्चात् होने वाले लेखकों-व्याकरण, कोश, निरुक्त आदि के व्याख्याकारों आदि ने अपने युग के अनुरूप बुरे अर्थ को ही अपनाया है[6]।

19. वैश्य—

√विश्-से— 'विशत्याशु पशुभ्यश्च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययन-सम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः[7]॥

भारतीय वर्ण-व्यवस्था के तृतीय घटक 'वैश्य' का निर्वचन महाभारत में उक्त प्रकार से देते हुए इस शब्द को विश् (प्रवेशने) से निरुक्त बनाया गया है। टीकाकार नीलकण्ठ ने 'पशुभ्यः' मे 'ल्यब्लोपे पञ्चमी' मानते हुए 'पशून् वाणिज्याय उपयोगिनः लब्ध्वा विशति प्रतिष्ठा लभते' अर्थात् पशुओं को वाणिज्य के लिए उपयोगी पाकर प्रवेश करता है—अपने कर्मों का आधार प्राप्त करता हैं और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

पाश्चात्य विद्वान् जे. म्योर ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि इस प्रकार की व्युत्पत्तियां प्रायः अलकृत और असंगत हैं[8]। किन्तु इस निर्वचन में मूल धातु का उल्लेख संगत हैं और अन्य कथन पारिभाषिक शब्दावली मे किया गया हैं। इसी प्रकार अन्यत्र उक्त कथन की व्याख्या को गई हैं—

'गोभ्यो वृत्ति समास्थाय पीताः[9] कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः[10]॥

---

1. नि. 3.16 2. हिन्दी निरुक्त-पृ. 81
3. भा. पु. 5.9.12 मे वृषलपति जो पुरुषबलि दे रहा था।
4. द्र.-स. व्या. इति पृ. 241-242
5. पा. 3.2.3
6. वृष्यते सिचतीति वा (वृष+कलच्-वृषादिभ्यश्च उ. को. 1.106); वृषं धर्मं लुनाति' (वृष+√लूञ्+ड—अन्येभ्योऽपि-वा. 3.2.10)—द्र.-श. क., अ. सु. आदि।
7. शान्तिपर्व 189.5 8. मू सं. उ. पृ. 161
9. पीताः रजस्तमोमया-नीलकण्ठ, पृ. 326
10. महा. (चि) शान्ति 188.12

व्याकरण मे यह शब्द √ विश् से क्विप् और स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगाकर बनता है।[1] उल्लेख्य है कि ऋग्वेद में वैश्य का प्रयोग केवल एक बार हुआ है और प्रजा[2] या जातिविशेष[3] के अर्थ मे विश का ही प्रयोग सर्वत्र है। यह शब्द भी √ विश् से ही सिद्ध हुआ है। अतः 'विश' से भी 'वैश्य' को स्वार्थ मे सिद्ध माना जा सकता है।

इस प्रकार वैश्य का उपरिलिखित निर्वचन विग्रह देकर प्रस्तुत किया गया है, जिसमे उसका कर्मपरक व्याख्यान हुआ है।

---

1. पा. 3.2.178 और वा. 5.1.124
2. ऋक् 4.508, 6.8.4, 10.124.8, 173.6; तु-अथर्व 3.4.1, तै. स. 3.2 8.6 आदि।
3. ऋक् 6.1.8, 26.1, 10 11.4, 3.34.2, 4.28.4 आदि।

अष्टम अध्याय

भौतिक वर्ग

भौतिक वर्ग में पांच उपवर्ग हैं :

1. स्थलीय—जिसमे द्वीप, देश, स्थान, नगर, पर्वत और खनिज सम्बन्धी शब्द हैं।
2. जलीय—जिसमे जल, सरोवर, नदी, तीर्थ तथा सागर से सम्बद्ध शब्द हैं।
3. वनस्पति वर्ग—जिसमे वनवाची और वृक्षवाची शब्द परिगणित हैं।
4. जन्तु वर्ग—जिसमे पशुओं और पक्षियों आदि का परिगणन किया गया है।
5. अन्तरिक्ष वर्ग—जिसमें अन्तरिक्ष के घटको जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ आदि से सम्बद्ध शब्द हैं।

स्थलीय

1. अयोध्या

अ+√युध् से— 'सत्यनामा प्रकाशते'[1]

'अयोध्यायामयोध्यायां रामे दाशरथौ स्थिते'[2]

सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी अयोध्या के निर्वचन का सकेत रामायण में अयोध्या-वर्णन के सन्दर्भ मे दिया गया है कि वह अन्वर्थनामा नगरी सुशोभित होती है अर्थात् *यहां के राजाओं को कोई युद्ध में परास्त नही कर सकता था और न कोई* उसे युद्ध करके जीत सकता था। विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे भी 'अयोध्या नामत: पुरी' के द्वारा ऐसा ही निर्वचन-संकेत है[3]। व्याकरण गत व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ निकलता है–'योद्धुमशक्या'। यह शब्द√युध् (सम्प्रहारे) में ण्यत् प्रत्यय से सिद्ध होता है[4]।

इसी प्रकार द्वितीय निर्वचन मे अयोध्या शब्द को विशेषण के रूप में लगाकर निर्वचन किया गया है और उक्त बात की ही पुष्टि की गई है कि उस समय दशरथ-पुत्र राम ऐसी अयोध्या मे रहते थे, जिसमे युद्ध करने का साहस किसी को न होता था।

---

1. वा. रा. बाल 6.26
2. हरि. 1.54.26
3. वि. ध. पु. 1.13.1
4. ऋहलोर्ण्यत्–पा. 3.1.124

हरिवंश के ही एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि राजा विकुक्षि अयोधता को प्राप्त हुआ था अर्थात् उसके सम्मुख कोई योधा डट नही सकता था। वही अयोध्या का स्वामी बना[1]। यहा भी उक्त निर्वचन का ही प्रकारान्तर से कथन किया गया है। इससे यह भी प्रकट होता है कि सम्भवत: नाम के गौरव के लिए वहां ऐसे ही राजा को अभिषिक्त किया जाता था, जो अजेय अप्रतिम वीर-योद्धा हो।

वायुपुराण मे वेद का मानवीकरण करते हुए 'अयोध्या' को उसके नासिका-पुट मे बताया गया है - 'ह्ययोध्यां नासिकापुटे'[2]। शरीर मे नासिका का स्थान उच्च, गौरवपूर्ण और सम्मानार्ह होता है। उक्त वचन के द्वारा इसी बात को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि यहा अयोध्या का निर्वचन नही दिया गया है, पर प्रकारान्तर से कथन वही है।

'अयोध्या' शब्द अत्यन्त प्राचीन है। अथर्ववेद मे यह 'देवानां पू:' कही गई है और शरीर के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है[3]। वहां वह वस्तुत: नगरीविशेष के लिए नही प्रयुक्त हुआ है, पर निर्वचन गत अर्थ वही है। तैत्तिरीय आरण्यक मे[1] भाष्यकारो ने 'कर्मगतिमन्तरेण केनापि प्रहर्तुमशक्या' लिखकर इसे स्पष्ट भी किया है। भूगोल मे वेद के आध्यात्मिक शब्द को लेकर ही आगे नगरी-विशेष का नामकरण किया गया हो सकता है।

इस प्रकार 'अयोध्या' शब्द का वैदिक काल से अब तक एक ही निर्वचन और भाव चला आ रहा है।

2. उर्वी

'उरु' से— 'उरुणा धारयामास कश्यप: पृथिवी तत:।
निमज्जन्ती तदा राजस्तेनोर्वीति मही स्मृता[5] ॥

पृथ्वी के पर्याय 'उर्वी' शब्द का निर्वचन महाभारत मे एक आख्यान का आश्रय लेते हुए किया गया है कि जब परशुराम द्वारा क्षत्रिय-वध के बाद उनके अभाव में वैश्यों और शूद्रो के अत्याचारों से पीडित होकर पृथ्वी रसातल मे प्रवेश करने लगी, तो कश्यप ने उसे अपने ऊरुओ (जंघाओ) का सहारा देकर रोक लिया। अतः नाम 'उर्वी' पड़ गया। यह निर्वचन कवि-कल्पनोत्थ है। यहां 'उर्वी' मे उरु (=जंघा) का शब्द-साम्य देखकर निर्वचन कर दिया गया है। इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी एक अन्य आख्यान से सम्बद्ध करते हुए पृथिवी=उर्वी को हरि की जंघा से उत्पन्न बताया गया है[6]।

इस शब्द के सम्बन्ध में निरुक्त और व्याकरण की दृष्टि भिन्न है। निरुक्त मे 'उर्व्य: ऊर्णोतिर्वृणोतेरित्यौर्णवाभ:[7]' लिखा है, अर्थात् इसे √ऊर्णुञ् (आच्छादने)

1. वा. पु. उ. 42.81
2. अथर्व 10.2.31
3. तै. आ. 1.7
4. जा. हा. अ. पु.-पृ. 22
5. महा. 12.49.64
6. ब्र. वै. प्र. ख. 9.30
7. नि. 2.26

से और और्णवाभ के मत में √वृञ् (वरणे) से निरुक्त किया गया है, क्योंकि वह (उर्वी या पृथ्वी) ढांपने वाली है और सभी उसका वरण करते हैं। इसी प्रकार यह शब्द √वृङ् (सम्भक्तौ) और √वृञ् (आवरणे) से भी बनाया जा सकता है क्योंकि वह जीवमात्र की सेवा करती है। शब्दकल्पद्रुम और अमरकोश की सुधा व्याख्या मे √ऊर्णुञ् मे औणादिक 'उ' प्रत्यय, नुलोप और ह्रस्व करके[1] (=उरु) तथा ङीप् स्त्री प्रत्यय करके[2] सिद्ध किया गया है। भाषा-विज्ञान मे 'वृ' का 'उर' मे परिवर्तन सम्भाव्य है। इसीलिए डा. सिद्धेश्वर शर्मा ने निरुक्त के द्वितीय निर्वचन को ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से स्वीकार्य माना है[3]। उन्होंने भारोपीय उर, उरु, उएर=चौड़ी (ur, uru, uer = broad) से भी तुलना की है, क्योंकि पृथ्वी चौड़ी होती है। डा. फतहसिंह ने शतपथ ब्राह्मण का उद्धरण देते हुए इसे उरु=चौड़ी से ही सिद्ध माना है[4]। इस दृष्टि से यह प्राकृतिपरक संज्ञा है, जो सामान्यतः चर्मचक्षुओं से देखे जाने के कारण रखी गई होगी[5]।

पाणिनीय धातुपाठ मे √उर्वी (हिंसायाम्) भी एक धातु है। यदि उससे इस शब्द को सम्बद्ध किया जाय, तो कहा जा सकता है कि जहा हिंसा आदि कृत्य होते रहते हैं। सर्वसस्याढ्या भूमि को 'उर्वरा' कहते हैं, जो इसस मिलता-जुलता शब्द है, किन्तु कोशो में दोनो की पृथक् व्युत्पत्तियां दी गई हैं। वक्ष. स्थलवाची उरस् शब्द को यद्यपि √ऋ (गतौ) से सिद्ध किया गया है[6], पर डा. फतहसिंह ने विदेशी शब्दों में साम्य देखते हुए √उर (= ऊपर जाना) की कल्पना की है। उर्वी के निर्माण मे उर्ध्वगामी पर्वतादि का भी योगदान माना जा सकता है, जैसे उरस् के निर्माण में ऊर्ध्वगामी 'उरोजों' की ओर डाक्टर साहब ने संकेत दिया है[7]।

इस प्रकार इतिहासपुराण ग्रन्थों मे 'उर्वी' शब्द को उरु (=जंघा) से सम्बद्ध किया गया है, पर व्याकरण की दृष्टि से यह निर्वचन विचारसह नही प्रतीत होता। भले ही इसे लोककृत निर्वचन भी माना जा सकता है।

3 द्वारवती/द्वारावती

द्वार+(मतुप्) से— कृतां द्वारवती नाम्ना बहुद्वारां मनोरमाम्[8]
चातुर्वेदानि चत्वारि द्वाराणि निदधुश्च ते।
शुद्धाक्षमैन्द्रं भल्लाटं पुष्पदन्तं तथैव च ॥[9]

---

1. महति ह्रस्वश्च–उ. को. 1 31
2. वोतो गुणवचनात्-पा. 4.1.44 3 एटी या. पृ. 55
4. 'यथेय पृथिव्युर्व्येवमुरुम्यासम्'–श. ब्रा. 2.1.4.28
5. तु.-दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदत्यन्यैः-नि. 1.14
आधुनिक भौगोलिक अनुसन्धानो से पृथिवी को गोल सिद्ध किया गया है। सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय मे भी इसे गोल बताया गया है—
सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यन्चयैश्चितः ।
कदम्बकुसुमग्रन्थिः केशरप्रसरैरिव ॥
6. द्र.-अ. सु. पृ. 229-II 7. द्र-वे. एटी.–पृ. 110
8. हरि. 1.10.36; तु.–2.55.112 9. तत्रैव 2.58.17

प्राचीन नगरों का नामकरण अनेक कारणों से हुआ है। जिस प्रकार व्यक्ति नामो में आकृति के आधार पर भी नाम रखे जाने की प्रक्रिया हम पहले देख चुके है, उसी प्रकार नगरादि के नाम स्थानीय वैशिष्ट्य के आधार पर भी रख दिये जाते थे। हरिवंशगत उपरिलिखित दोनों उद्धरणों के अनुसार द्वारका या द्वारवती का नाम वहा के प्रमुख चार द्वारो के कारण रखा गया। इन चारों द्वारो के नाम भी द्वितीय उद्धरण में लिख दिये गए हैं–शुद्धाक्ष, ऐन्द्र, भल्लाट और पुष्पदन्त।

प्रथम उद्धरण मे यद्यपि 'द्वारवती' पद का प्रयोग हुआ है, तथापि हरिवंश मे ही अनेकत्र[1] 'द्वारावती' शब्द का भी प्रयोग मिलता है, जो व्याकरणदृष्ट्या संगत है। शरादिगण को आकृतिगण मानकर 'शरादिभ्यश्च'[2] सूत्र से दीर्घ किया जा सकता है। इसी उद्धरण मे 'बहुद्वारां' पद से मतुप् प्रत्यय का संकेत किया गया है।

इस प्रकार यह शब्द अन्वर्थनाम की कोटि में आता है। सम्भवत: इसी को आधार बनाकर 'शब्द-कल्पद्रुम' ने व्याकरण की दृष्टि से 'द्वाराणि सन्त्यत्र' विग्रह दिया है। वहां निम्नलिखित उद्धरण देकर 'चतुर्वर्णानां मोक्षद्वाराणि सन्त्यत्र' विग्रह भी किया है—

> चतुर्णामपि वर्णानां यत्र द्वाराणि सर्वत:।
> अतो द्वारवतीत्युक्ता विद्वद्भिस्तत्त्ववेदिभि:॥

इस उद्धरण में महाभारतीय निर्वचन के भाव का उदात्त विकास दिखाया गया है।

इस नगरी का एक अत्यन्त प्रचलित नाम द्वारका है। सम्भवत: इस का आधार भी उक्त महाभारतीय निर्वचन ही है।

4. नैमिषारण्य

नेमि + >शृ॰ से — 'नेमिस्तु हरिचक्रस्य शीर्णा यत्राभवत् पुरा।
तदेतन्नैमिषारण्यं सर्वतीर्थनिषेवितम्॥[3]

उत्तरप्रदेश के प्राचीन अवध-प्रान्त के सीतापुर जिले में लखनऊ से 45 मील दूर नैमिषारण्य नामक एक प्रतिष्ठित तीर्थ है। यहां महर्षि शौनक आदि ऋषियों को सूतद्वारा कथा-श्रावण की परम्परा साहित्य में उल्लिखित है।

उपरिलिखित शब्द में दो पद हैं—नैमिष और अरण्य। द्वितीय पद वनवाची है। आज नैमिषारण्य शब्द ही प्रचलित है। महाभाष्यकार का निर्वचन भी 'नेमि: शीर्णा यत्र (यस्मिन् अरण्ये) तन्नैमिषारण्यम्' ही है। इस पद में कहीं-कहीं 'नैमिष' के स्थान पर 'नैमिश' भी प्राप्त होता है। यह पूर्ण शब्द नैमिष क्षेत्र और नैमिष अरण्य दोनो का द्योतन करता है।

उद्धरण मे 'नैमिष' के निर्वचन के लिए 'नेमि' शब्द का उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ 'चक्रधार' होता है और वैदिक साहित्य मे इसका इसी अर्थ मे प्रयोग

---

1. द्र-तत्रैव 3.131 और 2.58 के शीर्षक; म. पु. 69.9 महा. 3.15.2, 20.9 आदि।
2. पा. 6.3.120
3. महा. 2.87.7; तु.-म. पु. 22.12.15

अनेकत्र हुआ है[1]। आगे 'शीर्ण' पद से एक आख्यान की ओर संकेत है कि कलिकाल से बचाने के लिए और तपोभूमि को प्राप्त करने की लालसा वाले मुनियो की हितकामना से ब्रह्मा ने हरिचक्र या धर्मचक्र छोडा और मुनियों को उसके पीछे चलने को कहा। जहां उनकी नेमि शीर्ण हुई, उसे ही तपोभूमि और वृहत् पुण्यदेश घोषित किया गया। इस प्रकार इस पद को नेमि और √शृ (हिंसायाम्) से निरुक्त किया गया है। इसमें वृद्धि, पत्व-विधान आदि औणादिक भी हो सकते हैं और निपातित भी।

उक्त आख्यान अनेक पुराणों मे प्राप्त होता है[2] और सर्वत्र भिन्न शब्दावली में उक्त प्रकार से ही निर्वचन किया गया है। कनिंघम ने इसकी व्युत्पत्ति 'निमिप' से बताते हुए एक अन्य आख्यान की ओर संकेत किया है, जिसमे गौरमुख (मुनि) द्वारा निमिपमात्र में असुरों का वध बताया गया है[3]। लिङ्गपुराण में इसका निर्वचन 'निमिप' से ही दिया गया है[4]। वराहपुराण के आधार पर लिखित 'नैमिपारण्य-माहात्य' के अनुसार एक बार दुर्जय नामक काशी-नरेश ने गौरमुख मुनि के आश्रम के निकट आकर डेरे डाल दिये। अतिथि-सत्कार से चिन्तित मुनि को भगवान् ने एक सिद्धि-मणि दी, जिससे सर्वसुख सुलभ हो गये। राजा ने मन्त्री भेजकर उसे लेना चाहा। असफल होने पर उसने उत्पात प्रारम्भ कर दिया। मुनि ने हरि का ध्यान किया और उन्होने अपने चक्र से निमिप मात्र में उसका वध कर दिया। तभी से उसका नाम नैमिप या नैमिपारण्य हो गया। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-विश्वकोश' में इस नाम के पड़ने का एक और कारण लिखा है कि उस वन या स्थान में निमिप नामक फलो का आधिक्य था। इस फल के विषय में जानकारी न वहा दी गई है और न प्राचीन कोशों में प्राप्त हुई है। इस अनुच्छेद में लिखित प्रमाणों से यह पता चलता है कि 'नैमिप' का निर्वचन 'निमिप' से भी अभिप्रेत है और व्याकरण के अनुसार अण् प्रत्यय से इसकी सिद्धि भी सरल है।

इस प्रकार इस शब्द का निर्वचन 'नेमि' और 'निमिप' दोनों से सम्बद्ध किया गया है। शब्द अति प्राचीन है, क्योंकि वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख हुआ है[5]। जैमिनीय ब्राह्मण में शितिबाहु ऐपकृत की उपाधि 'नैमिशि' थी। वैदिक इण्डेक्स के कर्ता के अनुसार सम्भवतः वह नैमिश नाम वन का रहने वाला होगा[6]। वैदिक साहित्य के उक्त स्थलो मे नैमिश या नैमिप नामक वन में रहने वालों के लिए नैमिशीय नैमिपीय और नैमिष्य शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

---

1. ऋक् 1.32.15; 141.9, 2.5.3 आदि; श ब्रा. 1.4.2.15, बृह. उप. 2.5.15 आदि।
2. वा.पु. पू. 2.7; कू पु.उ. 43.9; दे.भा. 1.2.28-32
3. द्र.–हि वि. (ना प्र.)
4. लि.पु. पू. 1-8
5. काठक 10.6; पञ्च ब्रा. 25.6.4; कौ.ब्रा. 26.5; छा.उप. 1.2 13
6. जैमि ब्रा. 1.3.63; द्र.-वै.इ भाग 1,पृ. 519

5. पञ्चाल

पञ्च+अलम् से - 'पंचैते रक्षणायालं देशानामिति विश्रुताः।
पञ्चानां विद्धि पञ्चालान् स्फीतैर्जनपदैर्वृतान्।
अलं संरक्षणे तेषां पंचाला इति विश्रुताः[1] ॥

पौराणिक साहित्य में 'पंचाल' शब्द का प्रयोग स्थान-विशेष और जातिविशेष के लिए प्राप्त होता है। महाभारत के उपरिलिखित उद्धरण के सन्दर्भ में बाह्याश्व के पाच पुत्रों का परिगणन किया गया है—मुद्गल, सृञ्जय, बृहदिषु, यवीनर और कृमिलाश्व। ये पांचो जिस देश की रक्षा मे समर्थ थे वह 'पञ्चाल' कहलाया और साथ ही उस देश की रक्षा में समर्थ इन्हें भी 'पंचाल' कहा गया। इस प्रकार इस शब्द का निर्वचन पंच और अलं दो शब्दों से दिया गया है। निर्वचन का यही प्रकार अन्य पुराणों[2] में भी प्राप्त होता है, केवल राजा के नाम और पुत्रों के नामों में अन्तर प्राप्त होता है।

व्याकरण को निर्वचन का यह आर्षी स्वरूप ग्राह्य नहीं है। वहां इसे उणादि प्रकरण मे √पचि (विस्तारवचने) से कालन् प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है[3]। वहां टीकाकार ने 'पंचति व्यक्तं करोति' यह विग्रह दिया है, जो देश-विशेष या जाति-विशेष दोनों को स्पष्ट करता है[4]। तद्धित प्रकरण मे 'पंचालानां निवासः जनपदः' अर्थ करते हुए अण् प्रत्यय किया गया है[5], किन्तु उसका लोप हो गया है[6]। पाणिनीय तन्त्र में यह लोप की प्रक्रिया इसलिए की गई है, क्योंकि वे योग-प्रमाण की अपेक्षा संज्ञाप्रमाण या लोक-प्रमाण को प्रबल मानते थे[7]। 'पंचालाः' शब्द क्षत्रिय और जनपद दोनों के लिए प्रचलित था।

शब्द कल्पद्रुम मे देश-विशेष के ही अर्थ मे 'पंचभिः प्रधानाभिर्नदीभिरलति पर्याप्नोतीति' विग्रह करके पंच+√अलं (भूषणपर्याप्तिवारणेषु) से व्युत्पन्न किया है। यह उसकी भौगोलिक सीमा को स्पष्ट करता है। भागवत पुराण मे उत्तर पंचाल और दक्षिण पंचाल का उल्लेख हुआ है[8]।

इस प्रकार 'पंचाल' शब्द के विवेच्य दो पृथक् निर्वचन प्राप्त होते हैं—पौराणिक और वैयाकरणिक। व्याकरण मे पंचाल को यह संज्ञा सम्भवतः देशविशेष की विस्तृत सीमा का द्योतन करने के कारण पड़ी भी हो सकती है, जो √पचि के धात्वर्थ से स्पष्ट होता है।

---

1. हरि. 1.32.65-66
2. वि.पु. 4.19.59 वा.पु. उ. 37.193 भा पु. 9.21.32-33 म.पु. 50.3, 4
3. उ. को. 1.118
4. उ. को. पा. टि. में इस निर्वचन का भी संकेत किया गया है। 'पंचभ्योऽन्नमिति व्युत्पत्त्यन्तरम्'।
5. 'तस्य निवासः'–पा. 4.2.69
6. जनपदे लुप्–पा. 4.2.81
7. पा. 1.2.53-55
8. भा. पु. 4.25.50-51

6 मथुरा/मधुरा

मधु–से— 'तस्मिन् मधुवनस्थाने मधुरा नाम सा पुरी।
शत्रुघ्नेन पुरा सृष्टा हत्वा तं दानवं रणे[1] ॥
इयं मधुपरी रम्या मधुरा देवनिर्मिता।
निवेशं प्राप्नुयाच्छीघ्रमेष मे ऽस्तु वरः परः[2] ॥

मथुरा नगरी का नाम एक विशेष घटना पर आधारित है। हरिवंश के अनुसार मधुवन में रहने वाले मधु नामक राक्षस के पुत्र लवणासुर का वध शत्रुघ्न ने किया था। फिर उन्होंने अस्त्रों से उस वन को ही काट डाला और धर्मशास्त्र के अनुसार नगरी बसाना परम धर्म मानकर उस स्थान पर मथुरा नामक पुरी बसाई। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार भी शत्रुघ्न ने मधुपुत्र लवणासुर को मारकर मधुरा नामक नगरी बसाई थी। रामायणगत उद्धरण से यह भी प्रतीत होता है कि उस स्थान का नाम (मधु राक्षस के कारण[3]) पहले से ही मधुपुरी (जिसे हरिवंश मे मधुवन कहा गया है[4]) या मधुरा था। दानवी व्यवहार और युद्धजनित अस्तव्यस्तता के कारण उसका निवेशन उचित ढंग से पुनः किया गया। विष्णु पुराण के अनुसार भी पूर्वविद्यमान मधुवन मे ही 'मधुरा' को बसाया गया।[5] मधुपुरी और मधुवन से वहां मधु दानव के नाम की सत्ता स्पष्ट है। मधुरा से भी इसी की पुष्टि होती है, क्योंकि 'मधुरस्त्यास्याः' विग्रह करके 'र'[6] और टाप् प्रत्ययों से यह शब्द बनता है। यही मधुपुरी या मधुरा ही मथुरा नाम से भी अभिहित होती थी। यद्यपि साहित्य मे दोनों ही नाम मिलते हैं[7], तथापि मथुरा का उल्लेख अधिक हुआ है। उक्त आख्यान के सन्दर्भ में ही पुराणों मे मथुरा का उल्लेख अधिक प्राप्त होता है। मेगस्थनीज और प्लिनी ने भी मेथोरा (Methora) को जामनेस (Jomanes=यमुना) नदी के तट पर बसा वर्णित किया है[8]। भारतीय साहित्य मे तो इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है[9]।

मधुरा को मथुरा क्यों कहा जाने लगा ? इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नही होता। प्रतीत होता है कि मधु और लवणासुर के भयंकर अत्याचारों से पीड़ित नगरी का नाम उन्हे भुलाने के लिए बदल दिया गया होगा। भाषा-विज्ञान की

1. हरि. 1.54.56 2. वा. रा. उत्तर 70.5
3. तु.–पुनश्च मधुसञ्ज्ञेन दैत्येनाधिष्ठितं यतः।
ततो मधुवन नाम्ना ख्यातमत्र महीतले ॥ वि. पु. 1.12.3
4. महा. हरि. 1.54 23; द्र.–पा. टि. 1
5. वि. पु. 1.12.4 6. ऊषशुषिमुष्कमधो रः–पा. 5.2.107
7. वि. पु. 1.12.4-4.4.101
8. एन्शेण्ट इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन–जे. डब्ल्यू मक्रिण्डले पृ. 206 तु –महा. हरि-2.39.25
9. 'रघु 15.28 तु-प. पु. स्वर्ग खण्ड 30.46-47;

दृष्टि से यह वर्णादेश का उदाहरण है। फिर भी √मथ् से व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी निकाला जा सकता है कि जहां शत्रुओं का मन्थन कर दिया गया। प्रक्रिया-सर्वस्व गत उणादि प्रकरण में 'मथ्यन्ते शत्रवोऽत्र' विग्रह करके √मथि+उरच् से इसे सिद्ध किया भी गया है[1]। शब्दकल्पद्रुम में 'मथ्यते पाप-राशिर्यया' विग्रह करके धार्मिक पुट दिया गया है। अथर्ववेदीय गोपालतापनीयोपनिषद् में लिखा है कि जिस ब्रह्मज्ञान से सम्पूर्ण जगत् मथ डाला जाता है, उसके सार-परब्रह्म-लीलापुरुषोत्तम जिस पुरी में विराजमान रहते हैं, उसे मथुरा कहते हैं[2]। यहां उक्त आख्यान का कोई पुट नहीं है और शुद्ध धार्मिक निर्वचन दिया गया है।

7. पृथिवी-पृथ्वी

1. √प्रथ से— 'प्रथिता धनत (धर्मत)[3] श्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता'[4]
2. पृथु से— 'ततोऽभ्युपगमाद्राज्ञः पृथोर्वैन्यस्य भारत।
   दुहितृत्वमनुप्राप्ता देवी पृथ्वीति चोच्यते।
   पृथुना प्रविभक्ता च शोधिता च वसुन्धरा[5]॥

महाभारत के शान्तिपर्व और हरिवंश में 'पृथ्वी' शब्द का निर्वचन राजा-पृथु के आख्यान के माध्यम से दिया गया है। दोनों ग्रन्थों में राजा पृथु के पूर्वजों में किंचित् अन्तर है[6], पर आख्यान लगभग एक सा है। अत्याचारी राजा वेन की दक्षिण भुजा को जब महर्षियों ने मथा, तो वैन्य उत्पन्न हुआ। इसे ही पृथु नाम भी दिया गया था, क्योंकि उसने पिता (वेन) द्वारा की गई सारी अव्यवस्थाओं को ऋषियों की आज्ञा से व्यवस्थित किया, सभी शत्रुओं को पराजित करके प्रसिद्धि प्राप्त की[7] पीडिता गोरूपधारिणी पृथ्वी को सान्त्वना दी और उसका प्रथन (विस्तार) किया[8]। पर्वतादि का उत्सारण, भूमि शोधन, पृथ्वी दोहन से अन्नोत्पत्ति और फिर विभिन्न ऋषि, देव, नाग, पितृ आदि विभिन्न घटकों के द्वारा दोहन किये जाने से प्रजाहित की अनेक वस्तुओं का उत्पादन,[9] वर्णाश्रम व्यवस्था, न्याय व्यवस्था[10] आदि कर्म करके अपने को प्रथित-प्रसिद्ध किया। इस प्रकार उन्होंने भूमि को धन और धर्म से प्रथित कर दिया। अतः नाम पृथ्वी या पृथिवी हुआ। यद्यपि पृथिवी स्वतः ही धन-सम्पन्न है और उससे ही विविध धन प्राप्त होते हैं, तथापि उसके गर्भ में विद्यमान धनादि को उत्खनन, कृषि आदि द्वारा अभिव्यक्ति देकर उपयोग योग्य बनाने का भाव ग्रन्थकार को अभीष्ट प्रतीत होता है।

---

1. उ. को. 1.38
2. गोपालतापनीयोपनिषद् 64
3. पाठ भेद, गीता प्रेस गोरखपुर और चित्रशाला प्रेस, पूना।
4. महा. 12.59.128
5. महा. हरि. 1.6.46
6. शान्तिपर्व-प्रजापति कर्दम 7 अनंग + मृत्युपुत्री सुनीथा = वेन 7 वैन्य या पृथु। हरिवंश—अत्रिवंश 7 अंग + सुनीथा = वेन 7 वैन्य या पृथु
7. महा. ग. द्रोण 69.2
8. हरि. 1.6.5
9. तत्रैव अ. 6
10. महा. म. 59

उपरिलिखित द्वितीय उद्धरण में राजा पृथु के उपरिवर्णित कार्यों की ओर सकेत है, जो 'प्रथन' का व्याख्यानमात्र है, साथ ही इसमे पृथ्वी का दुहितृत्व स्वीकार करने की बात भी कही गई है[1]। यहां 'दुहिता' शब्द का रूढ्यर्थ लेने की अपेक्षा यौगिकार्थ लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, तभी पृथ्वी-दोहन की उपयुक्तता सिद्ध होती है। इस आख्यान का बीज अथर्ववेद मे विद्यमान है, जहा लिखा है कि वैवस्वत मनु वत्स था, पृथिवी पात्र थी और पृथी वैन्य ने कृषि को दुहा था[2]। सम्भवतः यह पृथी ही आगे चलकर पुराणों आदि मे पृथु हो गया।

इस द्वितीय निर्वचन में 'पृथु' को $\sqrt{}$प्रथ का रूप तो माना गया है, परन्तु धातु का निर्देश नही किया गया है और प्रथम उद्धरण मे धातु रूप का सीधा प्रयोग हुआ है। इन दोनो ही स्थलों पर प्रथन-कर्म का क्षेत्र पृथिवीगत शक्तियो का उपयोग है, जबकि वैदिक साहित्य मे इसका प्रयोग रचना-विषय मे दृष्टिगत होता है[3]।

निरुक्त में 'प्रथनात् पृथिवी इत्याहुः'[4] इस प्रकार निर्वचन किया गया है। व्याकरण मे 'प्रथते विस्तीर्णा भवति' विग्रह करते हुए षिवन्, षवन् और ष्वन् प्रत्ययों के विधान से क्रमशः पृथिवी, पृथवी और पृथ्वी शब्द सिद्ध किये गए हैं।[5] दोनो मे ही विस्तारार्थक $\sqrt{}$प्रथ अभिप्रेत है। यह अर्थ पाणिनीय धातु पाठ मे नहीं है। काशकृत्स्न व्याकरण में —पृथ् (व्याप्तौ) से पृथिवी शब्द निष्पन्न किया गया हैं।[6] इस अवस्था मे सम्प्रसारण आदि की आवश्यकता नही होती और उक्त अर्थ भी सगत हो जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'यः पर्थति सर्वं जगद् विस्तृणाति तस्मात् स पृथिवी'[7] विग्रह के द्वारा उसे ब्रह्म रूप माना है। यहां भी—पृथु (विस्तारे) अर्थ का उल्लेख है, जो परम्परया स्वीकार की जा सकती है। वैज्ञानिक तथ्य भी यही है कि हमारी पृथ्वी कैंब्रियन पूर्वकल्प (आज से 70 करोड वर्ष पूर्व) से ही फैलती जा रही है। ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन के नेचुरल हिस्ट्री विभाग ने इसके लिए विस्तृत प्रमाण जुटाए हैं, जिनसे पता चलता है कि 20 करोड़ साल पहले पृथ्वी का

---

1. पृथ्वी के सन्दर्भ में धन से सम्पन्नता की बात वैदिक और लौकिक साहित्य में अनेकत्र कही गई है। श.ब्रा (11.5 6 3) में सम्पत्ति या वित्त का सन्दर्भ है और शां.आ. 13.1 मे इसे 'वसुमती' कहा गया है। वसुधा, वसुन्धरा, रत्नगर्भा आदि पर्याय भी पृथ्वी के उक्त गुण का द्योतन करते हैं।
2. तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्, पृथ्वी पात्रम्। तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषि सस्यं चाधोक्'—अथर्व 8.10.10, 11द्र.—जैउप.ब्रा. 1.10 9, 7.34.1; तै.ब्रा. 1.7.7.4 आदि।
3. 'प्रधिष्ट यामन् पृथिवी चिदेषाम्'-ऋक् 5 58.7, तु—ऋक् 6 72.2; ऋक् 8.89.5. ऋक् 2.15.2; तु -1.103.2; तै.सं. 7.1 5.1; तै. सं. 2.1.2.4, तै ब्रा. 1.1.3.5; श.ब्रा. 6 11.12.15; श ब्रा. 6.5.3 1; नि. 1.23
4. नि. 1.4
5. उ. को 1 150
6. काशकृत्स्न धातुपाठ पृ. 152
7. द. स. स.-पृ. 12

व्यास आज की तुलना मे 80 प्रतिशत ही था और कैंब्रियन पूर्वकल्प मे तो 60 प्रतिशत ही रहा होगा ।[1]

इस प्रकार पृथ्वी शब्द का निर्वचन पुराणों में आख्यानपरक है तथा वैदिक साहित्य मे यह यौगिक है। पृथ्वी की रचनात्मक प्रक्रिया का आभास मिलता है, जबकि पुराणगत सन्दर्भों में पृथ्वी के शोधन, संस्करण, निवासन और समृद्धीकरण आदि बाद की प्रक्रियाओं का स्पष्ट ज्ञान होता है।

8 मेदिनी

मेदस् से—

'मेदसा प्लाविता सर्वा पृथिवी च समन्ततः ।
भूयो विशोधिता तेन हरिणा लोकधारिणा ॥
मेदोगन्धा तु धरणी मेदिनीत्यभिसंज्ञिता ॥[2]
'मधुकैटभयोः कृत्स्ना मेदसाऽभिपरिप्लुता ।
तनेय मेदिनी देवी प्रोच्यते ब्रह्मवादिभ :।[3]

पृथ्वी के पर्यायवाची शब्दों मे अन्यतम 'मेदिनी' शब्द का निर्वचन एक आख्यान के माध्यम से मेद या मेदस् शब्द से सम्बद्ध किया गया है। सृष्टि के प्रारम्भ में विष्णु जल मे शयन कर रहे थे। ब्रह्मा ने उनके उदर मे प्रवेश किया। विष्णु की नाभि से निकले सुवर्णकमल पर ब्रह्मा प्रकट हुए और उनके कान के मैल से मधु-कैटभ (दानव) उत्पन्न हुए, जो ब्रह्मा को सताने लगे। ब्रह्मा की चिल्लाहट से विष्णु जगे और उन्होने दोनों दानवो का विनाश किया। उनकी चर्बी (मेदस्) से पृथ्वी भर गई। उसकी दुर्गन्ध के कारण ही 'मेदिनी' नाम पड़ा। यहां 'गन्धवती पृथिवी'[4] लक्षण पर भी प्रकाश पड़ता है। हरिवंश मे पृथूपाख्यान के सन्दर्भ में भी इस निर्वचन की ओर संकेत किया गया है। यही निर्वचन भिन्न शब्दावली में अन्य पुराणों में भी प्राप्त होता है।[5] व्याकरण ने भी इसी निर्वचन की पुष्टि करते हुए 'मेदमस्त्यस्याम्' 'मेद्यति'[6] मेदोऽस्यास्तीति' 'मेदो विद्यतेऽस्यां' आदि विग्रह करते हुए इनि[7] और ङीप् प्रत्ययों से इसे बनाया है।

शब्दकल्पद्रुम के अनुसार ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृतिखण्ड मे नारायण-नारद-संवाद[8] के सन्दर्भ ये वसुधोत्पत्ति की कथा बताने से पूर्व इस मत का खण्डन किया गया है कि मेदिनी मधु-कैटभ की मेद से उत्पन्न हुई है, अर्थात् उस समय भी एक वर्ग ऐसा था, जो इस मत को ठीक नही मानता था। सम्भवतः वह इसे

1. एडवर्ड एसपोल के अनुसार पत्रिका 8 जनवरी 1986
2. वा. रा. उत्तर 3.51.53 3. हरि. 1 6.45
4. त. स. पृ. 3
5. वा. पु. उ. 2 3; ब्र. पु. 5.112; मा. पु. अ 81, नृ. पु. अ. 37; दे. भा. 1.9.83-84
6. द्र.—अ. सु.; श. क. 7. अत इनिठनौ-पा. 5.2.115
8. तु.—ब. 8.9-15

लोकनिरुक्ति समझता हो, किन्तु जो कथा वहां दी गई है, वह भी लोकनिरुक्ति से कम नहीं है। वहां की कथा है कि वेद सम्मत यह बात सुनी जाती है कि पुष्कर में जलस्थ महाविराट् के शरीर मे सर्वाङ्गव्यापी मल हो गया और वह उनके सभी रोम-विवरों में प्रविष्ट हो गया। पर्याप्त समय बाद उसमे से वसुधा उत्पन्न हुई। प्रतिलोम कूप मे वह स्थिर थी और जल मे पुन: आविर्भूत और तिरोहित होती थी। वह सृष्टिकाल में जल पर आविर्भूत होती है और प्रलयकाल मे तिरोभूत हो जाती है।

ध्यातव्य है कि √जिमिदा (स्नेहने) से सिद्ध[1] मेदस् शब्द के चर्बी के अतिरिक्त दूध, घी, रबड़ी जैसे चिक्कण पदार्थ, कस्तूरी आदि अर्थ भी मिलते हैं[2]। सम्भव है, 'मेदिनी' नाम में इनका कोई योग रहा हो।

मेदस् शब्द से मिलते-जुलते शब्द पश्चिमीय प्राचीन भाषाओं मे मिलते हैं[3]। जैसे भारोपीय 'मद्-या-मद्दो'=भीगा हुआ या रिसना (mad, mad-do=wet, or to Trickle), ग्रीक-मदाओ'=मैं बहता है (madio=I flow) आदि। इन शब्दों मे जल या जलप्रवाह का भाव सन्निहित है। इधर 'मेदिनी' के आख्यान मे भी जल-प्रलय की बात है। अत: मूलत: मेदस् का अर्थ जल या जलीय पदार्थ भी रहा होगा और मेदिनी का अर्थ जलवाची रहा होगा, क्योंकि सागर मे डूबी हुई उसको ऊपर लाया गया या अथवा जिसमे अब भी 3/4 (73.8) भाग जल है अर्थात् जल का प्राधान्य है।[4]

यह भी सम्भव है कि इस शब्द से सम्बद्ध उपरिलिखित आख्यानों मे प्रतीकात्मक दृष्टि रही हो, जिसका संकेत सर्वत्र नहीं हो पाया है। मत्स्यपुराण गत आख्यान में मधु-कैटभ को तमस् और रजस् का प्रतीक माना गया है[5] अर्थात् सत्त्व (विष्णु) की तमस् और रजस् पर विजय प्रदर्शित की गई है। पृथ्वी पर सत्त्व की अपेक्षा अन्य दो गुणों का प्राधान्य है।

'आवाभ्यां छाद्यते विश्वं तमसा रजसाऽथ वै[6]' इसी का द्योतन करने के लिए मेदिनी शब्द का प्रचलन हुआ होगा। अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तमस्-रजस् रूप मधुकैटभ से व्याप्त पृथ्वी का शोधन सत्त्व के प्रसार रूप उनके वध से करना चाहिए।

---

1. तु-मेदो मेदयते (मेद्यतेः)–नि. 4.3
2. अथर्ववेदीय सन्ध्या मे याज्ञवल्क्य का वचन है–मेदसा तर्पयेद् देवान् अथर्वांगिरसः पठन्। पितृंश्च मधुसर्पिभ्यःमन्वहं शक्तितो द्विजः–1 44 यहां मेदस् का अर्थ चर्बी लेना उचित नहीं प्रतीत होता है।
3. द्र.-एटी या.–पृ. 82.
4. एक वैज्ञानिक के अनुसार यदि यह पहले ज्ञात होता, तो भू को पृथ्वी के स्थान पर 'OCEANUS' कहा जाता। पर मेदिनी शब्द मे उक्त भाव निहित है।
5. म पु. 169.1-2
6. म. पु. 169.14

इस प्रकार 'मेदिनी' शब्द का निर्वचन आख्यानपरक शैली मे पौराणिक रूढियों से आक्रान्त है। इस दृष्टि से यह लोककृत निर्वचन है। धात्वर्थ और मूलार्थ पर विचार करने पर विश्वसनीय निष्कर्ष भी निकलते हैं।

जलीय वर्ग

9. उदक

उत्+√अक अथवा √अञ्च से—

(दैत्यानामुरगाणां च पातालं तन्महात्मनाम्)
तेषामधोगतं यत्तदुदकेत्यभिसंज्ञितम् ॥
महापातककर्माणो मज्जन्ते यत्र मानवा: ॥[1]

हरिवंश मे 'उदक' का उक्त प्रकार से निर्वचन किया गया है। उद्धरणगत सर्वभूतोत्पत्ति के प्रसंग मे हिरण्मय पद्म की कल्पना करके पद्मपत्र के नीचे दैत्योरगादि का वासस्थान बताया गया है और उनके नीचे 'उदक' की सत्ता निर्दिष्ट की गई है, जहा महापातकी पहुंचते है। इस पौराणिकी आख्या ने टीकाकार नीलकण्ठ को 'उत् उत्कृष्टं अकं दुःखं यत्र'[2] विग्रह करने के लिए विवश किया है। जबकि उदक स्वयं सुखवाची बताया गया है[3]। वैसे उदक शब्द जलवाची है और उणादि प्रकरण मे √उन्दी (क्लेदने) के क्वुन् प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है[4]। अर्थात् जो गीला करने वाला या भिगा देने वाला द्रव है। निरुक्त में भी यही निर्वचन दिया गया है। 'उनत्तीति सत:'[5] डा. सिद्धेश्वर वर्मा[6] और डा. फतहसिंह[7] ने उदक का पश्चिम की भाषाओं में साम्य दिखलाया है[8], जिससे उसके इस नैरुक्त अर्थ की प्राचीनता सिद्ध होती है।

वैदिकसाहित्य में भी उदक से मिलते-जुलते उद्[8], उदन्[9], उद्र[10], उद्रिन्[11], समुद्र[12], उत्स[13], और उदन्यु[14] आदि शब्दों में √उन्द् ही स्वीकार की गई है।

---

1. हरि 3.12.13
2. तत्रैव पृ 503
3. यह भाव आत्मानन्द ने ऋक् 1.164.40 के भाष्य में शाकपूणि का मत उद्धृत करते हुए दिया है—'उदकमिति सुखनामेति शाकपूणि.'। किन्तु यह उपलब्ध निरुक्त में प्राप्त नही होता है—द्र-नि. मी पृ 232
4. उदकश्च-उ. को 2.40
5. नि. 2.24
6. द्र-एटी. या-पृ. 42 ud=to wet (भारो.); hudor=water (ग्री)
7. वै. एटी. पृ. 105 undu=wet, unda=wave (लै)
8. ऋक् 5.41.14
9. ऋक् 8.98 7, 1.85.5
10. माध्य. 24.37, काण्व 26.8.2, तै 5.5 20.1 आदि। तु.-उनत्ति क्लिद्यति जलचर:—उ. को 2.13 इति रक् प्रत्यय।
11. ऋक् 2.24.4 आदि।
12. नि. 2.10
13. नि. 10.9
14. ऋक् 5.57.1

डा. फतहसिंह ने अथर्ववेद के एक निर्वचनात्मक उद्धरण[1] के आधार पर उदक शब्द को उत् (ऊर्ध्ववाचक)+अकम् (√अञ्च्=गतौ) से निष्पन्न बताया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रारम्भ में जल कुएं आदि से ऊपर लाया जाता था। उससे भिगोना या सीचना अर्थ मे √उन्द धातु बनी। अत: अथर्ववेदीय निर्वचन मूल है[2]। यह मत बहुत उपयुक्त नही प्रतीत होता, क्योंकि √उन्द् की प्राचीनता ऊपर प्रदर्शित की जा चुकी है।

ध्येय है कि मूल उद्धरण मे 'आनिपु.' पद है, जो √अञ्च् से नहीं √अन् (=प्राणने)[3] से लुङ् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में बनता है। अतः वहा उत्+√अन् से 'उदन्' का निर्वचन दिया गया है, जिसका वर्णविकार से विकसित और परिवर्धित रूप 'उदक' प्रतीत होता है। सिद्धान्त कौमुदी में 'उदक्तमुदक कूपात्' लिखा है, जिससे डा. फतहसिंह के विचार का संकेत मिलता है।

उपरिलिखित महाभारतीय उद्धरण में 'अधोगतं' पद विचारणीय है, जिससे 'उदक' शब्द के निर्वचन पर प्रकाश डाला गया प्रतीत होता है। अनुमानतः यहां 'अध:' और 'गत' पदों के द्वारा 'उत्' और 'अक' की व्याख्या की गई है। उत् अव्यय प्राय: उर्ध्व के अर्थ मे आता है, पर जल के सदर्भ मे अर्थ संगत नही होता, इसीलिए उद्धरण में उसका अर्थ 'अध:' दिया गया है। वैसे 'उत्' अव्यय अत्यन्तता या तीव्रता के अर्थ मे भी है[4] अर्थात् जो तीव्रता से चलता है और जल स्वभावत: निम्नाभिमुख होता है[5]। इसके अतिरिक्त कई शब्दों मे विरोधी भाव अन्तर्निहित होते है[6]। सम्भव है 'उत्' के अध: और उर्ध्व दोनों अर्थ रहे हो। जल यदि ऊपर चलता है, तो नीचे भी आता है[7]। 'अक' शब्द √अक् (कुटिलायां गतौ) से निष्पन्न माना जा सकता है, जिससे उक्त अर्थ संगत हो जाता है। अत: महाभारतीय निर्वचन शब्द के भाव के अधिक निकट है।

इस प्रकार 'उदक' शब्द का निर्वचन वैदिकी परम्परा में √उन्द् से और हरिवंश में उत्+√अक् या √अञ्च् से किया गया है। अथर्ववेदीय उद्धरण में उत्+√अञ्च या √अन् से दिया गया निर्वचन हरिवंशीय निर्वचन का पूर्वरूप

1. एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।
   उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते-अथर्व 3 13 4
2. द्र.-औ. एटी. पृ. 106; श्री शिवनारायण शास्त्री ने इसे अज्ञान का चरम निदर्शन कहा है, जिसकी समीक्षा 'निरुक्त के पांच अध्याय' पृ. 248 पर की है, किन्तु समीक्षा में इस भाषा का प्रयोग अपेक्षित और उचित नही है।
3. √अन् शब्दार्थ भी विचार्य है, क्योंकि जल शब्द करते हुए चलता है।
4. द्र-आप्टे-पृ. 99-III
5. तु.-कु.-5 5
6. यथा √यु मिश्रणामिश्रणयो:।
7. तु-नल बल जल ऊंचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच'।

माना जा सकता है। दोनों ही प्रकार के निर्वचन जल के स्वभाव–भिगोना या तेज गति से ढलाव की ओर भागना–को प्रकट करते हैं।

10 उर्वशी

उरु
ऊरु } + √वस् से
उरस्

'उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निपसाद ह।
गंगा भागीरथी तस्मादुर्वशी ह्यभवत्पुरा[1]॥

'उर्वशी' शब्द स्वर्गलोक की एक अप्सराविशेष के लिए विख्यात है, किन्तु उपरिलिखित उद्धरण मे यह गंगा के लिए प्रयुक्त हुआ है और निर्वचनगत अर्थ से उसकी पुष्टि की गई है। उल्लेख्य है कि इसका 'गंगा' अर्थ अमरकोश और आप्टे के कोश आदि मे प्राप्त नही होता और न इस अर्थ मे साहित्य में प्रयोग ही प्राप्त होता है।

महाभारत-युद्ध मे हताहतों के प्रति शोकसन्तप्त युधिष्ठिर को श्री कृष्ण ने–सृञ्जय-नारद संवाद के रूप मे अनेक राजाओं के मरण-कथन से सान्त्वना दी। उसी सन्दर्भ में राजा भगीरथ के महत्त्व-स्थापन में उक्त निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। यहां गंगा के दो पर्याय दिये गए हैं। भागीरथी से राजा भगीरथ द्वारा अपने पूर्वजों के उद्धारार्थ लाई गई गंगा का ज्ञान होता है[2]। अतः गंगा के लिए भगीरथ-पुत्रीत्व की बात रामायण[3] और अनेक पुराणों मे प्राप्त होती है[4]। यहां 'उर्वशी' के निर्वचन के माध्यम से यही बात 'यस्याङ्के निपसाद' के द्वारा कही गई है, जैसा कि अग्रिम श्लोक से स्पष्ट होता है—

भूरिदक्षिणमिक्ष्वाकुं यजमानं भगीरथम्।
त्रिलोकपथगा गंगा दुहितृत्वमुपेयुषी[5]।

प्रदत्त निर्वचनात्मक उद्धरण में 'उपह्वर' और 'अङ्क' शब्दों का प्रतिनिधित्व 'उर' और निवास का प्रतिनिधित्व 'वशी' शब्द करते प्रतीत होते हैं। यहा सकार का परिवर्तन शकार रूप में अपेक्षित है। 'उपह्वर' शब्द 'रहः' और 'अन्तिक' वाची है[6]। आचार्य मुकुट ने गह्वरवदुपह्वरम्' लिखकर गह्वर अर्थ भी दिया है[7]। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे भी यही अर्थ प्राप्त होता है[8]। वर्तमान सन्दर्भ मे तीनो अर्थों से ही संगति बैठ जाती है और 'गंगा' अर्थ में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती है।

---

1. महा. 12.29.61
2. वा.पु. उ. 26.168; कू.पु. पू. 21.8. वि.पु. 4 4.35 आदि।
3. वा.रा. बाल 44.5
4. ब्र.पु. 8 75; ब्र. वै.पु.–प्र.ख. 3–34 आदि।
5. महा. 12.29.62
6. रहोऽन्तिकमुपह्वरे—इत्यमरः। 7. अ सु पृ. 429–II
8. ऋक् 8.6.28

टीकाकार नीलकण्ठ ने 'उपह्वरे समीपे भ्रङ्के ऊरौ निषसाद भ्रासाञ्चक्रे, तस्माद् योगात् सा उर्वशी ऊरौ वासो यस्याः सा' इस प्रकार स्पष्टीकरण दिया है[1]। यहा ऊरु+$\sqrt{}$वस् से 'उर्वशी' शब्द को व्युत्पन्न किया गया है। किन्तु उक्त प्रकार से 'ऊर्वसी' शब्द ही बनता है। इसके लिए ह्रस्वत्व और वर्णादेश के लिए पृषोदरादि-वत्[2] सिद्ध मानना पड़ेगा।

निरुक्त में 'उर्वशी' के भ्रप्सरा भ्रर्थ में जो निर्वचन दिये गये हैं–'उर्वभ्यश्नुते' 'ऊरुभ्यामश्नुते' भ्रौर 'उरुःवशोऽस्याः'[3] वे भी गंगा के अर्थ में भी संगत प्रतीत होते हैं, क्योंकि वह उरु=बहुत अशन (व्यापन) करती है, भ्रर्थात् वह विस्तृत भूभाग में व्याप्त है। अपनी जंघाभ्रों से अर्थात् मध्यभाग या मध्यवर्ती जल से व्यापन करती है, जिसे बाढ़ के समय स्पष्ट देखा जा सकता है। वह अत्यन्त वश वाली है अर्थात् उसमें जल की भ्रयवा पापरोगादि को विनष्ट करने की भ्रपरिमित शक्ति है। निरुक्तगत निर्वचनो के भ्राधार पर उर्वशिनी, ऊर्वशिनी भ्रौर उरुवशिनी से उर्वशी शब्द बना माना जा सकता है। बृहद्देवता में उर्वशी के लिए ऊरुवासिनी पद का प्रयोग हुभ्रा है[4], जो उसके निर्वचन की ओर संकेत करता है, पर निरुक्तगत तीनो निर्वचनों से भिन्न है। इसी प्रकार व्याकरण मे भ्रप्सरा भ्रर्थ को लक्ष्य कर 'उरसि हृदये वशं प्रमुत्वं भ्रधिकारो यस्याः' विग्रह करते हुए उरस्+$\sqrt{}$वश+भ्रप् या भ्रच् ङीप् मे पृषोदरादि से भ्रस् का लोप करते हुए 'उर्वशी' शब्द सिद्ध होता है। गंगा भ्रर्थ में इस व्युत्पत्ति को स्वीकार करके गंगा के प्रति आसक्ति से उसके महत्त्व-रूयापन की बात मानी जा सकती है।

इस प्रकार यद्यपि 'उर्वशी' शब्द भ्रप्सरा के भ्रर्थ मे ही भ्रधिक प्रचलित हैं, पर उसके समस्त भ्रर्थ गगा अर्थ के लिए उचित बताए जा सकते हैं। वैसे गंगा भ्रर्थ में इसका प्रयोग बाद मे प्रचलित न हो सका। उपरिलिखित निरुक्तियों को देखने से यह भी भ्रनुमान होता है कि ये किन्ही प्रचलित कथाभ्रों भ्रौर विश्वासों पर भ्राधारित है।

11. भ्रौर्व (ऋषि)

ऊरु से— भ्रथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्या निर्जगाम ह[5]।

....

अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः।
स भ्रौर्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्वा व्यजायत॥

भ्रौर्व (वडवानल) तस्योरुं सहसा भित्वा........पुत्रोऽग्निः समपद्यत
उर्व से— ऊर्वस्योरुं विनिर्भिद्य भ्रौर्वो नामान्तकोऽनलः[7]॥

---

1. महा चि. 12.29.68, पृ. 48
2. पा. 6.3.109
3. नि. 5 13
4. बृ. 2.59
5. महा० चि० 1.178.24,25
6 महा० 1.170.8; चि० 1 179.8
7. हरि० 1.45.49,50

महाभारत के एक आख्यान में 'ग्रौर्व (ऋषि) का निर्वचन दिया गया है। भृगुवंशियों के यजमान राजा कार्तवीर्य की मृत्यु पर उसके वंशधरों को कुछ धन की आवश्यकता हुई। वे अपने पुरोहित भृगुवंशी मुनियों के पास पहुंचे। मुनियों ने उन्हें धन दे दिया। तथापि उनमें से कुछ क्षत्रियों ने बड़े अत्याचार किये। गर्भ तक के बालकों को मार दिया। कुछ स्त्रियां हिमालय की ओर भाग गईं। एक ने अपने गर्भ को अपनी जङ्घा में छिपा लिया। ज्ञात होने पर वे उसे भी मारने आए, तो वह बालक जंघा फाड़कर बाहर निकल आया। इस प्रकार 'भेदन' करके बाहर *निकलने के कारण 'ग्रौर्व' नाम पड़ा।*

हरिवंश-गत आख्यान के अनुसार ब्रह्मा के मानस पुत्र ऊर्व ने जब तपस्या प्रारम्भ की, तो ब्रह्मर्षियों को चिन्ता हुई कि यह गोत्र चलाने से विमुख हो रहा है। प्रार्थना करने पर ऊर्व ने ब्रह्मर्षियों को ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया और अयोनिज सन्तान के लिए तैयार हुए। उन्होंने अपनी जंघा को अग्नि में डाल दिया और अरणिरूप उसे कुशा से मथने लगे। उससे अग्नि रूप एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे ग्रौर्व कहा गया। यह ग्रौर्व क्रोधाविष्ट होकर जगत् का भक्षण करने को उद्यत हो गया, तो ब्रह्मा ने उसका स्थान वडवा के समान मुख वाले समुद्र के मुख में बनाया और वह जल का भक्षण करने वाला वाडवानल हुआ[1]। ऐसा ही कथानक और निर्वचन मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होता है[2]।

प्रथम आख्यान में 'ऊरु' से और द्वितीय में 'ऊर्व' और उरु से ग्रौर्व शब्द को सम्बद्ध किया गया है। द्वितीय आख्यान में ऊर्व का ऋषि रूप में उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में ग्रौर्व को भृगु का विशेषण बताया है—'ग्रौर्वभृगुवत्'[3]। इस प्रयोग में वशप्रत्यय तो स्पष्ट नहीं है, तथापि उसे भी 'ऊरु' या ऊर्व' या 'ऊरु' से निष्पन्न किया जा सकता है। यहां पौराणिक आख्यान का स्पष्ट निर्देश तो नहीं है, तथापि उसका सूक्ष्म बीज माना जा सकता है।

अन्यत्र प्रथम आख्यान को किंचिद् भेद से प्रस्तुत करके ग्रौर्व से वाडवानल की उत्पत्ति बताई गई है[4]। क्षत्रियों के कार्यकलापों से क्रुद्ध होकर प्रतिशोध की भावना से शक्ति अर्जित करने के लिए मुनिगण तप करने लगे, तो पितरों को चिन्ता हुई और *उन्होंने मुनियों से क्रोध छोड़ने का अनुरोध किया। मुनियों के न मानने* पर पितरों ने उस क्रोध को जल में छोड़ने का औचित्य बतलाया—

आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्।
तस्मादप्सु विमुञ्चेमं क्रोधाग्निं द्विजसत्तम ।।

इस वाडवानल का नाम ग्रौर्व हुआ, क्योंकि वह ग्रौर्व ऋषि से सम्बद्ध था—'ग्रौर्वस्यायमिति'।

---

1. हरि० 1.45.60–64
2. म०पु० 175.48–50
3. ऋक् 8 102.4
4. द्र०–हि.वि. (वसु)

इस प्रकार और्व (ऋषि) को उर्व या ऊरु से तथा और्व (बाडवानल) को और्व से निष्पन्न किया गया है। व्याकरण में दोनों के लिए अण् प्रत्यय का विधान है।

12. चर्मण्वती

चर्मन्+(मतुप्+ङीप्)— 'महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात्सुसुवे यतः।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी[1]॥
'नदी महानसाद्यस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः।
तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽ भवत्पुरा[2]॥
'रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः (गावः) पशुत्वेनोपकल्पिता।
अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता[3]॥

अरावली पर्वत से निकलकर चम्बल नदी राजस्थान में उत्तर पूर्व की ओर बहती हुई आगरा के पास यमुना से मिलती है। इसका तत्सम नाम चर्मण्वती है, जिसके यौगिकार्थ (चर्मन्+मतुप्+ङीप्)का आश्रय लेकर जो आख्यान प्रचलित है, वह राजा रन्तिदेव से सम्बद्ध है। इसे न्यायशील, दानशील और प्रतापी राजा कहा गया है। इसके यज्ञ में अनेक पशु आकर उपस्थित हो गए, क्योंकि वे इस यज्ञ के द्वारा स्वर्ग जाना चाहते थे। उसने इतने पशुओं का बलिदान किया कि रसोईघर के आस-पास रखी[4] चर्मराशि के द्रव्य से[5] एक महानदी बह निकली, जिसका नाम चर्मण्वती हुआ[6]। तृतीय उद्धरण में 'गोचर्म' का उल्लेख है और द्वितीय उद्धरण के सन्दर्भ से भी आगे 20,00,000 गायों के आलम्भन की बात लिखी है,[7] किन्तु 'गो' शब्द पशुवाची भी है,[8] अतः अन्य लेखों से इसका विशेष भेद नहीं है। चाहे पशुमेध या गोमेध या मांसभक्षण को प्रकरणगत पशु-हिंसा का कारण माना जाय, तो भी यह विश्वासपूर्वक सम्भव नहीं माना जा सकता कि पशुओं की चर्मराशि से नदी बह निकले और वह सतत प्रवाहित होती रहे। अतः आख्यान और नदी का योग जताने के लिए यह अतिशयोक्ति पूर्ण लाक्षणिक कथन किया गया है। इससे चर्मण्वती नदी की पवित्रता, नाशक-रक्षक-पालक (बाढ़ और कृषि आदि के द्वारा) प्रवृत्तियाँ इंगित की गई प्रतीत होती हैं।

वस्तुतः आख्यानों का बाह्य रूप वर्णित हुआ है। इसका कोई अन्तः रूप वेदव्यास को अवश्य अभिप्रेत रहा होगा, जो प्रतीकात्मकता और रूपकात्मकता के आवरण से निकाला जाता है। इस सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष विचारणीय हैं।

---

1. महा. 12.29.116
2. महा. ग. द्रोण 67.5
3. महा. गी. प्रे. अनु. 66 43
4. द्र.-द्वितीय उद्धरण
5. द्र.-प्रथम उद्धरण।
6. तु.-दे. भा. 1.18.54
7. आलम्भन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः—महा. शि 12.29.127
   'सहस्राण्येकविंशतिः' महा. अनु भ. 115
8. अमर. 2.2.25

पशुवध, गोवध या मांसभक्षण की बात परम्परया स्वीकार की जा सकती है[1], किन्तु महाभारत[2] के ही उल्लेख के अनुसार रन्तिदेव मांसभक्षी न था—

'रैवतेन रन्तिदेवेन वसुना सृञ्जयेन च ।
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम्' ।।

इस आख्यान में प्रयुक्त गवालम्भन का अर्थ अतिथियों या ब्राह्मणों के दानार्थ गायों का 'स्पर्शन' हो सकता है[3] जो चर्मण्वती शब्द से भी पुष्ट होता है। क्योंकि 'चर्मन्' का सम्बन्ध स्पर्शानुभव से होता है[4] और 'स्पर्शन' का एक अर्थ दान भी होता है[5]।

मेघदूत के एक श्लोक[6] के सन्दर्भ में डा. सु. कु. गुप्त का विचार है कि रन्तिदेव के गोदानार्थ सकल्प-जल से चर्मण्वती वह निकली[7]। अपने विवेचन मे चर्मण्वती को स्पष्ट करने के लिए डा. गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'रन्तिदेव'[8] और चर्मण्वती के *निर्वचन ग्राह्य हैं—चर्मन्+वत्+ई*। 'चरति गच्छति येन तत् चर्म' (चर-मनिन्)[9] जिससे जाता है अर्थात् कीर्ति को प्राप्त होता है। चर्मण्वती नदी उसकी कीर्ति का परिचय देने वाली बनी, अतः यह नाम पड़ा। 'चर्म' के उक्त अर्थ की पुष्टि निरुक्त और अमरकोश की सुधा-व्याख्या से भी होती है[10]। इस अर्थ से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वस्तुतः चर्मण्वती का अर्थ 'चलने वाली' या 'बहने वाली' है, जैसा कि नदी के सरित, स्रवन्ती, निम्नगा और आपगा आदि पर्यायों के अर्थ हैं[11]। अथवा जैसे प्राणियों का शरीरावरक चर्म होता है[12], उसी प्रकार नदी का आवरक जल होता है। अतः चर्मण्वती का सामान्य अर्थ जलवती भी किया जा सकता है।

महाभारतीय उद्धरणों मे 'चर्म' या 'गोचर्म' का उल्लेख हुआ है। वसिष्ठ के *अनुसार उसका अर्थ भूमि की विशेष माप भी होता है*[13]। हाड़ौती भाषा मे 'चहाम, या 'छाम' भूमि के निश्चित परिमाण को कहते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि रन्तिदेव की यज्ञभूमि या कृषिभूमि कई चर्मों तक विस्तृत रही होगी। उसके पास बहने वाली अथवा उसका सेचन करने वाली नदी का नाम भी उसी आधार पर चर्मण्वती रख दिया गया होगा।

---

1. यथा अग्नयो मांसकामाश्च इत्यपि श्रूयते श्रुतिः। यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् बध्यन्ते सततं द्विजः—महा. वन. 208.11 इस सम्बन्ध मे 'गोघ्न' 'अतिथिग्व' और 'अघ्न्या' (जो कभी 'घ्न्या' थी) आदि शब्द भी विचारणीय हैं।
2. महा. 13 116.65-70
3. तु.-दधिदूर्वागवादीनां स्पर्शः (आलम्भनं)—नीलकण्ठ-महा. उद्योग 40.57
4. आप्टे पृ. 205-I 5. विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्—अमर. 2.7.29
6. पूर्वमेघ 49 7. मे. वं.-पृ. 13,14 8. 'रन्तिः रमणं देवानां यस्मिन्'
9. सर्वधातुभ्यो मनिन्—उ. को. 4.146 पा. 8.2.12 से नलोपाभाव और णत्व विधान निपातनात्-'चर्मण्वती' अन्यत्र 'चर्मवती'
10. चर्मचरतेर्वा-नि. 2.5 चरति चर्यते वा-म.सु. 2 8.90 11. अ सु 1.10.29,30
12. 'शरीरावरकं शस्त्रं चर्म इत्यभिधीयते' युक्तिकल्पतरु-श. क. से उद्धृत।
13. दशहस्तेन वंशेन दशवंशान् समन्ततः।
पञ्च चाभ्यधिकान् दद्यात् तद् गोचर्म चोच्यते। आप्टे. पृ. 102-II, और
[illegible] यत्र तिष्ठत्ययान्त्रितम्।
[illegible]परिकीर्तितम् ।। —पाराशरस्मृति 12.46

इसी प्रकार चर्मण्वती शब्द के विषय में अनेक अनुमान किये जा सकते हैं, किन्तु महाभारत और पुराणों में स्पष्टतः उसे (गो) चर्म से सम्बद्ध बताया गया है। शब्द में 'चर्म' शब्द की सार्थकता सिद्ध करने के लिए भी उक्त आख्यान गढ़ा हुआ हो सकता है, क्योंकि जिस प्रकार चर्मण्वती की उत्पत्ति की बात कही गई है, उस पर इस वैज्ञानिक युग में विश्वास नहीं किया जा सकता।

13. नैमिषारण्य—द्रष्टव्य 8 4

14. वारुणी—द्रष्टव्य 3.34

15 विनशन

(वि) + √नश् से— शूद्राभीरान् प्रतिद्वेषाद्यत्र नष्टा सरस्वती।
यस्मात्सा भरतश्रेष्ठ द्वेषान्नष्टा सरस्वती ॥
तस्मात्तद् ऋषयो नित्य प्राहुर्विनशनेति च[1] ॥
'ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती'[2] ॥

महाभारत के उपरिलिखित स्थलों पर विनशन तीर्थ का उल्लेख आया है और वहां सरस्वती नदी के नष्ट या लुप्त हो जाने की बात लिखी है। इससे पूर्व सर्वप्रथम पंचविंश ब्राह्मण में इसके लुप्त होने की बात लिखी है। इस प्रकार सरस्वती नदी के मौलिक अस्तित्व और विलीनत्व का पता चलता है, क्योंकि आजकल सरस्वती की सत्ता केवल ग्रन्थों में है, वस्तुतः उसके दर्शन नहीं होते इसलिए उसे त्रिवेणी[3] (प्रयाग), पुष्कर[4], कुरुक्षेत्र[5], मरुभूमि[6], आदर्श[7], जनपद, पंजाब का पटियाला जिला[8] हरियाणा आदि स्थानों में लुप्त हुई कही जाती हैं। काणे के अनुसार वैदिक काल में यह एक पुनीत एवं विशाल नदी (नदीतमा) थी और ब्राह्मण-काल में नष्ट हो चुकी थी[9]।

1. महा. 9.36 2-3
2. महा. 1.82.105
3. गगा-यमुना और अदृश्या सरस्वती का संगम।
4. वामन पु. 37.17-23
5. द्र.–ध. इ. पृ. 682; भा. पु. 1.9.1, 10.71.21; 79.23
6. द्र–पं. ब्रा. 25 10.6; जै. उप. 4.26
7. काशिका 4.2.124 के आधार पर वा.श. अग्रवाल का मत–पा. का.भा पृ. 43
8. वै. इ. भाग 2 पृ 336
9. ध.इ पृ. 557 उल्लेख्य है कि सरस्वती की पुरातात्त्विक खोज सी एम. ओल्डहाम, डी एम. वाडिया, एस. एम. वली, गुरुदेवसिंह और वर्तमान में डा. वाकणकर आदि ने की है। तदनुसार सरस्वती के साथ दृषद्वती और आपया (शायद घग्घर और मारकण्डा नदी) और वर्तमान में अंबाला जिले की पहाड़ी तराई से कुरुक्षेत्र तक एक छोटी सी सरस्वती नाम की धारा है। महाभारतादि ग्रन्थों में सरस्वती के विनशन स्थान पर लुप्त होने और प्लक्ष प्रास्रवण स्थान पर पुनः प्रकट होने के बारे में उल्लेख है। डा. वाकणकर के अनुसार लगभग 32 स्थानों पर सरस्वती के लुप्त होने और विनशन तीर्थों का उल्लेख मिलता है, सरस्वती का अर्थ है 'जलप्रवाह'। यही अवेस्ता की हरह्वती प्रतीत होती है। सिन्धु सभ्यता के क्षेत्र हड़प्पा-मोहनजोदड़ो और सांप्रतिक खोजों की जानकारी के अनुसार काली बंगा, पीली बंगा, विजडामर, लोग्रवा आदि राजस्थान, पंजाब हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अनेक स्थल सरस्वती के क्षेत्र माने जा सकते है। द्र–जनसत्ता, 19 जनवरी 1986

'विनशन' शब्द के उपरिलिखित निर्वचन और उसकी व्युत्पत्ति (विनश्यति अन्तर्दधाति सरस्वत्यत्र) वि+नश्—ल्युट् से यह ज्ञान होता है कि सरस्वती नदी का लोप कभी हुआ और वह स्थान पवित्र तीर्थ के रूप मे विख्यात हुआ।

16 सरयू

सरस्+√यु से— 'तस्मात् सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते।
सरः प्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता[1]॥

सरस् (सृ)+√यु से—'कैलासप्रस्थितां चैव नदी गंगा महातपाः।
आनयत् यत् सरो दिव्यं तया भिन्न च तत्सरः॥
सरो भिन्नं तया नद्या सरयूः सा ततोऽभवत्[2]॥

विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम ने जिज्ञासा प्रकट की कि यह तुमुल ध्वनि क्यो उठ रही है। विश्वामित्र ने बताया कि यह सरयू नदी का शब्द है और यह कैलाश पर्वत पर ब्रह्म-मनस् से निर्मित मानस सर[3] से निकली है।

महाभारत में सरयू के उद्गम को एक आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार एक बार देवताओं ने मानसरोवर के पास यज्ञ किया। वहा खली नामक दानवों के उपद्रव को इन्द्रादि देव भी न दबा सके, क्योंकि दानवों को ब्रह्मा का वरदान प्राप्त था कि सरोवर मे स्नान करके वे नया जीवन प्राप्त कर सकते थे। अन्ततः देवताओ की प्रार्थना पर वसिष्ठ ने अपने तेज से दानवो को मार दिया। साथ ही कैलाश की ओर प्रस्थित हुई गंगा को उस सरोवर मे ले आए। गंगा ने मानसरोवर का बांध तोड दिया और उससे जो स्रोत निकला, उसे 'सरयू' कहा जाता है[4]। भौगोलिक तथ्य यह है कि मानसरोवर से कोई नदी नही निकलती। हां, उसके पास सिन्धु, गंगा और घाघरा (सरयू की मुख्य धारा) नदियों के उद्गम स्थल हैं।

मत्स्य पुराण में वैद्युत पर्वत की तलहटी में मानस को और उससे सरयू को निकला बताया गया है,[5] किन्तु यहां निर्वचन का संकेत नही है। रघुवंश में इसे ब्रह्मसरः से निकली बताया गया है[6], जो मानस का ही अपर नाम है। रामायणीय उद्धरण में भी इसका उल्लेख हुआ है।

प्रथम उद्धरण में 'सरयू' को सरस् पूर्वक√यु (मिश्रणामिश्रणयोः) से निष्पन्न बताया गया प्रतीत होता है, क्योंकि मानसरोवर मे यह नदी मिली हुई थी। √यु बन्धनार्थक भी है[7]। अतः यह भी कहा जा सकता है कि यह नदी सरोवर मे

---

1. वा. रा. बाल 24.9 2. महा. गी. प्रे. अनु. 155.23,24
3. वा. रा. बाल 24.8
4. कालिका पुराण में वसिष्ठ-अरुन्धती के विवाहगत आनन्द का उल्लेख करके मानस पर्वत पर गिरे शान्ति जल से सरयू को उद्भूत बताया है। द्र.–श. क. में का. पु. अ. 23 का उद्धरण।
5. म. पु. 121.16.17, तु.-ब्र. पु. 2.18.15
6 रघु. 13.6 7. द्र.–धा. क. पृ. 549

बद्ध थी। यह उद्धरण के 'सर: प्रवृत्ता' पद से भी स्पष्ट होता है। वहीं से च्युत होने पर यह नदी प्रवाहित हुई बताई गई है।

द्वितीय उद्धरण मे √यु के दोनो अर्थ (मिश्रण और अमिश्रण) ग्रहण किये गए हैं। गंगाजल का मिश्रण और सरोवर के जल का नदी रूप मे बहि: निस्सरण ही अमिश्रण है। दोनों ही स्थलों पर 'सरस्' की 'स' का लोप और 'यु' का दीर्घत्व अपेक्षित है अथवा शब्द-निर्माण मे अदन्त 'सर' शब्द को स्वीकार किया जा सकता है, जिसका पुल्लिग रूप प्रपातवाची है और नपुंसकलिंग रूप जल, झील या सरोवर का वाचक है[1]। ऋग्वेद मे उकारान्त 'सरयु' का उल्लेख हुआ है[2]। यद्यपि इसकी स्थिति पर विद्वानों मे मतभेद है[3], पर अब अधिक विद्वान् वर्तमान 'सरयू' से ही इसे सम्बद्ध करते हैं। प्रतीत होता है कि इसका पूर्व नाम 'सरयु' था और बाद में 'सरयू' हो गया।

व्याकरण मे सरयु या सरयू को √सृ (गतौ) से 'अयु' या पाठभेद से 'अयू' से सिद्ध किया गया है[4]—'य: सरति यत्र जलानि वा सरन्ति स सरयु:'। प्रक्रिया सर्वस्व के उणादि प्रकरण मे 'अयू' प्रत्यय का ही विधान किया गया है[5], किन्तु वृत्ति मे 'सरयु' में ऊङ् प्रत्यय करके[6] 'सरयू' बनाया गया है। सरस् शब्द स्वयं भी √सृ +असुन् से सिद्ध होता है[7]—'सरन्ति गच्छन्ति आपो यत्र'।

इस प्रकार सरयू नदी के उद्गम के लिए निर्वचन का आश्रय लेते हुए अर्थ-व्याख्या की। पौराणिकी प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है, जो रामायण के बाद उत्तरोत्तर विभिन्न-कथागत रूढियों से युक्त होता गया। यद्यपि भौगोलिकी दृष्टि भिन्न है, पर आंशिक साम्य दृष्टिगत होता है, जैसे वर्तमान मे सरयू घाघरा-गंगा की सहायक नदी है, जबकि महाभारत मे गंगा को मानसरोवर मे मिलाकर उससे सरयू का उद्गम बताया गया है। इसी प्रकार गंगा व घाघरा मानसरोवर के निकट उद्भूत होती हैं, पर यहां उन्हें मानसरोवर से सम्बद्ध कर दिया गया है।

वनस्पति वर्ग

17. अङ्गारपर्ण

द्रष्टव्य–4.7

18. कोविदार

कोऽपि+दारु से— कोऽप्ययं दारुरित्याहुरजानन्तो यतो जनाः।
कोविदार इति ख्यातस्तत. स महातरु.[8] ॥

1. आप्टे–पृ. 592-II
2. ऋक् 4.20.18, 10.64.9, 5 53 9
3. द्र.–वै. इ., पृ. 480
4. सरतेरयु:–उ. को. 3 22; अयू प्रत्यय इति पाठान्तरम्–सरयू:।
5. सर्तेरयू:-3.22; वृत्तौ सर्तेरयु: इत्युदन्तमुक्त्वा सरयु: इत्युदाहृत्य 'अप्राणिजाते.' 'इत्यूङि सरयू' इत्युक्तम्।
6. अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्–द्र.–पा. 4.1.66 पर वार्तिक।
7. सर्वधातुभ्योऽसुन्–उ. को.' 4.190
8. हरि. 2.67.71

हरिवंश पुराण में पारिजातोत्पत्ति के प्रसंग में कोविदार, पारिजात और मन्दार के निर्वचन दिये गए हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इन्हें पर्यायत्वेन देववृक्ष कल्पवृक्ष के लिए प्रयुक्त किया गया है, परन्तु अमरकोश में कल्पवृक्ष के पांच नामों में कोविदार पठित नहीं है[1]। वहीं अन्यत्र 'कोविदार' का पर्याय 'कुद्दाल' देकर उसे टीका में 'कचनार' (बोहुनिया वैरिगियेटा) लिखा गया है[2]।

उपरिलिखित उद्धरण में 'कोऽपि' और 'दारु' इन दो शब्दों से इसे निरुक्त किया गया है अर्थात् एक वृक्ष विशेष को देखकर लोग उसे पहचान न सके और यही कह सके कि यह कोई अनिश्चित लकड़ी (वृक्ष) है। उस कथन के आधार पर ही उसका नाम पहले 'कोऽपिदारु' हुआ और फिर मुख-सुख-वश उसमें 'प' के स्थान पर 'व' और अन्तिम उकार को अकार हो जाने से 'कोविदार' कहा जाने लगा। प्रारम्भ में नाम पड़ने के अनेक कारणों में एक यह भी था कि अज्ञानता और अनिश्चितता की स्थिति का द्योतक नाम चलने लगता था[3]। ऐसा प्रत्येक भाषा में हुआ है। अंग्रेजी में 'एक्सरे' या क्षकिरण का नाम ऐसा ही है।

व्याकरण को उक्त पौराणिक निर्वचन स्वीकार नहीं। उसके अनुसार यह शब्द कु+ (वि)√दृ में अण् प्रत्यय[4] लगकर पृषोदरादिवत्[5] सिद्ध होता है। 'कुं भुवं विदृणाति विदारयति-भूमिं विदार्योद्भवति' अर्थात् जो भूमि को विदीर्ण करके उत्पन्न होता है। यों तो सभी उद्भिज्ज प्रायः भूमि का विदारण करके ही उत्पन्न होते हैं, पर इस शब्द में तत्सम्बद्ध रूढिता आ गई है। कोविदार के अपर पर्याय 'कुद्दाल'[6] में भी यही स्थिति दृष्टिगत होती है—'कमुद्दालयति'। यह भी प्रतीत होता है कि इस वृक्ष के उत्पत्तिकाल में भूमि विदारण सम्बन्धी कुछ वैशिष्ट्य रहता होगा। ऐसे ही कतिपय शब्दों द्वारा भारतीय वानस्पतिक ज्ञान पर भी प्रकाश पड़ता है।

कालिदास ने ऋतुसंहार में इस शब्द का आलंकारिक निर्वचन प्रस्तुत किया है—'चित्तं विदारयति कस्य न कोविदार.[7]' यहां इसे किम्+(वि)√दृ से निष्पन्न माना गया है। इसके प्रकार, स्वरूप, सौन्दर्य और वैशिष्ट्य पर श्री आर. एस. पंडित ने अच्छा विचार किया है[8]।

19. नैमिषारण्य

द्रष्टव्य–8.4

20. पारिजात

परि (पारि)+√जनी (जात) से—

'पारिजातो विष्णुपद्याः परिजातेति शब्दितः[9]।

1. अमर. 1.1.50 2. अमर. 2.4.22 3. द्र.-आस्तीक (नि.को. 54)
4. कर्मण्यण् पा. 3.2.1 5. पा. 6.3.109
6. कोविदारे चमरिकः कुद्दालो युगपत्रकः—अमर 2.4.22 √दल (विदारणे) कर्मण्यण्—पा. 3 2.1; शकन्ध्वादिः-वा. 6.1.94
7. ऋ. सं. 3.6 8. ऋतुसंहार-आर. एस. पण्डित-पृ. 83, 9. हरि. 2.67.70

पारिजातोत्पत्ति के सन्दर्भ मे हरिवंश मे कल्पवृक्ष के पर्याय पारिजात का निर्वचन दिया गया है। इसे विष्णुपदी (गंगा) के परि (ऊपर) जात (उत्पन्न) बताया गया है—(विष्णुपद्याः गंगायाः पारे उपरि जात इति स्वार्थे अण्)। कल्पवृक्ष की सत्ता स्वर्गलोक में मानी गई है, अतः उसे यहां स्वर्मन्दाकिनी के ऊपर उत्पन्न बताया गया है।

व्याकरण मे इस पद की व्याख्या अन्य विग्रह देकर की गई है—'पारमस्यास्तीति पारी समुद्रस्तस्माज् जातः[1]'। कुछ के अनुसार 'पारिणोऽद्रेर्जातः' भी है[2]।

इस सबसे यह प्रकट होता है कि पारिजात के सम्बन्ध मे वैमत्य रहा है, विशेषतः उसकी उत्पत्ति और पहचान के विषय मे। अमरकोश के पारिजात और उसके पर्याय मन्दार दोनों को निम्बतरु के पर्यायों मे भी गिना गया है। भावप्रकाश आदि आयुर्विज्ञान के ग्रन्थों में निम्ब के जो गुण और लाभादि बताए गए हैं, उससे वह मानवता के लिए वरदान प्रतीत होता है[3]।

जन्तुवर्ग

21. अरिष्ट

द्रष्टव्य–4.12

22. गरुड.

गुरु+√डी से— 'गुरु भारं समासाद्योड्डीन एव विहंगमः।
गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्तमात्पन्नगभोजनः[4]॥

भारतीय साहित्य में पक्षिराट् गरुड एक विशालकाय पक्षी के रूप में चित्रित है। यह विष्णु का वाहन माना जाता है[5] और अनेक महत्कार्यों के लिए प्रसिद्ध है[6]। महाभारतीय आख्यान में उसकी अलौकिक शक्ति का परिचय मिलता है। माता विनता को कद्रू के दासीत्व से छुड़ाने के लिए वह अमृत हेतु स्वर्गलोक जाता है। बुभुक्षा-शान्ति के लिए माता द्वारा निर्दिष्ट निषाद-भक्षण से जब तृप्ति न हुई, तो मार्ग मे मिले पिता कश्यप से उसने भोजन-व्यवस्था के लिए निवेदन किया, तो उन्होंने एक सरोवर में कच्छप और गजभाव से विद्यमान विभावसु और सुप्रतीक के भक्षण का आदेश दिया। अब एक नख मे कच्छप और दूसरे मे गज को पकड़े गरुड उड़ चले। रोहिण महावृक्ष पर विश्राम करना चाहा, तो पादस्पर्श से एक शाखा टूट गई, उसमें तपस्यारत लटकते बालखिल्य ऋषियों के भय से शाखा को चोंच मे दबाकर

---

1. तत्रैव पृ 32। श. क. मे उद्धृत इन वचनों से इस निर्वचन को और स्पष्ट किया गया है-'पारे जातो विष्णुपद्याः पारिजातेति शब्दितः—इत्यागम', 'पारि पार प्राप्त जात जन्म यस्य'—इति हड्डचन्द्रः।
2. *समुद्र-मन्थन से उत्पन्न चतुर्दश रत्नों मे पारिजात भी एक है। भा. पु 8 8 6*
3. विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य-'मृत्युलोक का कल्पवृक्ष' डा. शिवसागर त्रिपाठी 'सुधाबिन्दु' 12.8 सन् 1973
4. महा. 1.26.3-पा. ऋक् 243 अथवा. महा. चि. 1.30 7
5. भा पु. 6.6.22 आदि। 6. तत्रैव 10.59 7-10, 18; म. पु 122 15

उड़ते रहे, क्योंकि वह महान् (गुरु) भार लेकर उड़े थे (√डीङ्) अतः उनका नाम गरुड पड़ा।

टीकाकार, नीलकण्ठ ने व्याकरण पुष्ट विग्रह देकर इसे स्पष्ट कर दिया है- 'गुरु शब्दपूर्वाड्√डीङ् विहायतसा गतौ अस्माड्डः, आदेरकारश्च पृषोदरादित्वात्'[1] कोशों मे इस शब्द की व्याकरण की दृष्टि से अन्य व्युत्पत्तियां भी प्राप्त होती हैं। पक्षवाची 'गरुत्' पूर्वपद से उक्त धातु और प्रत्ययों से भी तलोप के लिए पृषोदरादि का आश्रय लेकर सिद्ध किया गया है—'गरुद्‌भ्यां पक्षाभ्यां डयते उड्डयते'[2]। यहाँ उसकी उड्डयन-क्रिया का आधार लिया गया है। उणादि प्रकरण में √गृ (निगरणे) +उडच् से भी सिद्ध किया गया है[3]। इसमे निगरण का भाव प्रधान है। उपरिप्रदत्त महाभारतीय आख्यान से भी गरुड़ के इस गुण की पुष्टि होती है, क्योंकि वह निषाद-भक्षण से सन्तुष्ट न होकर कच्छप-गजादि का भी भक्षण करता था। साथ ही उसे उद्धरण मे 'पन्नगभोजनः' भी कहा गया है[4], जिससे यह भी प्रकट होता है कि महाभारतकार को यह निर्वचन भी अभीष्ट था। फिर पक्षवाची 'गरुत्' शब्द स्वयं √गृ +उत् से निष्पन्न होता है[5], जिससे लघुकाय जीवों और वाय्वादि के निगरण की कल्पना की जा सकती है। यहां √गृ (शब्दे) की भी सत्ता स्वीकार की गई है[6], क्योंकि उड्डयन-काल मे शब्द भी होता है।

इस प्रकार 'गरुड' शब्द के निर्वचन मे पूर्वपद मे मतभेद है। उत्तर-पद मे √डीङ् को सभी ने स्वीकार किया है। महाभारत का आर्षी निर्वचन व्याकरण से भिन्न है।

23. सर्वसहा

सर्व+सह से— 'भूयश्च या विष्णुपदे स्थिता या विभावसोश्चापि पथे स्थिता या।
देवाश्च सर्वे सह नारदेन प्रकुर्वते सर्वसहेति नाम[7]॥

महाभारत मे गो-वन्दना के एक सन्दर्भ मे 'गो' का एक नाम 'सर्वसहा' उपलब्ध होता है। इसका निर्वचन देते हुए कहा गया है कि गौ (कामधेनु) के महत्व वर्णन मे नारद के साथ (सह) सभी (सर्वे) देवताओं ने उसका यह नाम रखा था। इस प्रकार 'सर्व' और 'सह' शब्दों को समस्त कर यह शब्द बनाया गया है। यह परम्परा से हटकर आर्षी निर्वचन है। व्याकरण में इस प्रकार 'सह' का प्रयोग प्रायः दृष्टिगत नहीं होता।

---

1. महा. चि. 1130.7 पा. टि. पृ. 77
2. श. क., तु-गरुड्भिर्डयते-अ. सु. 1.1.29
3. गिरः उडच्–उ. को. 4.157
4. तु-म. पृ. 193.70
5. गिरति निगलतीति गरुत् पक्षी वा। 'मृग्रोरुतिः'–उ. को. 1.95
6. अ. सु. 2.5.36
7. महा. गी. प्रे. अनु 126.39

अन्तरिक्ष वर्ग

24. आदित्य

(I) अदिति से— (आदित्यानदितिर्जज्ञे[1]; अदित्यां जज्ञिरे····आदित्या[2]; अदित्यां द्वादशादित्याः[3]; अदितिः····आदित्याः[4])

(II) आ+√दा (आत्मनेपद) से—

तस्मात्तरोज आदत्तो अग्निर्वायुश्च सर्वशः
अतस्त्वं कर्मणा तेन आदित्यः समपद्यत[5] ।।

(III) आ+√दा (परस्मैपद) से—

यदाददसि जगत्सर्वं रश्मिभिः प्रदहन्निव ।
युगान्तकाले सम्प्राप्ते परां सिद्धिमुपागत.[6] ।।

माता अदिति के पुत्र देव, सूर्य (द्वादशादित्य) प्राण के लिए आदित्य शब्द[7] का प्रयोग होता है । इसका प्रथम निर्वचन महाभारत और पुराणों में प्राप्त है । यह व्याकरण पुष्ट है और तद्धित में अपत्यार्थ ण्य प्रत्यय[8] के योग से वृद्धि होकर सिद्ध होता है । यह निर्वचन वैदिक साहित्य[9] और निरुक्त[10] में निर्दिष्ट है । संहिताओं में छः[11], सात[12] और आठ[13], शतपथब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण में आठ[14] और बारह आदित्यों[15] का उल्लेख है, जबकि पुराणों में द्वादशादित्य है[16], उनके नामों में भेद अवश्य है[17] । वैदिक साहित्य में यह एक संघदेवता के रूप में आया है और वही परम्परा आगे तक सुरक्षित है । यहां इसीलिए यह बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है । इन द्वादश आदित्यों का बारहों मासों में एक-एक करके उदय होता है[18] । बृहदारण्यक

---

1. महा. 12.200.26
2. हरि. 3.14.57
3. महा. गी. प्रे. शान्ति 339.81
4. वा. रा. अरण्य 14.14
5. हरि. 3.26.36
6. तत्रैव 3.26.37
7. कू. पु. पू. 20 1; लि. पु. पू 65.2
8. पा. 4.1.85
9. ऋक् 1.19.19; 10.72.5; तै. सं. 2.2.6.1, तै ब्रा. 1.5.10, 1.6.10, 1.1.9, श. ब्रा. 3.1.3.3; गो. ब्रा. 1.1.15
10. नि. 2.13.1
11. ऋक् 2.27.1
12. ऋक् 9.114.3, 10.72.8,9
13. ऋक् 10.72.8, 9; अथर्व 8.9.21
14. श. ब्रा. 3.1.3.3 तै. ब्रा. 1.1 9.1
15. तत्रैव 6.1.2.8
16. हरि. 1.9.47-48 द्र.-प्राहुर्द्वादशधा–प्रभि. शा. 7.27
17. वि पु. 1.15.131-133; हरि. 3.14.57-58 भा पु. 12.11 ब्र.पु. 2.24.33
18. अरुणो माघमासे तु सूर्यो वै फाल्गुने तथा ।
    चैत्रमासे तु वेदांगो भानुर्वैशाखतापनः ।।
    ज्येष्ठमासे तपेदिन्द्रः आषाढे तपते रविः ।
    गभस्तिः श्रावणे मासे यमो भाद्रपदे तथा ।।
    इषे सुवर्णरेताश्च कार्तिके च दिवाकरः ।
    मार्गशीर्षे तपन्मित्रः पौषे विष्णुः सनातनः ।।
    पुरुषस्त्वधिके मासे मासाधिक्येषु कल्पयेत् ।
    इति ते द्वादशादित्याः काश्यपेयाः प्रकीर्तिताः ।।

उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण में तो आदित्य का निर्वचन देते हुए उनका द्वादश आदित्यों से सम्बन्ध बताया गया है[1]। शब्द-कल्पद्रुम के उद्धृतांश के अनुसार कल्पान्तर में आदित्य-पत्नी त्वष्ट्रकन्या संज्ञा आदित्य के तेज को न सहन कर सकी। अतः उसके पिता के द्वारा किये गए द्वादश खण्ड ही द्वादशादित्य हैं[2]। इसके अनुसार 'आदित्य' आदित्य-पुत्र भी हैं। इसीलिए पाणिनि ने अपने सूत्र में अदिति और आदित्य दोनों शब्दों से ण्य प्रत्यय का विधान किया था।

द्वितीय और तृतीय निर्वचन मे एक ही उपसर्ग और धातु का प्रयोग आत्मनेपद और परस्मैपद मे किया गया है अर्थात् अग्नि और वायु सूर्य से तेज ग्रहण करते हैं (आदत्ते) और स्वयं सूर्य प्रलयकाल मे किरणों से समस्त संसार को आत्मसात् कर लेता है (आदत्ति)। तृतीय निर्वचन मे आदाता के स्वागामि-फल के अभाव मे परस्मैपद का प्रयोग किया गया है। जैसा कि टीकाकार नीलकण्ठ ने निर्दिष्ट किया है।[3]

वैदिक साहित्य में इन दोनों निर्वचनों के अतिरिक्त अन्य निर्वचन भी प्राप्त होते हैं—(1) आ + √दीङ्[4] (2) आ + √दी[5] (3) आ + √दीप्[6] (4) √अद्[7] (5) इदम् + √दद् (√दा)[8] (6) √दा (बांधना)[9] (7) √दी (चमकना)[10]। इनमें से प्रथम तीन आदित्य से सीधे सम्बद्ध हैं। चतुर्थ और पंचम 'अदिति' के माध्यम से अनुमित हैं। इसी प्रकार षष्ठ और सप्तम 'दिति' के माध्यम से अनुमित हैं तथा ये व्याख्याकारों के द्वारा निर्दिष्ट हैं।

पुराणसाहित्य भी महाभारतीय अन्तिम दो निर्वचनों को स्वीकार करता हैं, पर वहां 'आदान' का अर्थ ग्रहण और विनाश दोनों लिये गए प्रतीत होते हैं, क्योंकि वहां दिव्य पार्थिव और नैश अन्धकार के आदान (विनाश) और इनके तेज के आदान (ग्रहण) का उल्लेख है।[11] अन्यत्र[12] आदान-क्रिया का तात्पर्य जलादि-ग्रहण और उसे बिखेरना बताया गया है। निरुक्त के प्रथम निर्वचन 'आदत्ते रसान्' मे भी यही भाव प्रकट होता है।[13] कहीं-कहीं 'आदित्य' का सम्बन्ध 'आदि' शब्द से भी दिखाया गया है, अर्थात् जो सभी ग्रहों मे प्रथम है[14], अथवा जो आदिभूत है।[15]

---

1. बृह. उप. 3.9.5; श. ब्रा. 14.6.9.4
2. श. क.
3. हरि. 3.26 36–37-पा. टि. पृ. 544
4. कपि. कठ 6.7
5. तत्रैव। द्र.-वै. दे. (सूर्यकान्त) पृ. 320
6. ऐ. ब्रा. 13.10; 3.34; तु.-नि. 2.13
7. 'सर्वं' वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्-श. ब्रा. 10.6.5.5; तु.-बृह. उप. 1.2.5.
8. श.ब्रा. 7.4.2.7
9. द्र.-वै. दे.-पृ. 320
10. द्र.-वै. एटी-पृ. 41
11. वा. पु पू. 53.53; लि पु. पू. 61.3; तु.-सा. पु. 8.16
12. वा. पु. पू. 12.35
13. नि. 2.13
14. लि. पु. पू. 61-50; ब्र. पु. 24.139 आदि।
15. सर्वग्रहाणामेतेषां आदिरादित्य उच्यते—ब्रह्माण्ड पु. 24.139; म. पु. 3.31

शब्दकल्पद्रुम के अनुसार महाभारत में सूर्य के नामाष्टशत-परिगणन में 'आदिदेव' आया है और उसे अदिति-पुत्र कहा गया है। पर निर्वचन प्राप्त नहीं होता। सूर्य-सिद्धान्त में अवश्य यह निर्वचन प्राप्त होता है 'आदित्यो ह्यादिभूतत्वात्'।[1]

व्याकरण-दृष्टि से आदित्य की कुछ अन्य व्युत्पत्तियों पर विचार किया जा सकता है। कोश-गत व्याख्या[2] 'दो+डिति (अवखण्डनार्थक) या√दो+क्तिन्, न दितिः अदितिः' के अनुसार आदित्य का अर्थ देवमाता[3] अदिति-पुत्र और पूर्णता का भाव दोनों होते हैं। द्वितीय अर्थ का भी प्रस्तुत सन्दर्भ मे औचित्य हो सकता है। आप्टे भी अदिति को अ+√दीङ्=(क्षये) नष्ट होना से व्युत्पन्न करते हैं अर्थात् जिसका विनाश नहीं होता है। उपरिनिर्दिष्ट आ+√दीप् मे यत् प्रत्यय लगाकर निपात से सिद्ध करके व्याकरण ने भी उसकी पुष्टि कर दी है।

25. मरुत्—मारुत

मा+√रुद् से— 'मा रोदीरिति तं शक्रः पुनः पुनरथाब्रवीत्।
मरुतो नाम देवास्ते बभूवुर्नरतर्षभ।
यथैवोक्तं मघवता तथैव मरुतोऽभवन्[4]॥
'मा रुदः मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत।
बिभेद च महातेजा रुदन्तमपि वासवः[5]॥
वातस्कन्धा इमे सप्त चरन्तु दिवि पुत्रक।
मारुता इति विख्याता दिव्यरूपा ममात्मजः[6]॥
स्वस्कृतेनैव नाम्ना वै मारुता इति विश्रुता[7]॥

समुद्र-मन्थन के समय अमृत को लेकर परस्पर विरोधी वृत्तियों वाले देव और दानवों में स्पष्ट विरोध उत्पन्न हो गया। पराजय और विनाश से भयग्रस्त तथा अपने पुत्र वृत्रासुर के वध से दुःखित दिति ने पुंसवन व्रत धारण करके कश्यप से इन्द्र का वध करने वाले पुत्र की प्राप्ति का वरदान प्राप्त किया। कश्यप ने उसे वर प्रदान किया, पर पुत्रोत्पत्ति तक पवित्रता से रहने के लिए कहा। इधर इन्द्र प्रति-शोध की भावना से अवसर खोजने लगा। एक दिन अपवित्रता की स्थिति में इन्द्र ने कुक्षि में घुसकर गर्भ के सात टुकड़े किये। उनके रोने पर वह 'मा रोदीः' (मत रोओ) कहता जाता था। फिर भी उन सातों के जीवित रहने पर प्रत्येक के सात-सात टुकड़े कर डाले। इस प्रकार वे उनचास हो गए, पर सभी जीवित रहे। यहां 'मरुत्' का निर्वचन मा पूर्वक√रुद् से बताया गया है। शब्द-सिद्धि के लिए आदि स्वर का ह्रस्वत्व अपेक्षित है।

---

1. सू. सि. 12.35
2. श. क., अ. सु.
3. अदितिः अदीना देवमाता-नि. 4.22
4. हरि. 1.3.135-136
5. वा०रा० बाल 46.20
6. तत्रैव 47.4
7. तत्रैव 47.7

वाल्मीकीय रामायण मे किंचिद् भेद के साथ यही कथा प्राप्त होती है। वहां गर्भावस्था में कुशप्लव नामक स्थान में तपस्या करती हुई दिति को इन्द्र ने परिचर्या से प्रसन्न किया। दिति ने आश्वस्त किया कि अब मैं ऐसा करूंगी कि यह पुत्र आप से प्रेम करे। फिर भी इन्द्र ने अवसर पाकर उक्त प्रकार से गर्भ के सात और फिर एक एक के सात-सात टुकड़े कर डाले। यहां महाभारत की अपेक्षा इन्द्र में भय, प्रतिशोध, छल और नृशंसता का मात्राधिक्य दृष्टिगत होता है। निर्वचन की दृष्टि से वैशिष्ट्य यह है कि उद्धरण मे लुङ् लकार (मा रुदः) का प्रयोग किया गया है, जब कि महाभारत मे लङ् का। दूसरे यहां मरुत् की अपेक्षा मारुत शब्द निरुक्त किया गया है अतः आदि स्वर का दीर्घत्व यथावत् बना रहा।

इसी प्रकार उक्त निर्वचन परक आख्यान अन्य पुराणों में भी प्राप्त होता है[1]। प्राय: 'मा रोदी' उपवाक्य का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं इसके विकल्प-रूप भी दृष्टिगत होते हैं[2]। इस प्रकार पौराणिक सन्दर्भों मे मा + √रुद् को ही स्वीकार किया गया है।

निरुक्तकार की दृष्टि भिन्न है—'मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा'[3] के द्वारा वह मा√ + रु√ + मा + √रुच् और महत् + √द्रु से मरुत् शब्द का निर्वचन करते हैं, अर्थात् जो मन्द या महान् शब्द करते हैं जो थोड़े या बहुत रुचिमान्—शोभावान्[4] हैं। वैकल्पिक अर्थ अकार की सन्धि पर आधारित है और यह कुछ लोगो का विचार है, जैसा कि टीकाकार दुर्ग ने निर्दिष्ट किया है[5]।

व्याकरणगत व्युत्पत्ति उपरिव्याख्यात सभी से भिन्न है। वह 'मरुत्' को √मृ (प्राणत्यागे) मे उत् प्रत्यय लगाकर सिद्ध करता है[6] 'म्रियते मारयति वा'[7] म्रियन्तेऽनेन वृद्धेन विना वा' अर्थात् जिसके आधिक्य से अथवा जिसके विना प्राणी मर जाते हैं। जीवन रक्षा के लिए मरुत् (वायु) की अनिवार्यता सर्वज्ञात है। आंधी, तूफान और वात्याचक्रो से होने वाली विनाश-लीला से भी सब सुपरिचित हैं[8]। मरुत् एक वैदिककालीन देव है और बहुवचन मे गण के रूप में इनका उल्लेख आता है। मैक्डानल ने वैदिक वर्णनों के आधार पर इसे तूफान का देवता माना है[9]।

---

1. वि पु. I 21.41; म पु. 7.62; ब्रह्म पु 3.27 ब्रह्माण्ड पु. 3.5.70; भा. पु. 6.18.62
2. मा रुद', मा रुदत, मा रोदिपत, मा रोदः आदि।
3. नि. 11.13
4. √रुच् का सकेत हरिवंश के उद्धरण के संदर्भ में भी प्राप्त होता है–रोचयन् वै गणश्रेष्ठं देवानाममितौजसाम् हरि. 1.3.129,137।
5. द्र.–नि दु 11.13 पृ. 780 6. मृग्रोरुतिः–उ. को 194 द्र.श.क.।
7. तु –मरुत् निर्ऋति (पाप) या अनावृष्टि आदि विपत्तियो के हनन करने वाले हैं- ऋक् I 38.6
8. तु.-पृथ्वी मरुतों के भय से कापती है-ऋक् 1.37.8
9. वै.दे.-पृ. 203

मरुतों के जन्म के विषय मे पुराणो में जो उनका मानवीकरण किया गया है, वह वैदिक साहित्य मे प्राप्त नही होता। वहां उन्हे रुद्र का पुत्र[1] 'पृश्निमातर:[2] 'गोमातर:[3]' 'सिन्धुमातर:[4]', स्वयंगत[5] आदि कहा गया है। सख्याविषयक कुछ उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं, जिनमे साम्य-वैषम्य दृष्टिगत होता है। उन्हे सप्त[6] (7) त्रिसप्त[7] (21), सप्त सप्त[8] (49) अनेक[9] आदि बताया गया है। इस प्रकार मरुतो की सख्या सात-सात के गुणकों मे स्वीकार की गई है। उपरिलिखित आख्यानों में भी यही स्थिति है। तृतीय उद्धरण में सप्त वातस्कन्धों का उल्लेख है, जो आवह, प्रवह, संवह, उद्वह, विवह, परिवह और परावह के नाम से विख्यात हैं और जिनका विवेचन अनेकत्र प्राप्त होता है।[10]

इस प्रकार मरुत् को ऋग्वेद मे अन्तरिक्ष-देवरूप में उच्च स्थान प्राप्त है, किन्तु यहां इसका निर्वचन अनिश्चित है। प्रो. मैक्डानल ने लिखा है कि इसकी व्युत्पत्ति√मा धातु से प्रतीत होती है, किन्तु यहां यह मरणार्थक अथवा दमनार्थक या रोचनार्थक है—इसका निर्णय करना कठिन है। कुछ भी हो, इनमें से 'रोचन' अर्थ ही ऋग्वेद में मरुतो के वर्णन के साथ सबसे अधिक संगत बैठता है[11]। पुराणगत निर्वचन में, निरुक्त में निर्दिष्ट धातुओं को, सीधे स्वीकार नही किया गया है। वहां 'मा' को अस्वीकारात्मक अव्यय मानते हुए एक नई धातु √रुद् (अश्रु विमोचने) की कल्पना करके आख्यानपरक निर्वचन प्रस्तुत किया गया है, जो पौराणिक प्रवृत्ति का द्योतक है।

26. मार्तण्ड—

मृत+अण्ड से—'न खल्वयं मृतोऽण्डस्य इति स्नेहादभाषत।
अज्ञानात्कश्यपस्तस्मान्मार्तण्ड इति चोच्यते'[12]॥
अथ भिक्षाप्रत्याख्यानरुपितेन बुधेन ब्रह्मभूतेन विवस्वतः
द्वितीये जन्मन्यण्डसंज्ञितस्याण्डं मारितमदित्याः।
स मार्तण्डो विवस्वानभवच्छ्राद्धदेवः[13]॥

सूर्य के पर्यायों मे 'मार्तण्ड' शब्द भी पठित है।[14] पौराणिकी आख्या में यह अदिति के पुत्र हैं। हरिवंश के अनुसार सूर्य जब अदिति के गर्भ मे थे, तो बुध भिक्षा मांगने आए। गर्भभार के कारण अदिति शीघ्र भिक्षा न दे सकी, अतः बुध ने गर्भ

1. ऋक् 1-85.1 तु 2.34.10
2. ऋक् 1.23.10,5.52.16 तु.-तै.सं.2.2.11
3. ऋक् 1.85.3
4. ऋक् 10.78.6
5. ऋक् 1.168.2
6. ऋक् 1.85.1,6 सप्त गणा वै मरुत:-तै.ब्रा. 1.62.3
7. ऋक् 1.133.6
8. श.ब्रा. 9.3.1.25
9. सगणो मरुद्भिः-यजु: 7.37
10. महा. 12.315
11. वै. दे.-पृ 204
12. हरि० 1.9.5
13. महा० 12.329.44 (महा० चि० 12 342.56)।
14. अमर० 1.3.28-30।

के मृत होने का शाप दे दिया। यह जानकर कश्यप ने यद्यपि अपनी सामर्थ्य से ब्रह्म-शाप निरस्त कर व्याकुल अदिति से कहा कि वस्तुतः यह मृत नहीं है, अण्डे के भीतर वर्तमान है, तथापि अदिति के इस विपरीत ज्ञान 'मेरा अण्ड मृत हो गया है' के कारण 'मार्तण्ड' नाम पड गया। शान्तिपर्व में भी इस आख्यान और निर्वचन को दिया गया है, किन्तु वहां भिक्षा न देने का कारण तैयार रसोई का उपभोग प्रथमतः देवों द्वारा किया जाना बताया गया है, जिन्हें असुरों पर विजय प्राप्त करनी थी। यहां मार्तण्ड के नामकरण का आधार यह बताया गया है कि अण्ड नामधारी विवस्वान् के दूसरे जन्म मे अदिति के अण्ड को मार दिया था। इस मृत अण्ड से प्रकट होने के कारण श्राद्धदेव संज्ञक विवस्वान् मार्तण्ड हुए।

दोनों ही आख्यानों मे निर्वचन का प्रकार समान है। द्वितीय में केवल √मृ को णिजन्त कर दिया गया है। इसी प्रकार अन्य पुराणों मे यद्यपि कश्यप, अदिति, सूर्य इन तीन पात्रों के माध्यम से आख्यान-भेद है, किन्तु निर्वचन का प्रकार पूर्ववत् है। अर्थात् वायुपुराण[1], मत्स्यपुराण[2], भागवतपुराण[3], आदि मे यदि मृत+अण्ड है, तो मार्कण्डेय पुराण[4] और ब्रह्माण्ड पुराण[5] आदि में √मृ का णिजन्त रूप अपनाया गया है। साम्ब पुराण में अवश्य मा+आर्त+अण्ड से निर्वचन दिया गया है—

अण्डे द्विधा कृते ह्यार्तं दृष्ट्वा स्नेहात्पिताऽब्रवीत्।
आर्तो मा भव देवेश मार्तण्डस्तेन स स्मृतः ॥[6]

यह नितान्त आर्थी और लोककृत निर्वचन है। जब कि महाभारत तथा पुराणो के निर्वचन व्याकरण की दृष्टि से भी स्वीकार किये जा सकते हैं—(1) 'मृतश्चासौ अण्डश्च (2) 'मृतेऽण्डे भवः'। उभयत्र अण् प्रत्यय, वृद्धि और शकन्ध्वादि[7] से पररूप होकर मार्ताण्ड' शब्द बनता है।[8] ऋग्वेद मे 'मार्ताण्ड'[9] रूप भी प्राप्त होता है, तब पररूप की अवश्यकता नहीं रहती। टीकाकार नीलकण्ठ ने मार्तण्ड की उक्त व्युत्पत्ति को ही स्वीकार किया है—'मृतमण्डमस्य, तस्माज्जातः'।

पौराणिक आख्यान से पृथक् यदि देखा जाय, तो सृष्टि उत्पत्ति के सन्दर्भ में हिरण्यमय अण्डोत्पत्ति के सन्दर्भ मिलते है। ब्रह्माण्ड में अण्ड

1. वा. पु. उ. 22.35
2. म. पु. 2.36
3. भा. पु. 5.20.44
4. मा. पु. 105.19
5. ब्र. पु. 32.40
6. साम्ब पु. 8.26
7. शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्—वार्तिक 6.1.94
8. श. क., अ. सु. पृ. 41
9. 'परा मार्ताण्डमास्यत्'—ऋक् 10.72.8
'पुनर्मार्ताण्ड' माभरत्—ऋक् 10.72.9

है और मार्तण्ड में भी। ऋग्वेद के अनुसार[1] छः आदित्यों के बाद सप्तम पूषा और अष्टम मार्तण्ड था, जिसे पृथ्वी की ओर फेंक दिया गया था। प्रतीत होता है वे छ, सात, आठ और बारह आदित्य क्रमशः बढ़ते गए, जो भूगोल-विज्ञान के अनुसार नक्षत्र हैं और ये किसी एक महासूर्य से पृथक् होकर बिखर गए होंगे। मृत्यु-लोक के निकटवर्ती सूर्य को मार्तण्ड कहा गया। दोनों शब्दों में √मृ धातु और मृत् शब्द द्रष्टव्य है। डा० मृदुला गुप्ता ने मार्तण्ड को विज्ञान का फोटोन बताया है, पर वह पदार्थ नहीं बनता, गतिशील रहता है, जो शब्द में विद्यमान 'मृत' से विपरीतार्थक प्रतीत होता है। हां √मृ को गत्यर्थक मानकर संगति बिठाई जा सकती है।

—

1. ऋक् 10.72,8,9

नवम अध्याय

सांस्कृतिक चेतना[1]

कवियों और कथकों ने विवेच्य ग्रन्थों और पुराणों का उपयोग आख्यानों, उपाख्यानों, स्तुतियों, संवादों और चर्चाओं आदि के माध्यम से वेद-रहस्य को सामान्य जनता तक पहुंचाने, उनमें सांस्कृतिक चेतना जागृत करने, ईश्वर के प्रति आस्था उत्पन्न करने, चारित्रिक उत्थान के द्वारा सामाजिक नींव दृढ़ करने के साथ ही स्वस्थ मनोरंजन करने में भी किया है। इस कार्य में उन्होंने अपने कथनों की प्रामाणिकता स्थापित करने हेतु निर्वचनों का भी आश्रय लिया है। ऐसे कतिपय निर्वचनों का अध्ययन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। जैसा आगे के निर्वचन से ज्ञात होगा कि तत्कालीन आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक और वैज्ञानिक चेतना (एवं लोक-विश्वासों) पर ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक, तथा कभी-कभी अन्य विभिन्न साधनों या स्रोतों से अप्राप्य प्रकाश प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक चेतना

देव वीरकाव्यों में उपलब्ध निर्वचनों में सर्वाधिक संख्या देवों की है, जो धर्म प्रधान देश के लिए अति स्वाभाविक है। इन देवों के निर्वचनों में वैदिकी परम्परा का भी अवलम्बन किया गया है और स्वतन्त्र-बुद्धि का भी आश्रय लिया गया है। 'एकोऽहं बहु स्याम्'[2] की चिन्ताधारा देवों के विषय में भी स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] के अनुसार यद्यपि एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति वेद में मुख्य है, पर वहां प्रकृति के नाना तत्त्व देवरूप में चर्चित हुए हैं। यह पिछली प्रवृत्ति बराबर बढ़ती गई। वेदोत्तरकालिक भारतीय देवशास्त्र में सृष्टिकर्त्ता 'ब्रह्मा', धनपति 'कुबेर,' 'सत्य' (नारायण), शक्ति स्वरूपा 'शाकम्भरी' और 'दुर्गा' आदि अनेक प्रतीकात्मक देवों और देवियों की सत्ता प्राप्त होती है। कुछ वैदिक

---

1. इस अध्याय में उदाहरणस्वरूप प्रयुक्त शब्दों अथवा पाद टिप्पणी में उल्लिखित शब्दों की तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में किये गए विवेचन की अध्याय पदसंख्या परिशिष्ट एक और दो में देखें। सुविधा के लिए यत्र तत्र पाद टिप्पणी में कतिपय शब्दों के अध्याय और विवेचित निर्वचन की संख्या अथवा निर्वचनकोश की संख्या दे दी गई है।
2. तै. ब्रह्मानन्द वल्ली 6, तु.–कौ. ब्रा. 6.10 4.17
3. ऋक् 1.164.46; द्र 12.35

देवताओं का महत्त्व बढ़ गया जैसे 'विष्णु' का सृष्टिपालक परमेश्वर के रूप में, रुद्र का सृष्टि-संहारक के रूप में और 'यम' या 'काल' का मृत्युदेव के रूप में विकास हो गया।

यहां जिन वैदिक-देवताओं की महत्ता घटी है, उनमें सर्वोल्लेखनीय है 'इन्द्र'। यह युद्ध और विजय का देवता था, पर वीरकाव्यों तक यह एक सामान्य देवता बन गया था, जिसे कभी-कभी तत्कालीन मर्त्यलोक के राजाओं से सहायता लेनी पड़ती थी। 'ककुत्स्थ' का निर्वचन और आख्यान वेद के महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली ककुद्म नृ[1] और वृषभ[2] इन्द्र को नृपविशेष का वाहन मात्र ख्यापित करता है। 'अहल्या' का आख्यान उसे विलासी और लम्पट बताता है। 'उपेन्द्र' और 'गोविन्द'[3] के निर्वचन में इन्द्र विष्णु से अवर और गोपशुओं का स्वामी हो गया है। 'मान्धाता' का निर्वचन उसे धाय घोषित करता है। 'इन्द्रजित्' पद मेघनाद दानव से उसकी पराजय प्रसिद्ध करता है।

'हरि' के निर्वचन से ज्ञात होता है कि देवता अग्नि के माध्यम से यज्ञ-भाग ग्रहण करते थे। देवताओं को 'अग्निमुख' कहा भी गया है[4]। वैदिक युग्म-देवों में से 'अश्विनौ' 'अग्नीषोम' आदि और संघ-देवों में से आदित्याः', 'मरुतः' और 'विश्वेदेवाः' आदि ही अवशिष्ट रह गए। यद्यपि स्तुतियों में तत्तद्देवताओं के स्वरूप और कार्य वर्णित हुए हैं, फिर भी साकार देवो की कल्पना बाद के साहित्य में ही सार्थक हुई है। वीरकाव्यों में दोनों ही प्रकार के देवता हैं–'अक्षर', 'अज', 'अधोक्षज', 'ब्रह्म' आदि निराकार हैं और 'कृष्ण', 'चतुर्मुख', 'विष्णु', 'हनुमान्' आदि साकार। राम' और 'कृष्ण' प्रदत्त निर्वचनों में मानव रूप में ही चित्रित हुए हैं। ये अवतारवादी धारा से प्रस्तुत नहीं हुए हैं। 'असुर', 'दानव', 'दैत्य' आदि के निर्वचनों से, सत्पक्ष और असत्पक्ष में हो रहे शाश्वत युद्धों का संकेत मिलता है[5]। वीरकाव्यों का आधार भी ऐसे ही युद्ध हैं।

'अग्नि' और उससे सम्बद्ध 'अग्निहोत्र' 'आवसथ्य' 'आहवनीय' 'औपासन' 'क्रव्याद' 'गार्हपत्य' 'गृहपति' 'जातवेदाः' 'त्रेता (।)' 'दाक्षिणात्य' 'पाञ्चजन्य' 'पावक' 'पुष्टिमति' 'भरत' आदि शब्दों तथा 'अत्रि (ऋषि) 'चर्मण्वती' (नदी) 'प्रयाग (तीर्थ) 'भृगु' (ऋषि) 'सगर' (राजा) आदि सज्ञाओं के निर्वचनो से उस काल में एक स्वस्थ यज्ञीय परम्परा का ज्ञान होता है। धीरे-धीरे यज्ञों का स्थान धार्मिक स्थानों ने ले लिया। वीरकाव्यों में निर्वचनसहित 'कपालमोचन' 'कुलम्पुन' 'श्वेतलोमापनयन' आदि अनेक तीर्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें माहात्म्य या फलश्रुति भी प्राप्त होती है। तदनुसार इससे कोटिशः यज्ञों का फल मिलता है।

1. ऋक् 10.102.7
2. ऋक् 2.12.12
3. नि. को, 166 (v)
4. अग्निमुखा वै देवताः-तां. ब्रा. 25.14.4
5. द्र.-4.13, 19, 21

नवम अध्याय

सांस्कृतिक चेतना[1]

कवियों और कथकों ने विवेच्य ग्रन्थों और पुराणों का उपयोग आख्यानों, उपाख्यानो, स्तुतियों, संवादो और चर्चाओं आदि के माध्यम से वेद-रहस्य को सामान्य जनता तक पहुंचाने, उनमें सांस्कृतिक चेतना जागृत करने, ईश्वर के प्रति आस्था उत्पन्न करने, चारित्रिक उत्थान के द्वारा सामाजिक नींव दृढ़ करने के साथ ही स्वस्थ मनोरंजन करने में भी किया है। इस कार्य में उन्होंने अपने कथनों की प्रामाणिकता स्थापित करने हेतु निर्वचनों का भी आश्रय लिया है। ऐसे कतिपय निर्वचनों का अध्ययन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। जैसा आगे के निर्वचन से ज्ञात होगा कि तत्कालीन आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक और वैज्ञानिक चेतना (एवं लोक-विश्वासों) पर ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक, तथा कभी-कभी अन्य विभिन्न साधनों या स्रोतों से अप्राप्य प्रकाश प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक चेतना

देव वीरकाव्यों में उपलब्ध निर्वचनों में सर्वाधिक संख्या देवों की है, जो धर्म प्रधान देश के लिए अति स्वाभाविक है। इन देवों के निर्वचनों में वैदिकी परम्परा का भी अवलम्बन किया गया है और स्वतन्त्र-बुद्धि का भी आश्रय लिया गया है। 'एकोऽहं बहु स्याम्'[2] की चिन्ताधारा देवो के विषय में भी स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] के अनुसार यद्यपि एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति वेद में मुख्य है, पर वहां प्रकृति के नाना तत्त्व देवरूप में चर्चित हुए हैं। यह पिछली प्रवृत्ति बराबर बढ़ती गई। वेदोत्तरकालिक भारतीय देवशास्त्र में सृष्टिकर्त्ता *'ब्रह्मा', धनपति 'कुबेर,' 'सत्य' (नारायण), शक्ति स्वरूपा 'शाकम्भरी' और 'दुर्गा'* आदि अनेक प्रतीकात्मक देवों और देवियों की सत्ता प्राप्त होती है। कुछ वैदिक

---

1. इस अध्याय में उदाहरणस्वरूप प्रयुक्त शब्दों अथवा पाद टिप्पणी में उल्लिखित शब्दों की तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में किये गए विवेचन की अध्याय पदसंख्या परिशिष्ट एक और दो में देखें। सुविधा के लिए यत्र तत्र पाद टिप्पणी में कतिपय शब्दों के अध्याय और विवेचित निर्वचन की संख्या अथवा निर्वचनकोश की संख्या दे दी गई है।
2. तै. ब्रह्मानन्द वल्ली 6, तु.–कौ. ब्रा. 6.10, बृह. उप. 1.4.17
3. ऋक् 1.164.46; तु.-महा. शि. 12.351.9,10

देवताओं का महत्त्व बढ़ गया जैसे 'विष्णु' का सृष्टिपालक परमेश्वर के रूप में, रुद्र का सृष्टि-संहारक के रूप में और 'यम' या 'काल' का मृत्युदेव के रूप में विकास हो गया।

यहां जिन वैदिक-देवताओं की महत्ता घटी है, उनमें सर्वोल्लेखनीय है 'इन्द्र'। यह युद्ध और विजय का देवता था, पर वीरकाव्यों तक यह एक सामान्य देवता बन गया था, जिसे कभी-कभी तत्कालीन मर्त्यलोक के राजाओं से सहायता लेनी पड़ती थी। 'ककुत्स्थ' का निर्वचन और आख्यान वेद के महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली ककुद्म न्[1] और वृषभ[2] इन्द्र को नृपविशेष का वाहन मात्र स्थापित करता है। 'अहल्या' का आख्यान उसे विलासी और लम्पट बताता है। 'उपेन्द्र' और 'गोविन्द'[3] के निर्वचन में इन्द्र विष्णु से अवर और गोपशुओं का स्वामी हो गया है। 'मान्धाता' का निर्वचन उसे धाय घोषित करता है। 'इन्द्रजित्' पद मेघनाद दानव से उसकी पराजय प्रसिद्ध करता है।

'हरि' के निर्वचन से ज्ञात होता है कि देवता अग्नि के माध्यम से यज्ञ-भाग ग्रहण करते थे। देवताओं को 'अग्निमुख' कहा भी गया है[4]। वैदिक युग्म-देवों में से 'अश्विनौ' 'अग्नीषोम' आदि और संघ-देवों में से आदित्याः', 'मरुतः' और 'विश्वेदेवा.' आदि ही अवशिष्ट रह गए। यद्यपि स्तुतियों में तत्तद्देवताओं के स्वरूप और कार्य वर्णित हुए हैं, फिर भी साकार देवों की कल्पना बाद के साहित्य में ही सार्थक हुई है। वीरकाव्यों में दोनों ही प्रकार के देवता हैं–'अक्षर', 'अज', 'अधोक्षज', 'ब्रह्म' आदि निराकार हैं और 'कृष्ण', 'चतुर्मुख', 'विष्णु', 'हनुमान्' आदि साकार। राम' और 'कृष्ण' प्रदत्त निर्वचनों में मानव रूप में ही चित्रित हुए हैं। ये अवतारवादी धारा से प्रस्तुत नहीं हुए हैं। 'असुर', 'दानव', 'दैत्य' आदि के निर्वचनों से, सत्पक्ष और असत्पक्ष में हो रहे शाश्वत युद्धों का संकेत मिलता है[5]। वीरकाव्यों का आधार भी ऐसे ही युद्ध हैं।

'अग्नि' और उससे सम्बद्ध 'अग्निहोत्र' 'आवसथ्य' 'आहवनीय' 'औपासन' 'क्रव्याद' 'गार्हपत्य' 'गृहपति' 'जातवेदाः' 'त्रेता (ा)' 'दाक्षिणात्य' 'पाञ्चजन्य' 'पावक' 'पुष्टिमति' 'भरत' आदि शब्दों तथा 'अत्रि (ऋषि) 'चर्मण्वती' (नदी) 'प्रयाग (तीर्थ) 'भृगु' (ऋषि) 'सगर' (राजा) आदि संज्ञाओं के निर्वचनों से उस काल में एक स्वस्थ यज्ञीय परम्परा का ज्ञान होता है। धीरे-धीरे यज्ञों का स्थान धार्मिक स्थानों ने ले लिया। वीरकाव्यों में निर्वचनसहित 'कपालमोचन' 'कुलम्पुन' 'श्वेतलोमापनयन' आदि अनेक तीर्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें माहात्म्य या फलश्रुति भी प्राप्त होती है। तदनुसार इससे कोटिशः यज्ञों का फल मिलता है।

1. ऋक् 10.102.7
2. ऋक् 2.12.12
3. नि. को, 166 (v)
4. अग्निमुखा वै देवताः-तां. ब्रा. 25.14.4
5. द्र.-4.13, 19, 21

नवम अध्याय

सांस्कृतिक चेतना[1]

कवियों और कथकों ने विवेच्य ग्रन्थों और पुराणों का उपयोग आख्यानों, उपाख्यानों, स्तुतियों, संवादों और चर्चाओं आदि के माध्यम से वेद-रहस्य को सामान्य जनता तक पहुंचाने, उनमें सांस्कृतिक चेतना जागृत करने, ईश्वर के प्रति आस्था उत्पन्न करने, चारित्रिक उत्थान के द्वारा सामाजिक नींव दृढ़ करने के साथ ही स्वस्थ मनोरंजन करने में भी किया है। इस कार्य में उन्होंने अपने कथनों की प्रामाणिकता स्थापित करने हेतु निर्वचनों का भी आश्रय लिया है। ऐसे कतिपय निर्वचनों का अध्ययन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। जैसा आगे के निर्वचन से ज्ञात होगा कि तत्कालीन अध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक और वैज्ञानिक चेतना (एवं लोक-विश्वासों) पर ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक, तथा कभी-कभी अन्य विभिन्न साधनों या स्रोतों से अप्राप्य प्रकाश प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक चेतना

देव वीरकाव्यों में उपलब्ध निर्वचनों में सर्वाधिक संख्या देवों की है, जो धर्म प्रधान देश के लिए अति स्वाभाविक है। इन देवों के निर्वचनों में वैदिकी परम्परा का भी अवलम्बन किया गया है और स्वतन्त्र-बुद्धि का भी आश्रय लिया गया है। 'एकोऽहं बहु स्याम्'[2] की चिन्ताधारा देवों के विषय में भी स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] के अनुसार यद्यपि एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति वेद में मुख्य है, पर वहां प्रकृति के नाना तत्त्व देवरूप में चर्चित हुए हैं। यह पिछली प्रवृत्ति बराबर बढ़ती गई। वेदोत्तरकालिक भारतीय देवशास्त्र में सृष्टिकर्त्ता 'ब्रह्मा', धनपति 'कुबेर,' 'सत्य' (नारायण), शक्ति स्वरूपा 'शाकम्भरी' और 'दुर्गा' आदि अनेक प्रतीकात्मक देवों और देवियों की सत्ता प्राप्त होती है। कुछ वैदिक

---

1. इस अध्याय में उदाहरणस्वरूप प्रयुक्त शब्दों अथवा पाद टिप्पणी में उल्लिखित शब्दों की तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में किये गए विवेचन की अध्याय पदसंख्या परिशिष्ट एक और दो में देखें। सुविधा के लिए यत्र तत्र पाद टिप्पणी में कतिपय शब्दों के अध्याय और विवेचित निर्वचन की संख्या अथवा निर्वचनकोश की संख्या दे दी गई है।
2. तै. ब्रह्मानन्द वल्लो 6, तु.–कौ. ब्रा. 6.10, बृह. उप. 1.4.17
3. ऋक् 1.164 46; तु.-महा. चि. 12.351.9,10

देवताओं का महत्त्व बढ गया जैसे 'विष्णु' का सृष्टिपालक परमेश्वर के रूप में, रुद्र का सृष्टि-संहारक के रूप में और 'यम' या 'काल' का मृत्युदेव के रूप में विकास हो गया।

यहां जिन वैदिक-देवताओं की महत्ता घटी है, उनमें सर्वोल्लेखनीय है 'इन्द्र'। यह युद्ध और विजय का देवता था, पर वीरकाव्यों तक यह एक सामान्य देवता बन गया था, जिसे कभी-कभी तत्कालीन मर्त्यलोक के राजाओं से सहायता लेनी पड़ती थी। 'ककुत्स्थ' का निर्वचन और आख्यान वेद के महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली ककुद्‌म नु[1] और वृषभ[2] इन्द्र को नृपविशेष का वाहन मात्र स्थापित करता है। 'अहल्या' का आख्यान उसे विलासी और लम्पट बताता है। 'उपेन्द्र' और 'गोविन्द'[3] के निर्वचन में इन्द्र विष्णु से अवर और गोपशुओं का स्वामी हो गया है। 'मान्धाता' का निर्वचन उसे धाय घोषित करता है। 'इन्द्रजित्' पद मेघनाद दानव से उसकी पराजय प्रसिद्ध करता है।

'हरि' के निर्वचन से ज्ञात होता है कि देवता अग्नि के माध्यम से यज्ञ-भाग ग्रहण करते थे। देवताओं को 'अग्निमुख' कहा भी गया है[4]। वैदिक युग्म-देवों में से 'अश्विनौ' 'अग्नीषोम' आदि और संघ-देवों में से आदित्याः', 'मरुतः' और 'विश्वेदेवाः' आदि ही अवशिष्ट रह गए। यद्यपि स्तुतियों में तत्तद्देवताओं के स्वरूप और कार्य वर्णित हुए हैं, फिर भी साकार देवों की कल्पना बाद के साहित्य में ही सार्थक हुई है। वीरकाव्यों में दोनों ही प्रकार के देवता हैं–'अक्षर', 'अज', 'अधोक्षज', 'ब्रह्म' आदि निराकार हैं और 'कृष्ण', 'चतुर्मुख', 'विष्णु', 'हनुमान्' आदि साकार। राम' और 'कृष्ण' प्रदत्त निर्वचनों में मानव रूप में ही चित्रित हुए हैं। ये अवतारवादी धारा से प्रस्तुत नहीं हुए हैं। 'असुर', 'दानव', 'दैत्य' आदि के निर्वचनों से, सत्पक्ष और असत्पक्ष में हो रहे शाश्वत युद्धों का संकेत मिलता है[5]। वीरकाव्यों का आधार भी ऐसे ही युद्ध हैं।

'अग्नि' और उससे सम्बद्ध 'अग्निहोत्र' 'आवसथ्य' 'आहवनीय' 'औपासन' 'क्रव्याद' 'गार्हपत्य' 'गृहपति' 'जातवेदाः' 'त्रेता (I)' 'दाक्षिणात्य' 'पाञ्चजन्य' 'पावक' 'पुष्टिमति' 'भरत' आदि शब्दों तथा 'अत्रि (ऋषि) 'चर्मण्वती' (नदी) 'प्रयाग (तीर्थ) 'भृगु' (ऋषि) 'सगर' (राजा) आदि संज्ञाओं के निर्वचनों से उस काल में एक स्वस्थ यज्ञीय परम्परा का ज्ञान होता है। धीरे-धीरे यज्ञों का स्थान धार्मिक स्थानों ने ले लिया। वीरकाव्यों में निर्वचनसहित 'कपालमोचन' 'कुलम्पुन' 'श्वेतलोमापनयन' आदि अनेक तीर्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें माहात्म्य या फलश्रुति भी प्राप्त होती है। तदनुसार इससे कोटिशः यज्ञों का फल मिलता है।

---

1. ऋक् 10.102.7
2. ऋक् 2.12.12
3. नि. को, 166 (v)
4. अग्निमुखा वै देवताः-तां. ब्रा. 25.14.4
5. द्र.-4.13, 19, 21

नवम अध्याय

सांस्कृतिक चेतना[1]

कवियों और कथकों ने विवेच्य ग्रन्थों और पुराणों का उपयोग आख्यानों, उपाख्यानों, स्तुतियों, संवादों और चर्चाओं आदि के माध्यम से वेद-रहस्य को सामान्य जनता तक पहुँचाने, उनमे सास्कृतिक चेतना जागृत करने, ईश्वर के प्रति आस्था उत्पन्न करने, चारित्रिक उत्थान के द्वारा सामाजिक नींव दृढ़ करने के साथ ही स्वस्थ मनोरंजन करने में भी किया है। इस कार्य मे उन्होंने अपने कथनों की प्रमाणिकता स्थापित करने हेतु निर्वचनों का भी आश्रय लिया है। ऐसे कतिपय निर्वचनों का अध्ययन पिछले पृष्ठों मे किया जा चुका है। जैसा आगे के निर्वचन से ज्ञात होगा कि तत्कालीन आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक और वैज्ञानिक चेतना (एवं लोक-विश्वासों) पर ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक, तथा कभी-कभी अन्य विभिन्न साधनों या स्रोतों से अप्राप्य प्रकाश प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक चेतना

देव वीरकाव्यों मे उपलब्ध निर्वचनों में सर्वाधिक संख्या देवो की है, जो धर्म प्रधान देश के लिए अति स्वाभाविक है। इन देवो के निर्वचनों में वैदिकी परम्परा का भी अवलम्बन किया गया है और स्वतन्त्र-बुद्धि का भी आश्रय लिया गया है। 'एकोऽहं बहु स्याम्'[2] की चिन्ताधारा देवों के विषय में भी स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] के अनुसार यद्यपि एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति वेद में मुख्य है, पर वहा प्रकृति के नाना तत्त्व देवरूप में चर्चित हुए हैं। यह पिछली प्रवृत्ति बराबर बढती गई। वेदोत्तरकालिक भारतीय देवशास्त्र में सृष्टिकर्त्ता 'ब्रह्मा', धनपति 'कुबेर,' 'सत्य' (नारायण), शक्ति स्वरूपा 'शाकम्भरी' और 'दुर्गा' आदि अनेक प्रतीकात्मक देवों और देवियो की सत्ता प्राप्त होती है। कुछ वैदिक

1. इस अध्याय में उदाहरणस्वरूप प्रयुक्त शब्दों अथवा पाद टिप्पणी में उल्लिखित शब्दों की तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में किये गए विवेचन की अध्याय पदसंख्या परिशिष्ट एक और दो में देखें। सुविधा के लिए यत्र तत्र पाद टिप्पणी में कतिपय शब्दों के अध्याय और विवेचित निर्वचन की सख्या अथवा निर्वचनकोश की संख्या दे दी गई है।
2. तै. ब्रह्मानन्द वल्ली 6, तु.–कौ. ब्रा. 6.10, बृह. उप. 1.4.17
3. ऋक् 1.164 46; तु -महा. चि. 12.351.9,10

देवताओं का महत्त्व बढ़ गया जैसे 'विष्णु' का सृष्टिपालक परमेश्वर के रूप में, रुद्र का सृष्टि-संहारक के रूप में और 'यम' या 'काल' का मृत्युदेव के रूप में विकास हो गया।

यहां जिन वैदिक-देवताओं की महत्ता घटी है, उनमें सर्वोल्लेखनीय है 'इन्द्र'। यह युद्ध और विजय का देवता था, पर वीरकाव्यों तक यह एक सामान्य देवता बन गया था, जिसे कभी-कभी तत्कालीन मर्त्यलोक के राजाओं से सहायता लेनी पड़ती थी। 'ककुत्स्थ' का निर्वचन और आख्यान वेद के महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली ककुद्म नृ[1] और वृषभ[2] इन्द्र को नृपविशेष का वाहन मात्र स्थापित करता है। 'अहल्या' का आख्यान उसे विलासी और लम्पट बताता है। 'उपेन्द्र' और 'गोविन्द'[3] के निर्वचन में इन्द्र विष्णु से अवर और गोपशुओं का स्वामी हो गया है। 'मान्धाता' का निर्वचन उसे धाय घोषित करता है। 'इन्द्रजित्' पद मेघनाद दानव से उसकी पराजय प्रसिद्ध करता है।

'हरि' के निर्वचन से ज्ञात होता है कि देवता अग्नि के माध्यम से यज्ञ-भाग ग्रहण करते थे। देवताओं को 'अग्निमुख' कहा भी गया है[4]। वैदिक युग्म-देवों में से 'अश्विनौ' 'अग्नीषोम' आदि और संघ-देवों में से आदित्याः', 'मरुतः' और 'विश्वेदेवाः' आदि ही अवशिष्ट रह गए। यद्यपि स्तुतियों में तत्तद्देवताओं के स्वरूप और कार्य वर्णित हुए हैं, फिर भी साकार देवों की कल्पना बाद के साहित्य में ही सार्थक हुई है। वीरकाव्यों में दोनों ही प्रकार के देवता हैं–'अक्षर', 'अज', 'अधोक्षज', 'ब्रह्म' आदि निराकार हैं और 'कृष्ण', 'चतुर्मुख', 'विष्णु', 'हनुमान्' आदि साकार। राम' और 'कृष्ण' प्रदत्त निर्वचनों में मानव रूप में ही चित्रित हुए हैं। ये अवतारवादी धारा से प्रस्तुत नहीं हुए हैं। 'असुर', 'दानव', 'दैत्य' आदि के निर्वचनों से, सत्पक्ष और असत्पक्ष में हो रहे शाश्वत युद्धों का संकेत मिलता है[5]। वीरकाव्यों का आधार भी ऐसे ही युद्ध हैं।

'अग्नि' और उससे सम्बद्ध 'अग्निहोत्र' 'आवसथ्य' 'आहवनीय' 'औपासन' 'क्रव्याद' 'गार्हपत्य' 'गृहपति' 'जातवेदाः' 'त्रेता (I)' 'दाक्षिणात्य' 'पाञ्चजन्य' 'पावक' 'पुष्टिमति' 'भरत' आदि शब्दों तथा 'अत्रि (ऋषि) 'चर्मण्वती' (नदी) 'प्रयाग (तीर्थ)' 'भृगु' (ऋषि) 'सगर' (राजा) आदि संज्ञाओं के निर्वचनों से उस काल में एक स्वस्थ यज्ञीय परम्परा का ज्ञान होता है। धीरे-धीरे यज्ञों का स्थान धार्मिक स्थानों ने ले लिया। वीरकाव्यों में निर्वचनसहित 'कपालमोचन' 'कुलम्पुन' 'श्वेतलोमापनयन' आदि अनेक तीर्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें माहात्म्य या फलश्रुति भी प्राप्त होती है। तदनुसार इससे कोटिशः यज्ञों का फल मिलता है।

1. ऋक् 10.102.7
2. ऋक् 2.12.12
3. नि. को, 166 (v)
4. अग्निमुखा वै देवताः-तां. ब्रा. 25.14.4
5. ह.-4.13, 19, 21

सृष्टि

वीरकाव्यों के कतिपय निर्वचन सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जानकारी देते हैं। भारतीय प्रवधारणा के प्रनुसार प्रलय प्रौर सृष्टि का क्रम 14 मन्वन्तरों में चलता रहता है। क्योंकि प्रपञ्चमूत जगत् प्रौर तद्गत नानात्व 'क्षर' प्रर्थात् विनाशी है[1]। प्रलयकाल मे जलाधिक्य रहता है, जिसे 'मेदिनी' शब्द के निर्वचन में प्रतीकात्मक रूप में स्वीकार किया गया है[2]। 'नारायण' शब्द से विष्णु का निवास भी जल में बताया गया है[3]। वे 'मधु-कैटभ'[4] जैसी तामसी वृत्तियों का विनाश करते हैं, तब मनु द्वारा 'मनुष्य'[5] तदनन्तर प्रण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज जीवों की उत्पत्ति होती है[6]। महाभारतकार ने इनमें से 'उद्भिज्ज' के निर्वचन में वनस्पतियों की उत्पत्ति का प्रकार स्पष्ट किया है।

पृथूपाख्यान में प्रदत्त 'पृथ्वी' के निर्वचन प्रौर विवेचन से यह स्पष्ट किया गया है कि राजा पृथु वैन्य ने इसका प्रथन प्रर्थात् शोधन, संस्करण, निवासन प्रौर समृद्धीकरण किया था[7]। पृथ्वी के वैदिक निर्वचनों में भी 'प्रथन' का उल्लेख है[8], जो सृष्टि-रचनाकालीन प्रथन की प्रोर इङ्गित करता प्रतीत होता है। यह प्रथन या विस्तार सदा होता रहता है, ऐसा सम्प्रति वैज्ञानिक खोजों से पुष्ट है।

पुरुषार्थ

चार पुरुषार्थों धर्म, प्रर्थ, काम प्रौर मोक्ष-में से 'धर्म' को रामायणीय और महाभारतीय निर्वचनों में इसलिए 'धर्म' कहा है कि वह धारण किया जाता है[9] तथा प्रजा किंवा समस्त जगत् को धारण करता है। जो धारण के साथ रहे, वह भी 'धर्म' है। प्रतः इसका मूल भाव कर्त्तव्यपालन है[10]। कालान्तर में व्याख्याकारों, दार्शनिकों प्रौर धर्माधिष्ठाताओं ने इस 'धर्म' की व्याख्या अपने-प्रपने ढंग से प्रस्तुत की है प्रौर इसे कर्मकाण्ड, पूजापद्धति प्रादि से जोड़ दिया है।

महाभारत में 'काम' को सनातन संकल्प कहा गया है, जिसे नासदीय सूक्त के 'काम' के प्रभिप्राय के अनुरूप माना जा सकता है। 'अर्थ' और 'मोक्ष' का कोई सीधा निर्वचन तो प्राप्त नहीं होता, पर इनका विस्तृत वर्णन अवश्य मिलता है।

पुनर्जन्म

'प्रणीमाण्डव्य'[11] के निर्वचन प्रौर प्राख्यान से ज्ञात होता है कि वह शूली पर

---

1. नि. को. 141
2. नि. को. 524, द्र.- 8.8
3. द्र. 3.19
4. द्र.-4.15,22
5. नि. को. 345
6. महा. 14.42.19
7. द्र.-8.7
8. द्र.-तत्रैव।
9. नि०को० 239
10. √धृञ्+मन् (उ० को० 1.140) 'धरति विश्वं लोकान् वा' 'ध्रियते वा जनैरिति'-प्र० सु० 1.4.24, 1.6.3; 'ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते'—उ० को०-पृ० 41; तु०-संश० को० 49
11. नि०को० 15

पढ़कर भी न मरकर सशूल फिरता रहा, क्योंकि उसने पूर्वजन्म में किसी कीट को पूंछ मे सींक चुभोई थी। यहां महाभारतकार ने पुनर्जन्म की मान्यता को अभिव्यक्ति देते हुए माना है कि पूर्वजन्म में किये गए कर्मों या पापों का फल इस जन्म में मिलता है।

शाप-वरदान—वीरकाव्यों के अनेक आख्यानो, जैसे गोतम-अहल्या, बृहस्पति-दीर्घतमा:, वसिष्ठ-कल्मापपाद, व्यास-अम्बालिका, शृंगी-परीक्षत् अष्टावक्र, और दुर्वासा-कुन्ती आदि तथा इनमें प्रदत्त निर्वचनो[1] से उस समय देवों और मुनियो मे शाप और वर देने की विद्यमानता का विश्वास प्रचुर मात्रा में लक्षित होता है।

तपस्या

वीरकाव्य ऋषि और मुनि मे अन्तर मानते हैं कि मन्त्र-द्रष्टा ही ऋषि हैं और मननकर्त्ता 'मुनि'[2]। यहां वृक्ष-शाखा मे लटके अधोमुख बालखिल्य ऋषि[3], वायुभक्ष मुनि[4], वसिष्ठ-आश्रम में ब्रह्मर्षि, देवर्षि, अब्भक्ष, वायुभक्ष, शीर्णपर्णाशन, फलमूलाशन, जितेन्द्रिय ऋषियों[5] और प्रस्तुत ग्रन्थ में ऋषिवर्ग मे वर्णित ऋषियों के निर्वचनों से ज्ञात होता है कि विशिष्ट फलो की प्राप्ति के लिए तपस्या की जाती थी—'तपसा महदाप्नोति'[6]। मोक्ष की प्राप्ति के लिए वानप्रस्थी और संन्यासी तपस्यारत रहते थे। इसके लिए तपोवन होते थे। कण्व, वाल्मीकि, माण्डकर्णि आदि के आश्रमो और 'वैभ्राज', नैमिषारण्य' आदि स्थानो की सत्ता का परिचय मिलता है। 'उमा', 'एकपर्णा', 'एकपाटला' और 'अपर्णा' के निर्वचन इंगित करते हैं कि कठिन तपस्या में बालिकाएं भी पीछे न थी।

तपस्या मे विघ्न-बाधाएं भी अनेकशः उपस्थित की जाती थी। 'शतक्रतु'[7] इन्द्र को भी अपनी कुर्सी छिनने का सर्वाधिक भय था, अतः वह भी विघ्न उपस्थित करता था। राजा सगर के आख्यान मे अश्वमेध के घोडे को गायब करना[8] तथा माण्डकर्णि[9], ब्रह्मर्षि[10] और विश्वामित्र[11] आदि ऋषियों के पास अप्सराएं भेजना इन्द्र के ही कृत्य थे। इस प्रकार रूपवती स्त्रियों (अप्सरा:)[12] का प्रयोग तपोविघ्न के लिए किया जाता था।

नीति और सदाचार

विवेच्य ग्रन्थो मे नीति और सदाचार की बातें शब्दश: अथवा आख्यान के

---

1. द्र०–नि०को० 46, 380, 255, 222, 97, 274, 44
2. मननान्मुनि:—हरि. 3.88.52; ऋषतीति ऋषि:—अ सु. 2.7.43, तु-वा. पु. पू. 61.81
3. महा. चि 1.30.2
4. तत्रैव, वन 159.16
5. वा. रा. बाल 51.25-27
6. महा. शान्ति 19.26 तु.-वन 313.48
7. नि. को. 481
8. हरि. अ. 1 14
9. वा. रा. अरण्य अ. 11
10. वा. रा. बाल. अ. 65
11. महा. चि. अ. 1.71
12. द्र.-4.1

माध्यम से प्रचुरतः उल्लिखित हुई हैं। निर्वचनों के माध्यम से भी कुछ उत्तम आचरणों पर प्रकाश पड़ता है। 'कल्माषपाद'[1] अपकृत होकर भी गुरु के प्रति विपरीत आचरण नहीं करता है। 'त्रिशंकु' के आख्यान और निर्वचन से पिता को सन्तुष्ट करने, दुधारू गायों की हत्या न करने और मांस न खाने की शिक्षा प्राप्त होती है। कार्य भले ही देर से, पर समझ बूझ कर करना चाहिए, यह सन्देश 'चिरकारी' का निर्वचन[2] देता है। 'गरुड'[3] मातृभक्ति और ऋषि-सम्मान की तथा 'दामोदर'[4] इन्द्रियनिग्रह की शिक्षा देता है। 'अतिथि', 'अभ्यागत', 'अहिंसा' और 'सदाचार' आदि शब्द स्वसम्बद्ध कर्मों को करने की प्रेरणा देते हैं।

राजनीतिक चेतना

पुराण पंचलक्षण में राजनीतिक स्थिति के लिये वंश और वंशानुचरित दो का उल्लेख है। महाभारत मे इसके सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री है। यहां कतिपय व्यक्तिवाचक नामों और राजधर्म से सम्बद्ध निर्वचनात्मक शब्दों के माध्यम से किंचिद् विचार किया जा रहा है।

राजतन्त्र

'राजा' शब्द के अध्ययन में स्पष्ट किया जा चुका है[5] कि वेद और व्याकरण ने उसके बाह्य रूप पर विचार करते हुए उसे दीप्यमान अथवा प्रतापवान् बताया है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर उसे आज्ञा देने वाला शासक सिद्ध करना चाहा है, पर महाभारत मे वेनपुत्र पृथु के प्रसंग मे और अन्यत्र भी उसे प्रजा का अनुरञ्जन करने के कारण 'राजा' कहा गया है[6] अर्थात् राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजारंजन था। इसीलिए वह 'प्रजापति' कहलाता था। राजा शान्तनु को तो 'पिता' भी कहा गया है[7] अभिषेक के समय राजा प्रजापालन की प्रतिज्ञा करता था[8]। इस प्रकार भारत मे यद्यपि राजतन्त्र था, पर राजा निरंकुश न था। वह सभा-समिति अथवा मन्त्रिमण्डल की सहायता से शासन करता था। प्रजा उसे इसीलिए देवता मानती थी–'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'[9]। ये ऋषि-मुनियों का विशेष ध्यान रखते थे और इनका राजा पर अंकुश रहता था[10]। राज्य शासन सम्बन्धी यह एक आदर्श राष्ट्रीय व्यवस्था थी।

---

1. वा. रा. उत्तर अ. 65
2. नि. को. 177,
3. महा. चि. 1.28, 29
4. नि. को. 220-(I) (II)
5. द्र.- 6.17,
6. तु.-ई. पू. 165 के शिलालेख में 'खारवेल' ने कहा है—मैं अपनी प्रजा का रंजन करता हूं'। एक बौद्ध ग्रन्थ में लेख है–'दम्मेन परे राजनीति रखो वा सेट्ट राजः, वि. भा.-पृ. 117 से उद्धृत।
7. स एव राजा सर्वेषां भूतानामभवत्पिता-महा. 1.100 18
8. हरि. 1.5.10
9. मनु. 7.8
10. द्र. राजा वेन का आख्यान-हरि. 1.5

राजा प्रायः क्षत्रिय होते थे और क्षत्रिय शब्द का निर्वचन बताता है[1] कि प्रजा की रक्षा का भार इन्हीं पर था। राजा 'भरत'[2] के निर्वचन मे इसे स्पष्ट रूप से कह दिया गया है। सभी राजा अपने इस गुण का पालन करते थे—ऐसा तो नही कहा जा सकता, क्योंकि अपवाद सर्वत्र होते हैं। कुछ प्रभुता प्राप्त कर निरकुश भी हो जाते थे। राजा वेन का आख्यान[3] ऐसे राजाओं की दुर्गति और शासन से च्युति को सुस्पष्ट रूप मे उपस्थित करता है।

यत्र तत्र गणतन्त्रीय व्यवस्था के भी संकेत प्राप्त होते हैं। 'पंचाल'[4] प्रदेश की यह व्यवस्था थी कि वह मुद्गल, संजय, बृहदिषु, यवीनर और क्रुमिलाश्व नामक शासनाध्यक्षों के गणों में विभक्त था। आन्तरिक व्यवस्था मे वे पृथक्शः समर्थ थे, पर थे वे एक राज्य के घटक। प्रकृतिरञ्जक और सीमित प्रदेश के शासक को राजा कहते थे और अनेक मण्डलों या राजाओं पर शासन करने वाले (कृत्स्नभाक्) चक्रवर्ती राजा को सम्राट् कहते थे[5]। अमरसिंह ने इसे 'सार्वभौम' भी कहा है[6] और सम्राट् की स्पष्ट परिभाषा दी है कि राजसूय यज्ञ के अनुष्ठाता बारह मण्डलों के अधिपति और अपनी इच्छा से राजाओं के ऊपर शासन करने वाले को 'सम्राट्' कहा जाता है[7]। चक्रवर्ती सम्राट् में विवेच्य ग्रन्थों के 'पृथु' 'मान्धाता' 'सगर' 'भरत' भागीरथ' 'राम' 'रन्तिदेव' आदि अनेक नाम लिये जा सकते हैं।

राजकर

राजकर-व्यवस्था अति प्राचीन थी। इसकी पुष्टि वैदिक उल्लेखों से होती है[8]। महाभारतीय 'प्रजापति'[9] (राजा) के निर्वचन से ज्ञात होता है कि राजा 'प्रजा-भाग' या कर ग्रहण करता था। इसे वह प्रजा के लिए सुव्यवस्था और रक्षा आदि में व्यय करता था। यह कर अश्रोत्रिय और अनाहिताग्नि समस्त प्रजा से लिया जाता था[10]। कर की मात्रा निश्चित नही थी, पर षष्ठांश का उल्लेख अनेकत्र मिलता है[11]। महाभारत मे राजा 'करन्धम'[12] का उल्लेख है। वह आवश्यकता पड़ने पर प्रजा के आह्वान के लिए कर को बजाता था। यह प्रतीकात्मक वर्णन प्रतीत होता है। वस्तुतः वह आपातकाल मे प्रजा पर विशेष कर लगाता होगा, जो द्वितीय रक्षापंक्ति के लिए आवश्यक होता है। अथवा वह सेना के लिए प्रजा का आह्वान करता होगा। आज भी जोर से पुकारने मे शंखाकृति हाथ मुंह मे लगाते हैं।

---

1. द्र.-6 6
2. नि. को. 321
3. हरि. 1 5
4. नि. को. 262
5. नि. को. 545, द्र 6.24,
6. अमर 2.8.2
7. अमर 2.8 3
8. ऋक् 10 173 6, श. ब्रा. 5.4 2.3, ऐ. ब्रा. 7.29 आदि।
9. नि. को. 297 (II)
10. महा. वि. 12.76.5
11. 'राजा तु धर्मेणानुशासत्षष्ठं धनस्य हरेत्'–हि. रा. 2.53 से उद्धृत। तु.–रघु. 2.66
12. महा. 14.4.15, 16, नि. को. 94

'उग्रसेन'[1] के निर्वचन से उस काल मे भी सेना की महत्ता और आवश्यकता का बोध होता है। श्रुतसेन' और 'शतानीक' आदि नामों मे सेना या उसके पर्याय का प्रयोग भी इसी बात की पुष्टि करता है। उस समय लौह, रजत और सुवर्णवत् दृढ़, द्युतिमय तथा अभेद्य दुर्ग भी बनाए जाते थे। इन्हे आधुनिक 'टैंक' जैसा भी माना जा सकता है। ऐसे तीन पुरों का भेदन करने से शिव 'त्रिपुरारि'[2] कहलाए। आत्मरक्षा के लिए कवच-कुण्डलादि का उपयोग किया जाता था। 'वसुषेण' (कर्ण) को इनके सहित उत्पन्न बताया गया है[3]। युद्ध मे विजय के लिए व्यूह[4] नामक सैनिक-संरचना का प्रचुर प्रचलन था। महाभारत मे प्रसिद्ध चक्रव्यूह का भेदन अभिमन्यु ने किया था। एक 'मानुष व्यूह' का भी उल्लेख है[5]। उस समय जलवर्षक, अग्निवर्षक और अमोघ अस्त्रों के अतिरिक्त अश्वत्थामा के ब्रह्मशिरा: और अर्जुन के 'ब्रह्मास्त्र' जैसे भयंकर शस्त्रास्त्रों का परिचय मिलता है[6]।

सामाजिक चेतना

आर्य

'असुर'[7] शब्द और 'दानव'[8] 'दैत्य'[9] पद भी मूलत: असदर्थक नही थे। सम्भवत: ये आर्यों के उस वर्ग के लिए प्रयुक्त हुए थे, जो पारस्परिक संघर्ष और वैमनस्य से अलग हो गया था या देश के बाहर चला गया था। इससे आर्यों के भारत के मूल निवासी होने को पुष्टि होती है।

वर्ण-व्यवस्था

आर्यों की समाज-व्यवस्था का मूलाधार वर्णाश्रम व्यवस्था थी, जिसका निर्माण यज्ञानुष्ठान के लिए हुआ होगा। महाभारतीय निर्वचन मे ब्राह्मण का तादात्म्य ब्रह्म मे किया गया है और ब्रह्मचारी मात्र को 'ब्राह्मण' कहा गया है[10]। ब्राह्मणो और अन्यो की 'क्षत' अर्थात् कष्ट-विपत्ति आदि से रक्षा करने वाला 'क्षत्रिय'[11] है और पशुओं के लिए (संसार मे) प्रविष्ट होने वाला 'वैश्य' है[12]। इन निर्वचनों में वर्णभेदक पद रूढ़ि नहीं हुए हैं। वे गुणवाचक हैं, परन्तु वीरकाव्यगत वर्णनों मे चारो वर्णों की स्थिति स्मृतियों आदि के समान है।

---

1. नि. को. 62
2. नि. को 204
3. नि. को 422
4. नि. को. 475; व्यूहस्तु बलविन्यास:'—अमर 2.8.79
5. महा. 6.20.18
6. अस्त्रं ब्रह्मशिरो यत्र परमास्त्रेण बध्यते।
   समा द्वादश पर्जन्यस्तद्राष्ट्रं नाभिवर्षति ।। महा. 10.15.23
7. द्र.-4.13; 'असुर'—एक निर्वचनात्मक अध्ययन-डॉ० शिवसागर त्रिपाठी, विश्वम्भरा 10.3, 1978 भी देखें।
8. द्र.–4.19
9. द्र.–4.21
10. नि. को. 319
11. नि.को. 140
12. नि. को. 468

'निषाद' राजा वेन की जंघा से ऋषियों द्वारा उत्पादित जन हैं, जो ऋषियों के आदेश से उपवेशन करते हैं[1]।

'यवन' वसिष्ठ की गाय की योनि से[2] और 'शक' उस गाय के शकृत्-स्थल से[3] उत्पन्न हुए। रामायण के वसिष्ठ-विश्वामित्र संघर्ष मे[4] उक्त की तथा पल्हव, काम्बोज, बर्बर, म्लेच्छ, हारीत और किरातक आदि की उत्पत्ति विश्वामित्र और उसकी सेना के दमन के लिए कामधेनु गो द्वारा वर्णित की गई है। अतः ये जातियां क्षत्रियों के समान युद्धादि में रत और क्षत्रियों से अधिक बलशाली रही होंगी। इस वर्णन में इन जातियों के भारत पर आक्रमण का संकेत भी निहित हो सकता है।

आश्रम व्यवस्था

जैसे सामाजिक व्यवस्था के लिए वर्ण-व्यवस्था आवश्यक थी, उसी प्रकार व्यष्टि और समष्टिगत अभ्युन्नति और सुव्यवस्था के लिए चार आश्रमों की योजना की गई थी—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। महाभारत के मत मे व्रत और कर्मों आदि से ऊपर उठा हुआ ब्रह्म मे स्थित तथा ब्रह्मभूत होकर लोक मे विचरण करने वाला जन 'ब्रह्मचारी' होता है[5]। ब्रह्मचारी का यह परिकल्प यद्यपि अथर्ववेदीय ब्रह्मचारी से कुछ मिलता-जुलता माना जा सकता है, तथापि यह अध्ययन-नरत, गुरु द्वारा उपनीत द्विज बालक या युवा के परिकल्प से भिन्न प्रतीत होता है। यदि 'ब्रह्म' का अर्थ 'वेद और उसका अध्ययन' कर लें, तो समस्या हल हो जाती है और यह निर्वचन सामान्य ब्रह्मचारी का द्योतक हो जाता है। प्रथम प्रतीयमान अर्थ मे ब्रह्मचारी का तादात्म्य 'संन्यासी' से होता प्रतीत होता है, क्योंकि वह 'काम्य कर्मों' का त्याग कर देने वाला होता है[6]। व्रत और कर्म दोनो ही इस श्रेणी मे आते हैं। नियत कर्मों का त्याग सम्भव नहीं है।

महाभारत के निर्वचनो मे इन और अन्य दो आश्रमो का अन्य कोई परिकल्प प्राप्त नही होता। सामान्य वर्णनों मे इनका परिकल्प स्मृतियों आदि के वर्णनों की श्रेणी मे आता है।

पारिवारिक जीवन[7]

कतिपय निर्वचनों से तत्कालीन पारिवारिक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। परिवार मे सर्वोच्च स्थान माता का होता है। महाभारत के मत मे 'अम्बा' अर्थात् माता का कर्तव्य सन्तान के शरीर आदि अंगों का वर्धन था[8]। वैयाकरणों

---

1. नि को. 255 महा. 12.58, हरि. 1.5
2. नि. को. 390
3. नि. को. 477
4. द्र.-वा. रा. बाल अ. 55
5. नि०को० 315
6. नि०को० 538
7. इस अंश के समस्त निर्वचनों के विस्तृत विवेचन के लिए देखें—'पारिवारिक शब्दो का सांस्कृतिक अध्ययन'—डा० शिवसागर त्रिपाठी, भा०शो०सा० 1971 (1–2), 1972 (3–4); 1973 (1–2); 1978 (3–4)।
8. नि०को० 31

की व्युत्पत्ति भी स्नेहपूर्वक व्यवहार करने या बच्चे को मीठे शब्द सिखाने या लोरियां सुनाने के माध्यम से उसके विकास का विधान करती है[1]।

परिवार का दूसरा प्रमुख घटक है 'पिता', जिसके वैदिक, यास्कीय, रामायणीय और व्याकरणगत निर्वचनों मे ज्ञात होता है[2] कि उसका प्रमुख कर्त्तव्य परिवार का पालन-पोषण और रक्षण आदि है। इसका तात्पर्य यह है कि पिता और जनक पृथक् पृथक् भी हो सकते हैं। यथा कृप-कृपी और शकुन्तला आदि के जनक और पिता भिन्न-भिन्न थे।

'पति' और 'भर्त्ता' के रूप मे वह 'पत्नी' का रक्षण, पालन और भरण करता था[3]। 'भार्या' पति या 'भर्त्ता' के द्वारा भरण किये जाने योग्य मानी जाती है[4]। इन शब्दों की संरचना और हरिवंश के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि कभी-कभी पत्नियां अपने पतियों द्वारा उपेक्षित भी रही होंगी[5]। अतः शब्दों के माध्यम से पतियों को उनके कर्त्तव्य के प्रति सचेत भी किया गया है। 'पत्नी' शब्द भी उसका भार्यात्व का ही द्योतक माना जाता था[6]। उस युग की 'पत्नी' को पाणिनीय व्युत्पत्ति में यज्ञ-कर्मों मे सहधर्मिणीत्व का भाव निर्दिष्ट किया गया है[7]। वहां यज्ञ शब्द समस्त गृहस्थ धर्मों का बोधक है। महाभारतीय निर्वचन में यह भाव लक्षित नहीं होता है, तथापि वर्णनो में पाणिनीय भावना भी निहित है। प्रजननशील होने से[8] पत्नी को 'जाया' कहते थे। यह उसका प्रमुख गुण माना जाता था[9]।

सन्तानपक्ष में 'पुत्र' का बहुत महत्त्व था। वह पिता को पितृ ऋण से मुक्ति दिलाता था तथा नरक और तत्तुल्य दुःखादि से उसकी रक्षा करता था[10]। एक निर्वचन मे पुत्र के साथ 'अपत्य' का भी उल्लेख किया गया है[11]। उसका भी यही भाव है कि इससे पितरों का पतन नही होता, अपितु सुकृत्यों से उद्धार होता है[12]।

कभी-कभी जन्मदात्री माता सन्तान का पालन-पोषण नही कर पाती थी और कोई अन्य स्त्री या स्त्रियां इस काम को करती थी। यथा कुमार (कार्तिकेय) का पालन इन्द्रादि देवों की प्रार्थना पर कृत्तिकाओं ने किया था[13]। आसुरि के शिष्य 'पंचशिख' कपिला नामक ब्राह्मणी का दूध पीकर पले थे, अतः 'कापिलेय' कहलाए[14]। इन उदाहरणों मे धाय रखने की प्रथा का संकेत मिलता है। कभी कभी पुरुष भी

---

1. 'अम्ब्यते स्नेहेनोपगम्यते'–श०क०, 'अम्बति स्नेहाद् गच्छति'–अ०सु० 1:7.14 तु०–अम्ब्यते शब्द्यते इति।
2. द्र.7.9
3. द्र०–क्रमशः 7.7 और 7.13
4. द्र०–7.14.
5. द्र०–हरि० 1.12.11,12
6. नि०को० 264
7. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे-पा० 4.1.33
8. प्रजननार्थं स्त्रियः सृष्टाः–मनु 9.96
9. द्र०–7.5
10. हरि. 3.73.30
11. महा० 14.93.37
12. द्र०–7.10
13. नि०को० 108
14. नि. को. 104

शिशुओं का पालन-पोषण कर धाय के समान कार्य करते थे। यथा मान्धाता का पालन इन्द्र ने अपनी उंगली पिलाकर किया था[1]।

जिन परिवारों के बच्चे जीवित नहीं रहे होंगे, वहां कोई न कोई अन्ध-विश्वास प्रचलित रहे होंगे। वसुदेव-पुत्र 'कृष्ण' के अध्ययन मे[2] यह अनुमान लगाया गया है कि यह नाम उन्हें छटने में रखकर घसीटने या कढिलाने से पड़ा हो, क्योंकि वसुदेव के पुत्र जीवित नहीं रहते थे। यह क्रिया यशोदा के यहां हुई होगी, जहां वे पैदा होते ही पहुंचा दिये गए थे। फिर उनके भाई 'संकर्षण' के नाम में भी वही √कृष् धातु विद्यमान है।

परिवार मे बच्चों का शैतानी करना और माताओं का खीझकर उन्हे (सुधारने की भावना से) हल्का दण्ड देना (जिसमे उन्हें रस्सी से बांधना भी सम्मिलित है) स्वाभाविक ही थे। 'दामोदर' का प्रथम निर्वचन इसी को इंगित करता है।[3]

परिवार में सामान्यत: बडा पुत्र पिता को और छोटा पुत्र मां को प्यारा होता था[4] और मध्यम पुत्र उपेक्षित हो जाता था। उसका विक्रय भी सम्भव था। 'गालव' इसी कोटि के रहे। उनकी माता उसे गले मे बांधकर सौ गांवों के मूल्य पर बेचती फिरी थी।[5] रामायण के शुन शेप आख्यान मे भी मध्यम पुत्र शुनःशेप को बेचा गया था।[6] एक महाभारतीय आख्यान पर आधारित नाटक मध्यम-व्यायोग के अनुसार राक्षस से पूर्ण परिवार को बचाने के उद्देश्य से मध्यम पुत्र को ही प्राण-दान के लिए तैयार होना पडा था।[7]

बहुपत्नीत्व की प्रथा[8] के कारण सपत्नीद्वेष बहुत्र लक्षित होता था। वह इस सीमा तक भी चला जाता था कि सपत्नी के गर्भस्थ बालक को विष द्वारा मारने का प्रयास प्रवृत्त हो जाता था। 'सगर' को गर्भकाल मे उसकी विमाता ने विष दिया था।[9] इसी द्वेष के कारण ध्रुव अपने पिता के प्रेम से वंचित हुआ।[10] सपत्नी के अत्याचार से पीडित स्त्रियां पितृगृह को भी चली जाती थीं,[11] परन्तु इसे अच्छा नही माना जाता था।

'नियोग'[12] की प्रथा भी प्रचलित थी। यथा 'पाण्डु' को पाण्डु नाम इसलिए

---

1. नि. को. 362
2. द्र.- 3.12
3. द्र.-3.17
4. वा. रा. बाल 61.19
5. नि. को. 159 और द्र.-5.6
6. वा. रा. बाल 61.21,
7. म. व्या.-पृ. 18 और श्लोक 20.
8. यथा दशरथ, वसुदेव, कृष्ण, बाहु, पाण्डु, ययाति आदि में।
9. नि. को. 530; तु – वा. पु. 88.31 वि. पु. 4.3.27
10. वि. पु. 1.11.7-10
11. यथा देवयानी म. पु. 32.25, द्र. महा. चि. 1.82, 83; संज्ञा द्र.-3.6
12. या. स्मृ. 1.3.28, 29

मिला[1] कि नियोग-काल में उसकी माता ने अपने शरीर पर पीली मिट्टी लगा ली थी।[2]

मरुतों के जन्म के आख्यान से बोध होता है कि गर्भ-काल में स्त्रियों को शुद्ध और पवित्र रहना चाहिए,[3] अन्यथा गर्भगत सन्तान पर देवी या दानवी विपत्तियां आ सकती हैं। यह अवधारणा व्यक्त करती है कि गर्भवती स्त्रियां अनेक बार अशुचि रहती थी। गर्भवती से मैथुन भी प्रचलित था, परन्तु उसे अच्छा नही माना जाता था। ऐसे मैथुन के कारण 'दीर्घतमा:' अन्धा हुआ।[4]

अतिथि का यजमान के घर मे निवास और आगमन अनिश्चित होता था। उसका अपरिचित होना भी आवश्यक माना जाता था[5]। उचित सत्कार न होने पर अतिथि क्रुद्ध होकर शाप दे देते थे। प्रसन्न होने पर वर भी प्रदान करते थे[6]।

कन्याओं को लोक मे आचरण आदि की पूरी स्वतन्त्रता थी[7]। वह किसी की भी कामना कर सकती थी। कुन्ती और मत्स्यगन्धा के वृत्त से ज्ञात होता है कि विवाह संस्कार से पूर्व यौन-सम्बन्ध हो जाते थे और प्रसूता होने पर भी कन्यात्व अखण्डित माना जाता था[7]। कन्याएं स्वयम्वर्या भी होती थी[8]।

इला-बुध[9], शकुन्तला-दुष्यन्त[10] आदि के आख्यानों से गान्धर्व-विवाह के प्रचलन का ज्ञान होता है। यह स्वयम्वर का ही एक रूपान्तर है।

माता-पिता आदि द्वारा भी विवाह आयोजित किये जाते थे। संस्कार के बाद ही विवाह की पूर्णता मानी जाती थी। इसी कारण पुलोमा पर राक्षस के अधिकार की अपेक्षा कर अग्नि ने 'च्यवन' के आख्यान में उसको भृगु-पत्नी घोषित किया था[11]।

दत्तक-प्रथा

कुन्ती[12] और देवरात[13] आदि कतिपय नामों से उस समय की दत्तक प्रथा पर प्रकाश पड़ता है अर्थात् किसी के बच्चे को परिस्थितिवश गोद ले लिया जाता था।

सदसत्प्रवृत्ति

मधु-कैटभ और विष्णु के आख्यान[14] से असत् और सत्प्रवृत्तियों को रूप-

---

1. नि. को. 274
2. पाण्डुपुत्र (महा. चि. 1.111, 123) (तत्रैव 1.177), अश्मक तथा अंग, वंग, कलिंग, सुह्म, पौण्ड्र (तत्रैव 1.104) आदि अन्य उदाहरण हैं।
3. द्र.-8.25
4. महा. 1.98, नि. को. 222
5. नि.को. 17
6. महा चि. 1.111:4–7
7. द्र.-7.3
8. क्रमश: महा. 2 291 और 1.63
9. हरि. 1.10
10. महा. चि. 1 73
11. द्र.-5.8
12. नि. को. 114
13. द्र.–6.10
14. हरि. 1.52

कात्मक शैली में प्रस्तुत कर ग्रन्थकार ने समाज की इस मान्यता को व्यक्त किया है कि यद्यपि ये प्रवृत्तियां जगत् मे विद्यमान रहती हैं, तथापि अन्ततोगत्वा सत् असत् पर विजय प्राप्त करता है। अनेक बार सत् की स्थापना के लिए कूटनीति के रूप मे असत्कर्मों का अवलम्बन करने का प्रचलन था। कृष्ण की युद्धनीति और इन्द्र की आत्मरक्षा से सम्बद्ध सगर के यज्ञ को अपूर्ण करने[1] तथा विश्वामित्र और शृंगी के तप को नष्ट करने के प्रयत्नों में यह मान्यता उभरकर सामने आई है।

युद्ध और राजनीति में विश्व एवं जन-कल्याण की भावना से छल-कपट-युक्त व्यवहार शिष्ट माना जाता था। बालि, ताड़का और जयद्रथ आदि के वध मे ये भाव सुव्यक्त हैं। काम से पीड़ित होकर सुन्दर स्त्रियो के अपहरण और रूप-परिवर्तन कर उनका उपभोग करना अनेक आख्यानों[2] मे अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार के संसर्ग से उत्पन्न सन्तान को समाज के भय से चुपचाप अज्ञात रूप मे छोड़ भी दिया जाता था[3]। इससे समाज की द्विविध विरोधी प्रवृत्तियो का बोध होता है।

अत्रि आदि सप्तर्षियों से सम्बद्ध आख्यान में घूस या उत्कोच के प्रचलन का सकेत मिलता है। उसे राजा वृषादर्भि ने अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रयोग करने का प्रयास किया, पर ऋषियो ने उसे ठुकरा दिया था[4]। यद्यपि इस प्रकार के उदाहरण और नही आए हैं, तथापि एक राजा के व्यवहार मे से तत्कालीन समाज की प्रवृत्ति प्रतिबिम्बित मानी जा सकती है।

शुनःशेप-आख्यान से प्रतीत होता है कि किसी काल मे मानवों का क्रय-विक्रय भी परिस्थिति-विशेष में हो सकता था[5]। यह स्थिति वीरकाव्यों के काल से पूर्व की भी हो सकती है, क्योंकि शुनःशेप आख्यान उनसे प्राचीन है। तथापि वीरकाव्यों मे उसका सन्निवेश उस काल की स्थितियों का भी दर्पण माना जा सकता है। सत्य हरिश्चन्द्र के आख्यान से भी वीरकाव्यों के काल मे इस प्रथा की सत्ता का परिचय मिलता है।

आर्थिक चेतना

कृषि

वीरकाव्यों का काल कृषि-प्रधान था। सम्भवतः राज्य और शासन मे कृषकों का प्रमुत्व रहा। महाभारत के कर्णधार 'कृष्ण' और उनके भाई 'संकर्षण' दोनों मे √कृष् (विलेखने) धातु है, जिससे 'कृषि' शब्द बनता है। कृष्ण का कृषि

---

1. तत्रैव 1.14 22-25
2. द्र.-कंस (4/14) भरद्वाज (5.11) और बुध (हरि. 1.25, वु.-वि.पु. 4.6.10-26) की उत्पत्तियां।
3. यथा कर्ण, कृप-कृपी, द्वैपायन व्यास, प्रमद्वरा आदि।
4. द्र.–5.2.
5. द्र.–देवरात 6.10

तथा गोधन आदि से सम्बन्ध रहा भी है[1]। संकर्षण बलराम के आयुध हल और मूसल दोनों कृषि या धान्यादि से सम्बद्ध हैं। पृथिवी का शोधन संस्करण तथा व्यापक रूप से कृषि योग्य बनाने का कार्य पौराणिक पृथु वैन्य ने किया[2]। राजा जनक सीरध्वज है तथा वह हल चलाकर यज्ञ-भूमि-शोधन कर सीता (=हल चलाने से बने चिह्न-खंड) को जन्म देते हैं[3]। यज्ञादि-धार्मिक कृत्यों का पर्यवसान भी कृषि मे होता है—'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' 'पर्जन्यादन्नसम्भव.'[4]। इस प्रकार सिंचाई की व्यवस्था भी मात्र कृत्रिम न होकर वृष्टि-साध्य भी थी। सम्भवतः गंगा, यमुना, शतद्रु, विपाशा, गोमती, चर्मण्वती, सरयू आदि नदियों से भूमि को उर्वरा बनाया जाता था।

पशुपालन

यह भी आर्यों का मुख्य कर्म था। दूध देने वाले और कृषि-कर्म में काम आने वाले पशुओं का पालन विशेषतः होता था। गो-सम्मान के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वह 'कामदुघा'[5] भी थी। इसे 'अघ्न्या' कहा गया है[6]। इससे ज्ञात होना है कि कभी उसका वध प्रचलित था। अतिथि-सत्कार मे तथा यज्ञादि मे भी पशुवध होता था। 'चर्मण्वती' मे सम्बद्ध आख्यान और निर्वचन मे इसकी पुष्टि होती है[7]। 'गालव' के आख्यान से ज्ञात होता है कि पशुओं का विशेषत गायो का क्रय-विक्रय व्यवहार में विनिमय के रूप में भी प्रचलित था[8]। ऋग्वेद-काल मे भी इस प्रथा का उल्लेख मिलता है[9]।

भारतीय साहित्य मे पशुओं के महत्त्व के कारण उनके देवता की भी कल्पना की गई है और वह है—'पशुपति' (रुद्र)। महाभारत-काल मे उसे ग्राम्य और अरण्य पशुओ का पति माना जाता था, क्योंकि मनुष्य की भी गणना पशुओ में है। अतः उसे सर्वभूताधिपति भी माना गया है[10]।

खनिज

महाभारत मे पृथ्वी के पर्याय 'वसुधा' को 'वसुन्धरा' और 'वसुसम्पूर्णा' कहकर उसे सम्पत्तियों की निधि बताया गया है[11]। उससे अन्न, जल, काष्ठ आदि के साथ उसके गर्भ मे विद्यमान स्वर्ण, रजत, ताम्रादि धातुओं और रत्नों की प्राप्ति भी की जाती थी। 'जातरूप'[12] एवं 'त्रिपुर'[13] शब्दों के निर्वचनों मे सुवर्ण, रजत और लोह का वर्णन मिलता है।

1. द्र.–3.12
2. द्र.–पृथ्वी 8.7
3. द्र–3.39
4. गीता 3 14
5. नि. को. 106
6. नि. को 6
7. द्र–8 12
8. द्र–5.6
9. ऋक् 4.24.10, 8.1.5
10. द्र–3 20
11. नि. को. 420
12. नि. को. 186
13. महा. 7.17, 8.24; नि.को. 204 भी देखें।

कात्मक शैली में प्रस्तुत कर ग्रन्थकार ने समाज की इस मान्यता को व्यक्त किया है कि यद्यपि ये प्रवृत्तियां जगत् मे विद्यमान रहती हैं, तथापि अन्ततोगत्वा सत् असत् पर विजय प्राप्त करता है। अनेक बार सत् की स्थापना के लिए कूटनीति के रूप मे असत्कर्मों का अवलम्बन करने का प्रचलन था। कृष्ण की युद्धनीति और इन्द्र की आत्मरक्षा से सम्बद्ध सगर के यज्ञ को अपूर्ण करने[1] तथा विश्वामित्र और शृंगी के तप को नष्ट करने के प्रयत्नों मे यह मान्यता उभरकर सामने आई है।

युद्ध और राजनीति मे विश्व एवं जन-कल्याण की भावना से छल-कपट-युक्त व्यवहार शिष्ट माना जाता था। बालि, ताड़का और जयद्रथ आदि के बध में ये भाव सुव्यक्त हैं। काम से पीड़ित होकर सुन्दर स्त्रियों के अपहरण और रूप-परिवर्तन कर उनका उपभोग करना अनेक आख्यानो[2] मे अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार के संसर्ग से उत्पन्न सन्तान को समाज के भय से चुपचाप अज्ञात रूप में छोड़ भी दिया जाता था[3]। इससे समाज की द्विविध विरोधी प्रवृत्तियों का बोध होता है।

अत्रि आदि सप्तर्षियों से सम्बद्ध आख्यान में घूस या उत्कोच के प्रचलन का सकेत मिलता है। उसे राजा वृषादर्भि ने अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रयोग करने का प्रयास किया, पर ऋषियों ने उसे ठुकरा दिया था[4]। यद्यपि इस प्रकार के उदाहरण और नही आए हैं, तथापि एक राजा के व्यवहार मे से तत्कालीन समाज की प्रवृत्ति प्रतिबिम्बित मानी जा सकती है।

शुनः शेप-आख्यान से प्रतीत होता है कि किसी काल मे मानवो का क्रय-विक्रय भी परिस्थिति-विशेष में हो सकता था[5]। यह स्थिति वीरकाव्यो के काल से पूर्व की भी हो सकती है, क्योंकि शुन शेप आख्यान उनसे प्राचीन है। तथापि वीरकाव्यो मे उसका सन्निवेश उस काल की स्थितियों का भी दर्पण माना जा सकता है। सत्य हरिश्चन्द्र के आख्यान से भी वीरकाव्यों के काल मे इस प्रथा की सत्ता का परिचय मिलता है।

आर्थिक चेतना

कृषि

वीरकाव्यों का काल कृषि-प्रधान था। सम्भवतः राज्य और शासन मे कृषकों का प्रमुत्व रहा। महाभारत के कर्णधार 'कृष्ण' और उनके भाई 'संकर्षण' दोनो मे √कृष् (विलेखने) धातु है, जिससे 'कृषि' शब्द बनता है। कृष्ण का कृषि

1. तत्रैव 1.14 22-25
2. द्र-कंस (4.14) भरद्वाज (5.11) और बुध (हरि. 1.25, तु.-वि.पु. 4.6.10-26) की उत्पत्तियां।
3. यथा कर्ण, कृप-कृपी, द्वैपायन व्यास, प्रमद्वरा आदि।
4. द्र.–5.2. 5. द्र.–देवरात 6.10

तथा शोधन ग्रादि से सम्बन्ध रहा भी है[1]। संकर्षण बलराम के ग्रायुध हल ग्रौर मूसल दोनो कृषि या धान्यादि से सम्बद्ध हैं। पृथिवी का शोधन संस्करण तथा व्यापक रूप से कृषि योग्य बनाने का कार्य पौराणिक पृथु वैन्य ने किया[2]। राजा जनक सीरध्वज है तथा वह हल चलाकर यज्ञ-भूमि-शोधन कर सीता (=हल चलाने से बने चिह्न-खंड) को जन्म देते है[3]। यज्ञादि-धार्मिक कृत्यों का पर्यवसान भी कृषि मे होता है—'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' 'पर्जन्यादन्नसम्भव.'[4]। इस प्रकार सिंचाई की व्यवस्था भी मात्र कृत्रिम न होकर वृष्टि-साध्य भी थी। सम्भवतः गगा, यमुना, शतद्रु, विपाशा, गोमती, चर्मण्वती, सरयू ग्रादि नदियों से भूमि को उर्वरा बनाया जाता था।

पशुपालन

यह भी ग्रार्यों का मुख्य कर्म था। दूध देने वाले ग्रौर कृषि-कर्म में काम ग्राने वाले पशुग्रों का पालन विशेषत: होता था। गो-सम्मान के ग्रनेक उदाहरण मिलते हैं। वह 'कामदुघा'[5] भी थी। इसे 'ग्रघ्न्या' कहा गया है[6]। इससे ज्ञात होता है कि कभी उसका वध प्रचलित था। अतिथि-सत्कार मे तथा यज्ञादि में भी पशुवध होता था। 'चर्मण्वती' मे सम्बद्ध ग्राख्यान ग्रौर निर्वचन मे इसकी पुष्टि होती है[7]। 'गालव' के ग्राख्यान से ज्ञात होता है कि पशुग्रों का विशेषत गायो का क्रय-विक्रय व्यवहार में विनिमय के रूप में भी प्रचलित था[8]। ऋग्वेद-काल मे भी इस प्रथा का उल्लेख मिलता है[9]।

भारतीय साहित्य मे पशुओं के महत्त्व के कारण उनके देवता की भी कल्पना की गई है ग्रौर वह है—'पशुपति' (रुद्र)। महाभारत-काल मे उसे ग्राम्य ग्रौर ग्ररण्य पशुग्रो का पति माना जाता था, क्योंकि मनुष्य की भी गणना पशुग्रों मे है। अतः उसे सर्वभूताधिपति भी माना गया है[10]।

खनिज

महाभारत मे पृथ्वी के पर्याय 'वसुधा' को 'वसुन्धरा' ग्रौर 'वसुसम्पूर्णा' कहकर उसे सम्पत्तियों की निधि बताया गया है[11]। उससे ग्रन्न, जल, काष्ठ ग्रादि के साथ उसके गर्भ मे विद्यमान स्वर्ण, रजत, ताम्रादि धातुओं ग्रौर रत्नो की प्राप्ति भी की जाती थी। 'जातरूप'[12] एवं 'त्रिपुर'[13] शब्दों के निर्वचनों मे सुवर्ण, रजत ग्रौर लोह का वर्णन मिलता है।

---

1. द्र.–3.12
2. द्र.–पृथ्वी 8.7
3. द्र–3.39
4. गीता 3 14
5. नि. को. 106
6. नि. को 6
7. द्र–8.12
8. द्र.–5.6
9. ऋक् 4.24.10, 8.1.5
10. द्र–3 20
11. नि को. 420
12. नि. को. 186
13. महा. 7.17, 8.24; नि को. 204 भी देखें।

खाद्याखाद्य

देशविदेश की आर्थिक स्थिति के अनुकूल ही उसके खान-पान का स्तर होता है। इस दृष्टि से विवेच्य ग्रन्थों का काल समृद्ध कहा जा सकता है, क्योंकि वहां अनेक धान्यो और सुन्दर खाद्य पदार्थों के उल्लेख मिलते हैं। मांस[1], 'कल्माषपाद'[2], 'त्रिशकु'[3] आदि शब्दो के सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि इस समय धान्यान्न के समान ही मास-भक्षण का भी प्रचलन था। सौदास कल्माषपाद के आख्यान मे[4] नर-मास-भक्षण का सन्दर्भ आया है, पर उसे निन्दनीय बताया गया है।

प्रकृत ग्रन्थो मे कुछ सन्दर्भ सुरा-पान के भी मिलते हैं। ऋग्वेद में सोमपान का उल्लेख है[5] पर वहां सुरा शब्द भी मिलता है[6]। अनेकत्र उसके मद्य से भिन्न अर्थ भी मिलते हैं[7]। रामायण और हरिवंश मे इसे 'वारुणी' कहा गया है[8]। प्राकृतिक पदार्थों मे दैवी शक्ति की कल्पना भारतीय साहित्य की एक विशेषता रही है। लौकिक और वर्ज्य पदार्थो को दैवी रूप देकर उनमे पवित्रता, सार्थकता और ग्राह्यता लाना भी उद्देश्य हो सकता है[9]। रामायण मे सुर और असुर के निर्वचनों के सन्दर्भ मे भी सुरापान का उल्लेख है. पर वहा प्रचलित धारणा के विपरीत यह बताया गया है कि देव-समाज उसे अनिन्दित मानते हुए पीता था और असुर-समाज उसे नही पीता था[10]। मद्यपान के सन्दर्भ अन्यत्र भी मिलते है, पर उसे गर्हणीय ही बताया गया है[11]।

भौगोलिक चेतना

वीरकाव्यो के कतिपय निर्वचनों से तत्कालीन भौगोलिक, ज्ञान का पता चलता है। पृथ्वी शब्द के निर्वचन से उसकी प्रारम्भिक अवस्था का अनुमान होता है, क्योंकि राजा पृथु ने उसे वर्तमान रूप मे लाने का प्रयत्न किया था। पृथ्वी के अपर पर्याय 'अचला' से द्योतित होता है कि उसे स्थिर माना जाता था, किन्तु यह वैदिक मान्यताओं[12] और आधुनिक भौगोलिक धारणा के विपरीत है। वस्तुतः इस शब्द में पर्युदास नञ् प्रतीत होता है[13]। उस अवस्था मे इसका अर्थ अचल-भिन्न, परन्तु चल-

1. नि. को. 358
2. नि. को. 97
3. द्र.-6.8
4. वा. रा. उत्तर अ. 65 और महा. चि. आदि अ. 166 देखें; नि. को. 97 और 581 भी देखें।
5. द्र.-ऋक् नवम मण्डल।
6. ऋक् 7.86.6,8.2.12 आदि।
7. उदक (निघण्टु 1.11.25) यश (श. ब्रा. 12 7.3.14) ओषधिरस (अथर्व 10.-6.5) आदि।
8. वा. रा बाल 46.35; हरि. 2.41.17-21
9. द्र.–3 34
10. वारा. बाल 45.37-38
11. वि.पु. 2.6.9. म.पु 25.62
12. दयानन्द, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका·······पृथिव्यादिलोकभ्रमण·····विषय
13. 'प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता'–सा. द. सप्तम परिच्छेद-पृ. 388

सदृश हो जायेगा। अथवा यह नाम चर्मचक्षु से दिखलाई पड़ने वाली स्थिति का बोध कराने वाला मात्र भी हो सकता है, क्योंकि इसके एक अन्य पर्याय गो[1] में चलत्व सुस्पष्ट है। 'मेदिनी'[2] शब्द की पौराणिकी व्याख्या कुछ भी हो, पर वस्तुतः इस शब्द के माध्यम से उसमें जलीय तत्त्व का प्राधान्य (3/4 भाग या 73.8) अभिप्रेत है[3]।

सूर्य

आज भूगोल सूर्य को नक्षत्र मानता है, ग्रह नहीं। यही बात–'आदित्य' शब्द के एक निर्वचन[4] से ज्ञात होती है, जिसकी पुष्टि वैदिक उल्लेखों से भी होती है[5]। ऋग्वेद में तो सूर्य को स्पष्टतः नक्षत्र बताया गया है और मैक्डानल का उस पर मत है कि ऋग्वेद मे 'नक्षत्र' शब्द एकवचन में सदैव सूर्य का वाचक है[6]।

तूफान

राजा 'शान्तनु' की उत्पत्ति से सम्बद्ध हरिवंशीय आख्यान[7] से यह स्पष्ट होता है कि उस काल मे समुद्रों में तूफान और बाढ़ भी आते थे, जिनकी शान्ति तत्कालीन जनों को अभीष्ट होती थी[8]।

वाडवाग्नि

'और्व' शब्द के माध्यम से समुद्रों मे वाडवाग्नि की सत्ता द्योतित की गई है[9]। आज उसे 'गर्मधारा', लहरों और कणों के संघर्ष से उत्पन्न विद्युत् अथवा समुद्रतलवर्ती प्रकाशमय जीवों की उछाल के रूप मे देखा जा सकता है।

विविध

इसके अतिरिक्त रत्नों के बाहुल्य से युक्त पर्वत के कारण 'क्रौञ्च' द्वीप, तपःक्षेत्र के रूप मे 'कुरुक्षेत्र', श्रीकृष्ण द्वारा किये गये कंसवध के कारण बद्धवैर जरासन्ध द्वारा कृष्ण-वध के लिए प्रक्षिप्त गदा के कारण 'गदावसान', एक महायुद्ध या नर-संहार पर प्रकाश डालने वाले 'समन्तपंचक' आदि देशों या स्थानों, प्रबल सामरिक सुरक्षा-साधनों के कारण अजेय अथवा संघर्षादि से मुक्त 'अयोध्या', 'दानवों' डाकुओं या असामाजिक तत्त्वों से शत्रुघ्न के द्वारा मुक्त की गई 'मथुरा' आदि नगरियों, रीछों के आधिक्य के कारण 'ऋक्षवान्', हिमवान् की पत्नी मेना का स्मरण दिलाने वाले

1. गोविन्द (नि. को. 166)
2. नि.को 377; द्र.–8 8
3. तु.–यजु: 19.36, श. ब्रा. 6 4 1.3, मनु. 3.8, ऋक् 10.128.3, तै. ब्रा. 1.1.3.5
4. नि. को. 49 (V); द्र.-पृ. 266.
5. श. ब्रा. 2 1.2.18, तु.-नि. 2.13
6. वैदिक रीडर-पृ. 135-136
7. द्र.-6.22
8. नवम्बर 19 सन् 1977 को आए ऐसे ही तूफान ने आन्ध्र और तमिलनाडु के लाखों लोगों को विनष्ट कर दिया था।
9. द्र-8.11

'मैनाक', शिलासमुच्चय के कारण 'शैल', हरे-भरे अथवा यज्ञादि से समुज्ज्वल 'श्याम' आदि पर्वतों, महोदर ऋषि की जङ्घा मे लगे राक्षस-कपाल से ऋषि को मुक्ति देने वाले 'कपालमोचन', सरस्वती नदी के लोपस्थान 'विनशन' आदि तीर्थों, कौशिक द्वारा निर्मित 'कौशिकी', गोयुत और अनूप गुणवाली 'गोमती', यज्ञार्थ गवालम्भन से प्राप्त चर्मराशि से उत्पन्न 'चर्मण्वती', पुत्रशोक से अपने को पाश से बांधकर गिरने वाले वसिष्ठ को पाशमुक्त करने वाली 'विपाशा' और उन्हे शतधा होकर बचाने वाली 'शतद्रु' आदि नदियो, ब्रह्मा के मन से उत्पन्न 'मानस', समस्त वन को प्रकाशित करने वाले 'वैभ्राज' आदि सरोवरो, यथानाम 'भ्रगारपर्ण', हरि-चक्र की नेमि से सम्बद्ध 'नैमिषारण्य' और मधु नामक दानव से युक्त 'मधुवन' आदि वनो, अज्ञात स्वरूप वाले 'कोविदार', विष्णुपदी के उपरि भाग मे उत्पन्न होने वाले 'पारिजात' अपने पुष्प-नाम से विख्यात 'मन्दार' आदि वृक्षो, गौओं-पशुओ मे दारुणाकृति 'अरिष्ट', इरावती-पुत्र 'ऐरावत; मृगी-पुत्र 'मृग' और 'सर्वसहा' गौ आदि, तथा गुरु भार लेकर उड़ने वाले 'गरुड', भासी के पुत्र 'भास' नता की पुत्री 'विनता', श्येनी के पुत्र श्येन, सुन्दर पंखों से युक्त 'सुपर्ण' आदि पक्षियों के भी निर्वचन प्राप्त होते हैं, जो तत्कालीन मानवेतर जगत् का परिचय देते हैं।

वैज्ञानिक चेतना

निर्वचनो के माध्यम से तत्कालीन वैज्ञानिक चेतना पर भी प्रकाश पड़ता है। विज्ञान का जो स्वरूप आज है, वैसा तो प्राचीन ग्रन्थों में नही मिलता और न वहां प्रयोगात्मक स्थिति का आभास मिलता है पर निम्न उदाहरणों में विज्ञान-तत्त्व परखे जा सकते हैं।

आयुर्विज्ञान

महाभारत मे भगवान् को 'त्रिधातु' कहा गया है[1], क्योंकि इनकी सुस्थिति से जीवों की सत्ता और क्षीण होने से उनका विनाश होता है। आयुर्वेद मे वात-पित्त कफ को शरीरस्थ तीन धातु माना गया है, जिनकी सुस्थिति से प्राणि-शरीर स्वस्थ रहता है और इनके दुष्ट होने पर प्राणि-शरीर क्षीण होता हुआ समाप्त हो जाता है। अतः इस त्रिधातु नाम से उस काल मे आयुर्वेद की रोग-निदान-प्रक्रिया और स्वास्थ्य की अवधारणा की उन्नत स्थिति का बोध होता है।

शरीर को रुग्ण बनाने वाली व्याधि होती है, जिसे 'रोग' के निर्वचन मे स्पष्ट किया गया है[2]। महाभारत में शरीर के प्रमुख रोग 'ज्वर' का निर्वचनपरक उल्लेख आया है[3], जिसे शिव के स्वेद से उत्पन्न बताया गया है। यहां ज्वर का मानवीकरण करके यह व्यवस्था दी गई है कि पसीना आने से ज्वर उतर जाता है। अथवा उक्त कथन मे यह प्रतीत होता है कि पसीना आने के बाद की स्थिति को मूलतः ज्वर

---

1. नि. को. 202
2. नि. को. 405
3. नि. को 191 प

माना जाता था और इसी आधार पर उससे पूर्व की स्थिति को भी कालान्तर में यह नाम दे दिया गया होगा।

शरीरस्थ प्रमुख पांच वायुओं का परिकल्प योगशास्त्र के अनुरूप था तथा उनके पृथक्-पृथक् कार्यों का ज्ञान था। प्राणियों का प्राणन अथवा उनमें प्राणों का संचार करने वाली वायु 'प्राण'[1] कहलाती थी। ऊर्ध्व संचरण से वह 'उदान'[2], अधः संचरण द्वारा मूत्रपुरीषादि का वहन करने के कारण 'अपान'[3], हृदय में स्थित होने से 'समान'[4] और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से 'व्यान'[5] मानी जाती थी।

'स्कन्द'[6], 'द्रोण'[7], 'भृगु'[8] और गन्धारी के शतपुत्रों[9] की उत्पत्ति सम्बन्धी आख्यानों से प्रतीत होता है कि उस काल में परखनली में शिशु-उत्पादन जैसी कोई व्यवस्था रही होगी[10]। 'संकर्षण' की उत्पत्ति से सम्बद्ध पौराणिकी आख्या[11] कुछ भी हो, पर उसे स्पष्ट गर्भ—प्रत्यारोपण का उदाहरण माना जा सकता है।

सन्तानोत्पत्ति सरलतया न होने पर कुछ उपचारादि किये जाते थे। 'अश्मक'[12] की उत्पत्ति और नामकरण से किसी अश्महनन प्रक्रिया का आभास मिलता है, जिससे सरलतया और शीघ्र सन्तानोत्पत्ति हो जाय। इस प्रक्रिया का अवलम्बन गन्धारी ने भी किया था[13], जिससे मांसपेशी और फिर शतकुम्भों से शतपुत्र उत्पन्न हुए थे। 'अश्मन्' का तात्पर्य यदि प्रस्तर न लें, तो औषधि-विशेष या रत्न-विशेष के प्रयोग की भी कल्पना की जा सकती है, क्योंकि 'अश्मगर्भ' का अर्थ हरिद्वर्ण मणि या गारुत्मत मणि होता है और 'अश्मज' शिलाजतु का नाम है।

महाभारत में पुरुष से सन्तानोत्पत्ति का एक उदाहरण प्राप्त होता है। युवनाश्व के 'जठर' से एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसे इन्द्र ने उंगलिया पिलाकर पुष्ट किया था और 'मान्धाता' नाम रखा था।[14] शिखण्डी को कुबेर के अनुचर से जीवन-भर के लिए पुरुषत्व प्राप्त हुआ था।[15] इस उपाख्यान से प्राचीन काल में लिंग-परिवर्तन सम्बन्धी चिकित्सा का संकेत मिलता है। राजा ययाति ने अपनी

---

1. नि. को. 306
2. नि. को. 66
3. नि. को. 25
4. नि. को. 543
5. नि को. 473
6. नि. को. 585
7. नि. को. 232
8. नि. को. 332 (5.12)
9. महा. चि. 1.115
10. 'इंग्लैण्ड के ओल्याम के अस्पताल में डा. पैट्रिक स्ट्रेप्टो और राबर्ट एडवर्ड द्वारा प्रथम 'टेस्ट ट्यूब बेबी' लुई का 25 जुलाई 1978 में जन्म। द्वितीय टेस्ट ट्यूब 'दुर्गा' की कलकत्ता मे डा. सुभाष मुखर्जी, डा. सरोज कान्ति भट्टाचार्य और डा. सुनीति मुखर्जी द्वारा 3 अक्टूबर 1978 में उत्पत्ति। विशेष द्रष्टव्य-कादम्बिनी-पृ. 44-47–सितम्बर 1978; नवनीत-पृ. 24-28 सितम्बर 1978
11. द्र.-हरि 2.2
12. नि. को. 39
13. महा.चि. 1.115.15–16
14. नि.को. 362
15. भा.च. पृ 460

जरा का, कनिष्ठ पुत्र पुरु के यौवन से, विनिमय किया था।[1] यौवन की यह पुनः प्राप्ति आयुर्विज्ञान की उन्नत अवस्था की द्योतिका मानी जा सकती है।

उस काल में शल्य-चिकित्सा उन्नत अवस्था में थी। उसके द्वारा पृथक्शः दो भागों में उत्पन्न बच्चे को जोड़कर पूर्ण शिशु बना दिया जाता था। 'जरासंध' की उत्पत्ति इसी प्रकार की थी।[2]

उत्तरा के मृत अथवा मृतवत् पुत्र परिक्षित् को छः मास तक कुन्ती के पास रखा गया था और फिर उसे जीवन मिला था[3]। इससे भी समृद्ध आयुर्विज्ञान का पता चलता है।

अन्तरिक्ष (स्पेस)

महाभारत तथा अन्य पुराणों में सप्त वातस्कन्धों के नाम और वर्णन किंचित् भेद के साथ प्राप्त होते हैं, जिससे तत्कालीन अन्तरिक्ष विषयक ज्ञान का आभास होता है। 'प्रवह' नामक प्रथम वायु धूमज और ऊष्मज अभ्रसंघातों (ओलों) को प्रेरित करता है[4]। 'आवह' वायु आकाश में मेघ और विद्युत्-सन्दोह के लिए स्नेह का संचार करता है[5]। 'उद्वह' अन्तरिक्षवर्ती सोमादि ज्योतिष्पिण्डों का उदय करता है और चारों समुद्रों से जल ग्रहण कर उससे मेघों को संयोजित करता है[6]। नीले मेघों को वहन करने वाला, संहृत होकर गर्जना करने वाला 'संवह' नामक वायु है। यही देव-विमानों के चलने का मार्ग भी है[7]। मेघों से सम्पन्न 'विवह' नामक वायु दारुण उत्पातों का संवरण करने वाला है[8]। 'परिवह' आकाशचारी जल और आकाशगंगा के जल का विष्टम्भन करता है। इसमें सूर्य दूर से प्रतिहत होता है और अमृतनिधि चन्द्रमा वायु से पुष्ट होता है[9]। 'परावह' नामक वायु समस्त प्राणियों के प्राणों का निरसन करने वाला है। मृत्युदेव और वैवस्वत दोनों इसके मार्ग का अनुसरण करते हैं। यह ध्यानाभ्यासी शान्त तपस्वियों को अमृतत्व प्रदान करता है और यह दुरतिक्रम होता है[10]। यह 'परिवह' के ऊपर विद्यमान अन्तिम सप्तम वातस्कन्ध है। यद्यपि यह विवेचन पौराणिक पारिभाषिक शैली में है, पर अन्तरिक्ष से सम्बद्ध वैज्ञानिक चेतना पर भी प्रकाश डालता है।

वनस्पतियों में जीव

वृक्ष और वनस्पतियों से सम्बद्ध निर्वचन भी प्राप्त होते हैं। 'उद्भिज्ज' भूमि और जल के संयोग से पृथ्वी का भेदन करके उत्पन्न होते हैं[11]। 'कोविदार' वृक्ष

---

1. हरि. 1.30 34, द्र.–भा.च.–पृ. 357
2. नि.को. 105
3. महा. 14.69
4. नि.को. 304
5. नि.को. 53
6. नि.को. 69
7. नि.को. 528
8. नि.को. 441
9. नि.को. 269
10. नि.को. 266
11. तथा भूम्यम्बुसंयोगाद् भवन्त्युद्भिदजाः श्रिये–13.अपे.15.2398; द्र.–नि.को. 68

भूमि के विदारण से उत्पन्न होता है, किन्तु निर्वचन मे वृक्षविशेष के प्रति जिज्ञासाभाव भी प्रकट किया गया है[1]। उद्भिज्ज से सम्बद्ध अनुशासन पर्व के एक अन्य पाठ-भेद मे उद्भिज्ज (वृक्षादि) को जन्तु या जीव कहा गया है[2]। पुराणों के सृष्टि प्रकरण मे वृक्षोत्पत्ति को मुख्य सर्ग माना गया है[3]। 'पादप' के निर्वचन मे बताया गया है कि जिस प्रकार मनुष्य कमल-नाल से पानी ऊपर खीचता है, उसी प्रकार वृक्षादि जड़ रूपी पैरों से जलादि ग्रहण करते हैं[4]। यहीं नही, डा. जगदीश चन्द्र वसु की खोज जन्य मान्यताओं के समान उन्हें सुनने वाला, देखने वाला और सूंघने वाला आदि भी कहा गया है[5]। हां, इनमे वे पांच धातुएं (त्वक्, मांस, अस्थि, मज्जा और स्नायु) नहीं होती[6], जो जङ्गमो मे होती है[7]।

इस प्रकार महाभारत[8] और पुराणादि[9] में वृक्षादि को सचेतन प्राणी माना गया है। मनु ने इन्हें सुखदुःखसमन्वित अन्तःसंज्ञ[10] और उदयनाचार्य ने 'अतिमन्द अन्तःसंज्ञ'[11] कहा है[12]।

'इक्ष्वाकु[13] और उनके पूर्वज 'क्षुप'[14] के निर्वचनों मे इन्हे छींक से उत्पन्न बताया गया है, जो विश्वसनीय नहीं है। इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि ग्रन्थकार वनस्पति शास्त्र की भाषा मे 'इक्षु' (गन्ना) का विकास 'क्षुप' (झाड़ी) से बताना चाहता है—क्षुप ∠ इक्षु। 'इक्ष्वाकु' मे 'इक्षु' शब्द का स्वीकरण अपनी शैली मे वैयाकरणो ने किया है[15] और बौद्धों के महावस्त्वदान नामक सस्कृत ग्रन्थ में इक्ष्वाकु की उत्पत्ति सूखने से बचे एक इक्षुदण्ड से बताई गई है[16]।

हीरा-कोयला

'अंगिराः' अंगारों से उत्पन्न होता है[17]। अतः अंगारों अर्थात् कोयला से उत्पन्न होने वाले हीरे (डायामाण्ड) को भी 'अंगिराः' माना जा सकता है, क्योंकि

1. नि.को. 133
2. उद्भिज्जा जन्तवो यावच् शुक्लजीवा यथा तथा। अनिमित्तात् सम्भवन्ति।
3. तु.-ब्रह्माण्ड 1.5.33–34; कू.पु. 1.7.3–5, वा.पु. 6.38–40.
4. नि.को. 2/5
5. 'तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः''''''''पश्यन्ति पादपाः' '''''जिघ्रन्ति पादपाः'–महा.चि. 12.184.12–14
6. वृक्षानां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः–तत्रैव 7
7. तत्रैव 20
8. तत्रैव 17
9. ब्रह्माण्ड 1.5.34
10. मनु. 1.49
11. किरणावली–पृ 57
12. विशेष द्रष्टव्य–'वृक्षवाची शब्दः' डा. शिवसागर त्रिपाठी–'भाषा' जून 1975. पृ. 54
13. नि.को. 56
14. नि.को. 142
15. द्र.–6.3
16. द्र.–हि.वि. (वसु)
17. द्र.–5.1

इसका निर्माण अतिशय भारस्वरूप कोयले से ही होता है। 'अङ्गिराः' को एक आर्य-वैज्ञानिक भी माना जा सकता है, जो अग्निसमूह से जीवित कोयला निकालने की कला जानते थे। इन्हें अग्नि और आग्नेयास्त्रों का ज्ञाता और प्रयोक्ता भी कहा जा सकता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार ऊपर कतिपय शब्दों के निर्वचनों में प्रतिबिम्बित तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक और वैज्ञानिक चेतना पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में वीरकाव्यगत अन्य सांस्कृतिक वर्णनों का परिहार, विस्तार और पिष्टपेषण के भय से, किया गया है।

——

दशम अध्याय

उपसंहार

यह निर्विवाद सत्य है कि संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा है। शब्द-भण्डार की समृद्धि और अर्थगत सुनिश्चितता इसकी अपनी विशेषता है। यहां शब्द की प्रवृत्ति, आर्थी संगति और प्रयुक्ति पर प्रारम्भ से ही ध्यान दिया गया है, यही कारण है कि भारतीय शब्द-ब्रह्मोपासना और भाषा-चिन्तना विश्व में सर्वप्राचीन है। एतत्-सम्बद्ध इतिहास को देखने से पता चलता है कि प्राचीन भाषाशास्त्री जहां एक ओर व्याकरण के घटकों पर विचार करके उसे पुष्ट बना रहे थे, वहा दूसरी ओर व्युत्पत्ति-चिन्तन के द्वारा शब्दों के अन्तस्तल में जाकर उनके उचित प्रयोग द्वारा भाषा-समृद्धि में योगदान कर रहे थे। इस प्रकार का साहित्य वैदिक साहित्य, वीरकाव्यों, पुराणों और उप-पुराणों में प्रचुर मिलता है[1]। यह परम्परा साहित्यशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, दर्शन और तन्त्र आदि शास्त्रों और ललित साहित्य मे भी यत्र तत्र मिलती है[2], यहां तक कि आज भी कवि, लेखक और वक्ता इसका आश्रय लेने से नही चूकते। यह निर्वचनों के सार्वभौम महत्त्व और उनके परवर्ती प्रभाव को इंगित करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल वीरकाव्यों के निर्वचनों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार निर्वचनों के अध्ययन की जो परम्परा वैदिक निर्वचनों के अध्ययन तक सीमित थी, उसे यहां आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया है। वीरकाव्यों मे इन निर्वचनों का प्रयोग आख्यानों मे सजीवता लाने के लिए, भक्तों, पाठकों और श्रोताओं पर प्रभाव डालने के लिए, कथ्य के प्रमाणीकरण के लिए, देवों और देवयोनियों के प्रति श्रद्धा, भक्ति और विश्वास तथा राक्षसादि के प्रति भयङ्करता द्योतित करने और उनके प्रति घृणाभाव जागृत करने के लिए, अपनी सुरक्षा-हेतु

1. लि.पु. पू. अ. 65, 70, 98; म.पु. अ. 248, वा. पु.–अ. 5, 30 ब्रह्म अ. 40, वामन-अ. 47, भा.पु 21.9.6 स्कन्द-काशीखण्ड आदि, देवी पुराण–अ. 37, साम्ब पु.–अ. 8 आदि।
2. यथा-अभिनय–ना. शा. भाग-2-8.6-7; औचित्य-औ. च. कारिका-7; पाखण्ड-अमर सुधा, 2.7.44; होरा–(वराहमिहिर) द्र.-ना. भा. ग; पाद-ना.शा. 14.104; पुरुष-शंकरविजय-अ. 13, आदि। अभिसारिका-सा.द. 3.76, पिता-रघु. 1.24; रघु–रघु. 3.21, हाहा-नैषध 3.27, मधुसूदन–माघ 15.23, पुण्डरीक–का. पृ. 273 आदि।

दुर्बोधता लाने के लिए, वंश-परम्परा अथवा गोत्रादि द्योतन के लिए, व्यक्ति या स्थान-विशेष की आकृति, वर्ण, गुण, कर्म, शक्ति, स्वभाव आदि के प्रकट करने के लिए अथवा ऐतिहासिक या भौगोलिक दृष्टि-निक्षेप करते हुए परिवार तथा समाज के विभिन्न घटकों के मौलिक रूप के परिचय प्रभृति उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है।

प्रकृत अध्ययन से यह पता चलता है कि इन ग्रन्थों मे सामान्य शब्दों के और व्यक्तिवाचक नामों के निर्वचन किये गए हैं। इन निर्वचनों में अपनाई गई दृष्टियों में से कुछ तो परम्परा से प्राप्त हैं और कुछ नई हैं[1]।

इस ग्रन्थ में प्रस्तुत शब्दों के विवेचन से ज्ञात होता है कि वैदिक साहित्य में जो बात सूत्र रूप में निर्दिष्ट हुई है, वह यहां विस्तार से और कभी-कभी मनोरञ्जक रूप में प्रस्तुत की गई है। सम्भवतः इसी दृष्टि से वेदार्थ-रक्षा में वेदांगों की भांति वीरकाव्यों का भी योगदान माना जाता रहा है।

तुलनात्मक दृष्टि से निर्वचनों पर विचार करने पर वैदिक युगीन धारणाओं और उन धारणाओं के वीरकाव्य-काल मे परिवर्तन की स्थितियों पर भी प्रकाश मिलता है। इसका संकेत उक्त अध्यायों में निर्वचनों के अध्ययन में यथास्थान दिया गया है[2]।

शब्द मानव के सारस्वत जीवन का प्राण है, जो उसके समस्त व्यवहार, ज्ञान, विज्ञान और संस्कृति में ओत-प्रोत रहता है। उसका तात्त्विक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से सम्यक् परिज्ञान मानव का कर्त्तव्य है, जिसके पूर्ण करने में निर्वचन अपनी प्रमुख भूमिका निभाता है। इसे प्राचीन साहित्यकारों ने समझा था और उन्होंने निर्वचनों का यथावसर खुलकर प्रयोग किया था। वीरकाव्यगत निर्वचनों का प्रस्तुत अध्ययन इन तथ्यों को भली भांति हृदयंगम कराता है।

प्रस्तुत अध्ययन में तीन प्रकार के शब्द हैं—यौगिक, योगरूढ और रूढ। इनमें प्रथम का तो प्राण ही निर्वचन है। द्वितीय और तृतीय में भी उसका आंशिक पर महत्त्वपूर्ण-योगदान रहता है, अर्थात् रूढगत अर्थ भी यौगिक प्रक्रिया से उद्भूत होकर विकसित होते हैं।

अर्थविनिश्चय के लिए तीन शब्दशक्तियां होती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अभिधा के द्वारा मुख्यार्थ की प्राप्ति निर्वचन का आश्रय लेकर होती है और मुख्यार्थ का बाध होने पर लक्षणा[3] और फिर व्यंजना-व्यापार[4]। इन दोनों का

---

1. द्र.–अध्याय 1–2
2. प्रथम अध्याय-अनुच्छेद 14–18 भी देखें।
3. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
   अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ —का. प्र. 2/9
4. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्यालोक 1.13. तु.–का. प्र. 2.19

भी मूलाधार निर्वचन ही होता है, यही स्थिति तात्पर्या वृत्ति[1] की भी है। इसीलिए भर्तृहरि वाच्यार्थ को मुख्यता देते हैं और शब्दशक्तियों की आवश्यकता नहीं समझते प्रतीत होते हैं। वे तो शब्द को अर्थ का और अर्थ को शब्द का कारण मानते हैं[2]। प्रस्तुत अध्ययन से वीरकाव्यकारों की भी कुछ ऐसी ही धारणा प्रतीत होती है।

रामचन्द्र वर्मा ने शब्दों का आर्थी महत्त्व बतलाते हुए ठीक ही लिखा है कि 'जिस प्रकार कुशल चिकित्सक के लिए सभी प्रकार की ओषधियों के गुणों, परिणामों और प्रभावों का पूरा ज्ञान आवश्यक होता है, उसी प्रकार कुशल लेखक या साहित्यकार के लिए भी शब्दों के अर्थों, आशयों और विवक्षाओं का पूरा ज्ञान भी परम आवश्यक है[3]। इस पूर्ण ज्ञान में निर्वचन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है—यह वीरकाव्यों के निर्वचन प्रयोगों और प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता है।

प्रस्तुत विवेचन से अभिव्यक्त होता है कि लेखन, कथन और भावप्रकाशन में मस्तिष्क के क्षितिज पर अनेक शब्द आते हैं, उनमें से स्तर और स्थिति के अनुकूल निर्वचन और प्रयोग के आधार पर अन्यतम का चयन किया जाता है। फलतः निर्वचन-निकष पर कसे अर्थवत्तामय प्रयोग जनित स्वस्थ एवं सबल भावाभिव्यक्ति के कारण रचना में सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इस प्रकार रचना-सौन्दर्य के लिए निर्वचन की निश्चित उपयोगिता है।

वीरकाव्यों की निर्वचनपरम्परा बताती है कि शब्दों का वास्तविक ज्ञान और उनकी सामर्थ्य तथा गरिमा का पता निर्वचन के द्वारा चलता है। निर्वचन के द्वारा ही पर्यायवाची शब्दों का निर्माण होता है और उनका पृथक्शः परिज्ञान होता है, क्योंकि कोई भी शब्द वस्तुतः दूसरे का पर्याय नहीं होता है।

शब्द ज्ञान प्रायः वृद्ध-व्यवहार, गुरुकथन या कोश-प्रयोग से होता रहता है, पर मस्तिष्क में अर्थ के स्थायित्व के लिए निर्वचनानुसारी व्याख्या बहुत उपयोगी रहती है। वीरकाव्यों के रचयिताओं के बहुत से निर्वचन इसी दृष्टि से प्रवृत्त हुए हैं, यथा 'भारद्वाज' का निर्वचन, तत्सम्बन्धी आख्यान और तद्गत तथ्यों को हृदयगम कराने के लिए ही दिया गया है।

मूल भावों की दुर्बोध भाषा और भावों को स्पष्ट करने के लिए भी निर्वचन सहायक रहता है। वीरकाव्यकारों ने भी यह लाभ उठाया है। सप्तर्षि और यातुधानी के आख्यान में प्रयुक्त निर्वचनों में दुर्बोधता लाने का लक्ष्य रखा गया है। इस आख्यान में श्लेष शब्दालङ्कार का स्पष्टीकरण निर्वचन के द्वारा किया गया है। अग्निपुराण भी निर्वचनों की इस उपादेयता को स्वीकार करता है—

1. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्—का. प्र. 2.6 2. वा. 3.3.32
3. शब्दार्थदर्शन-पृ. 120

ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुमिह क्षमाः ।
शब्दालङ्कारमाहुस्तान् काव्यमीमांसका विदः[1] ।।

भाषा का प्रयोग युगानुरूप परिवर्तित होता रहता है। प्राचीन शब्दों का नवीन अर्थों और प्रकरणों मे प्रयोग होने लगता है। इनकी संगति निर्वचन के माध्यम से ही सम्भव होती है। वीरकाव्यों के काल में भी अनेक वैदिक पदों का प्रयोग नवीन अर्थों और प्रकरणो मे हुआ[2]। इन काव्यों ने उन सन्दर्भों को निर्वचनो के माध्यम से अभिव्यक्त कर पुरानी धारा के प्रयोग से भेद को इंगित किया है। उदाहरणार्थ 'आदित्य' का एक निर्वचन[3] रुद्र के संहारक पक्ष से तादात्म्य को अभिव्यक्त करता है। यह भाव यास्कीय निर्वचनो में उपलब्ध नही। 'भरद्वाज' का निर्वचन भिन्न प्रकरण और परिस्थितियों का द्योतक है[4]। 'अघ्न्या'[5] का निर्वचन भावना मे परिवर्तन को इंगित करता है।

शब्दो के अध्ययन से देशविशेष या जातिविशेष की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक परम्परा, चेतना, विश्वास और रीतियो आदि का पता चलता है[6]। कभी-कभी तो यह ज्ञान अन्य साधनो की अपेक्षा कही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। वीरकाव्यो के निर्वचनो से यह तथ्य सुव्यक्त होता है। वहां देवताओ का अग्नि के माध्यम से यज्ञ-भाग-ग्रहण[7], राजा का प्रजारंजक होना[8], आर्यों का भारत का मूल निवासी[9] होना, परिवार में पिता और जनक का भिन्न व्यक्ति होना[10], दत्तक प्रथा[11], विनिमय प्रथा[12] आदि, पृथ्वी पर जल-तत्त्व का प्राधान्य[13], और सूर्य के नक्षत्रत्व को पुष्टि[14] आदि वीरकाव्यकालीन चिन्तनधाराओं को सम्बद्ध निर्वचनो मे देखा जा सकता है।

साहित्य मे अनेकशः अपनी बात को प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करने की परिपाटी दृष्टिगत होती है। महाभारत की प्रतीक-योजना अत्युन्नत कही जा सकती है। जहां कूटश्लोकों[15], की संख्या 8800 बताई गई है[16]। यहां भी प्रथमतः निर्वचन का ही आश्रय लिया जाता है और फिर उससे निकले रहस्यात्मक, दार्शनिक और गूढ़ अर्थों का परिज्ञान होता है। महाभारत मे 'स्थाणु' का स्पष्टीकरण निर्वचन-पद्धति से किया गया है[17]। गीता के अव्यय (संसार-वृक्ष के रूप में ब्रह्म)

---

1. म. पू. 341.18-19
2. द्र.-पृश्निगर्भ 3.21
3. नि.को. 49 (VI)
4. द्र०-5.11
5. नि.को. 6
6. द्र.– नवम अध्याय।
7. द्र०-म. 9 पृ. 273
8. तत्रैव पृ. 276
9. तत्रैव पृ 279
10. तत्रैव पृ. 281
11. तत्रैव पृ. 283
12. तत्रैव पृ. 285
13. तत्रैव पृ. 287
14. तत्रैव पृ. 387
15. यहां 'कूटश्लोको' का भाव 'दुर्बोध प्रतीकात्मक कथनों' से है।
16. महा. चि. 1.1.81
17. नि.को 586

को ऊर्ध्वमूल और अधः शाखावाला कहा गया है।[1] । 'गोविन्द'[2] के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ निर्वचनों में प्रयुक्त प्रतीक का स्पष्टीकरण देते हुए आध्यात्मिक अर्थ की ओर भी संकेत किया गया है[3]।

प्रस्तुत शाब्दिक विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि शब्द-ज्ञान के लिए व्याकरण एक प्रमुख साधन है। शाब्द निर्वचनो जैसे अंगदीया[4], आदित्य[5], और्व,[6] काण्वायन,[7] कात्यायन[8], काम्प[9] और चैद्य[10] प्रभृति में वीरकाव्यों ने व्याकरण का पर्याप्त ध्यान रखा है। आर्थ निर्वचनों मे सर्वत्र यह सम्भव नही था। परिणामतः अग्नि[11], अतिथि[12], अत्रि[13], अरुन्धती[14], और अश्विनौ[16] प्रभृति आर्थ-निर्वचन व्याकरण की दृष्टि से शिथिल और अनेकशः अस्वीकार्य हैं।

विवेचित निर्वचनो मे अनेक ऐसे शब्दों और धातुओ का ज्ञान होता है, जो पहले विद्यमान न थे अथवा उस अर्थ मे प्रयुक्त न होते थे। इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं का ज्ञान होता है, जो अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध से आदित्य[16], परिक्षित्[17], बीभत्सु[18] और भारद्वाज[19] आदि के विवेचन द्रष्टव्य हैं[20]।

ध्वन्यात्मक या शाब्दिक साम्य के कारण अनेक काल्पनिक निर्वचनो की सत्ता साहित्य मे होती है, जिन्हें विद्वानो ने 'फोक', 'पापुलर', 'फैन्सीफुल' या 'भ्रामक' कहा है। प्रस्तुत अध्ययन मे इन्हे लोककृत कहकर इनमें लोकभावनाओं के दर्शन किये गए हैं[21]।

प्रस्तुत प्रबन्ध में निर्वचनो के अध्ययन से उद्भावित सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियां तत्कालीन समाज पर विशेष प्रकाश डालती हैं[22], जो सर्वत्र अन्य वर्णनों के अनुरूप नहीं है। इतिहास के तत्कालीन पृष्ठ पलटने वालों के लिए इनका विशेष महत्त्व है। उदाहरणार्थ असुर[23], दानव[24] और राक्षस[25] शब्दो के निर्वचनों से प्रचलित असत् अर्थ की पुष्टि नही होती।

---

1. गीता 15.1
2. नि०को० 166
3. इस दृष्टि से पञ्चशाख (5 10) मधुकैटभ (4.15) आदि भी द्रष्टव्य हैं।
4. नि०को० 8
5. नि०को० 49
6. नि०को० 87
7. नि०को० 101
8. नि०को० 102
9. नि०को० 107
10. नि०को० 178
11. नि०को० 3
12. नि०को० 17
13. नि०को० 18
14. नि०को० 35
15. नि. को. 43
16. द्र 8.24
17. द्र. 6.12
18. नि०को० 309
19. द्र 5.11
20. अध्याय प्रथम-अनुच्छेद 30 और 32 भी देखें।
21. द्र०—प्रथम अध्याय. अनुच्छेद 34
22. द्र०—नवम अध्याय
23. द्र०— 4.13
24. द्र०—4.19
25. द्र०—4.23

निर्वचनों का यह अध्ययन भाषाविज्ञान की अन्य शाखा भाषावैज्ञानिक पुरासात्त्विकी (Linguistic Palaeontology) की दृष्टि से भी अपनी महत्ता रखता है, जिसमें शब्द की प्रागैतिहासिक स्थिति का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह व्युत्पत्ति (Etymology) शब्दसमूह (Vocabulary), कोश-विज्ञान (Lexicography) नाम-विज्ञान (Onomatology) और पर्यायिकी (Synonimy) आदि कतिपय अन्य भाषा-विज्ञान की शाखाओं का भी स्पर्श करता है।

निर्वचन-कोश[1] स्वयं अपने मे एक महत्त्वपूर्ण संकलन है, जो इस क्षेत्र में प्रविष्ट होने वालो को सदा सहायक रहेगा और एक सन्दर्भ-ग्रन्थ का प्रयोजन पूरा करेगा।

इस प्रकार निर्वचन-भागीरथी की अजस्र धारा को सुसम्पन्न और समृद्ध बनाने वाली वीरकाव्यगत निर्वचनों की पावनी निर्झरिणी में मज्जन करने तथा तद्गत शब्द-मणियों को प्रकाशित करने का यह एक लघु प्रयास है।

———

1. द्र॰-परिशिष्ट-2

परिशिष्ट–1

अधीत निर्वचनात्मक शब्द-सूची

क्र.सं.	शब्द/पद	अध्याय	प.सं.	पृष्ठ
1	अकम्पन	4	11	120
2	अक्षर	3	1	45
3	अग्नि	3	2	48
4	अङ्गारपर्ण	4	7	118
5	अङ्गिरा:	5	1	139
6	अच्युत	3	3	51
7	अज	3	4	52
8	अतिथि	7	1	214
9	अत्रि	5	2	142
10	अधोक्षज	3	5	53
11	अप्सरा:	4	1	109
12	अभिमन्यु	6	1	177
13	अम्बा	7	2	216
14	अयोध्या	8	1	241
15	अरिष्ट	4	12	121
16	अरुन्धती	5	3	263
17	अर्जुन	6	2	178
18	अश्विनौ	3	6	55
19	असुर	4	13	121
20	अहल्या	5	4	149
21	आदित्य	8	24	265
22	इक्ष्वाकु	6	3	179
23	उदक	8	9	252
24	उमा	3	8	57
25	उर्वशी	8	10	254
26	उर्वी	8	2	242
27	एकपर्णा	3	9	59
28	एकपाटला	3	10	59
29	और्व	8	11	255
30	क	3	11	59
31	कंस	4	14	124
32	ककुत्स्थ	6	4	79
33	कन्या	7	3	217
34	कश्यप	5	5	151
35	कुलपति	7	4	218
36	कुश	6	5	181
37	कृष्ण	3	12	62
38	केशव	3	13	64
39	कैटभ	4	15	125
40	कोविदार	8	18	261
41	क्षत्रिय	6	6	182
42	गरुड	8	22	263
43	गान्दिनी	6	7	184
44	गान्दी	6	7	184
45	गालव	5	6	155
46	गोतम	5	7	157
47	गोविन्द	3	14	66
48	घटोत्कच	4	16	127
49	चर्मण्वती	8	12	257
50	चित्ररथ	4	8	119
51	च्यवन	5	8	160
52	जमदग्नि	5	9	161
53	जातवेदा:	3	15	67
54	जाया	7	5	220
55	तिलोत्तमा	4	2	112
56	त्रिशङ्कु	6	8	185
57	त्रिशिरा:	4	17	128
58	त्र्यक्ष	3	16	68
59	त्र्यम्बक	3	16	68
60	दशरथ	4	8	119
61	दण्ड	6	9	187
62	दशग्रीव	4	18	129
63	दानव	6	19	130
64	दामोदर	3	17	71
65	दुन्दुभि	4	20	131
66	दुर्गा	3	18	72
67	देवरात	6	10	189
68	दैत्य	4	21	132

क्र.सं.	शब्द/पद	अध्याय	प.सं.	पृष्ठ
69	द्वारवती	8	3	243
70	धृष्टद्युम्न	6	11	72
71	नारायण	3	19	73
72	निषाद	7	6	221
73	नैमिषारण्य	8	4	244
74	पञ्चशिख	5	10	165
75	पञ्चाल	8	5	246
76	पति	7	7	223
77	पत्नी	7	8	223
78	परिक्षित्	6	12	192
79	पशुपति	3	20	76
80	पारिजात	8	20	262
81	पार्श्वमौलि	4	5	115
82	पिता	7	9	224
83	पुत्र	7	10	226
84	पुरुष	7	11	228
85	पृथ्वी·पृथिवी	8	7	248
86	पृश्निगर्भ	3	21	78
87	प्रजापति	3	22	79
88	प्रमद्वरा	4	3	113
89	बीभत्सु	6	13	193
90	बृहस्पति	3	23	80
91	ब्रह्मा	3	24	81
92	ब्रह्मदत्त	4	9	119
93	ब्राह्मण	7	12	232
94	भरत	6	14	194 195
95	भरद्वाज	5	11	166
96	भर्ता	7	13	233
97	भव	3	26	84
98	भाया	7	14	234
99	भृगु	5	12	169
100	मथुरा	8	6	247
101	मधु	4	15	133
102	मनुष्य	7	15	235
103	मरुत्	8	25	267
104	महाभारत	6	5	196
105	माधव	3	28	85
106	मारुत	8	25	267
107	मार्तण्ड	8	26	269
108	मित्र	6	16	199
109	मेदिनी	8	8	250
110	यक्ष	4	6	115
111	यम	3	31	86
112	यवन	7	17	236
113	राक्षस	4	23	133
114	राजा	6	17	201
115	रावण	4	24	135
116	रुद्र	3	32	87
117	रुद्राः	3	33	91
118	लव	6	18	203
119	वसिष्ठ	5	13	171
120	वसुषेण	6	19	205
121	वारुणी	3	34	91
122	विकुक्षि	6	20	206
123	विनशन	8	15	259
124	विश्वामित्र	5	14	173
125	विष्णु	3	35	93
126	वृषभ	7	18	238
127	वृषाकपि	3	36	95
128	वैश्य	7	19	239
129	व्यास	5	15	174
130	शकुन्तला	4	4	114
131	शत्रु	6	21	206
132	शशाद	6	23	210
133	शाकम्भरी	3	37	97
134	शान्तनु	6	22	208
135	सत्य	3	38	99
136	सनत्कुमार	5	16	175
137	सनातन	5	16	175
138	सम्राट्	6	24	211
139	सरमा	4	10	120
140	सरयू	8	16	260
141	सर्वसहा	8	23	264
142	सात्वत	6	25	212
143	सीता	3	39	100
144	हनुमान्	3	40	102
145	हर	3	41	104
146	हरि	3	42	105
147	हृषीकेश	3	43	107

परिशिष्ट–2

निर्वचन-कोश

इस कोश मे छः स्तम्भ हैं–1. क्रम-संख्या 2. शब्द 3. निर्वचन 4. सन्दर्भ 'रामायण और महाभारत में शाब्दिक विवेचन' नामक ग्रन्थ में विवेचित शब्दों/पदो की 5. अध्याय और 6. पद-संख्या। वीरकाव्यगत सन्दर्भ मे जहां चि० (चित्रशाला प्रेस, पूना), गी० प्रे० (गीता प्रेस, गोरखपुर) म (महाभारत कार्यालय, दिल्ली) आदि का निर्देश नहीं है, वहां उसे महाभारत का आलोचनात्मक संस्करण, पूना समझना चाहिए। महाभारत के खिलपर्व हरिवंश के लिए 'हरि' और रामायण के लिए 'वा.रा.' का उल्लेख किया गया है।

क्र स.	वीरकाव्यो मे उपलब्ध			*ग्रन्थगत	
	शब्द	निर्वचन	सन्दर्भ	अ.	प स
1	2	3	4	5	6
1	अकम्पन	नहि कम्पयितुं शक्यः सुरैरपि महामृधे। अकम्पनस्ततस्तेषामादित्य इव तेजसा ॥	वा.रा. युद्ध55.8	4	11
2	अक्षर	'तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि'। 'एतदक्षरमित्युक्तम्'। 'एकत्वमक्षरं प्राहुः'।	महा.12.195.24 12.291.35 12 293.47	3	1
3	अग्नि	1 यस्मादग्रे स भूतानां सर्वेषां निर्मितो मया। तस्मादग्नीत्य-भिहितः पुराणज्ञैर्मनीषिभिः ॥	महा. आश्व अपे. 1 4.2563-64	3	2
		2 यस्मात्तु सर्वकृत्येषु पूर्वमस्मै प्रदीयते। आहुतिः– – – –	तत्रैव 2566		
		3 दीप्यमानाय तस्मादग्नीति कीर्त्यते।	तत्रैव 2566		
		4 यस्माच्च नयति ह्यग्र्यां गतिं विद्वान् सुपूजितः। तस्माच्च नय-नाद्राजन् वेदेष्वग्नीति कीर्त्यते ॥	तत्रैव 2568		

* 'रामायण और महाभारत मे शाब्दिक विवेचन'–डा. शिव सागर त्रिपाठी-देव नागर प्रकाशन, जयपुर 1986

क्र.सं.	शब्द/पद	अध्याय	पृ.सं.
69	द्वारवती	8	3
70	धृष्टद्युम्न	6	11
71	नारायण	3	19
72	निषाद	7	6
73	नैमिषारण्य	8	4
74	पञ्चशिख	5	10
75	पञ्चाल	8	5
76	पति	7	7
77	पत्नी	7	8
78	परिक्षित्	6	12
79	पशुपति	3	20
80	पारिजात	8	20
81	पार्श्वमौलि	4	5
82	पिता	7	9
83	पुत्र	7	10
84	पुरुष	7	11
85	पृथ्वी-पृथिवी	8	7
86	पृश्निगर्भ	3	21
87	प्रजापति	3	22
88	प्रमद्वरा	4	3
89	बीभत्सु	6	13
90	बृहस्पति	3	23
91	ब्रह्म	3	24
92	ब्रह्मदत्त	4	9
93	ब्राह्मण	7	12
94	भरत	6	14
95	भरद्वाज	5	11
96	भर्ता	7	13
97	भव	3	26
98	भार्या	7	14
99	भृगु	5	12
100	मथुरा	8	6
101	मधु	4	15
102	मनुष्य	7	15
103	मरुत्	8	25
104	महाभारत	6	5
105	माधव	3	28
106	मारुत	8	25
107	मार्तण्ड	8	26

1	2	3	4	5	6
15	अणीमाण्डव्य	स तथाऽन्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनिः। ....अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु कथ्यते ॥	तत्रैव 1.101.21	–	–
16	अणुह	अणुधर्मरतिर्नित्यमणु सोऽभ्यगमत् पदम्।	हरि.1.23.5	–	–
17	अतिथि	(I) अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते।	महा 13.100. 18,गी.प्रे अनु. 97.19	7	1
		(II) ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते।	महा. आश्व.अपे. 1.4.956		
18	अत्रि	(I) अत्रैवात्रेति च विभो जातमत्रि वदन्त्यपि।	महा.गी.प्रे. अनु.85.108	–	–
		(II) अरात्रिरत्रिः, सा रात्रिः यां नाधीते त्रिरद्य वै। अरात्रि रत्रिरित्येव।	महा.13.95. 25.गी.प्रे अनु. 93.82	5	2
19	अथर्वाङ्गिरस	अथर्वांगिरसं नाम अस्मिन् वेदे भविष्यति ॥	महा.5.18.7	–	–
20	अधोक्षज	(I) अधो न क्षीयते जातु यस्मात्तस्मादधोक्षजः।	महा.5.68 17	3	5
		(II) पृथिवीनभसी चोभे विश्रुते विश्वलौकिके। तयोः संधारणार्थं हि मामधोक्षजमञ्जसा ॥	महा. 12.330.17		
		(III) शब्द एकपदै (एकमतै)रेष व्याहृतः परमर्षिभिः। नान्यो ह्यधोक्षजो लोके ऋते नारायणं प्रभुम् ॥	महा.12.342. 85		
21	अनङ्ग	(I) अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद्देवेश्वरेण ह। अनङ्ग इति विख्यातः।	वा.रा.बाल. 23.14	–	–
		(II) हरकोपानलदग्धस्त्वं तेनानङ्ग इहोच्यते।	हरि. 2.106.46		
22	अनन्त	(I) नास्यान्तमधिगच्छन्ति ततोऽनन्त इति श्रुतिः।	हरि. 3.34.42	–	–

1	2	3	4	5	6
4	अग्निहोत्र	(I) अग्नीनामथवाऽग्नेस्तु यस्य होमः प्रदीयते। इष्टो भवति सर्वाग्नेरग्निहोत्रं च तद् भवेत्॥	महा. आश्व अपे. 2622-23		
		(II) तस्माद् वै त्रायते दुःखाद् यजमानं हुतोऽनलः। तस्मात्तु-विधिवत् प्रोक्तमग्निहोत्रमिति श्रुतौ॥	तत्रैव 2527-28	–	–
5	अग्नीषोम	इषुश्चाप्यभवद् विष्णुर्ज्वलनः सोम एव च। अग्नीषोमौ जगत् कृत्स्नम्''''''॥	महा. 8.24.84	–	–
6	अघ्न्या	अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। महच्चकाराकुशलं वृषं गां वालभेत्तु यः।	महा. चि. शान्ति 262. 47	–	–
7	अङ्ग	स चांगविषयः श्रीमान् यत्रांगं स मुमोच ह।	वा.रा.बाल. 23 14	–	–
8	अङ्गदीया	अंगदीया पुरी रम्या ह्यङ्गदस्य निवेशिता।	वा.रा. उत्तर 102.8 तु. तत्रैव 26.187	–	–
9	अङ्गद	यथा पुत्रं गुणश्रेष्ठमंगदं कनकांगदम्।	वा.रा. कि. 18.51 तु-वारा. युद्ध 41.76	–	–
10	अङ्गारपर्ण (वन)	अंगारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम्''''अंगारपर्णमिति च ख्यातं वनमिदं मम।	महा. 1.18.12	4	7
11	अङ्गिराः	अंगारेभ्योऽगिराऽभवत्।	महा. 13.85. 15; गी.प्रे. अनु. 85.105 तु.-तत्रैव 85.107	5	1
12	अचला	त्वं शेष सम्यक् चलितां यथावत् संगृह्य तिष्ठस्व यथाचला स्यात्।	महा.1.32.19	–	–
13	अच्युत	तस्मान्नच्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा।	महा. 12.330. 16	3	3
14	अज	(I) न जायते जनिष्यां यदजः।	महा. 5.68.8	–	–
		(II) न हि जातो न जायेऽहं न जनिष्ये कदाचन।''''तस्मादहमजः स्मृतः।	महा.12.330.9	3	4

1	2	3	4	5	6
		(II) तदा गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् । नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ।।	महा. 12.176.32		
		(III) शाश्वतत्वादनन्तः	महा.5.68.13		
		(IV) नैव चान्तं कदाचिद् विदन्ते ·····अनन्त.	महा. 12.330.13		
23	अनाद्य	न चापि············कदाचिद् विदन्ते अनाद्यो············प्रगीतः ।	महा. 12.330.25	–	–
24	अनिरुद्ध	यस्मात् सर्वं प्रभवति जगत्स्थावरजङ्गमम् । सोऽनिरुद्धः······· ।	महा. 12.326.37	–	–
25	अपान	(I) गच्छत्यपानोऽवाक्चैव (II) वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते ।	वही12.177.24 महा. 12.178.6	–	–
26	अप्रतिबुद्ध	बुध्यमानो भवत्येष संगात्मक इति श्रुतिः । अनेनाप्रतिबुद्धेति वदन्ति ····अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमान वदन्त्युत ।।	महा. 296 512.	–	–
27	अप्सराः	अप्सु निर्मथनादेव रसात्तस्माद्वराः स्त्रियः । उत्पेतुः····तस्मादप्सरसोऽभवन् ।।	वा.रा. बाल. 45.32	4	1
28	अब्ज (धन्वतरि)	अब्जस्त्वमिति होवाच तस्मादब्जस्तु सः स्मृतः ।	हरि. 1 29.14	–	–
29	अभिमन्यु	अभीश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् । अभिमन्युमिति प्राहुः····	महा. 1.213.60	6	1
30	अभ्यागत	अभ्यागतोऽज्ञातपूर्वः ।	महा. आश्व अपे. 1.4.956	–	–
31	अम्बा	अङ्गानां वर्धनादम्बा ।	महा. 12.258.30	7	2
32	अयुताक्ष	······· अयुताक्षो वा सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा·······नास्त्यन्तोऽस्यास्य चक्षुषाम् ।	महा. गी.प्रे.अनु. 161.13	–	–
33	अयोध्या	(I) सा······ सत्यनामा प्रकाशते ।	वा.रा.(बाल.) 6.26	8	1
		(II) अयोध्यायामयोध्यायाम्······	हरि. 1.54.26		

1	2	3	4	5	6
34	अरिष्ट	अरिष्टो नाम हि गवामरिष्टो दारुणाकृतिः ।	हरि. 2.21.7	4	12
35	अरुन्धती	धरान् धरित्री वसुधां भर्तुस्तिष्ठाम्यनन्तरम् । मनोऽनुरुन्धती भर्तुरिति मां विद्ध्यरुन्धतीम् ।	महा. अनु. 93.96	5	3
36	अर्चिष्मती	पश्यत्यर्चिष्मती भाभिः·······	महा. 3 288.6	–	–
37	अर्जुन	पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभः समः । करोमि कर्म शुक्लं च तेन मामर्जुनं विदुः ॥	तत्रैव 4.39.18	6	2
38	अवन्ती	अश्ववन्तीमवन्तीमः ।	वा.रा.कि. 41.10	–	–
39	अश्मक	ततोऽपि द्वादशे वर्षे स जज्ञे पुरुषर्षभ । अश्मको नाम राजर्षिः	महा. 1.168.25	–	–
40	अश्वतीर्थ	अदूरे कान्यकुब्जस्य गंगायास्तीरमुत्तमम् । अश्वतीर्थं तदद्यापि·······	महा गी.प्रे. अनु 4 17	–	–
41	अश्वत्थामा	अश्वस्येवास्य यत्स्थाम नदतः प्रदिशो गतम् । अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति ॥	महा. 1.12114तु.महा. 7.167.29-30	–	–
42	अश्वशकृत् (नदी)	अश्वोष्ट्रशकृतां राशेर्निःसृतेति जनाधिप । ततोऽश्वशकृत् ।	हरि. 2.57.24	–	–
43	अश्विनौ	अश्वतोऽस्य समुत्पन्नावश्विनौ रूपसम्मितौ ।	महा. गी प्रे. अनु. 85.109	3	6
		द्र.-नासत्य-दस्र (अश्विनौ)	हरि. 1.9.55		
44	अष्टावक्र	तस्माद् वक्रो भविता ह्यष्टकृत्वः स वै तथा । वक्र एवाभ्यजायदष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः ॥	महा. 3.132.9½		
45	असुर	दितेः पुत्रा न तां (वारुणी=सुरा) राम जगृहुर्वरुणात्मजाम् । असुरास्तेन दैतेयाः······ 'अप्रतिग्रहणात्तस्याः (सुरायाः) दैतेयाश्चासुरास्तथा ॥	वा.रा (बाल) 45.36, वा रा. बम्बई संस्करण- सं.इ.डि.से उद्धृत	4	13
46	अहल्या	हलं नामेह वैरूप्यं हल्यं तत्प्रभवं भवेत् । यस्मान्न विद्यते हल्यं तेनाहल्येति विश्रुता ॥	वा.रा. उत्तर 30.24	5	4

1	2	3	4	5	6
		(II) तदा गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् । नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ॥	महा. 12.176.32		
		(III) शाश्वतत्वादनन्तः	महा.5.68.13		
		(IV) नैव चान्तं कदाचिद् विदन्ते ""अनन्त	महा. 12.330.13		
23	अनाद्य	न चापि""""कदाचिद् विदन्ते अनाद्यो""""प्रगीतः ।	महा. 12.330.25	–	–
24	अनिरुद्ध	यस्मात् सर्वं प्रभवति जगत्स्थावरजङ्गमम् । सोऽनिरुद्धः"""" ।	महा. 12.326.37	–	–
25	अपान	(I) गच्छत्यपानोऽवाक्चैव (II) वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते ।	वही12.177.24 महा. 12.178.6	–	–
26	अप्रतिबुद्ध	बुध्यमानो भवत्येष संगात्मक इति श्रुतिः । अनेनाप्रतिबुद्धेति वदन्ति ""अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्युत ॥	महा. 296 512.	–	–
27	अप्सराः	अप्सु निर्मथनादेव रसात्तस्माद्वराः स्त्रियः । उत्पेतुः""तस्मादप्सरसोऽभवन् ॥	वा.रा. बाल. 45.32	4	1
28	अब्ज (धन्वतरि)	अब्जस्त्वमिति होवाच तस्मादब्जस्तु सः स्मृतः ।	हरि. 1.29.14	–	–
29	अभिमन्यु	अभीश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् । अभिमन्युमिति प्राहुः""	महा. 1.213.60	6	1
30	अभ्यागत	अभ्यागतोऽज्ञातपूर्वः ।	महा. आश्व अपे. 1.4.956	–	–
31	अम्बा	अङ्गानां वर्धनादम्बा ।	महा. 12.258.30	7	2
32	अयुताक्ष	""" अयुताक्षो ना सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा""""नास्त्यन्तोऽस्यास्य चक्षुषाम् ।	महा. गी.प्रे.अनु. 161.13	–	–
33	अयोध्या	(I) सा"""सत्यनामा प्रकाशते ।	वा.रा.(बाल.) 6.26	8	1
		(II) अयोध्यायामयोध्यायाम्""";	हरि. 1.54.26		

1	2	3	4	5	6
34	अरिष्ट	अरिष्टो नाम हि गवामरिष्टो दारुणाकृति: ।	हरि. 2.21.7	4	12
35	अरुन्धती	धरान् धरित्रीं वसुधां भर्तुस्तिष्ठाम्यनन्तरम् । मनोऽनुरुन्धती भर्तुरिति मां विद्ध्यरुन्धतीम् ।	महा. अनु. 93 96	5	3
36	अर्चिष्मती	पश्यत्यर्चिष्मती भाभि:·······	महा. 3 288.6	–	–
37	अर्जुन	पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभ: सम: । करोमि कर्म शुक्लं च तेन मामर्जुनं विदु: ।।	तत्रैव 4 39.18	6	2
38	अवन्ती	अश्ववन्तीमवन्तीम्: ।	वा.रा.कि. 41.10	–	–
39	अश्मक	ततोऽपि द्वादशे वर्षे स जज्ञे पुरुषर्षभ । अश्मको नाम राजर्षि:	महा. 1.168.25	–	–
40	अश्वतीर्थ	अदूरे कान्यकुब्जस्य गंगायास्तीरमुत्तमम् । अश्वतीर्थं तदद्यापि·······	महा गी.प्रे. अनु 4 17	–	–
41	अश्वत्थामा	अश्वस्येवास्य यत्स्थाम नदत: प्रदिशो गतम् । अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति ।।	महा. 1.12114तु.महा. 7.167.29-30	–	–
42	अश्वशकृत् (नदी)	अश्वोष्ट्रशकृतां राशेर्नि:सृतेति जनाधिप । ततोऽश्वशकृत् ।	हरि. 2.57.24	–	–
43	अश्विनौ	अश्रुतोऽस्य समुत्पन्नावश्विनौ रूपसम्मितौ ।	महा. गी प्रे. अनु. 85.109	3	6
		द्र.-नासत्य-दस्र (अश्विनौ)	हरि. 1.9 55		
44	अष्टावक्र	तस्माद् वक्रो भविता ह्यष्टकृत्व: स वै तथा । वक्र एवाभ्यजायदष्टावक्र: प्रथितो वै महर्षि: ।।	महा. 3 132.9½		
45	असुर	दिते: पुत्रा न तां (वारुणी=सुरां) राम जगृहुर्वरुणात्मजाम् । असुरास्तेन दैतेया:······ 'अप्रतिग्रहणात्तस्या: (सुराया:) दैतेयाश्चासुरास्तथा ।।	वा रा (बाल) 45.36, वा रा. बम्बई संस्करण-सं.इ.डि से उद्धृत	4	13
46	अहल्या	हलं नामेह वैरूप्यं हल्यं तत्प्रभवं भवेत् । यस्मान्न विद्यते हल्यं तेनाहल्येति विश्रुता ।।	वा.रा. उत्तर 30.24	5	4

1	2	3	4	5	6
		(II) तदा गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् । नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ॥	महा. 12.176.32		
		(III) शाश्वतत्वादनन्तः	महा.5.68.13		
		(IV) नैव चान्तं कदाचिद् विदन्ते ····अनन्त	महा. 12.330.13		
23	अनाद्य	न चापि···········कदाचिद् विदन्ते अनाद्यो···········प्रगीतः ।	महा. 12.330.25	–	–
24	अनिरुद्ध	यस्मात् सर्वं प्रभवति जगत्स्थावरजङ्गमम् । सोऽनिरुद्धः········ ।	महा. 12.326.37	–	–
25	अपान	(I) गच्छत्यपानोऽवाक्चैव	वही12.177.24	–	–
		(II) वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते ।	महा. 12.178.6		
26	अप्रतिबुद्ध	बुध्यमानो भवत्येष संगात्मक इति श्रुतिः । अनेनाप्रतिबुद्धेति वदन्ति ····अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमान वदन्त्युत ॥	महा. 296.512.	–	–
27	अप्सराः	अप्सु निर्मथनादेव रसात्तस्माद्वराः स्त्रियः । उत्पेतुः····तस्मादप्सरसोऽभवन् ॥	वा.रा. बाल. 45.32	4	1
28	अब्ज (धन्वतरि)	अब्जस्त्वमिति होवाच तस्मादब्जस्तु सः स्मृतः ।	हरि. 1.29.14	–	–
29	अभिमन्यु	अभीश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् । अभिमन्युमिति प्राहुः····	महा. 1.213.60	6	1
30	अभ्यागत	अभ्यागतोऽज्ञातपूर्वः ।	महा. आश्व अपे. 1.4.956	–	–
31	अम्बा	अङ्गानां वर्धनादम्बा ।	महा. 12.258.30	7	2
32	अयुताक्ष	······ अयुताक्षो ना सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा········नास्त्यन्तोऽस्यास्य चक्षुषाम् ।	महा. गी.प्रे.अनु. 161.13	–	–
33	अयोध्या	(I) सा····· सत्यनामा प्रकाशते ।	वा.रा.(बाल.) 6.26	8	1
		(II) अयोध्यायामयोध्यायाम्······:	हरि. 1.54.26		

1	2	3	4	5	6
76	ऊर्ध्वरेता:	इत्युक्ता चोर्ध्वमनयद् रेतो वृषभवाहनैः। ऊर्ध्वरेता: समभवत्·······	महा.गो.पे. अनु.84.72		
77	ऋक्षवान्	ऋक्षैः संवर्धितो (विदूरथ: क्षत्रिय.) विप्र: ऋक्षवत्येव पर्वते ।	महा. 12 49.67	–	–
78	ऋतधामा	धाम सारो हि लोकानामृतं चैव विचारितम् । ऋतधामा ततो विप्रैः सत्यश्चाहं प्रकीर्तितः ॥	महा. 12.330.4	–	–
79	ऋषभ	ऋषभप्रतिमं चैव ऋषभं नाम पर्वतम्।	हरि 3 35.20	–	–
80	एकपर्णा	आहारमेकपर्णेन एकपर्णा समाचरत् ।	तत्रैव 1.18 17	3	9
81	एकपाटला	पाटलापुष्पमेकञ्च चथादद्यावेकपाटला ।	हरि. 1.18.17	3	10
82	एकशृंग	एकशृंग: पुरा भूत्वा वराहो दिव्यदर्शन: । इमामुद्धृतवान् भूमिमेकशृंगस्ततो ह्ययम् ।	महा. 12.330.27	–	–
83	एकाक्षिपिंगल	देव्या दग्धं प्रभावेण यच्च सव्यं तवेक्षणम् । एकाक्षिपिंगलेत्येवं नाम स्थास्यति शाश्वतम् ॥	वा रा. उत्तर 13.31	–	–
84	ऐरावत	ततस्त्विरावती नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम् । तस्यास्त्वैरावत: पुत्रो लोकनाथो महागज: ॥	वा.रा. अरण्य 14.25	–	–
85	ऐल	1 तस्यापत्यं महाराजो बभूवैल: *पुरुरवा: (तस्य बुधस्य)*	हरि. *1.25.46*	–	–
		2 सुद्युम्नश्च दिवं यात ऐलमुत्पाद्य (इला की अवस्था में इल भी ।	तत्रैव 1.10.26	–	–
86	औपासन	सृष्टमात्रो जगत्सर्वमत्तुमैच्छत् पुरा खलु । तत: प्रशमित: सोऽग्निरुपास्यैव मया पुरा । स ततोपासनात्सोऽयमौपासन इति स्मृत: ॥	महा.आश्व. अपे.1.4. 2573 2575	–	–
87	और्व(ऋषि)	1 स और्व इति विप्रर्षिरुरु'भित्वा व्यजायत ।	महा. 1.170.8	8	11

1	2	3	4	5	6
		3 उदीरयन् सर्वधातून् अत ऊर्ध्व प्रवर्तते । उदान इति तं विदु: ·········· ॥	महा गी.प्रे.अनु. 145दा.पा.6017(17)		
		4 प्राणानामायम्यते येन तमुदानं प्रचक्षते ।	महा.14.20.17		
		5 प्राणानामायतत्वेन तमुदानं प्रचक्षते । —(पाठभेद)	महा. गी.प्रे.आश्व20.17		
67	उद्दालक	यस्माद् भवान् केदारखण्डमवदार्योत्थितस्तस्मादुद्दालक एवं नाम्ना भविष्यतीति ।	महा. 1.3.29	–	–
68	उद्भिज्ज	भित्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्ययात् । उद्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि ॥	महा.14.42.22		
69	उद्वह	उदयं ज्योतिषां शश्वत् सोमादीनां करोति य: ।···· ····यश्चतुर्भ्य: समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम् । उद्धृत्याददते चापो जीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिल: । उद्वहो नाम···· ।	महा. 12.315.38-40		
70	उपरिचर	1 त्वमेक: सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थित: । चरिष्यस्युपरिस्थो वै देवो विग्रहवानिव ॥	महा. 1.57.14		
		2 अन्तरिक्षचर: श्रीमान्···· ।	महा.12.324.6		
71	उपाध्याय	कृत्वोपनयनं वेदान्योऽध्यापयति नित्यश: । स चोपाध्याय उच्यते ।	आश्व । अपे. 1.4 2525 ½		
72	उमा	एका तत्र निराहारा तां माता प्रत्यषेधयत् । उ मा इति निषेधन्ती सा तथोक्ता तया मात्रा···· ······ उमेत्यभवत् ॥	हरि. 1.18.18-20	3	8
73	उपेन्द्र	ममोपरि यथेन्द्रस्त्वं स्थापितो गोभिरीश्वर:। उपेन्द्र इति कृष्णत्वां गास्यन्ति दिवि देवता. ॥	हरि. 2.19.46	–	–
74	उर्वशी (गंगा)	उपह्वरे निवसतो यस्यांके निषसाद ह । गंगा—तस्मादुर्वशी ह्यभवत्पुरा ।	महा.12.29.61	8	10
75	उर्वी	उरुणा धारयामास कश्यप: पृथिवी तत: । निमज्जन्ती तदा राजंस्तेनोर्वीति मही स्मृता ॥········धृता तेनोरुणा येन—(पाठभेद)	तत्रैव 12 49.64 महा. चि. शान्ति 49.73	8	2

1	2	3	4	5	6
76	ऊर्ध्वरेता:	इत्युक्ता चोर्ध्वमनयद् रेतो वृषभवाहन:। ऊर्ध्वरेता: समभवत्·······	महा.गी.प्रे. अनु.84.72		
77	ऋक्षवान्	ऋक्षैः संवर्धितो (विदूरथ: क्षत्रिय:) विप्र: ऋक्षवत्येव पर्वते ।	महा. 12 49.67	–	–
78	ऋतधामा	धाम सारो हि लोकानामृतं चैव विचारितम् । ऋतधामा ततो विप्रैः सत्यश्चाहं प्रकीर्तित: ।।	महा. 12.330.4	–	–
79	ऋषभ	ऋषभप्रतिमं चैव ऋषभं नाम पर्वतम् ।	हरि. 3.35 20	–	–
80	एकपर्णा	आहारमेकपर्णेन एकपर्णा समाचरत् ।	तत्रैव 1.18 17	3	9
81	एकपाटला	पाटलापुष्पमेकञ्च चमादद्यावेकपाटला ।	हरि. 1.18.17	3	10
82	एकशृंग	एकशृंग: पुरा भूत्वा वराहो दिव्यदर्शन: । इमामुद्धृतवान् भूमिमेक शृंगस्ततो ह्ययम् ।	महा. 12.330.27	–	–
83	एकाक्षिपिंगल	देव्या दग्धं प्रभावेण यच्च सव्यं तवेक्षणम् । एकाक्षिपिंगलेत्येवं नाम स्थास्यति शाश्वतम् ।।	वा रा. उत्तर 13.31	–	–
84	ऐरावत	ततस्त्विरावती नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम् । तस्यास्त्वैरावत: पुत्रो लोकनाथो महागज: ।।	वा.रा. अरण्य 14.25	–	–
85	ऐल	1 तस्यापत्यं महाराजो बभूवैल: पुरुरवा: *(तस्य बुधस्य)*	हरि. 1.25.46	–	–
		2 सुद्युम्नश्च दिवं यात ऐलमुत्पाद्य (इला की अवस्था में इल भी ।	तत्रैव 1.10.26	–	–
86	औपासन	सृष्टमात्रो जगत्सर्वमत्तुमैच्छत् पुरा खलु । तत: प्रशमित: सोऽग्निरुपास्यैव मया पुरा । स ततोपासनात्सोऽयमौपासन इति स्मृत: ।।	महा आश्व. अपे.1.4. 2573 2575	–	–
87	और्व(ऋषि)	1 स और्व इति विप्रर्षिरुरुं भित्वा व्यजायत ।	महा. 1.170.8	8	11

1	2	3	4	5	6
	(वाडवाग्नि)	2 ऊर्वस्योरु विनिर्भिद्य मौर्वो नामान्तकोऽनलः।	हरि. 1.45.50	–	–
88	क	य क इत्युच्यते ह्यविज्ञातः सहस्रशः। ततसम्भवं...... ......मां नावगच्छथ ॥	हरि. 3.13.14	3	11
89	कंस	कस्य त्वमिति यच्चाहं त्वयोक्तो मत्तकाशिनि। कंसस्तस्माद् रिपुध्वंसी तव पुत्रो भविष्यति ॥	तत्रैव 2.28.103	4	14
99	ककुत्स्थ	इन्द्रस्य वृषभूतस्य ककुत्स्थोऽजयतासुरान्। पूर्वं देवासुरे युद्धे ककुत्स्थस्तेन हि स्मृतः ॥	तत्रैव 1.11.20	6	4
91	कन्या	सर्वान् कामयते यस्मात् कनेर्धातोश्च भामिनि। तस्मात्कन्येह सुश्रोणि स्वतन्त्रता वरवर्णिनि॥(कमेर्धातोः—पाठभेदः)	महा. 3.291.13 महा. ग. वन 306.13	7	3
92	कपालमोचन	कपालमोचनमिति नाम चक्रुः समागता (आख्यान)	महा. 8.38 20	–	–
93	कबन्ध	आख्यानमात्रम्	वा.रा. अरण्य 71.1–20	–	–
94	करन्धम	ततः प्रदध्मौ स करं प्रादुरासीतत्तो बलम्। एतस्मात् कारणाद्राजन् विश्रुतः स करन्धमः ॥	महा.14.4. 15–16	–	–
95	कलिंग	कलिंगविषयश्चैव कलिंगस्य च स्मृतः।	महा 1.104.50	–	–
96	कल्प	सर्वयज्ञविकल्पाय पुरा कल्पं प्रकीर्तितम्।	महा.प्रपे.1.4. 2670-71	–	–
97	कल्माषपाद	1. तेनास्य राक्षसो पादौ तदा-कल्माषतां गतौ । तदाप्रभृति राजाऽसौ सौदासः......कल्माषपादः संवृत्तः ख्यातश्चैव तथा नृपः ॥	वा.रा. उत्तर 65.32-33	–	–
		2. आख्यानमात्रम्	महा.चि.आदि. 166.68	–	–

1	2	3	4	5	6
98	कश्यप	कुलं कुलं च कुवमः कुवगः कश्यपो द्विजः । काश्यः काशनिकाशत्वादेतन्मे नाम धारय ॥	महा. 13 95. 29, गी प्रे अनु. 93 86	5	5
99	काकुत्स्थ	भगीरथात्ककुत्स्थस्तु काकुत्स्था येन विश्रुता ।	वा. रा. अयोध्या 110.28	–	–
100	काञ्चन-ष्ठीवी	बमूव काञ्चनष्ठीवी यथार्थं नाम तस्य तत् ।	महा. 12.31,24	–	–
101	काण्वायन	मेधातिथिः सुतस्तस्य (कण्वस्य) यस्मात्काण्वायना द्विजाः ।	हरि. 1.32 5	–	–
102	कात्यायन	देवश्रवाःकतिश्चैव यस्मात् कात्यायनाः स्मृताः ।	हरि. 1.32 55	–	–
103	कादम्बरी	कदम्बकोटरे जाता नाम्ना कादम्बरीति सा ।	हरि.2.41.13	–	–
104	कापिलेय	ब्राह्मणी कपिला नाम·········तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाःपिबति स्तनौ । ततः स कापिलेयत्वं लेभे···· ····	महा. 12.211. 14–15	–	–
105	काम	1. सनातनो हि संकल्पः काम इत्यभिधीयते ।	महा. गी.प्रे. अनु 85.11	–	–
		2 संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत् ।	तत्रैव 85.16	–	–
106	कामदुघा	तस्याथ कामधुग्धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः । उक्ता कामान् प्रयच्छेति सा कामान् दुदुहे ततः ॥	महा 1.165.9	–	–
107	कारूप	करूपस्य च कारूपाः क्षत्रियाः	हरि.1.10.29, 1 11 9	–	–
108	कार्तिकेय	1. क्षीरसम्भावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयत् । ताः क्षीरं जातमात्रस्य····ददुः····ततस्तु देवताः सर्वाः कार्तिकेय इति ब्रुवन् ॥	वा रा. बाल. 37.24-25	–	–
		2. पुत्रं वै ताश्च तं बालं पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः । ततः स कार्तिकेयत्वम्···· ····	महा.गी प्रे. अनु. 85.81 तु. महा. गी.प्रे.अनु 86.13		

1	2	3	4	5	6
		3 अपत्यं कृतिकानां तु कार्तिकेय इति स्मृतः।	हरि. 1.3.43	–	–
		4 ममायमिति ताः सर्वाः पुत्राभि-न्योऽभिचुक्रुशुः।	महा. 9.43.11	–	–
		5 कृतिकाभ्युपपत्तेश्च कार्तिकेय इति स्मृतः।	महा. 1.60.23	–	–
109	कार्ष्ण (वेद)	कार्ष्णवेदमिमं सर्वम्…………	महा.18.5.35	–	–
110	काल	1 कालः कलयति प्रजाः।	महा. 12.220.35	–	–
		2 काले परिणते काले कालयिष्यति मामिव।	महा. 12 220 40	–	–
111	काश्यपी	पृथिवी काश्यपी जज्ञे सुता तस्य महात्मनः (कश्यपस्य)	महा.गी.प्रे.अनु. 154.7	–	–
112	काश्यपेय	इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेया इति श्रुतिः।	महा.गी.प्रे.अनु. 150.14-15	–	–
113	किरीटिन्	पुरा शक्रेण मे दत्तं……किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मा किरीटिनम्।	महा 4.39 15	–	–
114	कुन्ती	शूरः पूज्याय वृद्धाय कुन्तिभोजाय तां ददौ। तस्मात्कुन्तीति विख्याता कुन्तिभोजात्मजा पृथा॥	हरि. 1.34.24	–	–
115	कुबेर	पितामहः। दृष्ट्वा श्रेयस्करी बुद्धि धनाध्यक्षो भविष्यति।	वा. रा. उत्तर $3\,6\frac{1}{2}$	–	–
116	कुमार	सदा कुमारो देवानाम्	महा.गी.प्रे.अनु. 86.32	–	–
117	कुम्भकर्ण	कुम्भकर्णो वृहत्कर्णः………	वा.रा. युद्ध 65.29	–	–
118	कुरुक्षेत्र	1 तस्य (कुरोः) नाम्नाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजांगलम्। कुरुक्षेत्रं च तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः॥	महा. 1.80.43	–	–
		2 प्रकृष्टमेतत्कुरुणा महात्मना ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे।	महा. 9.52.2	–	–

1	2	3	4	5	6
119	कुलपति	कुलानि पातयत्येष (ब्राह्मण)	वा.रा उत्तर 2.45	7	4
120	कुलम्पुन (तीर्थ)	....स्नात्वा पुनाति स्वकुलं नर: ।	महा. 3.81.88	–	–
121	कुश	स: (पूर्वज:) कुशैर्मन्त्रसत्कृत: निर्मार्जनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत् ।	वा.रा उत्तर 66.7	6	5
122	कुशवान्	ह्रदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम् ।	महा.चि. वनपर्व 130.15	–	–
123	कुशावती	कुशस्य नगरी..........कुशावतीति नाम्ना सा ।	वा.रा उत्तर 108.4	–	–
124	कुहू :	यां तु दृष्ट्वा भगवती जन: कुहू-कुहायते । एकानंशेति तामाहु: कुहू-मांगिरस: सुताम् ॥	महा, 3.208 8	–	–
125	कृतयुग	कृतं नाम युगं तात यत्र धर्म: सनातन: ।कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे ॥	महा. 3 148 10	–	–
126	कृप	1 कृपया तच्च जग्राह शन्तनुर्मृगयां गत: । कृप: स्मृत: स वै तस्माद्.... ।	हरि. 1.32.73	–	–
		2 कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति । तस्मात्तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपति: ॥	महा. 1 120.18		
127	कृपी	1 तस्माद् गौतमी च कृपी स्मृता ।	हरि. 1.32.73		
		2 द्रष्टव्य-कृप			
128	कृष्ण	1 ....योऽसौ वर्णत: कृष्ण उक्त:।	महा.1.189.31	3	12
		2 कृषिर्भूवाचक: शब्दो णश्च-निर्वृतिवाचक: कृष्णस्तद्भाव-योगाच्च कृष्णो भवति शाश्वत: ॥	महा. 5 68.5		
		3 कृषामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान् । कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात्तस्मात्कृष्णोऽहमर्जुन ॥	महा. 12.330.14		

1	2	3	4	5	6
		4 (व्यास) कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च		महा.1.105.14	
		5 (अर्जुन) कृष्ण इत्येव दशमं नाम चक्रे पिता मम । कृष्णावदातस्य सतः प्रियत्वाद् बालकस्य वै ।।		महा. 4.39.20	
129	कृष्णा (द्रौपदी)	कृष्णेत्येवाब्रुवन् कृष्णां कृष्णाभूत्सा हि वर्णतः ।		महा. 1.155.50	
130	केशव	1 स चापि केशौ हरिरुद्बबर्हे शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम् । ··तयोः (देवकी-रोहिण्योः)······ कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव केशो योऽसौ वर्णतः कृष्णः उक्तः ।।		महा.1.189. 30-31	3 13
		2 सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत । अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः ।। सर्वज्ञाः केशवस्तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ।।		महा. 12.328.43	– –
		3 क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् । आवां तवांगसम्भूतौ तस्मात् केशव नामवान् ।।		हरि. 3.88.48	
		4 यस्मात्त्वया हतः केशी मच्छासनं शृणु । केशवो नाम नाम्ना त्वं ख्यातो लोके भविष्यसि ।।		तत्रैव 2.24.65	– –
131	केसरी (पर्वत)	ततः परं कौरवेन्द्र दुर्गशैलो महोदयः । केसरी केसरयुतो यतो वातः प्रवायति ।।		महा. 6.12.21	– –
132	कंटभ	कठिनः कंटभोऽभवत् ।		हरि. 1.52.25	4 15
133	कोविदार	कोऽप्ययं दारुरित्याहुरजानन्तो यतो जनाः। कोविदार इति ख्यातस्ततः स महातरुः ।।		तत्रैव 2.67.71	8 18

1	2	3	4	5	6
134	कौमोदकी	देवैर्निगदितार्थस्य गदा तस्यापरे करे । निक्षिप्ता कुमुदाक्षस्य नाम्ना कौमोदकी (ति) सा ।	हरि.2 35 65, 2.43 15	–	–
135	कौशाम्बी	कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत् पुरीम् ।	वा.रा.बाल. 32.6	–	–
136	कौशिक	1 कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिकः ।	वा.रा.बाल 34 6	–	–
		2 जातमात्रस्तु भगवान् अदित्यां स कुशैर्वृतः । तदाप्रभृति देवेशः कौशिकत्वमुपागतः ।।	हरि.		
137	कौशिकी (देवी)	1 कुशिकस्य तु गोत्रेण कौशिकी त्वं भविष्यसि	हरि.2.2.48	–	–
	(नदी)	2 शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः । यां तां पुण्यतमा लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ।।	महा. 1 65 30		
		3 विश्वामित्रस्य विपुला नदी···· कौशिकी ।	महा. गी.प्रे.अनु 3.10	–	–
		4 सशरीरा गता स्वर्गं ··कौशिकी सा प्रवृत्ता महानदी ।।	वा.रा. बाल. 34 8	–	–
138	क्रव्याद (अग्नि)	यस्माच्च दुहृतः सोऽयमलं भक्षयितुं क्षणात् । यजमानं नरश्रेष्ठ क्रव्यादोऽग्निस्ततः ।।	महा. आश्व. अपे.1.4 2569-70		
139	क्रौञ्च (द्वीप-पर्वत)	क्रौञ्चद्वीपे महाक्रौञ्चो गिरी रत्नचयाकरः ।	महा. 6.13.7	–	–
140	क्षत्रिय	1 क्षतान्नस्त्रास्य(य)ते सर्वानित्येवं क्षत्रियोऽभवत् ।	महा. ग.द्रोण 69.2	–	–
		2 क्षताच्च नस्त्रायतीति स (पृथु) तस्मात्क्षत्रिय स्मृतः।	महा. 12.29.130		
		3 ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते ।	महा. चि. 12.59.126		
141	क्षर	1 यच्च तत्क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत् ।	महा. 12.291.12		

1	2	3	4	5	6
		2 कृत्स्नं (पाञ्चभौतिकं जगत्) एतावतस्तात क्षरते व्यक्त-सञ्ज्ञकम् । अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥	महा. 12.291.34	–	–
		3 क्षरतीद जगत्	महा. 12.291.35	–	–
		4 नानात्वं क्षरमुच्यते	महा. 12.293.47	–	–
142	क्षुप	....गर्भः क्षुवतोऽपतत् । स क्षुपो नाम संभूतः प्रजापतिः । (इक्ष्वाकु-पिता)	महा. 12.122.16½	–	–
143	क्षेत्र	इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभि-धीयते ।	गीता 13.1 महा. 6.37.1	–	–
144	क्षेत्रज्ञ	1 एतद् (क्षेत्रं=शरीरं) यो वेत्ति तं प्राहुः । क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।	गीता-13.1 महा. 6.37.1	–	–
		2 एवमाहुः समाहारं क्षेत्रमध्यात्म-चिन्तकाः । स्थितो मनसि यो भावः स वै क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥	महा. 12.212.40-41		
145	खण्डपरशु	क्षिप्तश्च सहसा रुद्रे खण्डनं प्राप्त-वांस्तदा । ततोऽहं खण्डपरशुः स्मृतः परशुखण्डनात् ।,	महा. 12.330.49	–	–
146	खर	उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ।	वा.रा. अरण्य 22 1	–	–
147	खलिन	हता खलिनो(नामकः शत्रुः) यत्र स देशः खलिनोऽभवत् ।	महा. गी.प्रे. अनु. 155.24	–	–
148	खेचर	अध्वानं सोऽतिचक्राम खेचरः खेचरन्निव ।	महा. 12.312.16	–	–
149	गण्डा	1 गण्डं गण्डं गतवती गण्डगण्डेति संज्ञिता । गण्डगण्डेव गण्डेति विद्धि मानलसम्भवे ॥	महा. 13.95.41	–	–

1	2	3	4	5	6
		2 वक्त्रैकदेशे गण्डेति धातुमेतं प्रचक्षते ।। तेनोन्नतेन गण्डेति विद्धि मानलसम्भवे ।।	तत्रैव मनु. 93.98		
150	गदावसान	दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग् गदां चैव निवेदिता । गदावसानं तत्ख्यातं मथुराया: समीपत: ।।	महा ग. 2.19 26	–	–
151	गन्धवती	तेन गन्धवतीत्येव नामास्या: प्रथित भुवि । (वरस्वरूप सुगन्ध पराशर से प्राप्त किया)	महा. 1.57.66	–	–
152	गया	दिग्पूर्वा भरतश्रेष्ठ गयस्य तु गयापुरी ।	हरि. 1.10.19	–	–
153	गरुड	गुरुं भारं समासाद्योड्डीन एप विहंगम: । गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्त-स्मात्पन्नगभोजन: ।।	महा. 1.26.3 (पा टि. 243)	8	22
154	गर्गस्रोत	यत्र गर्गेण वृद्धेन तपसा भावितात्मना । ...उत्पाता दारुणाश्चैव शुभाश्च... सरस्वत्या: शुभे तीर्थे विहिता वै महात्मना । तस्या नाम्ना च यत्तीर्थं गर्गस्रोत इतिस्मृतम् ।।	महा. 9.36.15-16	–	–
155	गान्दिनी	गान्दिनी नाम तस्याश्च सदा गा: प्रददौ पिता ।	हरि. 1.38.50	6	7
156	गान्दी	गान्दी तस्याथ गान्दीत्वं सदा गा· प्रददौ हि सा —पाठभेद:	(पा टि.)	6	7
157	गान्धारी	गान्धारराजस्य दुहिता कुलशा-लिनी ।गान्धारी........	तत्रैव 2.98.48	–	–
158	गार्हपत्य	गृहाणां हि पतित्वं हि गृहपत्यमिति स्मृतम् । गृहपत्यं तु यस्यासीत्त-स्यासीद् गार्हपत्यता ।।	महा.आश्व. मपे. 1.4 2590 ½	–	–
159	गालव	सोऽभवद् गालवो नाम गल-बन्धान्महातपा: ।	हरि. 1.12.24	5	6

1	2	3	4	5	6
160	गुह	(I) गुहावासाद् गुहोऽभवत्।	महा.गी.प्रे.अनु. 85.82; 86.14	-	-
		(II) सर्वगुह्यमयो गुह ।	महा 1.127.13	-	-
161	गृहपति(अग्नि)	स्थालीपाकं च गार्हं च सर्वे ह्यस्मिन्प्रतिष्ठिताः । गृह्यकर्मवहो यस्मात्तस्माद्गृहपतिस्तु सः ।।	महा.आश्व.अपे. 1.4.2584-85	-	-
162	गोकर्ण	सद्यं गोशतं यत्र सुखं तिष्ठत्ययन्त्रितम् । सवत्सं कुरुशार्दूल तच्च गोकर्णमुच्यते ।।	तत्रैव 1.4 1083-84	-	-
163	गोतम	गोदमो दमतो धूमो दमस्ते समदर्शनात् । विद्धि मां गोतमं कृत्ये""।।	महा.13.95.33; गी.प्रे.अनु.93.90	5	7
164	गोपति	गोपतिर्नाम नामतः । वने संरक्षितो गोभिः""""	महा.12.49.65	-	-
165	गोमती	गोमतीं गोयुतानूपां"""""	वा.रा.अयो.49.11	-	-
166	गोविन्द	1 गोविन्दो वेदनाद् गवाम्	महा.5.68.13	-	-
		2 नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम् गोविन्द इति मां देवा वाग्भिः समभिस्तुष्टुवुः ।।	महा.12.330.5	3	14
		3 गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा ।	महा.1.19.12		
		4 गौरेषा तु यतो वाणी तां च वेद यतो भवान् । गोविन्दस्तु ततो देव मुनिभिःकथ्यते भवान् ।।	हरि 3.88.50		
		5 अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिन्द्रता गतः । गोविन्द इति लोकस्त्वां स्तोष्यन्ति भुवि शाश्वतम् ।।	तत्रैव 2.19.45		
167	घटोत्कच	घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत । अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति सा ह ।।	महा.ग.1.157. 38;चि.1.155. 38	4	16
		घटमासोत्कच–इति पाठभेदः	महा.1.143.34		
168	घृतार्चि	घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम् । घृतार्चिरहमव्यग्रै र्वेदज्ञैः परिकीर्तितः ।।	महा. 12.33020	-	-

1	2	3	4	5	6
169	घ्राण	जिघ्रतो भवति घ्राणं बुद्धिर्विक्रियते पृथक् ॥	महा. 12.240.5	–	–
170	चक्रवान्	चतुर्भागे समुद्रस्य चक्रवान्नाम पर्वतः । तत्र चक्रं सहस्रारं······	वा.रा.कि. 42.27	–	–
171	चक्षु	येनेदं वीक्षते····वक्ति·······न चक्षुर्विद्यते ह्येतत्। स वै भूतान्ध उच्यते।	महा.गी.प्रे क्षेपक 4990	–	--
172	चतुर्भुज	तां दिदृक्षुरहं योगाच्चतुर्मूर्तित्वमागतः। चतुर्मुखश्च संवृत्तो·······।	महा.गी.प्रे अनु. 141.4	–	–
173	चन्द्रकान्ता	चन्द्रकेतोऽस्तु मल्लस्य मल्लभूम्यां निवेशिता। चन्द्रकान्तेति विख्याता	वा.रा. उत्तर 102.9	--	--
174	चर्मण्वती	1 महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् सस्रुवे यतः। ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥	महा. 12 29 116	8	12
		2 नदी महानसाद् यस्य (रन्तिदेवस्य) प्रवृत्ता चर्मराशितः। तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽभवत् पुरा ॥	महा.ग.द्रोण 67.5		
		3 रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः (गावः) पशुत्वेनोपकल्पिताः। अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता ॥	महा.गी.प्रे.अनु. 66.43		
175	चित्ररथ	अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः। सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥ (अहं=अंगारपर्णो गन्धर्वः)	महा. 1.158.37	4	8
176	चित्राश्व	बालस्याश्वा. प्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृण्मयात्। चित्रेऽपि च(वि) लिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते।	महा. 3.278.13	--	–
177	चिरकारी	चिरं हि सर्वकार्याणि समेक्षावान् (विमृश्यार्थान्) प्रपद्यते । चिरं संचिन्तयन्नर्थाश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन्॥ चिरंकार्याभिसंपत्तेश्चिरकारी तथोच्यते ॥	महा: 12.258 4,5	–	–
		2 चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः। सफलं चिरकारित्वं कुरु। त्वं चिरकारिक ।	महा. 12.258.54		

1	2	3	4	5	6
160	गुह	(I) गुहावासाद् गुहोऽभवत् ।	महा.गी.प्रे.अनु. 85.82; 86 14	–	–
		(II) सर्वगुह्यमयो गुह् ।	महा 1.127.13	–	–
161	गृहपति(अग्नि)	स्थालीपाकं च गार्हं च सर्वे ह्यस्मिन्प्रतिष्ठिताः । गुह्यकर्मवहो यस्मात्तस्माद्गृहपतिस्तु सः ॥	महा.आश्व.अपे. 1.4.2584-85	–	–
162	गोकर्ण	सर्वां गोशतं यत्र सुखं तिष्ठत्ययन्त्रितम् । सवत्सं कुरुशार्दूल तच्च गोकर्णमुच्यते ॥	तत्रैव 1.4 1083-84	–	–
163	गोतम	गोदमो दमतो धूमो दमस्ते समदर्शनात् । विद्धि मां गोतमं कृत्ये·····॥	महा,13.95.33; गी.प्रे.अनु.93.90	5	7
164	गोपति	गोपतिर्नाम नामतः । वने संरक्षितो गोभिः········	महा.12.49.65	–	–
165	गोमती	गोमतीं गोयुतानूपां··········	वा.रा अयो.49.11	–	–
166	गोविन्द	1 गोविन्दो वेदनाद् गवाम्	महा.5.68.13	–	–
		2 नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम् गोविन्द इति मां देवा वाग्भिः समभिस्तुष्टुवुः ॥	महा.12.330.5	3	14
		3 गा विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा ।	महा.1.19.12		
		4 गौरेषा तु यतो वाणी तां च वेद यतो भवान् । गोविन्दस्तु ततो देव मुनिभिःकथ्यते भवान् ॥	हरि.3.88.50		
		5 अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः । गोविन्द इति लोकस्त्वा स्तोष्यन्ति भुवि शाश्वतम् ॥	तत्रैव 2.19.45		
167	घटोत्कच	घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत । अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति स ह ॥	महा.ग.1.157. 38;चि.1.155. 38	4	16
		घटमासोत्कच–इति पाठभेदः	महा.1.143.34		
168	घृताचि	घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम् । घृतार्चिरहमव्यग्रैर्वेदज्ञैः परिकीर्तितः ॥	महा. 12.33020	–	–

1	2	3	4	5	6
169	घ्राण	जिघ्रतो भवति घ्राणं बुद्धिर्विक्रियते पृथक् ॥	महा. 12.240.5	–	–
170	चक्रवान्	चतुर्भागे समुद्रस्य चक्रवान्नाम पर्वतः । तत्र चक्रं सहस्रारं······	वा रा.कि 42.27	–	–
171	चक्षु	येनेदं वीक्षते····वक्ति·······न चक्षुर्विद्यते ह्येतत् । स वै भूतान्ध उच्यते ।	महा.गी.प्रे क्षेपक 4990	–	–
172	चतुर्भुज	तां दिदृक्षुरहं योगाच्चतुर्मूर्तित्वमागतः । चतुर्मुखश्च संवृत्तो······· ।	महा.गी प्रे.अनु. 141.4	–	–
173	चन्द्रकान्ता	चन्द्रकेतोऽस्तु मल्लस्य मल्लभूम्यां निवेशिता । चन्द्रकान्तेति विख्याता	वा रा. उत्तर 102.9	–	–
174	चर्मण्वती	1 महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् सस्रुवे यतः। ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥	महा. 12 29 116	8	12
		2 नदी महानसाद् यस्य (रन्तिदेवस्य) प्रवृत्ता चर्मराशितः। तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽभवत् पुरा ॥	महा.ग.द्रोण 67.5		
		3 रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः (गावः) पशुत्वेनोपकल्पिताः । अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता ॥	महा.गी.प्रे.अनु. 66.43		
175	चित्ररथ	अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः। सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥ (अहं=अंगारपर्णो गन्धर्वः)	महा. 1.158.37	4	8
176	चित्राश्व	बालस्याश्वा. प्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृण्मयात् । चित्रेऽपि च(वि) लिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते ।	महा. 3.278.13	–	–
177	चिरकारी	चिरं हि सर्वकार्याणि समेक्षावान् (विमृष्यार्थान्) प्रपद्यते । चिरं संचिन्तयन्नर्थाश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन् ॥ चिरंकार्याभिसंपत्तेश्चिरकारी तथोच्यते ॥	महा: 12.258 4,5	–	–
		2 चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः । सफलं चिरकारित्वं कुरु। त्वं चिरकारिक ।	महा. 12.258.54		

1	2	3	4	5	6
		3 चिरायते च सन्तापाच्चिरं स्वपिति वारितः। प्राक्योऽश्चिरसंतापात्वेज्य चिरकारिकः ॥	महा. 12.258.55		
178	चैद्य	चेदिः पुत्रः कौशिकस्य तस्माच्चैद्या नृपाःस्मृताः ।	हरि. महा. 1.36.22	–	–
179	च्यवन	ततः स गर्भो निवसन् कुक्षौ भृगुकुलोद्वह । रोषान्मातश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ॥	महा. 1.6.2	5	8
180	जनक	अरण्यां मथ्यमानायां प्रादुर्भूतो महातपाः । जननाज्जनकोऽभवत् ।	वा.रा.उत्तर 57.19	–	–
181	जननी	जननाज्जननी स्मृता ।	महा.12.258.30	–	–
182	जनार्दन	दस्युत्रासाज्जनार्दनः ।	5.68.6	–	–
183	जमदग्नि	आजमद्यजजानेऽहं जिजाहीह जिजायिषि । जमदग्निरिति ख्यातस्ततो मां विद्धि शोभने ॥	महा.13.95.23 गो.ब्रे.प्रनु.93.94	5	9
184	जरत्कारु	जरेति क्षयमाहुर्वै दारुणं कारुसंज्ञितम् । शरीरं कारु तस्यासीत् तत् स धीमान् शनैःशनैः । क्षपयामास तीव्रेण तपसेत्यत उच्यते । जरत्कारुरिति ब्रह्मन् वासुकेर्भगिनी तथा ॥	महा. 1.36.3.4	–	–
185	जरासन्ध—	1 शकले द्वे स वै जातो जरया सन्धितः सुतः । जरया सन्धितो यस्माज्जरासन्धस्ततः स्मृतः ॥	हरि. 1.32.97	–	–
		2 तस्य नामाकरोत्तत्र प्रजापतिसमः पिता । जरया सन्धितो यस्माज्जरासन्धस्ततोऽभवत् ॥	महा. 2.17.6	–	–
		3 द्वाभ्यां जातो हि मातृभ्यामर्धदेहः पृथक् पृथक् । तया स सन्धितो यस्माज्जरासन्धस्ततः स्मृतः ॥	महा. 7.156.13	–	–

1	2	3	4	5	6
186	जातरूप	निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोभिर-भिरंजितम् । सर्वपर्वतसन्नद्धं सौवर्णमभवद् वनम् । जातरूप-मिति ख्यातं तदाप्रभृति राघव । सुवर्ण·····	वा.रा बाल. 37.21.22	–	–
187	जातवेदा:	वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ।	महा. 2.28 29	3	15
188	जाम्बवान्	पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृपि-पुंगव: । जृम्भमाणस्य सहसा मम (ब्रह्मण:)	वा.रा.बाल. 17.7	–	–
189	जाया	1 भार्या पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुन: । जायाया इति जायात्वं पुराणा: कवयो विदु: ॥	महा. 1.68.36	7	5
		2 आत्मा हि जायते तस्यां तस्मा-ज्जाया भवत्युत ॥	तत्रैव 3.13.62	–	–
		3 आत्मा हि जायते तस्य तेन जायां विदुर्बुधा: ॥	महा.ग. विराट् 31.41		
190	जाह्नवी	द्र –जह्नुसुता	वा.रा.बाल. 43.40	–	–
		1 नतस्तुष्टो महातेजा: श्रोत्राभ्या-मसृजत्पुन: । तस्माज्जह्नुसुता गंगा प्रोच्यते जाह्नवीति च ॥	वा.रा.बाल. 43.40	–	–
		2 दुहितृत्वमनुप्राप्ता गंगा यस्य (जह्नो:) महात्मन: ।	महा.गीप्रे.प्रमु. 4.3	–	–
		3 राजर्षिणा ततः पीतां गगां दृष्ट्वा महर्षय: । उपनिन्युर्महाभागो दुहितृत्वेन जाह्नवीम् ॥	हरि. 1.27.8 तु.-तत्रैव 1.32.47	–	–

1	2	3	4	5	6
191	जिष्णु	1 (विष्णुः) जयनाज्जिष्णुरुच्यते ।	महा.5.68.13	–	–
		2 ग्रहं दुरापो दुर्धर्षो दमनः पाकशासनिः । तेन देवमनुष्येषु जिष्णुनामासि विश्रुतः ॥	महा. 4.39.19		
391	(अ.)ज्वर	यश्चैव पुरुषो जातः स्वेदात्ते (शिवस्य)""। ज्वरे नामैष धर्मज्ञा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥	महा. 12.274.45	–	–
192	तक्षशिला	1 तक्षं तक्षशिलायाम् ।	वारा.उत्तर	–	–
		2 तक्षस्य दिक्षु विख्याता रम्या तक्षशिला पुरी ।	101.11 तत्रैव26.189		
193	तपस्वी (विष्णु)	तपश्चरसि यस्मात्त्वं तपस्वीति च शब्दितः ॥	हरि. $3.88.52\frac{1}{2}$	–	–
194	तापत्य	तस्यां तं जनयामास कुरुं संवरणो नृपः । तपत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ॥	महा. 1.163.23	–	–
195	तामिस्र	तमोमोहः महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः । मरणं त्वन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ॥	महा. 14.36.33	–	–
196	तारकामय	तद् युद्धमभवत्प्रख्यातं तारकामयम् ।	हरि. 1.25.35	–	–
197	तारेय	तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबलः ।	वा.रा. कि. 18.53	–	–
198	तालजंघ	तस्य (तालजंघस्य) पुत्रा शतं ख्यातास्तालजंघा इति श्रुताः	हरि. 1.33.51	–	–
199	तिलोत्तमा	तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद्विनिर्मिता । तिलोत्तमेत्यतस्तस्या नाम चक्रे पितामहः ।	महा. 203.17 तु. 13.128.1	4	2
200	त्याग	सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।	महा 6.40.2 (गीता 18.2)	–	–
201	त्रिककुत्	तथैवासं त्रिककुदो वाराहं रूपमास्थितः । त्रिककुत्तेन विख्यातः शरीरस्य तु मापनात् ॥	महा. 12.330.28		

1	2	3	4	5	6
202	त्रिधातु	त्रयो हि धातवः ख्याताः""""पित्तं श्लेष्माश्च वायुश्च""एतैश्च धार्यते- जन्तुरेतैः क्षीणैश्च क्षीयते। आयु- र्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते ॥	महा. 12.330.21,22	–	–
203	त्रिपथगा	त्रीन् पथो भावयन्तीति ततस्त्रिपथगा स्मृता।	वा.रा. बाल. 44.6	–	–
204	त्रिपुरारि	1 यदा त्रीणि समेतानि अन्तरिक्षे पुराणि वै। त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तेन तानि बिभेद सः ॥ 2 एवं स त्रिपुरं दग्धं दानवाश्- चाप्यशेषतः। महेश्वरेण क्रुद्धेन"""।	महा. 7.173.57 तु.13.145.24 महा. 8 24.121	–	–
205	त्रिविक्रम	त्रिरित्येव त्रयो वेदा"""क्रमते तास्तया सर्वास्त्रिविक्रम इति श्रुतः ॥	हरि. 3.88.51	–	–
206	त्रिशंकु	एवं त्रीण्यस्य शङ्कूनि (पितुरपरि- तोषः, दोग्ध्रीवधः अप्रोक्षितमांसभक्ष णञ्च) तानि दृष्ट्वा महातपाः। त्रिशङ्कुरिति होवाच त्रिशङ्कुरिति सः स्मृतः। एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशंकुरपतत् पुनः। विक्रोशमानस्त्रा- हीति विश्वामित्रं तपोधनम् ॥	हरि. 1.13.19 वा.रा. बाल. 60.18	6	8
207	त्रिशिराः	1 त्रिभिः किरीटैः शुशुभे त्रिशिराः स रथोत्तमैः। 2 ""तैर्मन्त्रैः प्रावर्धत त्रिशिराः। एकेनास्येन सर्वलोकेषु द्विजैः क्रियावद्भिर्यज्ञेषु सुहुतं सोमं पपौ ॥	वा.रा. युद्ध 69 24 महा. 12.329.23	4	17
208	त्रिसौपर्ण	त्रि. परिक्रान्तवानेतत्सुपर्णो धर्ममु- त्तमम्। यस्मात्तस्माद् व्रतं ह्येत- त्त्रिसौपर्णमिहोच्यते ॥	महा. 12.336.19	–	–

1	1	3	4	5	6
209	त्रेता	1 त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेता स्यात्परिमाणतः। तस्यास्तु त्रिशती सन्ध्या सन्ध्यांशस्त्रिशतःस्मृतः ॥	हरि. 1.8.13	–	–
		2 त्रिधा प्रणीतो ज्वलनो मुनिभिर्वेदपारगैः ।यतस्त्रेतात्वमापन्नो यदेकास्त्रिविधः कृतः ॥	हरि. 3.23.5		
		3 एकोऽग्निः पूर्वमेवासीदैलस्त्रेतामकारयत् ॥	हरि. 1.26.47		
210	त्रैशङ्कव	कुमारं जनयामास हरिश्चन्द्रमकल्मषम् ।.....त्रैशंकव इति स्मृतः ॥	हरि. 1.13.24½	–	–
211	त्र्यक्ष	निमीलिताभ्यां नेत्राभ्यां बलाद् देवो महेश्वरः । ललाटे नेत्रमसृजत्तेन त्र्यक्षः स उच्यते ॥	महा. ग. द्रोण 202.138	3	16
212	त्र्यम्बक	1 तिस्रो देवीर्यदा चैव भजते भुवनेश्वरः। द्यामपः पृथिवीं चैव त्र्यम्बकश्च ततः स्मृतः ॥	महा. 7.173.89	3	16
		2 भूमित्रयाणां देव यस्मात् प्रतिष्ठा पुनर्लोकानां भावनामेयकीर्तिः । त्र्यम्बकेति प्रथमं तेन नाम......	हरि. 2.74.28		
		3 क्रतुवधप्राप्तमन्युना च दक्षेण भूयस्तपसा चात्मानं संयोज्य नेत्राकृतिरन्या ललाटे रुद्रस्योत्पादिता।।	महा. 12.329.14		
213	दक्ष	दक्षस्त्वजायताङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् भगवानृषिः । ब्रह्मणः...............।	महा. 1.60.9		
213 (अ)	दक्षिणाग्नि	द्र -दाक्षिणात्य	हरि.3.36.20		
213 (ब)	दग्धरथ	द्र.-चित्ररथ	महा. 1.158.36	4–8	
214	दण्ड (राजा)	1 यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि । दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः ॥	महा. 12.15.8	6	9
		2 नाम तस्य (इक्ष्वाकोः कनिष्ठः पुत्रः) च दण्डेति पिता चक्रेऽल्पमेधसः । अवश्यं दण्डपतनं शरीरेऽस्य भविष्यति ॥	वा. रा. उत्तर 79.15		

1	2	3	4	5	6
215	दण्डकारण्य	1 शप्तो (दण्ड.) ब्रह्मर्षिणा (शुक्राचार्येण)वैधर्म्ये सहिते कृते। ततः प्रभृति काकुत्स्थ दण्डकारण्यमुच्यते ।।	वा.रा. उत्तर 81.9	–	–
		2 यः (दण्डः) चकार महात्मा वै दण्डकारण्यमुत्तमम् ।	हरि. 1.10.25½		
216	दरद	दरदं·········जायमानेन येनेदमभवद्-दारिता मही ।	महा. 2 418	–	–
217	दशग्रीव	दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति (स्वरूपं दृष्ट्वा पितृकथनम्)	वा. रा. उत्तर 9.33		
218	दाक्षिणात्य	यजमानं तु यस्मात्तु दक्षिणा तु गतिं नयेत् । दक्षिणाग्निं तमाहुः·········	महा. आश्व.प्रपे. 1.4.2593½	–	–
219	दानव	1 दानवानसृजद् दनुः ।	महा.12.200.28		
		2 दनुस्तु दानवाञ्जज्ञे।	हरि. 3.14.60	5	19
220	दामोदर	1 देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरं विदुः	महा. 5.68.8	3	17
		2 दमात्सिद्धि परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति हि। दिवं चोर्वी च मध्यं च तस्माद् दामोदरो ह्यहम् ।।	महा. 12.328.39		
		3 स तु तेनैव नाम्ना तु कृष्णो वै नामबन्धनात् । गोष्ठे दामोदर इति	हरि. 2.7.36		
		4 दाम्ना चोलूखले बद्धो विप्रकुर्वन् कुमारकम् । बभञ्जार्जुनवृक्षौ द्वौ ख्यातो दामोदरस्तदा ।	तत्रैव 2.101.34		
		5 स बद्धांगत निर्व्यूहाश्चित्रया वनमालया·········नाम दामोदरेत्येवं गोपकन्यास्तदाऽब्रुवन् ।	तत्रैव 2.20.22		
221	दाराः	दारा इत्युच्यते लोके नाम्नैकेन परन्तप । प्रोक्तेन चैव नाम्नायं विशेषः सुमहान् भवेत् ।।	महा. 13.47.30	–	–
222	दीर्घतमाः	1 एवमात्य वचस्तस्मात्तमो दीर्घ प्रवेक्ष्यसि । स वै दीर्घतमा नाम शापादृषिरजायत ।।	महा.1.98.15½	–	–

1	2	3	4	5	6
		2 तस्मादन्धो जास्यसि त्वं मच्छापान्नात्र संशयः। स शापादृषिमुख्यस्य दीर्घं तम उपेयिवान्। स हि दीर्घतमा नाम.....	महा.12.328.48		
223	दुन्दुभि	ननर्द कम्पयन् भूमिं दुन्दुभिः दुन्दुभिर्यथा।	वा.रा.कि. 11.26	4	20
224	दुर्गा	दुर्गात्तारयसे दुर्गे तत्त्वं दुर्गा स्मृता जनैः।	महा.ग. विराट् 6.21	3	18
225	दुर्जय	सर्वसंग्रामदुर्जयः। स दुर्जय इति ख्यातः........।	महा. गी. प्रे. अनु 2,11		
226	दुर्योधन	मोघं तवेदं भुवि नामधेयं दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात्। न हीह दुर्योधनता तवास्ते.........।	महा. 4.60.18	–	–
227	दृष्टि	पश्यन्ती भवते दृष्टिः	महा.12.240.5	–	–
228	देवरात	1 देवैर्दत्तः स (शुनःशेपः) वै यस्मात् देवरातस्ततोऽभवत्।	हरि. 1.27.56	6	10
		2 (निर्वचन नहीं संकेत उक्त प्रकार से)	महा.गी.प्रे. अनु 3.7		
229	दैत्य	1 दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यान्।	वा.रा.दाक्षि. अरण्य 14.15	4	21
		2 दितिर्दैत्यान् व्यजायत।	हरि. 3.14.60		
		3 दितिस्तु सर्वानसुरान् महासत्त्वान् व्यजायत।	महा. 12.200.28		
230	दैव	1 दैवेन विधिनापार्थ तद्दैवमिति निश्चितम्।	3.33.15	–	–
		2 अधिदैवं च यद् दैवं तद् दैवमिति संज्ञितम्।	हरि 3.7.17		
231	द्युतिमान्	द्युतिमान् नाम पार्थिवः। महाभागो महातेजा महासत्त्वो महाबलः।	महा.गी.प्रे अनु. 2.9	–	–
232	द्रोण	1 ततोऽस्य (भरद्वाजस्य) रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे। तस्मिन् समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः॥	महा. 1 121. 4½	–	–

1	2	3	4	5	6
		2 भरद्वाजस्य च स्कन्नं द्रोण्यां शुक्रमवर्धत । महर्षेरुग्रतपसस्तस्माद् द्रोणो व्यजायत ।।	महा. 1.57.89		
233	द्वापर	तस्य वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिकीर्तितम् तस्यापि द्विशती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।	हरि. 1.8.14	–	–
234	द्वारवती	1 कृतां द्वारवती नाम्ना बहुद्वारा मनोरमाम् ।	हरि. 1.10.36	8	3
		2 चातुर्वेदानि चत्वारि द्वाराणि विदधुश्च ते ।	हरि. 2.58.18 तु.-हरि. 2.46.29 2.55.112		
235	द्विजिह्व	द्विजिह्वाश्च कृता । सर्वा गरुडेन महात्मना ।	महा. 1.34.24 1.30.20पा.टि.372		
236	द्वैपायन	1 द्वीपे न्यस्तः स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनोऽभवत् ।	महा. 1.57.71		
		2 गर्भमुत्सृज्य मामकम् । द्वीपेऽस्या एव सरितः""कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति स्मृतः ।।	महा. 1.99.14		
237	धन	धत्ते धारयते चेदमेतस्मात्कारणाद् धनम् ।	महा. 5.112.2	–	–
238	धनञ्जय	सर्वान् जनपदाञ्जित्वा वित्तमाच्छिद्य केवलम् । मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनञ्जयम् ।।	महा 4.39.11	–	–
239	धर्म	1 धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः । यस्माद् धारयते सर्वं त्रैलोक्यं""धारणाद्धि द्विषां चैव""तस्माद् धारणमित्युक्तं स धर्म इति निश्चयः ।	वा.रा. उत्तर 2.6-7	–	–
		2 धनात्स्रवति धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चयः ।	महा. 12.91.15	–	–

1	2	3	4	5	6
		3 धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृताःप्रजाः । यः स्याद् धारण-संयुक्तः स धर्म इति""॥	महा. 12.110.11 तु.-8.49.50	–	–
		4 धारणाच्छ्रेयसो ध्यानाद्यं धर्मं कवयो विदुः ।	महा. 15.35.16	–	–
		5 नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः ।	महा. 5.135.8		
		6 धर्मो हि धृतः कृत्स्नं धारयते जगत् ।	महा.1.57.5	–	–
240	धर्मज	पुराऽहमात्मजः पार्थ प्रथितः कारणान्तरे । धर्मस्य""धर्मजः स्मृतः ॥	महा. 12.330.40	–	–
241	धर्मराज (युधिष्ठिर)	1 शमेन धर्मेण च रंजिता प्रजा ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता । यमस्तु कर्मणा तेन भृशं पीडितमानसः ॥	महा. 3.281.40		
	(यमराज)	2 धर्मेण रञ्जयामास धर्मराज इमाः प्रजाः ॥	हरि. 1.9.58½	–	–
242	धाता	धारणाद् धातृशब्दं च लभते लोक संज्ञितम् ।	हरि. 3.16.17	–	–
243	धात्री	कुक्षिसंधारणाद्धात्री ।	महा. 12.258.30	–	–
244	धार्ष्टक	धृष्णोश्च धार्ष्टकं क्षत्रं रणधृष्टं बभूव ह ।	हरि. 1.10.29	–	–
245	धुन्धुमार	1 धुन्धोर्वधात्तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः । धुन्धुमार इति ।	महा. 3.195.29		
		2 धुन्धुर्दैत्यो महावीर्यो मधुकैटभयोः सुतः । कुवलाश्वश्च नृपतिधुन्धुमार इति स्मृतः । नाम्ना च गुणसंयुक्तः"""" ।	महा. 3.195.36		

1	2	3	4	5	6
		3 कुवलाश्वः सुतस्तस्य (बृहदश्वस्य) राजा परमधार्मिकः । यः स घुन्धुवधात् राजा धुन्धुमारत्वमागतः ॥	हरि. 1.11.23		
246	धूर्जटि	धूम्रं रूपं च यत्तस्य धूर्जटिस्तेन उच्यते ।	महा. 7.173 88, 13.246 12	–	–
247	धृष्टद्युम्न	1 धृष्टत्वादतिधृष्णुत्वाद्धर्माद् द्युतसम्भवादपि । धृष्टद्युम्नः.... ।	महा. 1.155 49	6	11
		2 धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नाद् द्युतिसम्भवादपि ।	महा.ग. 1.169.53	–	–
248	नकुल	कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः ॥	महा. ग. विराट् 5.26	–	–
249	नद	भवन्ति नदता नदाः ।	महा. 12.315.42	–	–
250	नागधन्वा	यत्र पन्नगराजस्य वासुकेः सन्निवेशनम् ।	महा. 9.36.30	–	–
251	नारायण	1 अपां नारा इति प्रोक्ताः संज्ञा नाम कृता मया । तेन नारायणोऽस्मि ॥	महा. 3 17.3	3	19
		2 आपो नारास्तु तनव इत्यपां नाम शुश्रुम । अयनं तेन चैवास्ते तेन नारायणः ॥	महा. ग. वन 271.42		
		3 आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः ॥	हरि. 1.1.28 तु.-12.328.35		
		4 नारा आपः समाख्यातास्तासामयनमादितः । यतस्त्वं भूतभव्येश तन्नारायण शब्दितः ॥	हरि 3.88.44	–	–
		5 नाराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः । तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः ॥	महा.गो.प्रे. अनु. 124. दा. 6		

1	2	3	4	5	6
		6 नराणामयनाच्चैव तेन नारायणः।	महा.5.68.10		
		7 नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः।	महा. 12.328.35		
252	नासत्य	1 नासत्यश्चापि दस्रश्च.......... सज्ञानासाविनिर्गतौ।	महा.गी.प्रे मनु. 150.17		
		2 सोऽश्वरूपेण भगवान् (मार्तण्ड) तां मुखे समभावयत्। ....सा तन्निरवमच्छुक्रं नासिकायां विवस्वतः। नासत्यः........	हरि. 1.9.54		
253	निमि	नेत्रेषु सर्वभूतानां वायुभूतश्चरिष्यति त्वत्कृते च निमिष्यन्ति चक्षूंषि.... वायुभूतेन चरता विश्रमार्थं मुहुः मुहुः।।	वा.रा. उत्तर 57.16	–	–
254	निरुक्त	नाम धातुविभक्तीनां तत्त्वार्थनियमाय च। सर्ववेदनिरुक्तानां निरुक्तमृषिभिः कृतम्।।	महा. आश्व. प्रपे.1.4.2672½	–	–
255	निषाद	1 निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः। तस्मान्निषादाः संभूताः	महा. 12.59.102	7	6
		2 तमत्रिविह्वलं दृष्ट्वा निषीदेत्यब्रवीत्तदा। निषादवंश-कर्ताऽसौ बभूव.......।।	हरि. 1.5.19		
256	नीलकण्ठ	1 दधार भगवान् कण्ठे(विषं).... तदाप्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः।।	महा. 1.17 पा. टि 274	–	–
		2 अस्य (रुद्रस्य) भुजगः पीड्यमानः कण्ठो नीलतामुपनीतः।	महा.12.329.15 (2, 3)		
		3 स्वायम्भुवे नारायणहस्तबन्धग्रहणान्नीलकण्ठत्वमेव वा।	महा. 12.329. 15 (4)		
		4 दत्तः प्रहारः कुलिशेन पूर्वं.... कण्ठे नैल्यं तेन ते यत्प्रवृत्तं तस्मात् ख्यातस्त्वं नीलकण्ठेति कल्पः।।	हरि. 2.74.31		

1	2	3	4	5	6
		5 तत्कृता नीलता चासीत् (विष पानानन्तरम्) कण्ठे वह्निभा शुभा । तदाप्रभृति चैवाहं नीलकण्ठ इति स्मृतः ।	महा गी.प्रे.अनु. 141. दा. 4		
257	नैमिषारण्य	नेमिस्तु हरिचक्रस्य शीर्णा यत्रा-भवत् पुरा। तदेतन्नैमिषारण्यम्'''	महा. 2.87.7	8	4
258	पक्षिराज	भवस्त्वेष पतत्रीणामिन्द्रोऽतिबल-सत्त्ववान् ।	महा 1.27.20	–	–
259	पंक्तिपावन	यावदेतत्प्रपश्यन्ति पंक्त्यास्ता-वत्पुनन्त्युत । ततो हि पावना त्पंक्त्याः पक्तिपावन उच्यते ॥	महा गी.प्रे.अनु. 90.36	–	–
260	पञ्चशिख	पंचस्रोतसि निष्णातः पंचरात्र-विशारदः । पंचज्ञः पचकृत् पंचगुणः पचशिखः स्मृतः ॥	महा.पा.टि. 12.211.10	5	10
261	पंचाप्सरस्	(आख्यानमात्र)	महा.गी.प्रे अनु. 218 11.12वा. अरण्य 11.1.20	–	–
262	पंचाल	पंचैते (मुद्गल, संजय, बृहदिपु यवीनर, कृमिलाश्व) रक्षणायाल देशानामिति विश्रुताः । पंचानां विद्धि पंचालान्''''''''अल संरक्षणे तेषां पंचाला इति विश्रुताः ॥	हरि 1.32. 65, 66	8	5
263	पति	1 पालनाद्धि पतिस्त्वं मे'''' ''''	महा.14 93.26	7	7
		2 पालनाद्धि पतिस्तथा''''''''गुण स्यास्य निवृत्तौ तु''''''न पतिः पतिः ।	महा. 12.258.35		
		3 पात्याच्चैव पतिः स्मृतः ।			
		4 पालनाच्च पतिः स्मृतः ।	महा. ग. 1.104.30		
264	पत्नी	(भर्तव्या) रक्षणीया च पत्नी हि पतिना सदा ।	महा. 3.67.13	7	8
265	पयोधरा (नदी)	नदी च''''''क्षीरसंकाशसलिला पयोधरामिति श्रुतिः ।	हरि. 3.35.26	–	–

1	2	3	4	5	6
266	परावह	येन सृष्टः पराभूतो यात्येव निवर्तते । परावहो नाम परो वायुः ।	महा. 315.52	–	–
267	पराशर	परासुश्च यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितस्तदा । गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः ॥	महा. 1.169.3	–	–
268	परिक्षित्	1 परि क्षीणे कुले जातो भवत्वयं परिक्षिन्नामेति ।	महा.1.90.92 तु-महा. 14.96.10	6	12
		2 परिक्षीणेषु कुरुषु पुत्रस्तव भविष्यति । एतदस्य परिक्षित्वं गर्भस्थस्य भविष्यति ।	महा. 10.16.3		
269	परिवह	यस्मिन् पारिप्लवे दिव्ये वहन्त्यापो विहायसा ।	महा. 12.315.46	–	–
270	परिवेदनीया	यया चैव परिवेद्यते ।	महा. 12 159.63	–	–
271	पशुपति	1 सर्वथा यत्पशून् पाति तैश्च यद् रमते सह । तेषामधिपतिर्यश्च तस्मात् पशुपतिः स्मृतः ॥	महा. 7.173 82 तु-महा. गी.प्रे. अनु. 145.दा.18	3	20
		2 ग्राम्यारण्यानां त्वं पतिस्त्वं पशूनां ख्यातो देवः पशुपतिः सर्वकर्मा ।	हरि. 2.74.34		
272	पशुसख	1 सखा सखे यः सख्येयः पशूनां च सखा सदा । गौणं पशुसखेत्येवं विद्धि मामग्निसंभवे ॥	महा.13.95.43	–	–
		2 पशून् रजामि दृष्ट्वाऽहं पशूनांच सदा सखा । गौणं पशुसखेत्येवं विद्धि मामग्निसम्भवे॥	महा. गी. प्रे. अनु. 93.100		
273	पांचजन्य (शंख)	1 तत्र पंचजनं हत्वा""आजहार ततः"" "" शंखं च पुरुषोत्तमः ॥	वा.रा. कि. 42.28	–	–
		2 स तु पंचजनं हत्वा शंखं लेभे जनार्दनः । यस्तु देव-मनुष्येषु पांचजन्यः"" ॥	हरि.2.33.17 तु.-201.67		

1	2	3	4	5	6
	(अग्नि)	3 पंचवर्णः सुतपसा कृतस्तैः पंचभिः जनैः । पांचजन्यः श्रुतो देवः पंचवंशकरस्तु सः ।	महा. 3.210.5		
274	पाण्डु	यस्मात्पाण्डुत्वमापन्ना.....तस्मादेप सुतस्तुभ्यं पाण्डुरेव भविष्यति । नाम चास्य तदेवेह भविष्यति शुभानने ॥	महा. 1.100 17½	–	–
275	पादप	वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् । तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥	महा. 12.177.16	–	–
276	पाराशर्य (व्यास)	पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा । जज्ञे च यमुनाद्वीपे पाराशर्यः........ ॥	महा. 1.57.69	–	–
277	पारिजात	पारिजातो विष्णुपद्याः पारिजातेति शब्दितः ।	हरि. 2.67.70	8	20
278	पारीक्षित (जनमेजय)	इति पारीक्षितो राजा...........	तत्रैव 2.128.40	–	–
279	पार्श्वमौलि (यक्ष)	तस्य (मणिभद्रस्य) तेन प्रहारेण मुकुटं पार्श्वमागतम् ।..... .....तदा प्रभृति यक्षोऽसौ पार्श्वमौलिरिति स्मृतः ॥	वा.रा.उत्तर 15.15	4	5
280	पावक	पावनात्पावकश्चासि.......	महा. 2.28.28	–	–
281	पाशुपत	अहं पशुपतिर्नाम मद्भक्ता ये च मानवाः । सर्वे पाशुपता ज्ञेया.....	महा. 13. अपे. 15.4351	–	–
282	पिता	मृत्यानां भरणात्सम्यक् प्रजानां परिपालनात् । मर्यादानाच्च धर्मेण पिता....... ।	वा रा.अयो. 105.33	7	9
283	पिनाक	आनतेनाथ शूलेन पाणिनामिततेजसा । पिनाकमिति चोवाच शूलमुग्रायुधः प्रभु ॥	महा. 12.278.18	–	–
284	पिपीलिक	तद् वै पिपीलिक नाम वरदत्ता पिपीलिकैः ।	महा. 2.48.3½	–	–
285	पुण्डरीकाक्ष	पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमक्षरम् । तद्भावात्पुण्डरीकाक्षः ।	महा. 5.68.6	–	–

1	2	3	4	5	6
286	पुण्यक	कर्मणा मनसा वाचा पतिं नाति- चरन्ति याः । तासां पुण्यफलं सौम्ये पुण्यकः समुदाहृतम् ॥	हरि. 2.78.17	–	–
287	पुत्र	1 पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति ॥	वा.रा.अयो. 107.12	7	10
		2 तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥	महा.1.68.38	–	–
		3 त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्राः धर्मप्लवाः पितॄन् ।	महा. 1.69.19		
		4 पुन्नाम्नो नरकात्पुत्रस्त्रातीति पितरं मुने ।	महा. 1.220.14		
		5 अपत्यमस्मि ते पुत्र (पुत्त) स्त्रा- णात्पुत्रो हि विश्रुतः । आत्मा पुत्रः स्मृत.……… ।	महा. 14.93.37		
		6 सर्वथा तारयेत्पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ।	महा. 1.147.5		
		7 त्रातः स पुरुषव्याघ्र पुन्नाम्नो नरकात्सदा ।	हरि. 1.5.25		
		8 पुन्नाम्नो नरकात्पुत्रो यस्मा- त्त्राता पितृ स्तदा । तस्माद् ब्रुवन्ति पुत्रेति पुत्र……… ।	तत्रैव 2.23.20		
		9 नरकं पुदिति ख्यातं दुःखं च नरकं विदुः । पुदस्त्राणात्तत- पुत्रमिहेच्छति परत्र च ॥	तत्रैव 3.73.29½		
		10 पितॄनृणात् तारयति पुत्र इत्यनुशुश्रुम ।	तत्रैव 14.93.71		
288	पुरुष	1 नवद्वारं पुरं पुण्यं………व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात् पुरुष उच्यते ॥	महा. 12.203.35	7	11
		2 देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ………	महा.गीता13.22		
		3 परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते ।	महा. 5.131.33		
		4 पुरं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते ।	महा. 5.131.35		
		5 पूरणात्सदनाच्चैव……… ।	महा.5.68.10		

1	2	3	4	5	6
289	पुरुषोत्तम	1 पूरणात्सदनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषोत्तमः ।	महा. 5.68.10	–	–
		2 ''''''''अक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मिन् लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।	महा. 6.37.18 (गीता 15.18)		
290	पुष्कलावत	पुष्कल पुष्कलावते ।	वा.रा.उत्तर 101.11	–	–
291	पृथु	1 यत्नतः प्रथितेत्यूचुः सर्वानभिवभन्पृथुः ।	महा. ग द्रोण 69.2	–	–
		2 प्रथयिष्यति वै लोकान् पृथुरित्येव शब्दितः ।।	महा. 12.29.130		
		3 आत्मानं प्रथयित्वाऽहं प्रजां धारयिता चिरम् ।	हरि. 1.6.5		
292	पृथ्वी-पृथिवी	1 प्रथिता धनतः (धर्मतः) श्चैव पृथिवी बहुभिः स्मृता ।	महा. 12.59-128	8	7
		2 ततोऽभ्युपगमात् राज्ञः पृथोर्वैन्यस्य भारत । दुहितृत्वमनुप्राप्ता देवी पृथ्वीति चोच्यते ।	हरि. 1.6.46		
293	पृश्निगर्भ (कृष्ण)	पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेदा आपोऽमृतं तथा । ममैतानि सदा गर्भे पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ।।	महा. 12 328.40	3	21
294	पौरुष	यत्स्वयं कर्मणा किंचित् फलमाप्नोति पूरुषः । प्रत्यक्ष चक्षुषा दृष्ट तत्पौरुषमिति स्मृतम् ।।	महा. 3 33.16	–	–
295	प्रचिन्वान्	प्रचिन्वांस्तु सुतस्तस्य (जनमेजयस्य) यः प्राचीमयजद् दिशम् ।	हरि. 1.31.5	–	–
296	प्रजा	प्रजापतय एते हि प्रजाभागैरिह प्रजाः ।	महा.गी. प्रे. 85.134		
297	प्रजापति	1 प्रजापतय एते हि प्रजाभागैरिह प्रजाः ।	गी प्रे.अनु. 85.134	3	22
		2 त्वं प्रजापतिरसंशयम् । प्रजाश्च पालयिष्येऽहमति ते समयः कृतः ।।	हरि. 1.5.10		

1	2	3	4	5	6
298	प्रतिविन्ध्य	शास्त्रत: प्रतिविन्ध्य""पर प्रहरणाशाने प्रतिविन्ध्योऽभवत्वयम् ।	महा. 1.213-74		
299	प्रद्युम्न	1 य: मन: सर्वभूतानां प्रद्युम्न: परिपठ्यते	महा. 12.326-36	–	–
		2 संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूत: स उच्यते ।	महा. 12.326.39		
300	प्रभावती	नाम्ना प्रभावती नाम चन्द्रामेव प्रभावती।	हरि. 2.91.41	–	–
301	प्रभास	1 सर्वं जगद् भासयते""एवं तु तीर्थप्रवरं पृथिव्यां प्रभासनास्स्य तत: प्रभास:।	महा. 9.34.37	–	–
		2 प्रभां हि परमां लेभे तस्मिन्नुन्मज्य चन्द्रमा: ।	महा. 9.34.77		
		3 तत्र चावभासितस्तीर्थे यदा सोमस्तदाप्रभृति तीर्थं तत् प्रभासमिति नाम्ना ख्यातं बभूव ।।	महा.12.329. 46 (10)		
		4 विमुक्तशाप: पुनरात्मतेज: सर्वं जगत् भासयते नरेन्द्र। सर्वे तु तीर्थप्रवर: पृथिव्या प्रभासनात्तस्य तत: प्रभास: ।।	महा.चि.गदापर्व 35.41-42		
302	प्रमद्वरा	प्रमदाभ्यां वरा सा तु सर्वरूपगुणान्विता । तत: प्रमद्वरेत्यस्या: नाम चक्रे महानृषि:।	महा. 1.8.10	4	3
303	प्रयाग	यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामह: । प्रयागमिति विख्यातं तस्माद्""""	महा. 3.85.14	–	–
304	प्रवह	प्रेरयत्यभ्रसंघातान् धूमजांश्चोष्मजांश्च य: । प्रथम: प्रथमे मार्गे प्रवहो नाम सोऽनिल: ।।	महा. 12.315.36	–	–
305	प्रसेन	प्रसेनश्चाथ सत्राजिच्छत्रुसेनाजितावुभौ ।	हरि. 1.26.13		
306	प्राण	1 प्राणान् प्रणीयते प्राणी	महा. 12.177.24	–	–

1	2	3	4	5	6
		2 प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते ।	महा. 12 315.35		
		3 प्राण: स प्रथमं स्थानं वर्धयन् परिवर्तते ॥	महा. 1.40 55		
307	फल्गुन (फाल्गुन)	उत्तराभ्यां च पूर्वाभ्यां फल्गुनीभ्यामहं दिवा । जातो हिमवत: पृष्ठे तेन मां फल्गुनं विदु: ॥	महा. 4 39.14	–	–
308	बहुरूप (रुद्र)	यदस्य बहुधा रूपं···· ···· ···· बहुरूपस्तत ।	महा. 7.173. 86; तु-महा गी. प्रे.अनु.161.11½		
308(अ)	बाह्लीक	द्र.–बाहीक (बाह्लीक बाह्लिक)	महा. 1.177.19		
309	बीभत्सु (अर्जुन)	न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमान: कथचन । तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुत: ॥	महा. 4 39.16	6	13
310	बुध	ततस्तं मूर्ध्न्युपाघ्राय सोमो धाता प्रजापति: । बुध इत्यकरोन्नाम तस्य पुत्रस्य धीमत: ॥	हरि. 1.25.45	–	–
311	बुद्ध	एतद् बुद्ध्वा भवेत् बुद्ध: किमन्यद् बुधलक्षणम् ।	महा. 12.241.11	–	–
312	बुध्यमान (जीवात्मा)	अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्यपि ।	महा. 12.296.3,6	–	–
313	बृहस्पति	बृहत् ब्रह्म महच्चेति शब्दा: पर्यायवाचका. । एभि: समन्वितो राजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पति: ॥	महा. 12.323.2	3	23
314	ब्रह्म	1 यं बृहन्त बृहत्युक्थे यमग्नौ च महाध्वरे । ये विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नम: ।	महा. 12.47.26	3	24
		2 बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तस्माद् ब्रह्मेतिसंज्ञित: ।	हरि. 3.88.45½		
315	ब्रह्मचारी	अपेतव्रतधर्मा तु केवल ब्रह्मणिस्थित: । ब्रह्मभूतश्चरंल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ।	महा. 14.26-16	4	9

1	2	3		5	6
316	ब्रह्मदत्त	...तस्या: (सोमदायां;) प्रसन्नो ब्रह्मर्षि: (चूलीतपस्वी) ददौ पुत्रमनुत्तमम् । ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिन: सुतम् ।	वा.रा.बाल. 32.18	–	–
317	ब्रह्मर्षि	ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिता: । ब्राह्मण्यं तपसो ऽग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक: ।।	वा.रा.बाल. 65.19½	–	–
318	ब्राह्म (जगत्)	ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गत: ।	महा. 12.181.10	–	–
319	ब्राह्मण	1 ·········यद् ब्रह्म तद् ब्राह्मण:	महा. 12.329.5(3)	7	12
		2 ब्रह्मचर्ये स्थितं धैर्यं ब्रह्मचर्ये-स्थितं तप: । ये स्थिता ब्रह्मचर्येषु ब्राह्मणास्ते दिवि स्थिता:।।	महा. 1.45.38		
		3 ब्रह्मचर्याद् ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वं विधीयते ।	हरि. 1.45.37		
320	भया	स (हेति:राक्षस:) कालभगिनी कन्यां भया नाम भयावहाम् ।	वा.रा.उत्तर 4.16		
321	भरत (दौष्यन्ति)	1 भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि । तस्माद् भरत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुत: ।।	महा.1.69.33 तु.-1.90.29-33, हरि. 1.32.12	6	14
	(अग्नि)	2 भरत्येष प्रजा: सर्वास्ततो भरत उच्यते ।	महा. 3.211.1		
322	भरद्वाज	भरे सुतान् भरे शिष्यान् भरे देवान् भरे द्विजान्। भरे भार्यां भरे द्वाजं भरद्वाजोऽस्मि शोभने ।।	महा.गी.प्रे. अनु. 93.88 महा.13.95 31	5	11
323	भर्ता	1 भार्याया भरणाद् भर्ता	महा. ग. आदि सम्भव 104.30	7	13
		2 भर्ताऽसि भरणान्मम	महा.14.93.26		
		3 भरणाद्धि स्त्रियो भर्ता···· गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता ।	महा. 12.258.35		
324	भव	भव एवं ततो यस्माद् भूतभव्यभवोद्‌भव: ।	महा.ग. द्रोण 202.135	3	26

1	2	3	4	5	6
325	भागीरथी	1 इयं च दुहिता श्रेष्ठा तव (भगीरथस्य) गंगा भविष्यति । स्वत्कृतेन च नाम्ना…… दिव्या भागीरथीति च ॥	वा.रा.बाल 44.5	–	–
		2 उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निपसाद ह। गङ्गा भागीरथी……	महा. 12.29.61		
326	भारत	1 शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्नास्य भारताः ।	हरि. 1.32.10	–	–
		2 तेने (भरतेन) दं भारत कुलम् । अपरे ये च पूर्वे च भरता इति विश्रुताः ॥	महा. 1.69.49		
327	भार्या	1 भर्तव्या (रक्षणीया च पत्नी हि) पतिना सदा ।	महा. 3.67.13	7	14
		2 भर्तव्यत्वेन भार्या च ।	महा. 12.258.49		
328	भास (पक्षी)	भासी भासान् व्यजायत ।	वा.रा.अरण्य 14.19	–	–
229	भीम	1 एतस्य कार्याणि मतिमानुपाणि भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम् ।	महा. 3.254.10	–	–
		2 वायुवेगपराक्रमः ।	महा.3.13.81		
330	भीष्म	1 ततोऽन्तरिक्षे……देवाः……भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ।	महा. 1.94.90	–	–
		2 तस्य सुदुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः । ……भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ।	महा. 1.94.93		
331	भूतावास (विष्णु)	वसन्ति त्वयि भूतानि भूतावासस्ततो हरेः ।	हरि. 3.88.53	–	–
332	भृगु	1 भृगित्येव भृगुः पूर्वम् ।	महा. गी.प्रे.अनु. 85.105	5	12
		2 सह ज्वालाभिरुत्पन्नो भृगुस्तस्माद् भृगुः स्मृतः ।	महा.गी.प्रे.अनु. 85.105		

1	2	3	4	5	6
333	भैम	भीमो नाम महानभूत् । येन भैमाः……… ।	हरि. 2.38.38	–	–
334	भौत्य (मनु)	भूत्या चोत्पादितो देव्या भौत्यो नाम रुचेः सुतः ।	हरि. 1.7.45	–	–
335	मत्स्य	मत्स्यो नाम राजासीद् धार्मिकः…… ।	महा.1.57.51	–	–
336	मत्स्यगन्धा	सा तु सत्यवती…… मत्स्यघात्याभिसंश्रयात् । आसीन्मत्स्यसगन्धैव……	महा. 1.57.55	–	–
337	मथुरा	मथुरा नाम सा पुरी । शत्रुघ्नेन पुरा सृष्टा हत्वा तं (मधुं) दानवं रणे ॥	हरि. 1.54.56	8	6
338	मधु	ब्रह्मा पर्यमृशच्छतैः । एकं मृदुतरं मेने……मृदुस्त्वयं मधुर्नाम……	महा. 1.52.24-25	4	15
339	मधुनिषूदन	मधुरिन्द्रियनामेति ततो मधुनिषूदनः ।	महा 3 88.46	–	–
340	मधुमती	मधोर्दैत्यस्य वै सुता । देवी मधुमती नाम……	महा. 2.37.13	–	–
341	मधुरा	इयं मधुपुरी रम्या मधुरा……	वा.रा.उत्तर 70.5	–	–
342	मधुवन	1 मधुर्नाम महानासीद् दानवः…… घोरं मधुवनं नाम………	हरि. 1.54.23	–	–
		2 आख्यानमात्रम् ।	वा.रा सु. 61.11,12	–	–
343	मधुसूदन	1 मधुहा मधुसूदनः ।	महा.5.68.4	–	–
		2 तस्य तात वधादेव……मधुसूदनमित्याहुः ।	महा.6.63.13 ग्रु.-12.200.16		
344	मध्यदेश	हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं……मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।	महा.आश्व.अपे. 1.4.2504-5	–	–
345	मनुष्य	1 मनुर्मनुष्यानजनयत्………	वा.रा.अरण्य 14.29	7	15
346	मन्दार	मन्दारपुष्पैर्युक्तो मन्दारस्तेन कथ्यते ।	हरि. 2.57.70	–	–

1	2	3	4	5	6
347	मरीचि	मरीचिभ्यो मरीचिस्तु........।	महा. गी.प्रे. अनु 85.107	–	–
348	मरुत्	मा रोदीरिति तं शक्रः पुनः पुनरथाब्रवीत् । मरुतो नाम देवास्ते ....यथैवोक्तं मघवता तथैव मरुतोऽभवत् ।	हरि. 1.3 135½	8	25
349	मलद (देय)	इह भूम्यां मलं दत्वा दत्वा कारूषमेव च ।	वा.रा.बाल. 24.20	–	–
350	महर्षि	महर्षि शब्दं लभतां....तपसोग्रेण तोषित ।	तत्रैव 63.18	–	–
351	महादेव	1 प्रथमो ह्येष देवानां....	महा 7.173 81	–	–
		2 यच्च विश्वं महत्पाति महादेवस्ततः स्मृतः ।	महा. 7.173.91		
		3 स तु देवो बलेनासीत्सर्वेभ्यो बलवत्तरः। महादेव इति स्यातः।	महा.8.24.63		
		4 मेने (मङ्कलकः मुनिः) देवं महादेवं....नान्यं देवादहं मन्ये रुद्रात्परतरं महत् ।	महा.9 37.42 पा. टि.		
352		देवानां सुमहान् यच्च यच्चास्य विषयो महान् । यच्च विश्वं महत्पाति महादेवस्ततः स्मृतः ।	महा.गी.प्रे. अनु.161.8	–	–
353	महाबाहु (कृष्ण)	बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन् महाबाहुरिति स्मृतः ।	महा. 5 68 9	–	–
354	महाभारत	1 महत्त्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते ।	महा.1.1.209; चि. 274	6	5
		2 तन् (पापं) महाभारतमाख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते । भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ।	महा.1.56.31 तु -महा.18.5. पा.टि. गी प्रे. स्वर्ग 5.45		
		3 भाति सर्वेषु वेदेषु रतिः सर्वेषु जन्तुषु । तरणं सर्वपापानां ततो भारतमुच्यते ।।	भारत सावित्री 62		

1	2	3	4	5	6
355	महामती (अमावास्या)	महामखेष्वाङ्गिरसी-दीप्तिमत्सु महामती। महामतीति विख्याता.....।	महा. 3.208.7	—	—
356	महासेन	सेनापत्यं लब्धवान् देवतानां महासेनो यत्र दैत्यान्तकर्ता।	महा. 9.42.11	—	—
357	महेश्वर	1 महयन्ति च लोकाश्च महेश्वर इति स्मृतः।	महा. 7.173.83	—	—
		2 ईश्वरत्वान्महत्त्वाच्च महेश्वरः।	महा.गी.प्रे.अनु. 161 6		
		3 महेश्वरश्च लोकानां महतामीश्वरश्च सः।	तत्रैव 161.28		
358	मांस	मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्व....	तत्रैव 116.25	—	—
359	मातंग	मातंगास्तु मातंगजाः।	वा.रा.अरण्य 14.25	—	—
360	माधव	1 मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्। सर्वतत्त्वलयत्वाच्च......	महा 5 68.4	3	28
		2 मधोस्तु माधवाः स्मृताः।	हरि.1.33.55		
		3 मा विद्या च हरे प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान्। तस्मान्माधवनामासि धवः स्वामीति शब्दितः।	तत्रैव 3.88 49		
361	मानव (व्याधि)	1 मानसो जायते व्याधिर्मनस्येवेति निश्चयः।	महा. 14.12.2		
	(सर.)	2 मनसा निर्मितं सरः। ब्रह्मणा... तेनेदं मानसं सरः।	वा रा. बाल. 24.8	—	—
362	मान्धाता	1 मामेव धास्यतीत्येवमिन्द्रोऽप्यभ्यपद्यत। मान्धातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः॥	महा. 12.29 77	—	—
		2 मां धास्यतीति कारुण्यादिन्द्रो ह्यन्वकम्पयत्। तस्मात्तु मान्धातेत्येवं नाम तस्याद्भुतं कृतम्।	महा गी.द्रोण 62. 6½	—	—
363	मारीच	....मरीचिस्तु मारीचः कश्यपः	महा.गी.प्रे. अनु. 85.107	—	—

1	2	3	4	5	6
364	मारुत	1 मा रुदो मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत । बिभेद""रुदन्तमपि"" वासवः ।	वा.रा बाल. 46.20	8	25
		2 मारुता इति विख्याता ""ममात्मजाः ।	वा.रा.बाल 47.4		
		3 त्वत्कृतेनैव नाम्ना च मारुता इति"""" ।	वा.रा.बाल 47.7		
365	मारुति	जवेन महता युक्तो मारुतिर्मारुतो यथा ।	वा.रा. युद्ध 74.55	–	–
366	मार्तण्ड	1 न खल्वयं मृतोऽण्डस्थ इति स्नेहादभाषत । अज्ञानात् कश्यपस्तस्मान् मार्तण्ड इति चोच्यते ॥	हरि. 1.9.5	8	26
		2 विवस्वतः द्वितीये जन्मन्यण्डसंज्ञितस्याण्डं मारितमदित्याः । स मार्तण्डो विवस्वानभवत् ।	महा. 12.329 44 5.6	–	–
367	मालव	मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः ।	महा.3.28.58	–	–
368	माहिष्मती	1 महिष्मान्नाम पार्थिवः । माहिष्मती नाम पुरी येन राज्ञा निवेशिता ।	हरि. 133.5	–	–
		2 महाश्मसंघातवती""माहिष्मती नाम पुरी प्रकाशमुपयास्यति ।	तत्रैव 2.38.19		
369	मित्र	मित्रं मिदेर्नन्दतेः प्रीयतेर्वा संत्रायते मानदः मोदतेर्वा । (पाठभेद)"" मिन्देः""मिनुतेर्मोदतेर्वा ।	महा. 8.29.[illegible] [illegible]	6	16
370	मिथि	अरण्यां मथ्यमानायां प्रादुर्[illegible] महातपाः । मथनान्मि[illegible]	[illegible]	–	–
371	मुंजकेश	ततः स्वतेजसादि[illegible] पणस्य ह । [illegible] ततोऽहं मुं[illegible] ।	महा. 12.33[illegible]	–	
372	मुंजपृष्ठ	यत्र मुं[illegible]			

1	2	3	4	5	6
373	मुनि (विष्णु)	मननान्मुनिरेवासि ।	हरि. 3.88.52	–	–
374	मुरारि	एतेन मुरुमाक्रम्य……… ।	हरि. 2.101.67	–	–
375	मृग	अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्याः	वा.रा. अरण्य 14.23	–	–
376	मेघनाद	जातमात्रेण हि पुरा……रुदता सुमहान्मुक्तो नादो जलधरोपमः……। पिता तस्याकरोन्नाम मेघनाद इति स्वयम् ।।	वा.रा. उत्तर 12.31	–	–
377	मेदिनी	1 मेदसा प्लाविता सर्वा पृथिवी ……मेदोगन्धा तु धारिणी मेदिनीत्यभिसंज्ञिता ।।	वा.रा. उत्तर 3.51.53	8	8
		2 मधुकैटभ्योः कृत्स्ना मेदसाऽभिपरिप्लुता । तेनेयं मेदिनीति ।	हरि. 1.6.45		
378	मेधावी	बभूव पुत्रो मेधावी मेधावी नाम नामतः ।	महा. 12.169.3	–	–
379	मेध्य	इन्द्रियाण्येव मेध्यानि…… ।	महा.12.240.9	–	–
380	मेषवृषण (आख्यान)	इन्द्रस्तु मेषवृषणस्तदाप्रभृति…… गौतमस्य प्रभावेण……	वा.रा.बाल 49.12	–	–
381	मैत्र	मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।	महा. 12.60.12	–	–
382	मैथिल	मिथिर्नाम महातेजास्तेनायं मैथिलोऽभवत् ।	वा.रा. उत्तर 57.20½		
383	मैनाक	एतेषां (पितरों की) मानसी कन्या मेना नाम महागिरेः । पत्नी हिमवतः श्रेष्ठा यस्या मैनाक उच्यते ।।	हरि. 1.18.13	–	–
384	मौद्गल्य	मुद्गलस्य तु दायादो मौद्गल्यः सुमहायशाः ।।	हरि.1.32 67		
385	यक्ष	यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्ति वः ।	वा.रा. उत्तर 4.13	4	6
386	यति (विष्णु)	यमनाद् यतिरुच्यते ।	हरि. 3.88.52	–	–
387	यन्ता (सारथि-वशी)	यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं तथा । स यन्तेत्युच्यते सद्भिः न यो रश्मिषु लम्बते ।।	महा. 1.74.2	–	–

1	2	3	4	5	6
388	यम	प्रजास्त्वयेमा नियमेन संयता नियम्य चैता तपसे न कामया यतो यमस्त्वं तव देव विश्रुतम्....	महा. 3 281.33	3	31
389	यमुना	यवीयसी तयो (सावर्ण-यम) र्या तु यमी कन्या यशस्विनी । अभवत्सा सरिच्छ्रेष्ठा यमुना लोकभाविनी ।	हरि. 1.9.64	–	–
389(अ)	ययाति	यतिः ज्येष्ठस्तु तेषां वै ययातिस्तु ततः परम् ।	हरि.1.30.2	–	–
390	यवन	योनिदेशाच्च यवनाः ।	वा.रा.बाल. 55.3 द्र. महा. 1.84.15	7	17
391	यादव	यादवा यदुना च ।	हरि. 1.33.55	–	–
392	यायात (तीर्थ)	यत्र यज्ञे ययातेश्च....सर्पिः पयश्च सुस्राव....तत्रेष्ट्वा....ययातिः लेभे लोकांश्च पुष्कलान् ।	महा. 9.40 30-31	–	–
393	योजनगन्धा	तस्यास्तु (सत्यवती) योजनाद् गन्धमाजिघ्रन्ति नरा भुवि । तस्या योजनगन्धेति तस्या नाम परिश्रुतम् ।	महा. 1.57.67	–	–
394	रसन	रसतो रसनं भवेत् ।	महा.12.240.5	–	–
395	राक्षस	रक्षामेत च तत्रान्ये....रक्षामेति च यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वा ।।	वा.रा. उत्तर 4 11-13	4	3
396	रामा	भूतानामेव सर्वेषां यस्यां रागस्तदाभवत् । रागाद्रामेति मामाहुः.... ।	महा.3.248.4	–	–
397	राघव	रघुर्येन तु राघवाः ।	वा.रा.अयो. 110.28	–	–
398	राजा	1 पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन् । ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत ।।	महा. 12.29.131	6	17
		2 यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते ।	महा. 12 91.22,12		
		3 रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्दते ।	महा. 12.59.127		

1	2	3	4	5	6
		4 पित्राऽपरञ्जितास्तस्य प्रजा-स्तेनाऽनुरञ्जिता: । अनुरागा-त्ततस्तस्य (पृथो:) नाम राजेत्य-जायत ॥	हरि. 1.5 30		
		5 राजा रंजयति प्रजा: ।	महा. 12 56.36		
399	राम	रामस्य लोकरामस्य ।	वा.रा. बाल. 18.27तु.-वा.रा.अयो.2.44		
		लोके रामाभिरामस्त्वं····।	तत्रैव 24.5		
		रामो रमयतां श्रेष्ठ: ।	तत्रैव 53.1; उत्तर 58.5 तु.-वा.रा. अयो 61.1 उत्तर109.25		
		गुणाभिरामं रामम् ।	वा.रा.सु. 16.1 आदि		
	राम (तीर्थ)	यत्र राम:····असकृत् पृथ्वीं जित्वा ।	महा. 9.48.7		
400	रावण	1 रावयामास लोकान् यत्तस्माद्रावण उच्यते ।	महा.3.259.40 4 24		
		2 यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं तस्मात्त्वं रावणो नाम···· ।	वा.रा.उत्तर 16.39; तु. अरण्य 48.3,7		
		3 रावणं लोकरावणम् ।	वा.रा. उत्तर 16.38, युद्ध 9.20, 64.19 तु.-युद्ध.100.34, 114.101, 129.28 उत्तर 1.18, 34.11, युद्ध 20.22		
		4 रावण: शत्रुरावण: ।	वा.रा. सु. 22.32; 23.1, 8; 50.1 यु. 40.8		
		5 रावणं रिपुरावणम्	वा.रा. यु. 69.17		

1	2	3	4	5	6
401	रुक्मिणी	रुक्मिणी किल नामास्ति""।	हरि. 2 47.6 तु.-हरि. 2.59.14	–	–
402	रुक्मी	हिरण्यरोमेत्याहुर्यं""रुक्मी तस्याभवत् पुत्रः।	हरि. 2.59.14	–	–
403	रुद्र	1 यग्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत्प्रतापवान्। मांस-शोणित-मज्जादो यत्तो रुद्र उच्यते ॥	महा. 7.173.98 तु-ग्री.प्रे. ग्रनु. 161.7	3	32
		2 रुद्रो देवस्त्वं रुदेनाद्रावणाच्च।	हरि. 2.74.22		
		3 रोरूयमाणो द्रावणाच्चाति देवः।	तत्रैव	–	–
403(ग्र)	रुद्राः	4 ते रुदन्तो द्रवन्तश्च भगवन्तं पितामहम्। रोदनाद् द्रावणाच्चैव ततो रुद्रा इति स्मृताः ॥	हरि. 3.14.39	3	33
404	रेवती	रैवतस्याथ कन्या च रेवतीम्""	हरि. 2.58 84 द्र.-हरि 1.10.37	–	–
405	रोग	1 रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः""			
		2 व्याधी रोगो रुज्यते येन जन्तुः।	महा.12.318.3	–	–
406	रौक्मिणेय	रौक्मिणेयो प्रतापवान्।	हरि. 2.85.21, 90.20,105.78	–	–
407	रौच्य	रुचेः प्रजापतेः पुत्रो रौच्यो नाम मनुः स्मृतः।	हरि. 1.7.45	–	–
408	रौद्र	रुद्रतुल्याः गणा रौद्रा रुद्रवीर्य-पराक्रमाः।	महा. गी. प्रे. 284.35	–	–
409	रौम्य	सोऽसृजद् रोमकूपेभ्यो रौम्यान् नाम गणेश्वरान्।	तत्रैव	–	–

1	2	3	4	5	6
410	लक्ष्मण	1 लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः।	वा.रा.बाल. 18.27,यु 102. 15,18 तु.-वा.रा. कि. 32.12,यु.92. 9, उ. 46.13 यु. 41.10		
		2. लक्ष्मणः शुभलक्षणः।	वा.रा.यु. 91.72 तु. उत्तर 44.2; कि. 38.6, उत्तर 53.3		
411	लव	यश्चापरो भवेत्ताभ्यां लवेन स समाहितः। निर्मार्जनीयो वृद्धाभिर्लव इत्येव नामतः॥	वा.रा. उत्तर 67.8	6	18
412	लोकेश्वर (विष्णु)	यस्मात्प्रसूयते लोकः प्रभविष्णुः सनातनः। तस्माल् लोकेश्वरः धीमान्………।	हरि. 3.70.30		
413	वत्स	प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम……… वत्सैः संवर्धितो गोष्ठे………	महा. 12.49.71	–	–
414	बदरपाचन (तीर्थ)	1 नाम्ना बदरपाचनम्।	महा. 9.47.37	–	–
		2 (आख्यान मात्र)	महा. 9.47.44	–	–
415	वधूसर (नदी)	(आख्यान)	महा. 1.6.7	–	–
416	वल्ली	वल्ली वेष्टयते वृक्षं……… । (पाठभेद) वलयते……… ।	महा. चि. 12.184.13	–	–
417	वसिष्ठ	1 वसिष्ठोऽस्ति वरिष्ठोऽस्ति वसे वासगृहेष्वपि। वसिष्ठत्वाच्च वासाच्च वसिष्ठ इति विद्धि माम्॥	महा.13.95.27 महा. गी.प्रे.अनु. 93.84	5	13
		2 इन्द्रियाणां वशकरो वसिष्ठ इति चोच्यते।	महा. 1.1749.1pr.		
418	वसिष्ठापवाह (नदी)	एवं वसिष्ठापवाहो लोके……… (आख्यान)	महा. 9.41.39	–	–

1	2	3	4	5	6
419	वसुदेव	1 वसुदेवो वसूपमः ।	हरि 2.22.99	–	–
		2 वसोस्तु कुन्तिविषये वसुदेवः सुतोऽभवत् ।	तत्रैव 2.38.50	–	–
420	वसुधा	1 ररक्ष वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ।	महा.चि.वन. 54 38	–	–
		2 तस्यैव वसुसम्पूर्णा वसुधा वसुधाधिपः ।	तत्रैव 126.34		
		3 वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ।	तत्रैव 5.34.26		
		4 आत्मप्रत्यय कोशस्य वसुधेव वसुन्धरा ।	5.38.23		
421	वसुमती (नगरी)	1. एषा वसुमती नाम वसोस्तस्य महात्मनः ।	वा.रा.बाल 32.8	–	–
	(पृथ्वी)	2 पृथिवी च तदा देवी ख्याता वसुमतीति वै ।	महा.गी.प्रे मनु. 85.79		
422	वसुषेण (कर्ण)	1 वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति ।	महा.1.104.15	6	19
		2 वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुण्डलम् । नामास्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातयः ॥	महा. 3.293.12		
423	वामन	1 नृसिंह एव कथितो भूयोऽयं वामनो परः । यत्र वामनमास्थाय रूपं ब्रह्मविदां वरः ॥	महा.हरि. 3.48.1	–	–
		2 अणुर्वामननामासि यतस्त्वं वामनाख्यया ।	तथैव 3.88.51½		
424	वारुणी	1 वरुणस्य ततः कन्या वारुणी ।	वा.रा.बाल 45.35	3	24
		2 अहं ते (सङ्कर्षणस्य) दयिता कान्ता.... अहं कदम्बमालीना ....समीपं प्रेषिता पित्रा वरुणेन तवानघ ॥	हरि. 2.41.17-21		
425	वार्षिकी (नदी)	नदी भविष्यसि शुभे कुटिला वार्षिकोदका....वार्षिकी.... ।	महा. 5 187.35	–	–

1	2	3	4	5	6
426	वाली	वालेषु पतितं बीजं सुग्रीवः समजायत ।	वा.रा. 7.37. 47 (क्षेपक)	–	–
427	वाशिष्ठ	वसिष्ठपुत्रा सप्तासन् वाशिष्ठ इति विश्रुताः ।	हरि. 1.7.17	–	–
428	वासुदेव	1 वसनात्सर्वभूताना वसुत्वाद् देवयोनितः । वासुदेवस्ततो वेद्यः ।	महा. 5.68.3	–	–
		2 छादयामि जगद्विश्व भूत्वा सूर्य इवांशुभिः । सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ।	महा. 12 328.36		
		3 तस्य (वसुदेवस्य) पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ।	महा.गी.प्रे प्रनु. 147.32		
		4 द्वितीयो वसुदेवाद्ध वासुदेवो भविष्यति ।	हरि. 2.22.60		
		5 स एव वासुदेवो वै वसुदेवसुतो बली ।	तत्रैव 2.22.61		
429	वाहीक (वाह्लीक)	बहिश्च नाम ह्लीकश्च (हीकश्च) ....तयोरपत्यं वाह्लीका (वाहीका) नैषा सृष्टिः प्रजायते ।	महा. 8.30.44	–	–
430	विकुक्षि	तेषां विकुक्षिज्येष्ठस्तु विकुक्षित्वात् ।	हरि. 1.11.13 हरि.9.39	6	20
431	विघसाशी	....प्रवशिष्टानि यो भुङ्क्ते तमाहुर्विघसाशिनम् ।	महा.गी.प्रे. 93.15	–	–
432	विजय (अर्जुन)	अभिप्रयामि संग्रामे....नाजित्वा विनिवर्तामि तेन मा विजयं विदुः।।	महा 4.39.12	–	–
433	विद्युज्जिह्व	जिह्वया संलिहन्तं च राक्षसं समरे तथा ।	वा.रा.उत्तर $23.18\frac{1}{2}$	–	–
434	विनता	नताया विनता सुता।	वा.रा.अरण्य 14.20	–	–
435	विनशन	शूद्राभीरान्प्रतिद्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती । यस्मात् सा भरत श्रेष्ठ द्वेषान्नष्टा सरस्वती । तस्मात्तद् ऋषयो नित्यं प्राहुर्विनशनेति च ।	महा.9.36.2 महा.3.82.105	8	15

1	2	3	4	5	6
436	विपाशा	1 उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स (वसिष्ठः) महानृषिः विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः॥ 2 (अत्रैव) अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः। बद्ध्वात्मानं निपातितो विपाश.पुनरुत्थितः।	महा.1.167.6 महा. 3.130.9	–	–
437	विभावसु (सूर्य)	तेनासौ सम्भृतो देवो रूपेण तु विभावसुः।	महा. 1.9 42	–	–
438	विभीषण	1 विभीषणं तं वानरभीषणम्। 2 विभीषणेनारिविभीषणेन।	वा.रा.यु. 50.8 वा.रा.यु.86.35	-	–
439	विरिञ्च	विरिञ्च इति यः प्रोक्तः………स प्रजापतिरेवाहं चेतनात्सर्वलोकहृत्।	महा. 12.330.29	–	–
440	विरूपाक्ष	विरूपाक्षं विरूपाक्षतरं कृतम।	वा.रा.यु.97 33	–	–
441	विवह	दारुणोत्पातसंचारो….पञ्चमः। स महावेगो विवहो नाम मारुतः॥	महा. 12.315.45		
442	विशाला	तेन (विशालेन) चासीदिह। स्थाने विशालेति पुरी श्रुता।	वा रा.बाल. 47.12	–	–
443	विश्रवा	यस्मात्तु विश्रुतो वेदस्त्वया (बिन्दुपुत्र्या) एपो ध्यायतो मम (पुलस्त्यस्य) तस्मात् स विश्रवा….।	वा.रा.उत्तर 2 32	–	–
444	विश्वरूप	1 विश्वे देवाश्च यत्तस्मिन्विश्वरूपस्ततः स्मृतः। 2 तथैव बहुरूपत्वाद्विश्वरूप …. इति स्मृतः।	महा 7.173 88.तु.महा.गी. प्रे अनु 161.12 महा. 12.291.19		
445	विश्वामित्र	विश्वे देवाश्च मे मित्रं मित्रमस्मि गवां तथा। विश्वामित्रमिति ख्यातं………।	महा.गी.प्रे.अनु. 93.92	5	14
446	विष्णु	1 बृहत्वाद्विष्णुरुच्यते। 2 विष्णुर्विक्रमणादेव।	महा.ग.उद्योग 70.3	3	35

1	2	3	4	5	6
		3 गतिश्च सर्वभूतानां प्रजानां चापि ....व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाप्यधिका मम । अधिभूतानि चान्तेऽहं.... क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः।।	महा. 12.328.37-38		
		4 व्याप्य सर्वानिमांल्लोकान्स्थितः सर्वत्र केशव । ततश्च विष्णुनामासि धातोर्व्याप्तेश्च दर्शनात् ।।	हरि.3 88.43		
447	वीरसू	वीरसूत्वेन वीरसूः ।	महा.12.258 30	–	–
448	वृष (धर्म)	वृषो हि भगवान् धर्मः-नैघण्टुकपदाख्यातं विद्धि मां वृषमुत्तमम् ।।	महा.12.330.23	–	–
	(इन्द्र, कर्ण)	वृषो महेन्द्रो देवेषु वृषः कर्णो नरेष्वपि ।	महा.ग. कर्ण. 8.23		
449	वृषा (कर्ण)	ब्रह्मण्यः सत्यवादी च तपस्वी नियतव्रतः । रिपुष्वपि दयावांश्च तस्मात् कर्णो वृषा स्मृतः ।।	महा. 7.155.24	–	–
450	वृषभध्वज	1 प्रीतश्चापि महादेवश्चकार वृषभं तदा । ध्वजं च वाहनं चैव तस्मात् स वृषभध्वजः ।।	महा.गी प्रे. अनु.77.29½		
	(वृषध्वज)	2 वृषं चैव ध्वजार्थं मे ददौ(ब्रह्मा)	तत्रैव 141.12	–	–
451	वृषभवाहन	द्र —वृषभध्वज			
452	वृषभाङ्क	ईश्वरः स गवां मध्ये वृषभाङ्कः प्रकीर्तितः ।	तत्रैव 77.29	–	–
453	वृषभेक्षण (ऋषभेक्षण)	आर्षभाद् वृषभेक्षणः ।	महा. 5.68.7	–	–
454	वृषल	1 यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ।	महा. 12.91.12	7	18
		2 वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवाः........	महा. 12.91.13		
		3 वृषो हि धर्मो विज्ञेयस्तस्य यः कुरुते लयम् । वृषलं तं विदुर्देवाः निष्कृष्ट श्वपचादिभिः ।।	महा.आश्व. अपे 1.4.3237-38		

1	2	3	4	5	6
455	वृषाकपि	1 कपिः श्रेष्ठ इति प्रोक्तो धर्मश्च वृष उच्यते। स देवदेवो भगवान् कीर्त्यतेऽतो वृषाकपिः ॥	महा.ग.द्रोण 202 136	3	36
		2 कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते । तस्माद् वृषाकपिं प्राह····	महा. 12.330.24	–	–
456	वृष्णि	1 वृषत्वाद् वृष्णिरुच्यते ।	महा.5.68.3	–	–
		2 वृषणाद् वृष्णयः सर्वे····· ।	हरि.1.33.55		
457	वेद	जातमात्रास्तु ते वेदा क्षेत्रं विन्दन्ति तत्त्वतः । तेन वेदत्वमापन्ना यस्माद्विन्दन्ति तत्पदम् ॥	हरि. 3.17.49	–	–
458	वेदव्यास	द्र—व्यास ।			
459	वैकर्तन(कर्ण)	उत्कृत्य विमनाः स्वाङ्गात्कवचं ····कर्णस्तु कुण्डले छित्वा प्रायच्छ(स्व)च्च·······ततो वैकर्तनः कर्णः कर्मणा तेन सोऽभवत् ।	महा.1.104.21	–	–
460	वैकुण्ठ	मया संश्लेपिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना । वायुश्च तेजसा सार्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम ।	महा. 12.330.15	–	–
461	वैतरणी (नदी)	अत्र वैतरिणी नाम नदी वितरणैर्वृता ।	महा.चि. 5.107.14	–	–
462	वैदेह	यस्माद्विदेहात् संभूतो वैदहस्तु ततः स्मृतः ।	वा.रा.उत्तर 57.20		
463	वैभ्राज (वन-सर)	ततो विभ्राजितं तेन (विभ्राजेन) वैभ्राजं नाम तद् वनम् । सरस्तच्च कुरुश्रेष्ठ वैभ्राजमिति सञ्ज्ञितम् ।	हरि. 1.23 14	–	–
464	वैयाकरण	सर्वार्थाना व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।	महा. चि. 5 43 36	–	–
465	वैराज	विराजस्य द्विज श्रेष्ठ ! वैराजा इति विश्रुताः ।	हरि. 1 18.8	–	–
466	वैवस्वत	1 विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवांस्ततो हि वैवस्वत उच्यते बुधैः ।	महा.3 281.40	–	–
		2 विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ।	महा. 1.70.10		

1	2	3	4	5	6
467	वैशालाक्ष (शास्त्र)	सचिक्षेप ततः शास्त्रं·····वैशाला-क्षमिति प्रोक्तम् ।	महा. 12.59.87		
468	वैश्य	विशत्याशु पशुभ्यश्च········ ।	महा शान्ति 189.5	7	19
469	वैश्रवण	यस्माद्विश्रवसोऽपत्यं सादृश्याद्विश्रवा इव । तस्माद्वैश्रवणो नाम···· ।	वा.रा.उत्तर 3 8	–	–
470	वैष्णव (जगत्)	इपुश्चाप्यभवद्विष्णुः········वैष्णवं चोच्यते जगत् ।	महा. 8.24.84	–	–
471	व्यवहार	धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते ।····इत्यर्थं व्यवहारस्य व्यवहारत्वमिष्यते ।	महा. 12.121 9	–	–
472	व्याकरण	1 तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा । नाम-धातुविवेकार्थं पुरा व्याकरणं कृतम् ॥	महा. 5.276.1pr	–	–
		2 वर्णाक्षरपदार्थाना सन्धिलिङ्ग विवक्षितम् ।	महा आश्व.अपे. 1 4.2666-67		
473	व्यान	व्यानाद् व्यायच्छते तथा ।	महा 12.177.24 तु.-हरि.1.40.56	–	–
474	व्यास	1 विव्यास वेदान् यस्माच्च तस्माद् व्यास इति स्मृतः ।	महा. 1 57.73	5	15
		2 यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृपिः । लोके व्यासत्वमापेदे······· ।	महा. 1.99.14		
475	व्यूह	1 अव्यूहत तदा भीष्मो व्यूहं व्यूहविशारदः ।	महा.भीष्मपर्व 81.12		
		2 व्यूढानि व्यूहविदुषा गाङ्गेयेन महात्मना ॥	महा.भीष्मपर्व 81.35	–	–
		3 अव्यूहत स्वयं व्यूहम् ।	महा.6.77.11		
		4 अव्यूहतार्जुनो व्यूहम् ।	महा.8.32.3		
		5 अव्यूहन्त महाव्यूहम् ।	महा. 6.47.10		
		6 अव्यूहन् मानुषं व्यूहम् ।	महा.6.20.18		

1	2	3	4	5	6
476	व्योमकेश (शिव)	सूर्याचन्द्रमसोर्लोके प्रकाशन्ते रुचश्च याः। ता केशसंज्ञितास्त्वक्षे व्योमकेशस्ततः स्मृतः।	महा.ग.द्रोण 202 134	–	–
477	शक	शकृद्देशाच्छकास्तथा।	वा.रा बाल55.3	–	–
478	शकुन्तला	यस्माच्छकुन्तैः परिरक्षिता। शकुन्तलेति नामास्याः।	महा. 1.66.14	4	4
479	शङ्कर	शङ्करोऽसि सदा देव ततः शङ्करतां गतः।	हरि. 3 88.45	–	–
480	शङ्ख (तीर्थ)	तथा पश्यन्महाशङ्ख महामेरुमिवोच्छ्रितम्।	महा 9.36.20	–	–
481	शतक्रतु	1 तान् क्रतून् भरतश्रेष्ठ शतकृत्वो महाद्युतिः। पूरयामास विधिवत्ततः ख्यातः शतक्रतुः॥ 2 एकैकं क्रतुमाहृत्य शतकृत्वः शतक्रतुः।	महा. 9 48.4; महा.12.34 27	–	–
482	शतद्रु	सा तमग्निसमं विप्र (वसिष्ठं) मनुचिन्त्य सरिद्वरा। शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता॥	महा. 1.167.9	–	–
483	शतानीक	शतानीकस्य राजर्षे....चक्रे पुत्र सनामानं नकुलः।	महा. 1.213.77		
484	शत्रु	शत्रुः शदेः शासतेः शायतेर्वा शृणातेर्वा श्वयतेर्वापि सर्गे। उपसर्गाद्बहुधा सूदतेश्च........। (पाठभेद)... शासतेः श्यतेर्वा शृणातेर्वा श्वसतेः सीदतेर्वा॥	महा. 8.29.24; महा ग.कर्ण.42.32	6	21
485	शत्रुघ्न	1 स त्वं हत्वा मधुसुतं लवणं...... वाक्यं मे यद्यवेक्षसे। 2 शत्रुघ्न शत्रुतापनम्। 3 शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नः।	वा.रा.उत्तर 62.19; वा.रा.उ.70.1; वा.रा.अयो.1.1	–	–
486	शरजन्मा	1 दिव्यं शरवणं चैव.... ....यत्र जातो महातेजाः कार्तिकेयोऽग्निसम्भवः। 2 श्रीमाञ्शरवणालयः। 3 स तु गर्भः शरवणं प्राप्य ववृधे।	वा.रा.बाल 36.19½; महा.1.60.22; महा.गी प्रे. अनु. 85.80; 86.12		

1	2	3	4	5	6
487	शरण्य	विमुञ्चति न पुण्यात्मा शरण्यः शरणागतान् ।	तत्रैव 161.26	–	–
488	शरद्वान्	1 गौतमान्मिथुनं जज्ञे शरस्तम्बाच्छरद्वतः ।	महा. 1.57.90		
		2 गौतमस्यासीच्छरद्वान्नाम नामतः पुत्रः"""""जातः सह शरैः"""।	महा. 1.120.2	–	–
489	शरीर	श्रयणाच्छरीरं भवति ।	महा. 12.224.43	–	–
490	शर्व	1 शर्वःशत्रूणां शासनादप्रमेयः"" भूयः शासनाच्चेश्वरेण ।	हरि. 2.74.29	–	–
		2 क्रोधाद्यश्चाविशल्लोकांस्तस्माच्छर्वं इति स्मृतः ।	महा. 7.173.27		
491	शल्य	शल्यभूतश्च शत्रूणां""तस्माच्छल्येति नाम कल्पते""""" ।	महा. 8.23.45	–	–
492	शशाङ्क	लोकच्छायामयं लक्ष्म तवाङ्के शशसज्ञितम् ।	हरि. 1.46.5		
493	शशाद	1 ""भक्षयित्वा शशं तात शशादो मृगयां गतः ।	तत्रैव 1.11.17	6	23
494	शाकम्भरी	दिव्य वर्षसहस्रं हि शाकेन""""" आहार सा कृतवती मासि मासि"" आतिथ्यं च कृतं तेषां (ऋषीणां) शाकेन "" ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम् ।	महा. 3.82.12.13	3	37
495	शाणपाद (पर्वत)	यस्त शाणप्रमाणोऽस्य भक्त्या समभवत् नृप । वरं प्रादात्ततस्तस्य पर्वतस्य शाणपाद इति ख्यातः""""" ।	हरि. 2.74.14,15	–	–
496	शान्तनु	1. यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते । पुनर्युवा च भवति तस्मात्तं शान्तनुं विदुः ॥	महा. 1.90.48	6	22
		2 शान्तोऽसीति मयोक्तस्त्वं गच्चासि तनुतां गतः । सुतनुर्यशसा लोके शन्तनुस्त्वं""""" ।	हरि. 1.53.26		
497	शारीर	शरीरे जायते व्याधिः शारीरो नात्र संशय. ।	महा. 14.12.2	–	–

1	2	3	4	5	6
498	शार्यात	येपामेते महाराज ! शार्याता इति विश्रुता: ।	हरि. 1.11.7	–	–
499	शाल्मलि (द्वीप)	सम्पूज्यते शाल्मलिश्च द्वीपे शाल्मलिके नृप !	महा. 6.13.6		
500	शिपिविष्ट	शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत्। तेनाविष्टं हि यत्किंचिच्छिपिविष्ट च यो भवेत ।।	महा.2.330.6	–	–
501	शिव	समेधयति यन्नित्यं सर्वार्थान् सर्वकर्मसु । शिवमिच्छन्मनुष्याणां तस्मादेष शिव: स्मृत: ।।	महा.7.173.90 तु-महा.गी प्रे अनु 161.9½		
502	शिशुपाल	अच्यय: पाहि वै शिशुम् ।	महा. 2.40 4	–	–
503	शुकदेव	शुक्रे निर्मथ्यमाने तु शुको जज्ञे महातपा: । ·····अरणीगर्भसम्भव: ।	महा 12.311.9	–	–
504	शुक्र	स (उशना:) विनिष्क्रम्य शिश्नेन शुक्रत्वमभिपेदिवान् ।	महा. 12.278 32	–	–
505	शुचिश्रवा:	शुचीनि श्रवणीयानि श्रृणोमीह धनञ्जय । न च पापानि गृह्णामि ततोऽहं वै शुचिश्रवा: ।।	महा. 12.330 26	–	–
506	शुन.सख	शुन:सखसखायं मां····· ।	महा.गी.प्रे.अनु. 93.102	–	–
507	शुश्रू (माता)	शिशो: शुश्रूणाच्छुश्रू: ।	महा. 12.258 31	–	–
508	शूर	पौरुषेण च युक्त: स शूर इति स्मृत: ।	वा. रा. यु 71.59	–	–
509	शूरसेन (देश)	शूराश्च शूरवीराश्च शूरसेनास्तथानघ । शूरसेन इति ख्यातस्तस्य देशो महात्मन: ।।	हरि. 1.33.56	–	–
510	शैल	तत: उत्सारयामास शिला: शतसहस्रश: । धनुष्कोट्या तदा वैन्यस्तेन शैला विवर्धिता: ।।	हरि. 1.6.11		
511	शैब्य	·····शैब्येन शिबिसूनुना ।	महा. गी.प्रे. अनु. 93.25	–	–

1	2	3	4	5	6
512	शोणितपुर	यत्रोत्थितो महासेन: सोऽग्निजो रुधिरे पुरे। तत्रोद्देशे पुरं चास्य ····नाम्ना तच्छोणितपुरं भविष्यति पुरोत्तमम ।।	हरि. 2.116. 18, 19	–	–
513	श्याम	श्यामो नाम महागिरि: । यत: श्यामत्वमापन्ना: प्रजा: । (पाठाधिक्य) नवमेघप्रभ: प्रांशु: श्रीमानुज्ज्वल-विग्रह: ।।	महा.6 12.17	–	–
514	श्येन	श्येनी श्येनांश्च ।	वा.रा. अरण्य 14.19	–	–
515	श्रावस्ती	1 जज्ञे श्रावस्तको राजा श्रावस्ती येन निर्मिता ।	हरि. 1.11.22	–	–
		2 श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य वै ।	वा.रा.107.17	–	–
516	श्रीकण्ठ (शिव)	1 इन्द्रेण च पुरा वज्रं क्षिप्तं श्रीकाङ्क्षिणा मम । दग्ध्वा कण्ठं तु तद् यातं तेन श्रीकण्ठता मम ।।	महा. गी. प्रे. अनु. 141.8	–	–
		2 मम पाण्यङ्कितश्चापि श्रीकण्ठ-स्त्वं भविष्यसि ।	महा. 12.330.65	–	–
517	श्रीपञ्चमी	तदा तमाश्रयल्लक्ष्मी: स्वयं देवी शरीरिणी । श्रीजुष्ट: पञ्चमी स्कन्द: तस्माच्छ्रीपञ्चमी मता ।।	महा. 3.218.49	–	–
518	श्रीमान्	श्रीमान् नाम श्रिया वृत: ।	महा गी.प्रे.अनु. 91.5	–	–
519	श्रीवत्सलाञ्छन	स भरद्वाजेन ससलिलेन पाणिनोरसि ताडित: सलक्षणोरस्क: संवृत्त: ।	महा. 12.319.42(2)	–	–
520	श्रुतकर्मा (अर्जुनपुत्र)	श्रुतं कर्म महत्कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना । जात: पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा········	महा. 1.213.76	–	–
521	श्रुतसेन	ततस्त्वजीजनत्कृष्णा नक्षत्रे वह्नि-दैवते । सहदेवात्सुतं तस्माच्छ्रु-तसेनेति ।	महा.1.213.78 (चि) 1.121.85	–	–

1	2	3	4	5	6
522	श्रोत्र	शृण्वती भवति श्रोत्रम् ।	महा.12 240 4	–	–
523	श्रोत्रिय	श्रुतेन श्रोत्रियो भवति ।	महा.5.43 36	–	–
524	श्वानलोमापनयन	श्वानलोमापनयने तीर्थे""प्राणायामैनिर्हरन्ति श्वलोमानि"""""" (पाठभेद) स्वलोमानि ।	महा. 3.81.51	–	–
525	श्वेतवाहन	श्वेता काञ्चनसंनाहा रथे युज्यन्ति मे हयाः । संग्रामे युध्यमानस्य तेनाहं श्वेतवाहनः ॥	महा.4.39.13	–	–
526	षडानन	1 षण्णां (कृत्तिकानां) षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः ।	वा रा बाल. 37.29	–	–
		2 षडाननं कुमारं तु"""" ।	महा. गी.प्रे.अनु. 86.18		
527	षाण्मातुरः	तास्तु षट् कृत्तिका गर्भं पुपुषुर्जातवेदसः । षट्सु वर्त्मसु तेजोऽग्नेः सकलं निहितं प्रभो ! ततस्तेजः परीताङ्ग्यः सर्वाः काल उपस्थिते । समं गर्भं सुषुविरे कृत्तिकास्तम् ।	महा.गी प्रे अनु. 86.8,10		
528	संवह	योऽसौ वहति देवानां विमानानि विहायसा । चतुर्थः संवहो नाम वायुः स गिरिमर्दनः ॥	महा. 12.315. 41-43	–	–
529	सगर	1 सगरस्तु सुतो बाहोर्जज्ञे सह गरेण च ।	हरि. 1.13 32	–	–
		2 तस्य (प्रौर्वस्य) आश्रमे च तं गर्भं गरेणैव सहाच्युतम् । व्यजायत महाबाहुं सगरं नाम ।	हरि. 1 1 8	–	–
		3 सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया । सह तेन गरेणैव जातः स सगरोऽभवत् (पाठभेद) गरेण सह तेनैव"" ॥	वा.रा.बाल.70.38 वा.रा.अयो. 110.24		
530	सङ्कर्षण	1 सङ्कर्षणात्तु गर्भस्य स तु सङ्कर्षणो युवा ।	हरि. 2.2.32	–	–
		2 कर्षणेनास्य गर्भस्य स्वगर्भे चाहितस्य वै । सङ्कर्षणो नाम सुतः शुभे ! तव भविष्यति ॥	तत्रैव 2.4 6		

1	2	3	4	5	6
531	सञ्जय	सञ्जयो नामतश्च त्वं नार्थतो दृश्यते मया। अन्वर्थनामा भव मे पुत्रो मा व्यर्थनामकः ।।	महा. 5.134.7	–	–
532	सत्य	1 सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्। सत्यात्सत्यं च गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः ।।	महा. 5.68.12	3	38
		2 नोक्तपूर्वं मया क्षुद्रमश्लीलं···· ऋता ब्रह्मसुता वा मे सत्या देवी सरस्वती ।। सच्चासच्चैव कौन्तेय मयावेशितमात्मनि ।। ····सत्यं मां ऋषयो विदुः।	महा. 12.330.10,11		
533	सत्यवती	रूपसत्त्वसमायुक्ता सर्वैः समुदिता गुणैः। सा तु सत्यवती नाम····।	महा. 1.57.54	–	–
534	सत्यवान्	सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते। तथास्य ब्राह्मणाश्च-क्रुर्नामैतत् सत्यवानिति ।।	महा. 3.278.12	–	–
535	सदाचार	1 साधूनाञ्च यथावृत्तमेतदाचार-लक्षणम्।	महा.गी.प्रे. अनु. 104.9		
		2 यस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्य-क्रमागतः। ····स सदाचार उच्यते ।।	महा.आश्व.अपे. 1.4.2498½		
536	सनत्कुमार	यथोत्पन्नस्तथैवाहं कुमार इति विद्धि माम्। तस्मात्सनत्कुमारेति नामैतन्मे प्रतिष्ठितम् ।।	हरि. 1.17.16,17	5	16
537	सनातन	नादेन तेन महता सनातन इति स्मृतः।	महा. 12.202.26	5	16
538	संन्यास	काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।	6.40.2; गीता 8.2	–	–
539	सप्तचरु (तीर्थ)	चरुश्च श्रपयंस्तथा। सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवः ।।	महा. पा.टि. 388 पृ. 267	–	–

1	2	3	4	5	6
540	सप्तसारस्वत (तीर्थ)	एकीभूतास्ततस्तास्तु तस्मिंस्तीर्थे समागताः। सप्तसारस्वतं तीर्थं'''' ''''इति सप्त सरस्वत्यो नामतः परिकीर्तिताः॥ सप्तसारस्वतं चैव तीर्थं पुण्यं तथा स्मृतम्।	महा.9.37.28	–	–
541	समङ्गा (नदी)	समङ्गा संप्रकाशते। (आख्यान)	महा.3.135.1	–	–
542	समन्तपञ्चक (देश) (कुरुक्षेत्र)	1 स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य''''समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान्।	महा. 1.2.4	–	–
		2 तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम्। समन्तपञ्चकमिति''।	महा. 1.2.7		
543	समान	1 समानः सन्निवेशयेत्।	हरि 1.40.56	–	–
		2 समानो हृद्यवस्थितः।	महा. 12 177.24		
		3 धातुष्वग्नौ च विततः समानोऽग्निः समीरणः। स एव सर्वचेष्टानामन्तकाले निवर्तकः॥	महा. गी प्रे.अनु. 145/दा पृ. 6017		
544	सम्पाति	अहं न पतितो विन्ध्ये दग्धपक्षो जडीकृतः।	वा.रा.कि. 61.16		
545	सम्राट्	''''न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्।	महा. 2.14.2	6	24
546	समा	सरो मा वर्धयस्वेति ततः सा सरमाऽभवत्।	वा. रा. उत्तर 12.27	4	10
547	सरयू	1 सरो भिन्नं तया नद्या सरयूः सा ततोऽभवत्।	महा. गी प्रे.अनु. 155.23½	8	16
		2 तस्मात् सुस्राव सरसः'''''''' सरः प्रवृत्ता सरयूः च सदा ज्ञानात् सर्वमेनं प्रचक्षते।	वा.रा.बाल. 24.9		
548	सर्व	असतश्च सतश्चैव सर्वस्य सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेनं प्रचक्षते।	महा. 5.68.11	–	–

1	2	3	4	5	6
549	सर्वकर्मा	सर्वकर्माणि कुरुते तस्यर्थः शूद्रवद्धि सः। सर्वकर्मेत्यभिख्यातः स मा रक्षतु पार्थिव॥	महा. 12.49 69	–	–
550	सर्वतोऽक्षिमय	सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा। चक्षुषः प्रभवेत् तेजो नास्त्यन्तोऽस्य चक्षुषाम्॥	महा.गी.प्रे.अनु 161.13		
551	सर्वदमन	1 त सर्वदमनेत्याहुः द्विजास्तेनास्य कर्मणा। 2 आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति। ततोऽस्य नाम चक्रुः ""अस्त्वयं सर्वदमनः। सर्वं हि दमयत्ययम्। स सर्वदमनो नाम 3 स सर्वदमनो नाम नागायुतबलो महान्।	 महा.1 68 6,7 हरि. 1 32.9	– –	– –
552	सर्वसहा	देवाश्च सर्वे सह नारदेन प्रकुर्वते सर्वसहेति नाम।	महा.गी.प्रे.अनु. 126.39	8	23
553	सव्यसाचिन्	उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे। तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः॥	महा. 4.39.17	–	–
554	सहस्रनयन	तथा भगसहस्रेण महेन्द्रः परिचिह्नितः। तेषामेव प्रभावेण सहस्रनयनो ह्यसौ।	महा.गी.प्रे.अनु 34.28		
555	सहस्राक्ष	शतक्रतुः समभवन् सहस्राक्ष."" चक्षुषः प्रभवेत्तेजो नास्त्यन्तोऽस्य चक्षुषाम्।	महा.गी.प्रे.अनु. 161.13		
556	सागर	1 खानयामास यः कोपात्पृथिवीं सागराङ्किताम्। यस्य नाम्ना समुद्रश्च सागरत्वमुपागतः। 2 खानितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः। 3 येषा च सगरो नाम सागरो येन खानितः।	महा. 12.29.127 वा.रा.युद्ध 19.31 वा.रा.बाल. 5.2	–	–

1	2	3	4	5	6
		4 सागरत्वं च लेभे स कर्मणा तस्य तेन ह ।	हरि. 1.14 29		
557	सांख्य	पञ्चविंशतिविज्ञान सांख्य-मित्यभिधीयते ।	महा. गी.प्रे मनु 145 दा.		
558	सात्वत	1 सत्वतात् सात्वताः स्मृताः ।	हरि. 2 38.38	6	25
		2 यतः सत्त्वं न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते । सत्वतः सात्वतस्तस्मात्…… ।	महा. 5.68.7		
		3 सवान्न च्युतपूर्वोऽहं सत्त्वं वै विद्धि मत्कृतम् । जन्मनीहाभवत् सत्त्वं सात्वतं मां प्रकल्पय । सात्वतज्ञानदृष्टोऽहं सात्वतः सात्वतां पतिः ॥	महा. 12.330.12.13		
559	सारस्वत	1 सरस्वतीमुच्चचार तत्र सारस्वतोऽभवत् । अपान्तरतमा नाम…… ॥	महा. 12.337 37	–	–
		2 तथैव नाम्ना प्रथित. पुत्रस्ते लोकभावनः । सारस्वत इति ख्यातः…… ।	महा. 9.50.21		
560	सावर्ण	1 पूर्वजस्य मनोस्तात सदृशोऽयमिति प्रभुः । सवर्णत्वान्मनोर्भूयः सावर्ण इति चोक्तवान् ।	हरि. 1.9.19	–	–
		2 मनुरेवाभवन्नाम्ना सावर्ण इति चोच्यते ॥	हरि. 1.9.64		
561	सावित्र	त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवान् जनयिष्यति । ते चापि सर्वे राजानः……ख्यातास्तव नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः ॥	महा. 3 281.57		
562	साहञ्जनी	साहञ्जस्तस्य (कार्तस्य) चात्मजः । साहञ्जनी नाम पुरी येन राजा निवेशिता ॥	हरि. 33 3½		

1	2	3	4	5	6
563	सिद्धाश्रम	एप पूर्वाश्रमो राम वामनस्य (विष्णोः) महात्मनः । सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः।	वा.रा.बाल29.24	–	–
564	सिनीवाली	तनुत्वात् सा सिनीवाली…………	महा.3.208 5	–	-
565	सीता	अथ मे कृपतः क्षेत्रं लांगलादुत्थिता मम। क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता। भूतलादुत्थिता सा तु……	वा.रा.बाल 66.13,14	3	39
566	सुग्रीव	1 सुग्रीवः संहतग्रीवः ।	वा.रा.कि.13.3	–	–
		2 सुग्रीवः विपुलग्रीवः ।	वा.रा.कि. 14.2,15.28		
		3 ग्रीवायां पतित बीजं सुग्रीवः समजायत ।	वा.रा.7.37.39 (क्षेपक)		
567	सुतसोम	1 सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम्। सुतसोमं महेष्वासं सुपुवे भीमसेनतः।	महा. 1.213.75	–	–
		2 तस्मिन् (पुरे) जातः सोमसंक्रन्दमध्ये यस्मात्तस्मात्सुतसोमोऽभवत् सः ॥	महा. 7.22.22		
568	सुदर्शन चक्र (अग्निपुत्र)	1 दर्शनीयञ्च लोकेषु चक्रमादित्यवर्चसाम्। नाम्ना सुदर्शनं नाम "।	हरि. 2.43.13		
		1 तस्याः (सुदर्शनायाः) समभवत्पुत्रो नाम्नाग्नेयः सुदर्शनः। सुदर्शनस्तु रूपेण पूर्णेन्दुसदृशोपमः।	महा. गी. प्रे अनु. 2.36½		
569	सुदर्शना	तस्यां जज्ञे तदा नद्यां (नर्मदायां) कन्याराजीवलोचना । नाम्ना सुदर्शना राजन् रूपेण च सुदर्शना ॥	तत्रैव 2.19		
570	सुपर्ण	सर्वभूतानि विस्मितान्यब्रुवन्…… सुरूपपत्रमालक्ष्य सुपर्णोऽयं भवत्विति ॥	महा. 1.29.21	–	–

1	2	3	4	5	6
571	मुनूमिका (तीर्थ)	......आक्रीडभूमि: सा......तासा-मप्सरसां शुभा । मुनूमिकेति विख्याता सरस्वत्यास्तटे वरे ॥	महा. 9.37.8	–	–
572	सुमनस् (पुष्प)	मनो ह्लादयते यस्माच्छ्रियं चापि दधाति च । तस्मात्सुमनस: प्रोक्ता:...... ।	महा. गी.प्रे.अनु. 98.20	–	–
573	सुर	1 अदितेस्तु सुता वीर अगृह्णस्तां (वारुणी) ......सुरास्तेनादितेः सुता: ।	वा.रा.बाल. 45.37	–	–
		2. सुरा-प्रतिग्रहाद् देवाः सुरा इत्यभिविश्रुताः ।	वा.रा. बम्बई संस्करण (सं. इं डि. से उद्धृत)	–	–
574	सुरभि	स (दक्षप्रजापतिः) गतस्तस्य तृप्तिं तु गन्धं सुरभिमुद्गिरन् । ददर्शोद्गारसंवृतां सुरभिं मुखजां स्मृताम् ॥	महा. गी.प्रे. अनु. 77.17	–	–
575	सुवर्ण	(तपस्वी ब्राह्मण) वर्णतो हेमवर्णः स सुवर्ण इति पप्रथे ।	तत्रैव 98.3	–	–
576	सुवीर	सर्वलोकेषु विख्यातः सुवीरो नाम नामतः ।	तत्रैव 2.10	–	–
577	सेतुबन्ध	एष सेतुर्मया बद्धः सागरे लवणार्णवे । तव हेतोः विशालाक्षि जयसेतुः सुदुष्कर । सेतुबन्ध इति ख्यात...... ।	वा.रा. युद्ध 26.11,15	–	–
578	सेनानी	सेनापत्येन तं देवाः पूजयित्वा महालयम् ।....सेनापत्यमवाप्तवान् ।	महा.गी प्रे.अनु. 86.28	–	–
		2 सुरसेनागणपतिं ततस्तममलद्युतिम् । अभ्यसिञ्चन् सुरगणाः समेत्याग्नि पुरोगमाः ॥	वा.रा.बाल. 37.31	–	–
579	सैंहिकेय	सिंहिका चाभवत्कन्या....सैंहिकेया इति ख्यातास्तस्या पुत्रा महाबलाः ।	हरि. 1.3.70	–	–
580	सोम (तीर्थ)	यत्रायजद् राजसूयेन सोमः साक्षात्पुरा विधिवत्.... ।	महा. 9.42.39	–	–

1	2	3	4	5	6
581	सौदास	सुदासस्य सुतस्त्वासीत् सौदासो नाम पार्थिवः।	हरि. 1.15.21	–	–
582	सौनन्द (मुसल)	सौनन्दं नाम बलवान् निरानन्दकरं द्विषाम्।	तत्रैव 3.35 63, 2.43.12	–	–
583	सौमित्र	सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।	वा रा.सु. 33 28,यु.87.7	–	–
584	सौरभयी	सासृजत् सौरभेयीस्तु सुरभिर्लोकमातृकाः। सुवर्णवर्णाः कपिलाः प्रजानां वृत्तिधेनवः॥	महा.गी.प्रे.अनु. 77.18	–	–
585	स्कन्द	1 स्कन्द इत्यब्रुवन् देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्रवात्।	वा.रा.बाल. 37.27	–	–
		2 तत्स्कन्नं तेजसा तत्र संभृतं जनयत्सुतम्। ऋषिभि; पूजितं स्कन्नमनयत् स्कन्दतां ततः।	महा. 3.214.16		
		3 तेजो माहेश्वरं स्कन्नम्।	महा. 9.43.6		
		4 स्कन्नत्वात् स्कन्दतां चापि।	महा. गी.पे.अनु. 85.82		
		5 स्कन्नत्वात् स्कन्दतां प्राप्तः	तत्रैव 86.14		
586	स्थाणु	1 दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणोत्पत्तिस्थितश्च यत्। स्थितलिंगश्च यन्नित्य तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः॥	महा. 7.173.98	–	–
		2 दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणान् नृणां स्थिरश्च यत्। स्थिरलिंगश्च यन्नित्य तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः॥	महा. गी,प्रे. 161.10½		
587	स्पर्श	स्पृशती स्पर्श उच्यते।	महा.12.240.4	–	–
588	स्रोत	स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव।	महा. 12.312.5	–	–
589	स्वयम्भू	तत्र जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भूरिति नः श्रुतम्।	हरि. 1.1.29	–	–
590	हनुमान्	1 क्षिप्तमिन्द्रेण ते वज्रं क्रोधाविष्टेन धीमता। ……वामो			

1	2	3	4	5	6
		हनुरभज्यत । ततो हि नामधेयन्ते हनुमानिति···· ।	वा.रा कि. 66.24-25	3	40
		2 ततो गिरौ पपातैष इन्द्रवज्राभिताडितः । पतमानस्य चैतस्य वामो हनुरभज्यत ।	वा रा.उत्तर 35.47		
		3 पतितस्य कपेरस्य हनुरेका शिलातले । किंचिद् भिन्ना दृढ़हनोर्हनुमानेष तेन वै ॥	वा.रा. युद्ध 28 15		
		4 मत्करोत्सृष्टवज्रेण हनुरस्य यथा हतः । नाम्ना वै कपिशार्दूलो भविता हनुमानिति ॥	वा.रा.उत्तर 36.11		
591	हयग्रीव	1 स्थापयित्वा ह्यशिर उदकपूर्णे महोदधौ । वेदानामालयश्चापि बभूवाश्वशिरास्ततः ।	महा. 12 335.54	–	–
		2 योऽप्यसौ ह्यविक्रान्तो हयग्रीवश्च नामतः ॥	हरि. 1.54.7		
592	हर	विगृह्य हरते यस्मात्तस्माद्धर इति स्मृतः ।	महा.ग द्रोण 202.137	3	41
593	हरि	1 इडोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिश्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः ॥	महा. 12.330.3	3	42
		2 हरसि प्राणिनो देव ततो हरिरिति स्मृतः ।	हरि. 3.88.44½		
594	हविष्मती (पूर्णिमा)	हविर्भिश्च हविष्मती ।	महा. 3.208.6	–	–
595	हव्यवाहन	वहनाद्धव्यवाहनः ।	महा. 2.28.22	–	–
596	हस्तिनापुर	य (हस्ती) इदं हास्तिनपुरं मापयामास । एतस्य हास्तिनपुरत्वम् ।	महा. 1.90.36	–	–
597	हिरण्य	यस्माद्धिरण्मयं सर्वं हिरण्यं तेन चोच्यते ।	महा.5.112.1	–	–
598	हिरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भो द्युतिमानेष यश्छन्दसि स्तुतः । ····स एवाहं विभुः स्मृतः ॥	महा. 12.330.31	–	–

1	2	3	4	5	6
599	हिरण्यरेता	एतैः कर्मगुणैर्लोके नामाग्ने परिकीर्तितः। हिरण्यरेता इति वै ऋषिभिः विबुधैस्तथा ॥	महा. गी.प्रे.अनु. 85.78	–	–
600	हृषीकेश	1 हर्षात्सौख्यात्सुखैश्वर्याद् हृषीकेशत्वमश्नुते ।	महा. 5.68.9	3	43
		2 बोधनात्तापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् । अग्निषोमकृतैरेभिः कर्मभिः पाण्डुनन्दन । हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकभावनः ॥	महा. 12.330.2		
		3 जायमाने हृषीकेशे प्रहृष्टमभवज्जगत् ।	हरि. 2.15.20		
		4 हृषीकाणीन्द्रियाण्याहुस्तेषामीशो यतो भवान् । हृषीकेशस्ततो विष्णो! ख्यातो देवेषु केशव!	हरि. 3.88.47		

परिशिष्ट 3

सामान्य संकेतिका

अ.	–	अध्याय
अधि.	–	अधिकरणक
अपे.	–	अपेण्डिक्स नम्बर
आ.	–	आधुनिक
आइओका	–	आल इण्डिया ओरियण्टल कानफेरेन्स
आइस.	–	आइसलैंडियन
आश्व.	–	आश्वमेधिक
उ.	–	उत्तरार्द्ध
कृ.ख.	–	कृष्ण खण्ड
गा.	–	गाथिक भाषा
ग.ख.	–	गणपतिखण्ड
त. बो.	–	तत्त्वबोधिनी टीका (सिद्धान्त कौमुदीस्था)
तु.	–	तुलनीय
दाक्षि./दा.	–	दाक्षिणात्य
द्र.	–	द्रष्टव्य
न.	–	नवाह्निक (महाभाष्य)
नि.को	–	निर्वचन-कोश
प.	–	पस्पशाह्निक (महाभाष्य)
पा.ख.	–	पाताल खण्ड
पा.धा पा.	–	पाणिनीय धातु पाठ
पारि.	–	पारिभाषिक
पू.	–	पूर्वार्द्ध
पृ.	–	पृष्ठ-संख्या
प्र.ख.	–	प्रकृति खण्ड (ब्रह्मवैवर्तपुराण)
प्रशि.	–	प्रशियन भाषा
प्रा.	–	प्राचीन

प्रा. स्लै.	–	प्राचीन स्लैवोनिक भाषा
बा. म.	–	बाल मनोरमा टीका (सिद्धान्त कौमुदीस्था)
ब्र. ख.	–	ब्रह्म खण्ड (ब्रह्मवैवर्तपुराण)
भारो.	–	भारोपीय (इण्डोयोरोपियन)
लिथु.	–	*लिथुआनियन भाषा*
ले. सा.	–	लेखसार
लै.	–	लैटिन भाषा
वा.	–	वार्तिक (सिद्धान्त-कौमुदीस्थ)
वाल्यू.	–	वाल्यूम
व्या.	–	व्याकरण सम्बन्धी
सं.	–	संहिता
सै.	–	सैक्शन भाषा
स्लै.	–	स्लैवोनिक भाषा
हा.ज.	–	हाई जर्मन

परिशिष्ट 4

संकेतिका और ग्रन्थसूची

अथर्व. – अथर्ववेद 1–वैदिक यन्त्रालय, अजमेर–1976
2–श्रीराम शर्मा सम्पादित–1960

अ.गो. – अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण–ब्लूमफील्ड (डा सूर्यकान्त) चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी–1964

अ.नि. – अग्नि निर्वचनम्–मथुरा प्रसाद दीक्षित–वा.सं. विश्वविद्यालय 1961

अ पु. – अग्निपुराण 1–मनसुख राय मोर, कलकत्ता–1957
2–जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता–1882

अमर. – अमरकोशः– अमरसिंह, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई–1927

अर्थ – अर्थशास्त्र–चाणक्य, पण्डित पुस्तकालय, काशी

अविव्याद. – अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन–डा. कपिलदेव द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद–1851

अष्टाङ्ग – अष्टाङ्ग हृदय–हरिनारायण शर्मा (वाग्भट्ट), बनारस सं. 2024

अ.सु – अमरकोश, सुधाव्याख्या, निर्णयसागर प्रेस–1944

अहि. – अहिर्बुध्न्य संहिता–(पू.-उ.) देश शिखामणि रामानुजाचार्य, एडियार पुस्तकालय, मद्रास–1916

आ गृ. – आश्वलायन गृह्यसूत्र, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम–1923

आ.प – आपस्तम्ब गृह्यसूत्र

आ ध – आपस्तम्ब धर्मसूत्र । हलस्यनाथ शास्त्री, कुम्भ कोणम्–1895

आप्टे/ ई सं.डि. – इंगलिश संस्कृत डिक्शनरी, वी. एम्. आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास 1964

— – आयुर्वेदिक वैज्ञानिक इतिहास, आचार्य प्रियव्रत, चौखम्भा प्रकाशन 1975

आ श्रौ. – आश्वलायन श्रौतसूत्र–आनन्दाश्रम प्रेस, पूना–1917

इ.पु प./ इति. पु.अ. – इतिहास पुराण अनुशीलन, डा. रामशंकर भट्टाचार्य, इंडालाजिकल बुक हाउस वाराणसी–1963

ई न. – ईशादिनवोपनिषद्–गीता प्रेस, गोरखपुर 2021 वि.

ईशाद – ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, काशी

उ. – उणादिकोश–सिद्धान्तकौमुदीस्थ

उ को – उणादिकोषः–स्वा. दयानन्द सरस्वती (युधिष्ठिर मीमांसक), बहालगढ़ (सोनीपत)–1976

– उपनिषदुद्धारकोश–विश्वबन्धु विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर 1978

ऋ.ऋ – ऋग्वेद के ऋषि, हरिशरण-संजयप्रेस, दिल्ली 1955

ऋ/ऋक् – ऋग्वेद संहिता, श्रीपाद सातवलेकर-स्वाध्यायमण्डल, पारडी-1957

ऋ भा.मू/ ऋ भा. – ऋग्वेदभाष्यभूमिका, स्वा.दयानन्द–वैदिकयन्त्रालय, अजमेर 1991 वि.

ऋ.स. – 1 ऋतुसंहार–कालिदास
2 ऋतुसंहार–कालिदास (आर. एस. पण्डित) बम्बई, 1947

ए ऐ भा/ – एथनेलाजी आफ ऐन्शेण्ट भारत–डा. रामचन्द्र जैन 1970

ए.को. – एकाक्षरकोश नाम संग्रह–जोधपुर–1964

ए.डी.इ.लै. – एटीमालाजिकल डिक्शनरी आफ दि इंगलिश लैंग्वेज, डब्ल्यू. डब्ल्यू स्कीट

ए. या./ एटी. या. – *एटीमालोजीज आफ यास्क–डा. सिद्धेश्वर वर्मा*, होशियारपुर 1963

ए.रि.ए – एन्साइक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, हेस्टिंग

ऐ आ. – ऐतरेय आरण्यक–बाबा शास्त्री फडके, आनन्दाश्रम, पूना-द्वितीय संस्करण–1943

ऐ ब्रा. – ऐतरेय ब्राह्मण, आनन्दाश्रम, पूना 1930

ऐ.ब्रा.अ. – ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन–डा. नाथूलाल पाठक 1966

औ. च. – औचित्य विचार चर्चा–क्षेमेन्द्र, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला-काशी 1933

औ प. – औणादिक पदार्णव–श्रीपेरुसूरि (टी.आर. चिन्तामणि) मद्रास, यूनीवर्सिटी 1939

क.उप. – कठोपनिषद् 1 आनन्दाश्रम, पूना 1810 शाके
2 गीताप्रेस, गोरखपुर 2029 वि.

क.म. – कल्चुरल हिस्ट्री आफ दि मत्स्यपुराण, कण्ठावाला, बड़ोदा 1964

क.वृ. – कल्पवृक्ष, डा. वासुदेव शरण अग्रवाल

क वा. – कल्चुरल हिस्ट्री आफ दि वायुपुराण, पाटिल, पूना 1946

का. – कादम्बरी बाणभट्ट, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

का ग्र. – कालिदास ग्रन्थावली 1 सीताराम चतुर्वेदी, भारतप्रकाशमन्दिर, अलीगढ 2019 वि.
2 राम प्रताप त्रिपाठी–किताब महल, इलाहाबाद 2022 वि.

का. धा. – काशकृत्स्न धातुपाठ, चन्नवीर कवि

का.पु – कालिकापुराण, विश्वनारायण शास्त्री

का प्र. – काव्यप्रकाश, मम्मट, व्याख्या-1 आचार्य विश्वेश्वर 2 झलकीकर

का.मी. – *काव्यमीमांसा–राजशेखर, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस,* बनारस 1991 वि.

का सं. – काठक संहिता, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना
काठक संहिता, सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औध 1943

का सू. – *काशिकासूत्रवृत्ति, जयादित्य, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस,* बनारस 1987

कि. – किरातार्जुनीयम्, भारवि, निर्णयसागर प्रेस 1922
चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस 1952

कु – *कुमारसम्भवम्, कालीदास, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी* 2003 वि.

कू.पु. – कूर्मपुराण, नीलमणिमुखोपाध्याय, कलकत्ता 1890

केन /के उप.– केनोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर

के. – केनोपनिषद्, डा. सु कु. गुप्त, जयपुर

कौ उप. – कौषीतकि उपनिषद्, वासुदेवशर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई,1917

कौ ब्रा. – कौषातकी ब्राह्मण (=शाखायन ब्राह्मण)

ग. कौ. – संस्कृतगद्यकौमुदी-रामलाल सावल, अलवर

— – गाडेसेज् इन ऋग्वेद-श्रीमती ज्ञानसाहनी (अप्रकाशित)

गीता – श्रीमद्भगवद् गीता-गीताप्रेस, गोरखपुर

गी.वि.भा. – गीता-विज्ञान-भाष्य भूमिका-श्रीमधुसूदन ओझा

ग्रे. इ. – दि ग्रेट एपिक्स आफ इण्डिया-हाप्किन्स, येल यूनिवर्सिटी 1920

गो उप. – गोपथ उपनिषद्

गो.गृ. – गोभिल गृह्यसूत्र

गो पू./गो.ता गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्

गो ब्रा. – गोपथ ब्राह्मण-1 जीवानन्द विद्यासागर, कलिकाता 1891
2 राजेन्द्र लाल 'मित्र'-इण्डालाजिकल बुक हाउस वाराणसी 1976

गो ध. – गौतम धर्मसूत्र 1 हरिनारायण आप्टे-आनन्दाश्रम, पूना 1917
2 डा. वेदमित्र, दिल्ली-1969

च. – चन्द्रालोक-जयदेव, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस 1967

च. व्यू. – चरण व्यूह-शौनक कृत

छ.शा. – छन्दश्शाकुन्तलम् डा. शिवसागर त्रिपाठी, इण्डिया बुक हाउस, जयपुर 1978

छा.उप. — छान्दोग्य उपनिषद्-गीताप्रेस गोरखपुर-2019 वि, ग्रानन्दाश्रम, पूना 1952

जा.डा.प्र.पू.— जागरिफिकल डाटा इन दि अर्ली पुराणाज्-डा. मस्तराम, पुन्थी पुस्तक, कलकत्ता 1972

जि स. — जिनसहस्रनाम-आशाधर

जै.उप.ब्रा. — जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण-रामदेव-दयानन्द महाविद्यालय ग्रन्थमाला, लाहौर 1921

ज्ञा.श.को. — ज्ञानशब्द कोश

त.सं. — तर्कसंग्रह-ग्रन्नम्भट्ट रचित

ता ब्रा. — ताण्डय महाब्राह्मण (भाग 1,2), चौखम्भा संस्कृत सीरीज ग्राफिस, बनारस 1935

तु चा. — तुलसी के चार दल (पुस्तक पहली) सद्‌गुरुशरण ग्रवस्थी, प्रयाग 1935

तै ग्रा. — तैत्तिरीय ग्रारण्यक 1 गीताप्रेस गोरखपुर 1998 वि.
2 बाबा शास्त्री फड़के-ग्रानन्दाश्रम, *पूना 1897*

तै उप. — तैत्तिरीय उपनिषद् 1 गीताप्रेस, गोरखपुर
2 *वासुदेव शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई,* 1917 ई.

तै ब्रा. — तैत्तिरीय ब्राह्मण, नारायण शास्त्री, ग्रानन्दाश्रम प्रेस, पूना 1998 वि.

तै सं — तैत्तिरीय सहिता 1 काशीनाथ शास्त्री, ग्रानन्दाश्रम प्रेस, पूना 1900-08 ई.
2 स्वाध्याय मण्डल, पारडी-1945

दि.प्र. — दि थियरी ग्राफ प्रापर नेम्स-सर एलेन गार्डिनर, आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी-1957

द उ. — दशपाद्युणादिवृत्ति

द स.प्र./ द.स. — सत्यार्थ प्रकाश-स्वा. दयानन्द सरस्वती-ग्रार्य साहित्य मण्डल, अजमेर-1969

दा वि. — दार्शनिक विचार-राजा बलदेवदास बिरला, ज्ञानमण्डल, काशी 1998 वि.

दु.स. — दुर्गासप्तशती-गीताप्रेस, गोरखपुर-2033 वि.

दे पु — देवीपुराण

दे.भा. — देवी भागवत-मनसुखराय मोर, कलकत्ता 1960-1961

द्रा.गृ. — द्राह्यायण गृह्यसूत्र वृत्ति-ग्रानन्दाश्रम प्रेस, पूना 1914

ध.इ. — *धर्मशास्त्र का इतिहास-(भाग 1, 2) पी. वी. काणे*

धा.क. — धातुरूप कल्पद्रुम-श्रीमद्गुरुनाथ विद्यानिधि, कलिकाता 1932
ध्व. -- ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धनाचार्य (बदरीनाथ शर्मा), चौखम्भा संस्कृतसीरीज आफिस, बनारस, 1953
ना.पु. — नारद पुराण-कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1954
ना मा. -- नाममालिका-भोजकृत, पूना 1955
ना.शा. — नाट्य शास्त्र, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा
ना स्मृ. -- नारद स्मृति
नि. — निरुक्त-यास्ककृत
नि.दु. — निरुक्त दुर्गव्याख्या सहित, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई 1982 वि.
नि.छ. — निरुक्त-छज्जूराम शास्त्री-देवशर्मा-भागीरथशास्त्री, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली-प्रथम संस्करण
निघ. — निघण्टु
नि.मी. — निरुक्त मीमांसा-पं शिवनारायण शास्त्री-इंडालाजिकल बुक हाउस, वाराणसी-दिल्ली 1969
नि.रा. — निरुक्त-राजवाडे सम्पादित
—— — नैमिषारण्य माहात्म्य-पं. गोकरण नाथ, भारतभूषण प्रेस, लखनऊ 1915
नैषध — नैषध महाकाव्यम् (पूर्व-उत्तरखण्ड) चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1954
प.उ. — पञ्चपाद्युणादिवृत्ति
प.च. — पउमचरिअ-विमलसूरि कृत
पं.ब्रा. — पञ्चविंश ब्राह्मण
पत.भा. — पतञ्जलिकालीन भारत-डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री
प शे./परि. — परिभाषेन्दु शेखर-नागेश भट्ट-चौखम्भा प्रकाशन 1998 वि.
पा. — पाणिनीया अष्टाध्यायी
पा गृ. — पारस्कर गृह्यसूत्र-गुजराती प्रिंटिग प्रेस
पा भा/ पा.का.भा. — पाणिनिकालीन भारतवर्ष-डा. वसुदेव शरण अग्रवाल-चौखम्भा प्रकाशन 1969
पा.व्या.अनु — पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन-रामशंकर भट्टाचार्य
पा शि. — पाणिनीया शिक्षा-सिद्धान्तकौमुदी
पु.इ. — पुराण इण्डेक्स (भाग, 1.2.3), दीक्षितार, मद्रास
पु.क. — पुराणकथा कौमुदी-रघुनाथ
पु.वि. — पुराण-विमर्श-बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन, 1965
पु.वे.स. — पुराणगत वैदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्यय.-डा. रामशंकर भट्टाचार्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1965
पू.मी. — पूर्वमीमासा-जैमिनि
पृ.वि. — पृथ्वीराज विजय-जयानक, वैदिक मंत्रालय, अजमेर 1997 वि.

पौ.ध.सं. — पौराणिक धर्म एवं समाज-सिद्धेश्वरी नारायण राय, पंचनद पब्लीकेशन, इलाहाबाद 1968

पौ.पु.प्र. — पौराणिक पुराकथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन-डा. विजय शंकर शर्मा 1968 (अप्रकाशित)

पौ.सा.सं. — पौराणिक साहित्य और संस्कृति-भास्करानन्द लोहिनी, राम प्रकाशन, लखनऊ 1963

प्र.उ. — प्रक्रियासर्वस्वे उणादिखण्ड:-नारायण; मद्रास विश्वविद्यालय 1933

प्र.उप. — प्रश्नोपनिषद्-गीताप्रेस, गोरखपुर

प्र.द. — प्रतिभा दर्शन (भाषा तत्त्व शास्त्र), हरिशंकर जोशी-चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी

प्रा.च. — प्राचीन चरित्र-कोश-सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, भारतीय चरित्र-कोश मण्डल, पूना, 1964

प्रा.पु.भा.द. — प्राचीन पुराणों मे चित्रित भारतीय समाज की दशा-डा.शंकरसिंह झाला (अप्रकाशित)

प्रा.भा.इ. — प्राचीन भारत का इतिहास-डा.पुरुषोत्तम लाल भार्गव, अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ 1966

प्रा.भा.ग. — प्राचीन भारतीय गणित-ब.ल. उपाध्याय-दिल्ली

प्रा.भा.सा. — प्राचीन भारतीय साहित्य-विंटरनिट्ज़ (लाजपतराय) 1961

प्रा.हि.को. — प्रमाणिक हिन्दी कोश

बृ. — बृहद्देवता-शौनक (रामकुमार राय), चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी 1963

बृह.उप. — बृहदारण्यक उपनिषद्-आनन्दाश्रम प्रेस-पूना 1963

बौ.गृ. — बौधायन गृह्यसूत्र

बौ.श्रौ. — बौधायन श्रौतसूत्र

ब्र.पु. — ब्रह्मपुराण 1 क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई 1976
2 तारणीश झा-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग,1976

ब्रह्माण्ड — ब्रह्माण्ड पुराण-वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

ब्र.वै. — ब्रह्मवैवर्तपुराण-एक अध्ययन-डा. वैकुण्ठनाथ शर्मा 1976 (अप्रकाशित)

— — ब्राह्मणोद्धार कोश-विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियार-पुर 1966

भा.इ. — भाषा का इतिहास-भगवद्दत्त

भा.पु. — भागवत पुराण-गीताप्रेस, गोरखपुर 2008 वि.

भा.भा.वि.भू — भारतीय भाषा विज्ञान की भूमिका-डा. भोलानाथ तिवारी, 1972

भा.प्र. — भारतीय प्रतीकविद्या-डा. जनार्दनमिश्र, पटना 1959

भा वा. — भाषा तत्व और वाक्यपदीय-सत्यकाम वर्मा, दिल्ली 1964
भा वि सि. — भाषा विज्ञान के सिद्धान्त-डा. सुमन, लखनऊ 1965
भा.सा. — भारतसावित्री-वासुदेव शरण अग्रवाल
भा. सं — भारतीय संस्कृति, शिवदत्तज्ञानी, दिल्ली 2008 वि
म. — महाभाष्य (नवाह्निक) पतञ्जलि, चौखम्भा प्रकाशन, 1954
म.पु. — मत्स्य पुराण, एक अध्ययन-डा. वासुदेव शरण अग्रवाल
मनु. — मनुस्मृति-प्राणजीवन शर्मा-गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, 1913
मं.ब्रा. — मन्त्र ब्राह्मण-दुर्गामोहन भट्टाचार्य, कलिकाता, 1890 ई.
म.पु. — मत्स्य पुराण 1 खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
2 मनसुखराय मोर, कलकत्ता, 1961
म व्या. — मध्यम व्यायोग-भास-इण्डिया बुक हाउस, जयपुर 1975
महा. — महाभारत-भण्डार कर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना
-- -- महाभारत (दाक्षिणात्य पाठ)-पी. पी. सुब्रह्मण्यम् शास्त्री
मद्रास 1931-33
महा.ग. — गंगाप्रसाद शास्त्री, महाभारत कार्यालय, दिल्ली
महा.गी प्रे. — गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2014
महा.चि. — चित्रशाला प्रेस, पुणे, 1936
— महाभारतस्य श्लोक पाद सूची (चारभाग) भण्डारकर
ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना
मा.उप./ माण्डूक्य — माण्डूक्य उपनिषद्-गीताप्रेस, गोरखपुर
मा.धा. — माधवीया धातुवृत्ति
माध्य — माध्यन्दिन संहिता
मा.पु. — मार्कण्डेय पुराण 1 खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई
2 मनसुखराय मोर, कलकत्ता 1962
मु.बो. — मुग्धबोध व्याकरण-वोपदेव कृत
मू.सं.उ. — मूल संस्कृत उद्धरण-म्यूर
मेघ — मेघदूत-कालिदास
मे.वै. — मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उनका सांस्कृतिक सन्देश-डा.
सु. कु. गुप्त, गोरखपुर 1954
मै.सं. — मैत्रायणी संहिता-सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध 1998 वि.
मो.वि. — संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी,-मोनियर विलियम्स
यजु: — यजुर्वेद संहिता-वैदिक यन्त्रालय, अजमेर 2007 वि.
या.स्मृ. — याज्ञवल्य स्मृति 1 उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा प्रकाशन 1967
2 निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1936

रघु — रघुवंशमहाकाव्यम्-कालिदास, चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, 1953

रा.क. — रामकथा-फादर कामिल बुल्के, प्रयागविश्वविद्यालय, प्रयाग

रा द. — रामायण दर्पण-स्वा. ब्रह्ममुनि, अजमेर

रा.भा. — रावण भाष्यम् डा सु.कु. गुप्त-भारतीय मन्दिर, जयपुर

रा लि स्ट — रामायण-ए लिंग्विस्टिक स्टडी-डा. सत्यव्रत-दिल्ली 1964

रा.स. — रामायणकालीन समाज-शान्तिकुमार नानूराम व्यास

रा सं. — रामायण कालीन संस्कृति-शान्तिकुमार नानूराम व्यास

— — रामायण-एम. रामरत्नार्य-मद्रास 1958

ल.कौ. — लघुकौमुदी-वरदराजाचार्य–गीताप्रेस, गोरखपुर

ल.श. — लघुशब्देन्दुशेखर-नागेशभट्ट (गुरुप्रसाद शास्त्री) 1997 वि.

लि.पु. — लिंग पुराण-खेमराज श्री कृष्णदास-वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

— — लिंगुस्टिक इण्ट्रोडक्शन टु संस्कृत-बटकृष्ण घोष

व.ध. — वसिष्ठ धर्मसूत्र

व.पु. — वराह पुराण

वा. — वाचस्पत्यम्-तारानाथ तर्क वाचस्पति, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1962

वा पु./वाक्य — वाक्यपदीय-भर्तृहरि

वा.पु. — वायुपुराण 1 हरिनारायण आप्टे पूना-1905
2 खेमराज श्रीकृष्णदास-बम्बई

वामन — वामनपुराण-पचानन तर्करत्न, कलकत्ता

वा.रा. — वाल्मीकीय रामायण—1 राम तेज शास्त्री, पंडित पुस्तकालय, काशी
2 गीताप्रेस, गोरखपुर, 2033 वि.

वा वि. — वाग्विज्ञान, सीताराम चतुर्वेदी, चौखम्भा प्रकाशन 1969

वा.स. — वाजसनेयि संहिता

— — व्यासस्मृति

वि.ध.पु. — विष्णुधर्मोत्तर पुराण

वि.पु. — विष्णु पुराण-गीताप्रेस, गोरखपुर 2009वि.

वि.भा. — विष्णुपुराण का भारत—डा. सर्वानन्द पाठक-चौखम्भा प्रकाशन 1967

वि.स — विष्णु सहस्रनाम-गीताप्रेस, गोरखपुर, 1990 वि.

वेणी — वेणीसंहार—भट्ट नारायण

वे.ध. — वेद धरातल—गिरीश चन्द्र अवस्थी

वे.भा.द. — वेद भाष्य पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन-डा. सु. कु गुप्त (अप्रकाशित)

वे ला. — वेद-लावण्यम्-डा. सु कु गुप्त-भारती मन्दिर 1959
वे.वि.नि. — वेदविद्या निदर्शन-श्री भगवद्दत्त, दिल्ली 1959
वै.इ. — वैदिक इण्डेक्स (भाग 1,2) मैक्डानल-कीथ (रामकुमारराय) चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1962
वै.एटी. — वैदिक एटीमालोजी, डा. फतह सिंह-संस्कृत सदन, कोटा-1952
वै.को. — वैदिक कोश-हंसराज, लाहौर 1926
वै.को सू. — वैदिक कोश-डा. सूर्यकान्त
— — वैखानस गृह्यसूत्र
वै.द. — वैदिक दर्शन-डा. फतहसिंह, इलाहाबाद 2019 वि.
वै.दे. — वैदिक देवशास्त्र-डा. सूर्यकान्त, दिल्ली 1961
वै.ध.द. — वैदिक धर्म एव दर्शन (भाग 1), ए. बी. कीथ (डा. सूर्यकान्त)
वै.री. — वैदिक रीडर-मैक्डालन मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1961
वै.वा भा चि.— वैदिक वाङ्मय मे भाषा चिन्तन-पं. शिवनारायण शास्त्री, इण्डालाजिकल बुक हाउस-वाराणसी 1972
वै.वि. — वैदिक विज्ञान-प. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, भारतीय विद्यापीठ दिल्ली, 1965
वै.सा. — वैदिक साहित्य-डा. रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञान पीठ 1968
वै.सा.सं. — वैदिक साहित्य और संस्कृति-बलदेव उपाध्याय, काशी 1958
— — व्याससमृति (20 स्मृतियां-द्वितीय खण्ड मे प्रकाशित), श्रीराम शर्मा-संस्कृतिसंस्थान, बरेली 1971
— — शंकर विजय
श. — शब्दान्तर-निशान्तकेतु, दिल्ली पुस्तक सदन, पटना 1972
श अ — शब्दों का अध्ययन-डा भोलानाथ तिवारी, शब्दकार, दिल्ली 1968
श.क. — शब्दकल्पद्रुम-राजा राधाकान्त दवे बहादुर-चौखम्भा प्रकाशन, बनारस 1961
— — शब्दशक्तिप्रकाशिका
शब्दा — आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन-एक अध्ययन-डा. नेमिचन्द्र शास्त्री-चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी 1963
श ब्रा. — शतपथब्राह्मण 1 वेबर-चौखम्भा प्रकाशन, 1964
2 हरिस्वामिभाष्य-लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई 1924-1940
— — शब्दशक्ति और ध्वनि सिद्धान्त-डा. सत्यदेव चौधरी-अलंकार प्रकाशन दिल्ली
श व्यु.भा अ. — शब्दो का व्युत्पत्तिमूलक भाषावैज्ञानिक अध्ययन-रणजीत शर्मा, सस्ता साहित्य भण्डार, दिल्ली 1971

शा आ. — शांखायनारण्यक-श्रीधरशास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना 1911
शां.गृ. शांखायन गृह्यसूत्र
शा अभि.शा — अभिज्ञानशाकुन्तलम्-कालिदास (बाबूराम त्रिपाठी) आगरा
शा.को. — शाश्वत कोश-नारायण नाथ कुलकर्णी-ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना 1930
शां.ब्रा. — शांखायन ब्राह्मण-गुलाबराय वजे शंकर-आनन्दाश्रम, पूना 1911
शि.पु. — शिवपुराण-वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
शि.व. — शिशुपालवध-माघ, पाण्डुरंग जीवाजी, नारायण सागर प्रेस, बम्बई 1940
श्री.द्व. — श्रीमद्भगवद्गीताध्यायद्वयी-डा. शिवसागर त्रिपाठी, जयपुर 1977
ष.ब्रा. — षड्विंश ब्राह्मण
सं इ. — संस्कृत इन इण्डोनेशिया-डा. जे. गोण्डा-इण्टरनेशनल एकेडेमी आफ इण्डियन कल्चर–नागपुर 1952
सं भा. — संस्कृत भाषा-टी. बरो (डा. भोलाशंकर व्यास) चौखम्भा विद्या-भवन, वाराणसी 1965
सं.व्या.इ. — संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (भाग 1,2) युधिष्ठिर मीमांसक–2001 वि.
सं.श को. को — संस्कृत शब्द कौस्तुभ कोश–द्वारकाप्रसाद शर्मा-तारणीश झा, इलाहाबाद 1957
सं.सा.इ. — संस्कृत साहित्य का इतिहास–सीताराम जयराम जोशी–1933
— — संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, बनारस
सं.सा.रू. — संस्कृत साहित्य की रूपरेखा-पाण्डेय और व्यास–एकादश संस्करण
सं.सा.सु.इ. — संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास-डा. सु.कु. गुप्त, भारती मन्दिर–1956
सां.का. — सांख्यकारिका–ईश्वर कृष्ण
सा.द. — साहित्य दर्पण 1 विश्वनाथ-निर्णयसागर प्रेस 1922
2 डा. सत्यव्रतसिंह-चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी 1957
सा.पु. — साम्बपुराण
सा.वि.ब्रा. — सामविधान ब्राह्मण-केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति-1964
सा.वे उप. — सामान्यवेदान्तोपनिषद्
सा.सं. — सामवेद संहिता-वैदिक यन्त्रालय, अजमेर-2018 वि.
सि.कौ. — सिद्धान्तकौमुदी (भाग 1, 2) गुरु प्रसाद शास्त्री 1997 वि.
सि.म. — सिद्धिमहारहस्यम्-अमृतवाग्भवाचार्य-चौबुर्जा-भरतपुर 2023 वि.

सु च. — सुर्जनचरितमहाकाव्यम्-चन्द्रशेखर रचित, भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस 1952

सु सि. — सूर्यसिद्धान्त

स्कन्द पु / — 1 स्कन्दपुराण-खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई
स्क.पु. 2 मनसुखराय मोर, कलकत्ता

स्ट.ए.पु. — स्टडीज इन दि एपिक्स एण्ड पुराणाज ग्राफ इण्डिया-पुशाल्कर-भारतीयविद्याभवन, बम्बई 1955

स्ट.पु.रि. — स्टडीज इन पुराणिक रिकार्डस ग्रान हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स-हाजरा 1940

ह.को. — हलायुध कोश-उ.प्र. शासन प्रकाशन

हरि. — हरिवंश-चित्रशाला प्रेस, पुणे 1936

हरि.सां. — हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक विवेचन-वीणापाणि शर्मा-सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश

ह सां. — हर्षचरित का सांस्कृतिक ग्रध्ययन-वा.श. ग्रग्रवाल

हि.ऐ. — हिस्ट्री ग्राफ ऐन्सेण्ट संस्कृत लिटरेचर-मैक्समूलर

हि धा./ — हिन्दू धार्मिक कथाग्रों के भौतिक अर्थ, त्रिवेणी प्रसाद सिंह-1970
हि.धा.भौ.

हि.नि. — हिन्दी निरुक्त—1 सीताराम शास्त्री
2 उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

हि.प. — हिन्दू परिवारमीमांसा-हरिदत्त वेदालंकार

हि.परि. — हिन्दी मे प्रयुक्त संस्कृत शब्दों मे ग्रर्थपरिवर्तन-डा. केशवरामपाल-प्राची प्रकाशन, मेरठ-1964

हि.भा. — हिन्दी ऋग्वेद भाष्य भूमिका-जगन्नाथ पाठक

हि.रा. — हिन्दू राजतन्त्र-काशीप्रसाद जायसवाल-काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

हि.वा.पु. — हिन्दी वायु पुराण-रामप्रताप त्रिपाठी-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

हि.वि. — हिन्दी विश्वकोश-नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी
(ना.प्र.)

हि.वि.(वसु) हिन्दी विश्वकोश-नगेन्द्रनाथ वसु, नगेन्द्रनाथ-विश्वनाथ वसु, कलकत्ता जोधपुर-1915

हि.वि.मी. — हिन्दू-विवाह, मीमांसा-डा. प्रीतिप्रभा गोयल, जोधपुर ☐

परिशिष्ट–5

संकेतिका और पत्रिकाएं

(इस तालिका में सम्बद्ध पत्रिकाओं के केवल उन्हीं अंकों का उल्लेख किया गया है, जिनका ग्रंथ में प्रत्यक्ष प्रयोग हुआ है। जहां अंकविशेष निर्दिष्ट नहीं है, वहां एकाधिक अंकों का प्रयोग किया गया है, जिनके सन्दर्भ पादटिप्पणियों में दे दिये गए हैं।)

1 ऋतम्-लखनऊ-जुलाई 1970 से जनवरी 1975
2 गंगानाथ झा कम्मेमोरेशन वाल्यूम-प्रयाग
3 गु.प.-गुरुकुल पत्रिका-हरिद्वार-अगस्त-सितम्बर-अक्टूबर 1966
4 जर्नल आफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट-प्रयाग, नवम्बर 1962 अगस्त 1963
5 जैन भारती-कलकत्ता, जनवरी 1964
6 दिव्यज्योतिः-मशोबरा, शिमला-अक्टूबर-नवम्बर 1971
7 भा.शो.सा.-भारती-शोध-सार-संग्रह-जयपुर
8 भाषा-केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली, जून 1966, मार्च 1968, जून 1977
9 मैसूर ओरियण्टलिस्ट-मैसूर-वाल्यू. III
10 रा यू स्ट -राजस्थान यूनिवर्सिटी स्टडीज इन संस्कृत एण्ड हिन्दी, जयपुर, 2.1967; 5.1971
11 विश्व.-विश्वम्भरा-बीकानेर 3.4-1966; 3.2-1965 10.3; 10.4-1978
12 वे.वा.-वेदवाणी-वेदाङ्क-17.1
13 संस्कृति-शिक्षा समाज कल्याण संस्कृति मन्त्रालय-नई दिल्ली-33.1
14 सारस्वती सुषमा-वाराणसी 25.2 1970
15 सुधा-बिन्दु–अहमदाबाद-12.8
16 सूर्योदय-वाराणसी, 44.2-3, फरवरी–मार्च 1968
17 स्वरमंगला-उदयपुर 4.2; 5.2

□